Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Arya Samaj Foundation Chennai a

Domain. Gurukul Kangri Collect

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

132249
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य : 20 रुपये

ISSN 0973-1490

वर्ष-10 अंक-1 जुलाई-सितम्बर 2012

चिन्तन-सृजन

www.asthabharati.org

त्रैमासिक

आस्था भारती, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

अंक 1

जुलाई-सितम्बर 2012

पुस्तकालय
132249
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपयें

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. 'गोरा' पर व्यापक चर्चा से क्यों बचा जा रहा है? 9
रामेश्वर मिश्र पंकज

2. हिन्दी उपन्यासों में भारतीयता 27
नन्दकिशोर आचार्य

3. हिन्दी वर्तनी की समस्याएँ 33
धर्मदेव तिवारी

4. हिन्दी वर्तनी की एकरूपता के व्याकरणिक आधार 42
रवीन्द्र कुमार पाठक

5. ऋग्वैदिक ग्रह-नक्षत्रों से संबद्ध कुछ तथ्य एवं मिथक 62
राजीव रंजन उपाध्याय

6. सम्पूर्ण क्रांति—लोकतंत्र और भ्रष्टाचार 72
नरेश कुमार अम्बष्ट

7. कविता के आयाम 78
कृपाशंकर सिंह तथा जगन सिंह

8. मीडिया नियमन हो पाएगा क्या? 87
संजय कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. सूफी सन्त — 91
डॉ. बीनल जी घेटिया

10. विवेक-जनित पावनता की सुगंध — 96
कृष्णदत्त पालीवाल

11. भाषा और संस्कृति की साझेदारी — 109
महेश दुबे

12. ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान का समन्वय — 118
मृत्युंजय उपाध्याय

पाठकीय प्रतिक्रिया — 122

प्राप्ति-स्वीकार — 126

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. जनतन्त्र में चुनाव प्रणाली 9
कैलाशचन्द्र पन्त

2. कार्टून विवाद और राजनीति विज्ञान की शिक्षा 15
शंकर शरण

3. उत्तर छायावादी गीत परम्परा और बच्चन 27
रामनिरंजन परिमलेन्दु

4. प्रसाद के उपन्यासकार का अलक्षित 42
पुष्पपाल सिंह

5. भारतीय दर्शन और उसका स्वातंत्र्योत्तर युग 48
श्रीप्रकाश दुबे, अम्बिकादत्त शर्मा

6. ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की ओर 91
दिनेश मणि

7. युग निर्माता बाबा साहब डॉ. भीमरावजी अम्बेडकर और हिन्दी दलित साहित्य 96
तुकाराम दौड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. शान्त रस सन्दर्भ : संगीत कला 105
योगेश शर्मा

9. *पुस्तक समीक्षा*
कविता के स्वप्न और संघर्ष की पहचान 114
मृत्युंजय उपाध्याय

10. *पुस्तक समीक्षा*
गिरते हुए पत्तों का बयान : आम आदमी का दर्द 119
कामेश्वर पंकज

पाठकीय प्रतिक्रिया 124

प्राप्ति-स्वीकार 126

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. मंडन मिश्र और आदिशंकराचार्य संवाद :
समकालीन समाज के लिए कुछ नैतिक निष्कर्ष 9
अशोक वोहरा

2. ज्ञान केंद्र के लिए प्रस्तावना 17
पवन कुमार गुप्त

3. आचार्य वल्लभ और भक्ति 25
त्रिभुवननाथ शुक्ल

4. सन्त कबीर और गुरु नानक :
अन्तरसम्बन्ध और अन्तरसंवाद 34
महीप सिंह

5. शिव-शक्ति, राम-हनुमान 42
श्रीराम परिहार

6. सामंजस्य और सौमनस्य की साधना विफल क्यों? 48
शत्रुघ्न प्रसाद

7. बृहत्तर भारत के अन्वेषक आचार्य रघुवीर 56
भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

8. ललित निबन्ध 60
नेता
शंकर पुणताम्बेकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. अल्पसंख्यक आरक्षण की संभावनाएँ 67
शंकर शरण

10. हिन्दी शब्द परम्परा 73
शर्वेश पाण्डेय

11. सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी का वैश्विक परिदृश्य 89
भाऊसाहेब नवनाथ नवले

12. हिन्दी काव्यों में राष्ट्रीयता 102
क्रिष्णाभाई डी. पटेल

13. पुस्तक-समीक्षा 109
कथा सनातन : नये समय का नया उपनिषद्
राधावल्लभ त्रिपाठी

14. पुस्तक-समीक्षा 114
शब्द तो कुली हैं
रमेश दवे

15. पुस्तक-समीक्षा 117
अप्रस्तुत-योजना : स्वरूप और विश्लेषण
वरुण कुमार तिवारी

16. पुस्तक-समीक्षा 122
उन्मन
डॉ. देवेन्द्र आर्य

प्राप्ति-स्वीकार 126

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

क्या हम सीधी राह नहीं चल सकते?

सुबह होते ही आप किसी समाचार पत्र को पढ़ना प्रारंभ करते हैं, तो प्रायः ही ऐसे समाचारों पर दृष्टि पड़ती है जो आश्वस्त नहीं करते, मन विचलित होता है, क्रोध उपजता है। किन्तु जब बार बार ऐसा होता है तो लगता है कि हम लाचार हैं, हम कुछ कर नहीं सकते; एक विचित्र तरह की खीझ हमें भीतर से तोड़ने लगती है। हम मानने लगते हैं कि ऐसा ही होता है, ऐसा ही होता रहेगा; हम कुछ कर नहीं सकते।

आज देश में ऐसा बहुत कुछ गलत हो रहा है, जिसके सूत्र कहीं न कहीं हमारी राजनीति से जुड़े हैं। ऊँचाई पर पहुँचकर राजनीति के सूत्र संचालन कर रहे बौनों–बौने ही नहीं, मनोरोगियों–की संख्या काफी बढ़ गयी है। आखिर भूख की, धन-लिप्सा की भी, एक सीमा होनी चाहिए। निर्लज्जता की भी।

पहले सरकारी धन की लूट कुछ लाख तक सीमित रहा करती थी। बढ़ते-बढ़ते यह लाखों करोड़ तक पहुँच गयी है। फिर राजनीतिक अपराधी ही नहीं, सत्ता-तंत्र में बैठे अपराधी पदाधिकारी तथा बाहर के अपराधी भी इस लूट में बढ़-चढ़कर सहभागिता निभा रहे हैं। और जब किसी सांविधानिक पद पर बैठा कोई व्यक्ति इस लूट की तरफ इंगित करता है, तो उच्च पदों पर बैठे आकाओं के चाटुकार जोर जोर से भूँकना, गाली गलौज करना शुरू कर देते हैं। वस्तुतः भारतीय राजनीति में चाटुकार कभी भी इतने सशक्त नहीं हुए थे, जितने आज हैं।

इस देश की राजनीति इतनी नीचे गिर गयी है कि सत्ता-प्राप्ति में सहायक बनने पर देश के शत्रुओं को भी लाकर बसा सकती है, उन्हें नागरिक बनवा सकती है, उन्हें सत्ता में सहभागी बना सकती है; चाहे उसकी कीमत देश को आन्तरिक तथा बाहरी सुरक्षा के खतरे उठाकर, अपनी सीमाओं को तरल बनाकर, नागरिकों का आन्तरिक विस्थापन करा कर, साम्प्रदायिक सौहार्द बिगाड़कर, चुकाना पड़े। इस देश की राजनीति करोड़ों विदेशियों को देशी तथा लाखों देशियों को विदेशी बना सकती है। दंगे कराना उसके बाएँ हाथ का खेल है। किसी परिवार की धरोहर राजनीतिक दल में चाचा भतीजा लड़ पड़ें तो देश के किसी हिस्से के लोगों को खदेड़ने का अभियान शुरू करा दो, उन्हें परमिट देने का प्रस्ताव कर दो। यदि लूट का खुलासा हो जाय तो समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दो अंगो को लड़ाने का उपक्रम शुरू करा दो, ताकि लूट से लोगों का ध्यान हट जाए। ऐसे तिकड़मों का अन्त नहीं।

इस देश में राजनीति करनेवालों तथा राजनीति की आकांक्षा पाल रखे नागरिक समाज के व्यक्तियों ने मिल-बैठकर राष्ट्र एवं समाज की समस्याओं पर विचार करने की कार्य-संस्कृति का परित्याग कर दिया है। राजनीतिक दल मिल बैठकर बात नहीं कर सकते; सरकार मे बैठे लोग तथा विरोध में बैठे लोग समस्याओं पर एकजुट होकर विचार नहीं कर सकते। संसद के कार्य दिन लगातार घटते जा रहे हैं। ऊँचे पदों पर बैठा हर व्यक्ति उद्वेलित है। ऐसे में एक छोटी-सी घटना प्रायः ही भयंकर रूप ले लेती है। अभी नीतीश कुमार एवं शिव-सेना के बीच क्या हुआ? मुम्बई पुलिस ने मुम्बई की 11 अगस्त की घटनाओं, आजाद मैदान में अमर जवान ज्योति तोड़ने के आरोपी अब्दुल कादिर अंसारी को सीतामढ़ी में पकड़ा। पकड़ना गलत नहीं था, क्योंकि वह मुम्बई में रह रहा था। लेकिन आपराधिक दण्ड संहिता की धारा 80 के अनुसार उसे किसी स्थानीय दण्डाधिकारी के पास ले जाया जाना चाहिए था, जो न हुआ। फिर नीतीश कुमार ने आपा खोकर कुछ गलत भाषा का प्रयोग किया; राज ठाकरे ने गरजकर सभी बिहारियों को मुम्बई से बाहर निकालने की धमकी दे डाली, यदि बिहार सरकार महाराष्ट्र के आपराधियों को पकड़ने में बाधा डालती रही। उद्धव ठाकरे ने मुम्बई में कार्यरत बिहारियों को कार्य-परमिट देने की बात कह डाली। वे भूल गये कि भारत के किसी नागरिक को देश में कहीं भी जाने, रहने, काम करने का अधिकार है। वैसे नीतीश कुमार एवं राज ठाकरे के मध्य जो हुआ, वह कोई नयी बात नहीं है। यह हमारी राजनीतिक संस्कृति का अंग बन गया है। परस्पर निन्दा की भाषा बोलना, झूठ बोलना, निरर्थक वाद-विवाद करना, एक ही साँस में परस्पर विरोधी बातें कहना, अपने से ताकतवर की चापलूसी, कमजोर को चोट पहुँचानेवाली बातें तथा झूठी आत्म-प्रशंसा की नेताओं को आदत पड़ गयी है। फिर उनका मुखैटा उनकी पहचान में बाधक बनता है तथा उनकी कथनी एवं करनी के विभेद को उजागार नहीं होने देता। इनसे सामाजिक सुचिता बाधित होती है।

देश के उच्चतम न्यायालय ने अपने एक फैसले में पदोन्नति में आरक्षण के अधिकार को अस्वीकार कर दिया है। यह बात भी समाचार पत्रों के माध्यम से छनकर सामने आयी है कि प्रशासन के उच्चतम 149 पदों पर बैठे अधिकारियों में अनुसूचित जाति का एक भी व्यक्ति नहीं है। अन्य ऊँचे पदों की भी कमोबेश यही स्थिति है। ऐसे में सरकार ने उच्च पदों पर पदोन्नति के लिए आरक्षण की व्यवस्था के लिए संविधान संशोधन का विधेयक राज्य सभा में ला दिया। सवाल है कि पिछले साठ से अधिक वर्षों से प्रारंभिक बहाली में आरक्षण लागू है। फिर अनुसूचित जाति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदाधिकारी की वरीयता जब प्रारंभिक पदोन्नति के समय ही प्रवीणता के चलते वाधित हो रही हो तो प्रवीणता बढ़ाने के प्रयास द्वारा या प्रशासनिक व्यवस्था द्वारा ऐसी व्यवस्था की जा सकती थी कि उनमें से अधिकांश की पदोन्नति जारी रहे। अनुसूचित जाति के लोग जो अधिक आयु में सेवा में आते हैं उसका उपाय ढूँढना चाहिए। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। सरकार चलानेवाले छः दशक तक सोये रहे। प्रशासनिक व्यवस्था द्वारा समस्या का निदान नहीं निकालकर अव वे संविधान बदलने लगे। प्रश्न है कि क्या हम सीधी राह नहीं चल सकते? क्या जिस रोग को दवा से ठीक किया जा सकता है, उसे तबतक बिगड़ने देते रहेंगे जबतक शल्य चिकित्सा आवश्यक न हो जाय?

आजकल हमारी सरकारें खैरात बाँटने का काम बढ़-चढ़कर रही हैं। ऐसा विशुद्ध राजनीतिक लाभ लेने के लिए किया जाता है। इससे समाज को कोई ठोस लाभ नहीं पहुँचता। वस्तुतः सरकार खैरात न बाँटकर ऐसी योजनाएँ चलाती जिससे समाज के लोग आर्थिक रूप से सशक्त हो पाते तो देश को स्थायी लाभ पहुँचता, विकाश एवं मौलिक संरचना के लिए पैसे बचते, मँहगायी घटती। महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गांरटी योजना का अधिकांश पैसा भ्रष्टाचार द्वारा गलत लोगों के पास चला जाता है। ऐसी अन्य दूसरी योजनाएँ भी हैं, जिनका लाभ लोगों को कम ही मिलता है; दलों को अस्थायी राजनीतिक लाभ भले मिल जाय। स्पष्टतः ऐसी सभी योजनाओं पर पुनर्विचार करके नीतिगत परिवर्तन लाया जाना चाहिए।

अभी कुछ समय पहले, दो केन्द्रीय मंत्रियों के वक्तव्य आए थे, जिसे समाचार माध्यमों ने विवादास्पद बनाकर उछाला था। वस्तुतः दोनों के ही वक्तव्य सही थे। यह सही है कि गेहूँ की कीमत एक रुपया भी बढ़ती है तो मध्यम वर्ग विरोध प्रकट करता है, जैसा कि चिदम्बरम साहब ने कहा था। उसी प्रकार महँगाई बढ़ने का एक पक्ष यह भी है कि उसका लाभ किसान को भी पहुँचता है, जो सबसे अधिक पीड़ित है। मँहगाई के इस पक्ष की चर्चा करने पर केन्द्रीय मंत्री बेनी प्रसाद वर्मा की भी प्रेस ने काफी खिंचाई की थी। वस्तुतः दोनों मंत्रियों की बातें सही थीं। वस्तुतः शहरी मध्यम वर्ग शोरगुल बहुत करता है, अन्न उसे सस्ता ही चाहिए, भले ही किसान गरीबी से त्रस्त होकर आत्म-हत्या करता रहे। अन्न के दामों की हल्की बढ़ोतरी उसे कचोटती है, अन्य वस्तुओं की नहीं।

ममता बनर्जी रेलवे किराया की बढ़ोतरी का विरोध करती हैं, भले ही रखरखाव की कमी से दुर्घटनाएँ होती रहें, रेलवे समपार पर आदमी न रहने से रेल-बस टक्कर में हजारों लोग प्रति वर्ष मरते रहें। फिर उन्हें रेलवे के काम से हटकर अन्य लोक-लुभावन कार्यों के लिए पैसा चाहिए। समय आ गया है कि राजनीतिक ठगी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खैरात आदि लोकलुभावनी योजनाओं का विरोध किया जाए। पिछले दिनों इस देश में दो आन्दोलन चले, अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार निवारण के लिए लोकपाल की नियुक्ति के लिए एवं बाबा रामदेव का विदेशी बैंकों से काला धन देश में लाने के लिए। दोनों अच्छे समाजसेवी रहे हैं; देश में उनकी पैठ तथा लोगों का उन पर विश्वास भी रहा है। किन्तु रुझान दोनों की ही राजनीति की तरफ भी रही। अन्ना हजारे एवं उनकी अनुयायी अरविन्द केजरीवाल ने तो राजनीतिक दल बनाने का मन भी बना लिया है, प्रश्न उठता है कि आप अपने राजनीतिक दल के लिए हजारों ईमानदार एवं अच्छी सोचवाले लोग कहाँ से लाएँगे? और नहीं तो आपका दल अन्य दलों से अलग कैसे होगा? फिर यदि अन्ना हजारे एवं बाबा रामदेव, लगभग समान उद्देश्यों के लिए संघर्ष करते हुए भी एकजुट नहीं रह पाए, अन्ना हजारे अपने कुछ ही अनुआइयों को एकजुट नहीं रख पाए तो फिर वे हजारों लोगों को कैसे एक साथ रख पाएँगे? स्पष्टतः जो कुछ हो रहा है, वह आन्दोलन के अन्त का सूचक है।

वस्तुतः सार्थक बदलाव का एक ही रास्ता हो सकता है कि जनता को जगाया जाए, किसी भी गलत बात के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाए। फिर तो बदलाव मत-पत्रों द्वारा भी आ सकता है। किन्तु इतने बड़े देश में मूल्यों की पुनर्स्थापना द्वारा स्व-नियंत्रित मानव एवं समाज भी बनाया जाना चाहिए, जिसके लिए शिक्षा में अपेक्षित बदलाव लाया जाना आवश्यक है। इससे बदलाव में स्थायित्व आएगा। काम कठिन है, लेकिन हमें ऐसा ही करना पड़ेगा।

—ब्रज बिहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गोरा' पर व्यापक चर्चा से क्यों बचा जा रहा है?

रामेश्वर मिश्र पंकज*

कविगुरु रवीन्द्रनाथ की डेढ़ सौवीं जयन्ती चल रही है। यह उनकी अमरकृति 'गीतांजलि' के प्रकाशन का शताब्दी वर्ष है। उनकी एक अन्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना 'गोरा' के प्रकाशन का भी यह शताब्दी वर्ष है। परन्तु हिन्दी में गोरा या गीतांजलि किसी पर वैसी विस्तृत चर्चा नहीं हुई जैसी होनी चाहिए। जबकि हिन्दी में इन महान कृतियों के श्रेष्ठ अनुवाद सुलभ हैं। 'गोरा' का अनुवाद तो सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय जी ने सीधे बांग्ला से किया था। अतः स्वाभाविक है कि हिन्दी में भी 'गोरा' मूल कृति की सभी विशेषताएँ सँजोए है—भाषिक, शिल्पगत, वैचारिक् सभी।

अज्ञेयजी ने जब मूल बांग्ला से इसके हिन्दी अनुवाद का निश्चय किया, तो उसके पीछे कारण भी ये सभी थे—वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के वैचारिक विस्तार और गहराई को हिन्दी पाठकों के समक्ष लाना चाहते थे, उस सांस्कृतिक-दार्शनिक आलोड़न-विलोड़न को भी जो इस रचना के मूल में है, साथ ही शिल्पगत सौन्दर्य और भाषा के अद्वितीय सौन्दर्य को भी। यही कारण है कि अनूदित रूप में भी उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति इसकी भाषा और शिल्प ही है। इसके रसमय वर्णन पाठक के चित्त में जीवन्त दृश्यों की सृष्टि कर देते हैं। इतने भावपूर्ण, सम्यक् और प्राणवान वर्णन समकालीन हिन्दी साहित्य में विरल ही हैं। उपन्यास से सैकड़ों उद्धरण ऐसे दिए जा सकते हैं, जो अपनी भाषा और बिम्बों के सौन्दर्य तथा विचारों की अद्वितीयता के कारण अविस्मरणीय हैं।

कथा की दृष्टि से उपन्यास भारत की तत्कालीन बंगभाषी समाज के शिक्षित मध्यवर्ग एवं उच्च मध्यवर्ग की तात्कालिक मनोदशा, समाज-व्यवहार और बौद्धिक आकांक्षाओं तथा आध्यात्मिक तलाश को चित्रित करता है। उपन्यास में चित्रित यह बंगीय भद्रलोक न तो भारतीय धर्मशास्त्रों का अधिकारी ज्ञाता है, न ही भारत के

*निदेशक, धर्मपाल शोधपीठ, भोपाल, वी-12 आकृति गार्डन, भोपाल-3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास का, न ही ब्रिटिश इतिहास का, न ही क्रिश्चियन दर्शन का और न ही विश्व इतिहास का। उन दिनों बंगाल में पत्र-पत्रिकाओं में और विद्यालयों में तथा शिक्षित मध्यवर्ग की सभा-सोसाइटियों में जो गर्मागर्म बहसें चल रही हैं, इन पात्रों के जरिए बौद्धिक स्तर पर यह उपन्यास उनको ही अत्यन्त प्रभावी ढंग से रख देता है। इसके साथ ही उस समाज में जो भाँति-भाँति के व्यवहार उन दिनों चल रहे हैं और प्रतिष्ठित हैं तथा जो आकांक्षाएँ कसमसा रही हैं, उनकी भी सशक्त प्रस्तुति इस उपन्यास में है। रवि बाबू की अपनी गहरी सौन्दर्य दृष्टि, इतिहास-दृष्टि एवं सृजनशीलता तो सर्वत्र अनुस्यूत है ही। मुझे पता नहीं कि जिन दिनों रवि बाबू यह उपन्यास लिख रहे थे, उन दिनों अपने पिछले जन्म में मैं कहाँ था और क्या था? परन्तु अभी भी जो मेरी बुद्धि और मन है, उसके आधार पर कह सकता हूँ कि यदि मैं रवि बाबू का मित्र होता तो प्रथम आत्मीय टिप्पणी इस उपन्यास पर उनसे यही करता कि इसका नाम 'गोरा' न होकर 'आनन्दमयी' होना चाहिए। इस उपन्यास की वास्तविक नायिका आनन्दमयी ही है। सबसे उन्नत व्यक्तित्व, सबसे संवेदनशील मन, सबसे उदात्त दृष्टि, सबसे तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि, सबसे अधिक सहज ज्ञान और सबसे अधिक आत्मविश्वास उनमें ही है। वे मानो उपन्यास की चेतना धुरी हैं।

यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि कुलीन बंग ब्राह्मण कन्या आनन्दमयी ने औपचारिक अर्थ में कोई शैक्षणिक उपाधि नहीं अर्जित की। उन्होंने स्वयं कोई शास्त्र नहीं पढ़े, परन्तु परम्परा से प्राप्त संस्कार और अनौपचारिक शिक्षा तथा शील की परम्परा ने उनके व्यक्तित्व को जितना दृढ़, संयमी, आचार-विचार में पारम्परिक और श्रद्धावान बनाया, उतना ही लचीला, उदात्त और आत्मविश्वास सम्पन्न भी। अपने प्रारम्भिक गृहस्थ जीवन में वे एक नैष्ठिक ब्राह्मण जीवन के आदर्श पर अडिग रहती हैं, इन्हीं आदर्शों में से एक है पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम की प्रगाढ़ता। अंग्रेजी राज में सेना में सिपाही की नौकरी कर चुके कृष्णदयाल पदोन्नति के बाद फौज के अंग्रेजी अफसरों की कृपा पाने के लिए उनसे घुल-मिलकर मदिरा-मांस आदि का निस्संकोच सेवन तो करते ही थे, अपनी पत्नी आनन्दमयी के पवित्रता और सदाचार सम्बन्धी विश्वासों तथा आचरण की खिल्ली भी उड़ाते थे और लगातार दबाव डालकर अन्ततः कम से कम उनका छुआछूत का भाव तो उन्होंने मिटा ही दिया था। बुढ़ापे में कृष्णदयाल को पुनः अपने ब्राह्मणत्व पर अभिमान हुआ और वे नैष्ठिक ब्राह्मण का जीवन जीने लगे। यह नैष्ठिकता इतनी बढ़ गई कि जिस गोरा को उन्होंने चाव से (किसी मेमसाहब द्वारा जन्म के बाद ही बच्चे को छोड़कर स्वर्ग सिधार जाने के कारण) गोद लिया था और जिसे ब्राह्मणत्व पर अभिमान सिखाया था, उसे भी वे म्लेच्छवंशीय मानकर पूजागृह में प्रवेश के अयोग्य मानने लगे थे। परन्तु आनन्दमयी जो आजीवन संस्कारी, सदाचारी हिन्दू स्त्री रहीं, उन्हें इस सबसे ऊपर उठकर जीवन के वास्तविक सत्य को देख सकने की सहज सामर्थ्य मानो जन्म से ही प्राप्त थी। रवि बाबू ने आनन्दमयी का वर्णन करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए लिखा है कि (हिन्दी अनुवाद) : 'चेहरे पर सर्वदा एक साफ-सुथरी और तेजस्वी बुद्धि का भाव झलकता है' (पृ. 17)। वे स्वयं अपने बारे में बताती हैं : 'मेरे सात पीढ़ी के संस्कार एक-एक करके उखाड़ फेंके गए।' (पृ. 18-19)

जिन बातों को अतिशय बौद्धिकता के भार से व्याकुल और राष्ट्र की चिन्ता के ताप से तप्त 'गोरा' समझने में बहुत वक्त लेता है, उन सभी बातों का मर्म मानो देखते और सुनते ही आनन्दमयी सहज जान लेती है। उन जैसा तेजस्वी, आत्मबल सम्पन्न, अन्तर्दृष्टि और प्रज्ञा का धनी तथा साहसी व्यक्तित्व उपन्यास में और किसी का नहीं है।

आयरिश सैन्य अधिकारी का पुत्र और जन्म स्वयं को बंगीय ब्राह्मण मानकर राष्ट्र की सेवा के विषय में अत्यन्त ऊँचे आदर्शों के अनुरूप स्वयं को तपाने के लिए संकल्पित गोरा के समकक्ष चेतना के स्तर पर तो रामशरण हाल्दार की बेटी और परेशचन्द्र भट्टाचार्य की पालिता पुत्री राधारानी उर्फ सुचरिता मुखोपाध्याय ही है। इसलिए उनके बीच सहज आकर्षण सर्वथा स्वाभाविक है। गौशाला में बच्चे को जन्म देकर मर जाने वाली मेमसाहब का बंगीय ब्राह्मण द्वारा पालित पुत्र गौरमोहन हिन्दू हितैषी सभा का सभापति बनता है और ब्राह्मणों के उन आदर्शों को पाने के लिए स्वयं को पूरी तरह तपा डालने को तत्पर रहता है, जो आदर्श उसकी जानकारी में ब्राह्मणों के सर्वोच्च आदर्श हैं।

यह बहुत ही रोचक है कि जहाँ हिन्दुओं के विभिन्न पंथ-शैव, वैष्णव, शाक्त आदि के सैकड़ों उपपंथ परस्पर सहज ही अपनी-अपनी भूमि पर दृढ़ रहते हुए सम्बन्ध बनाना मुश्किल नहीं पाते, वहीं ख़ीस्त पंथ के दार्शनिक नियोग से बंगीय भद्रलोक के एक वर्ग में विकसित—'ब्रह्म समाजी' स्वयं को हिन्दुओं से पूरी तरह अलग और बहुत ऊँचा मानते हैं। स्वयं रवि बाबू के शब्दों में—'वे रामायण, महाभारत, भगवद्गीता आदि को हिन्दुओं की किताबें कहकर घरों से दूर रखना चाहते थे तथा घरों से निर्वासित कर देने के पक्षपाती थे। धर्म शास्त्रों में बाइबिल ही उनका एकमात्र अवलम्बन था।' रवि बाबू इसके लिए ब्राह्मों के 'साम्प्रदायिक उत्साह' का विशेषण प्रयुक्त करते हैं। ब्रह्म समाजी घरों के लोग अन्यों को 'हिन्दू' कहकर तिरस्कार से देखते हैं। उधर उसी श्रेणी के हिन्दू भी ऐसे हैं, कि वे यह मानते हैं कि 'ब्राह्मों के यहाँ जाने का अर्थ है आचार-विचार से हीन होना और ज्ञान शून्य, संकीर्ण हो जाना।'

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ब्राह्मों में यह जो ख़ीस्तपंथ के प्रति निष्ठा एवं जीसस निष्ठा उभरी, उसका स्रोत क्या है?

1. क्या 'श्रेष्ठतर आध्यात्मिक ज्ञान की प्यास' उन्हें वहाँ ले गई? या
2. दर्शन और इतिहास के ज्ञान से वे उधर सत्य पाकर मुड़े? अथवा
3. आत्महीनता से उबरने की लालसा वहाँ ले गई? या
4. प्रबल हो रहे राजपुरुषों के प्रभाव से वे उधर खिंचे?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहला कारण इसलिए सम्भव नहीं, क्योंकि जिस ख्रीस्तपंथ की ओर उपन्यास में चित्रित ब्राह्म समाजी खिंच रहे थे, उसे 'रेनेसां' के बाद का प्रबुद्ध यूरोप (और उसका अंगभूत ब्रिटेन) स्वयं अस्वीकार कर चुका था। यदि आध्यात्मिक ज्ञान की प्यास होती तो श्री रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानन्द के ज्ञान का अध्ययन अवश्य किया गया होता, राजा राधाकान्त देव, श्री गुरुदास बैनर्जी (बांग्ला ग्रन्थ 'ज्ञान ओ कर्म' के प्रसिद्ध लेखक), रमेशचन्द्र दत्त ('प्राचीन भारतीय सभ्यता' के लेखक तथा ऋग्वेद, रामायण एवं महाभारत के बांग्ला में अनुवादक) की रचनाएँ पढ़ी होतीं।

आखिर यह उपन्यास 1906-07 में लिखा गया है। राधाकांत देव का 1867 में देहावसान हो चुका है, 1860 में वे प्रसिद्धि के शिखर पर थे। गुरुदास बनर्जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 1901 तक प्रकाश में आ चुके हैं। रमेशचन्द्र दत्त 1889 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ सम्मेलन की अध्यक्षता कर चुके हैं और विख्यात हो चुके हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस देव भी 1880 तक विख्यात हो चुके हैं, 1886 ई. में जा चुके हैं। स्वामी विवेकानन्द 19वीं शती के अन्तिम दशक में विश्वविख्यात हो चुके हैं। (अन्य भारतीय दर्शनिकों की बात तो यहाँ क्या की जाए, उन्हें तो ब्राह्मो लोग क्या पढ़ते!)।

अतः प्रथम कारण ठहरता नहीं है। ब्राह्म समाजियों में वेदों और हिन्दुत्व को लेकर जो दल बने, वह प्रसंग तो अलग है ही। रवि बाबू के पिता हिन्दुत्व के एक विशेष पक्ष को लेकर 'आदि ब्रह्मसमाज' बना चुके थे।

दूसरा कारण भी सही नहीं ठहरता। गोरा में वर्णित कोई भी ब्राह्मो पात्र भारतीय दर्शन का अधिकारी ज्ञाता नहीं है। भारत के इतिहास की भी उसे कोई जानकारी नहीं है। इतिहास का ज्ञान तो गोरा का ही अधिक प्रामाणिक ठहरता है। गोरा ठीक ही कहता है—'जो रूप में भी सत्य हैं, अरूप में भी सत्य हैं, स्थूल में भी सत्य हैं और सूक्ष्म में भी, ध्यान में भी और प्रत्यक्ष में भी, उन्हें उपलब्ध करने का जो विशाल प्रयत्न भारतवर्ष कर रहा है, मूर्खों की तरह उसकी अवज्ञा करके यूरोप की अठारहवीं शताब्दी के, नास्तिकता और आस्तिकता मिश्रित एक संकीर्ण, नीरस, अंगहीन धर्म को हम एकमात्र धर्म के रूप में ग्रहण कर लें, यह कैसे हो सकता है?' दुःखद तथ्य यह है कि आज उसी बंगाल में रवि बाबू के इन शब्दों का हृदय और बुद्धि से स्मरण करने वाले लोग भी नगण्य हो चुके हैं।

उन दिनों ही स्वयं यूरोप में ख्रीस्त पंथ का उपहास बड़े-बड़े विद्वान उड़ा रहे थे। इंग्लैंड में भी। यह इन ब्राह्मों को पता नहीं था। 'एनलाइटेनमेंट' के तात्त्विक आधारों से ये ब्राह्मो अनजान थे।

भारत में उन दिनों भी अलग-अलग 500 रियासतें थीं जहाँ हिन्दुत्व पूर्णतः प्रतिष्ठित था। यह भी इन्हें ज्ञात नहीं था। यहाँ तक कि 1878 में स्वयं केशवचन्द्र सेन ने हिन्दू पद्धति से अपनी बेटी कूचबिहार के स्वाधीन राजा को इसीलिए ब्याही थी और कूचबिहार, दरभंगा आदि रियासतों में हिन्दुत्व पूरी गरिमा से फैला था। खुद अंग्रेज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कूचबिहार नरेश की चाटुकारिता कर उन्हें पटा रहे थे। अनेक भारतीय नरेशों की चाटुकारिता में अंग्रेज लगे थे। चाटुकारिता पूर्वक बिनय दान, नजराना आदि अनुग्रह रूप में प्राप्त कर ही अंग्रेज भारत में सवल हुए और सबल होते ही अपनी असलियत दिखाने लगे, ऐसे स्पष्टतः अनैतिक लोगों से भला नैतिक जीवन की क्या प्रेरणा कोई भी जागृत व्यक्ति ले सकता है?

ऐसे में, तीसरा और चौथा कारण ही ब्रह्म समाज के उभार-प्रसार का हेतु ठहरता है। राजपुरुषों का राजसी प्रभाव और आत्महीनता से उबरने की आकांक्षा ब्राह्म समाज का प्रेरक-प्रसारक तत्त्व है। परन्तु उस ब्रह्म समाज का भी सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व तो परेश बाबू और सुचरिता ही करते हैं, हारान बाबू से तो जुगुप्सा ही होती है। चेतना की दृष्टि से ब्राह्मों के प्रतिनिधि हारान बाबू और तथाकथित सनातनी हिन्दू हरिमोहनी एक से दिखते हैं। रूढ़ि, दर्प, कुटिलता, क्षुद्रता तथा मायाजाल में समतुल्य। एक के लिए ब्राह्म समाज अपनी निजी लिप्साओं की पूर्ति का साधन है तो दूसरी के लिए हिन्दू धर्म या सनातन धर्म। दोनों का पाखण्ड भयावह है। इसीलिए न पहले की प्रगल्भ विद्वत्ता प्रभावित करती है, न दूसरे की करुण कथा करुणा उपजाती है, अपितु दोनों के प्रति समान तिरस्कार ही जगता है। दम्भ के पोषण का माध्यम कोई भी मतवाद बन सकता है। इसमें सम्बन्धित विचार से कहीं अधिक भूमिका सम्बन्धित पात्र की चित्तभूमि और बौद्धिक स्तर की होती है, यही उपन्यास स्पष्ट करता है।

लेकिन 'गोरा' कोई वैचारिक निबन्ध नहीं है। वह विचारों की प्रस्तुति का औपन्यासिक वितान भी नहीं है। वह सचमुच एक प्रभावशाली उपन्यास है। कथा वहाँ जीवन की है, मतवादों की नहीं, विचार की भी नहीं। वहाँ विचार उतने ही हैं, जितने शिक्षित मध्यवर्ग के औसत जीवन में होते हैं। अतः वह समाजशास्त्रीय अध्ययन की एक सामग्री भले बनाया जा सके, दार्शनिक चिन्तन सम्बन्धी किसी अध्ययन से उसे जोड़ पाना सम्भव नहीं, उचित नहीं।

महत्त्वपूर्ण है उसके पात्रों के मनोभावों की सुन्दर, प्रभावी, सम्यक प्रस्तुति। साथ ही दृश्यों की जीवन्त रसवन्ती छवियाँ जिनमें कवि-कल्पना अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ गद्य में खिली हैं–

श्यामा सुन्दरी सुचरिता के प्रथम दर्शन से मुग्ध पुलकित विनय के लिए सहसा सामान्य दृश्य भी दिव्य दीप्ति से भासित हो उठता है–

'ऐसे अपूर्व आनन्द के साथ ऐसी घनी वेदना का बोध अपने जीवन में उसे कभी नहीं हुआ था। उसका क्षुद्र घर और उसके आसपास का कुत्सित कलकत्ता मायापुरी-सा हो उठा था। जिस राज्य में असम्भव सम्भव हो जता है, असाध्य सिद्ध होता है, जिसमें रूपातीत रूप लेकर सामने दिखाई देता है, मानो ऐसे ही किसी नियम-विहीन राज्य में विनय घूम रहा था। बरसात की सबेरे की धूप की दीप्त आभा उसे मन में बस गई थी, उसके रक्त में बह रही थी, उसके अन्तःकरण के सम्मुख एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्योतिर्मयी यवनिका-सी छाकर दैनिक जीवन की सारी तुच्छता को बिलकुल ओझल कर गई थी।' (पृ. 8)

सुचरिता के हाथ का पता लिखा, डॉक्टरी फीस वाला लिफाफा सतीश लाकर देता है तो विनय के लिए उसकी लिखावट भी चिरस्मरणीय हो गई है और तब–

'वर्षा की संध्या में आकाश का अंधकार मानो भींगकर भारी हो गया है। रंगहीन, वैचित्र्यहीन बादलों के शब्दहीन दबाव के नीचे कलकत्ता शहर मानो एक बहुत बड़े उदास कुत्ते की तरह पूँछ के नीचे मुँह छिपा कुण्डली बाँधकर चुपचाप पड़ा हुआ है।' (पृ. 11) गहरी प्रीति से उपजी एक अनाम उदासी का प्रभाव।

बड़ी-बड़ी आँखों से मधुर स्वर में पूछे गए प्रश्न के उत्तर में गोरा का भारतवर्ष की वृहद प्राचीन सत्ता पर एक प्रभावपूर्ण वक्तव्य सुनते समय सुचरिता जैसी ग्रहणशील रही, उससे गोरा के भीतर सुचरिता के व्यक्तित्व का सौन्दर्य समाता चला गया, तब उस दिन पहली बार गोरा प्रकृति के सौन्दर्य की ओर खिंचा–

'नदी ने उसे भीड़-भरे कर्म-क्षेत्र से किसी अनिर्दिष्ट सुदूर की ओर इशारा कर दिया जहाँ निर्जन जल के किनारे पेड़ों की मिली हुई डालों में न जाने कौन-से फूल खिलते हैं, कौन-सी छायाएँ फैलती हैं। वहाँ निर्मल नीलाकाश के नीचे दिन मानो किसी की आँखों की उन्मीलित दृष्टि है और रातें मानो किसी की झुकी हुई पलकों की लज्जा-जड़ित छाया। चारों ओर से माधुर्य की लहर ने आकर गोरा को जिस एक अतल, अनादि शक्ति के आकर्षण में समेट लिया, उसका कोई परिचय गोरा को इससे पहले नहीं था। वह एक साथ ही वेदना और आनन्द से उसके समूचे मन को एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर ले जाने लगी। आज इस हेमन्ती रात में नदी के किनारे नगर के अव्यक्त कोलाहल और नक्षत्रों के अस्फुट आलोक में गोरा किसी विश्वव्यापिनी अवगुंठिता मायाविनी के सम्मुख आत्मविस्मृत-सा खड़ा हुआ। इस महारात्रि को उसने इतने दिन सिर झुकाकर स्वीकार नहीं किया। इसीलिए आज अकस्मात् उसके शासन के जादू ने गोरा को अपने सहस्त्र-वर्ण डोर से जल, थल, आकाश के साथ चारों ओर से बाँध लिया। गोरा अपने ऊपर स्वयं विस्मित होता हुआ नदी के सूने घाट की एक सीढ़ी पर बैठ गया। वह बार-बार अपने आपसे पूछने लगा कि उसके जीवन में यह किस चीज का आविर्भाव हो रहा है और इसका क्या प्रयोजन है। जिस संकल्प के द्वारा उसने अपने जीवन को एक सिरे से दूसरे सिरे तक व्यवस्थित करके रखा था, उसके बीच इसका स्थान कहाँ है? यह क्या उसके विरुद्ध है–इसे क्या संग्राम करके परास्त करना होगा? यह सोचकर गोरा ने जैसे ही मुट्ठियाँ कसकर बाँधी, वैसे ही बुद्धि से उज्ज्वल, नम्रता से कोमल, दो स्निग्ध आँखों की जिज्ञासु दृष्टि उसके मन के सामने आ गई–किसी अनिंद्य सुन्दर हाथ की उँगलियों ने स्पर्श-सौभाग्य का अनास्वादित अमृत उसके ध्यान के सामने ला रखा–गोरा के सारे शरीर में पुलक की बिजली कौंध गई। अंधकार के सूनेपन में यह प्रगाढ़ अनुभूति उसके सभी प्रश्नों को, उसकी द्विविधा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बिलकुल निरस्त कर गई। अपने पूरे देह-मन से वह इस नई अनुभूति का उपभोग करने लगा, इसे छोड़कर उठने की उसकी इच्छा नहीं हुई' (पृ. 137-138) सुचरिता का सौन्दर्य और प्रकृति का सौन्दर्य एक गहरे स्तर पर एकाकार हो उठे।

ग्रामवासियों पर हो रहे भीषण अन्याय के विरुद्ध न्याय का सहज पक्ष लेते गोरा के साथ अंग्रेज मजिस्ट्रेट ने जैसा निकृष्ट आचरण किया और अकारण ही जेल भेज दिया, इससे वरदासुन्दरी की सम्पूर्ण चाटुकारिता और ब्राह्मों की अंग्रेजों के प्रति सहज अनुरक्ति के संस्कार को ठुकराकर तेजस्विनी ललिता ने मजिस्ट्रेट के स्वागत में कार्यक्रम प्रस्तुत करने से इनकार कर दिया और क्रुद्ध-क्षुब्ध ललिता विनय के साथ स्टीमर में वापस घर लौट पड़ी। रास्ते में विनय के शीलसम्पन्न व्यवहार का चित्रण रवि बाबू यों करते हैं–

'और कुछ नहीं, यही सुन्दर विश्वास-भरी नींद ही ललिता ने आज विनय के हाथों में सौंप दी है। विनय ने किसी महामूल्य रत्न की तरह इस नींद की ही रक्षा करने का भार लिया है। माता-पिता, भाई-बहन कोई वहाँ नहीं है, एक अपरिचित शय्या पर ललिता अपनी सुन्दर देह को लिटाकर निश्चिन्त सो रही है। निश्वास-प्रश्वास मानो उसी निद्रा-काव्य को छन्द में बाँधते हुए शान्त भाव से आ-जा रहे हैं। उस निपुण कबरी की एक लट भी इधर-उधर नहीं हुई है, उस नारी हृदय की कल्याण-कोमलता से मण्डित दोनों हाथ परिपूर्ण विश्राम में बिस्तर पर पड़े हैं, दोनों कुसुम सुकुमार तलवे मानो किसी उत्सव के अवसान-संगीत की भाँति अपनी सब रमणीय गति-चेष्टाओं को स्तब्ध करके बिस्तर पर सटे हुए पड़े हैं। सम्पूर्ण विश्वास की इस छवि ने विनय की कल्पना को छा लिया। तारों-भरे निःशब्द अँधेरे से घिरे हुए इस आकाश-मण्डल के बीचों-बीच ललिता की यह नींद, यह सुन्दर, सुडौल, सम्पूर्ण विश्राम, मानो सीपी में मोती सो रहा हो, आज विनय को मानो संसार का एकमात्र ऐश्वर्य जान पड़ रहा था' (पृ.-189)। और एक स्वस्थ संयमी सदाचारी तरुण के इस मर्यादा सम्पन्न आचरण का ज्ञान होने पर ललिता जैसी शीलवती का आकर्षण दुर्निवार हो उठे, यह भी स्वाभाविक था–

'अभी-अभी एक शीतल झोंका नदी के जल में लहरों का कल-कल उठाने लगा था और निचले तल्ले में एंजिन-घर के खलासियों के काम शुरू करने की हलचल के लक्षण दिख रहे थे। ललिता ने केबिन से बाहर आकर देखा, पास ही एक बेंत की कुर्सी पर गर्म चादर ओढ़े बैठा-बैठा विनय सोया हुआ है। देखकर ललिता के हृदय का स्पन्दन तेज हो गया। सारी रात विनय वहीं बैठकर पहरा देता रहा। इतना पास, फिर भी इतनी दूर! काँपते पैरों से ललिता डेक से केबिन की ओर लौट गई, दरवाजे के पास खड़ी होकर उस हेमन्ती प्रत्यूष के अँधेरे में लिपटे अपरिचित नदी-दृश्य के बीच अकेले सोए हुए विनय की ओर देखती रही। सामने की ओर आकाश के तारे मानो विनय की नींद की रखवाली करते हुए-से जान पड़े, एक अनिर्वचनीय गम्भीर माधुर्य से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका हृदय मानो किनारे तक भर गया। एकाएक उसकी आँखों में आँसू क्यों उमड़ आए, ललिता स्वयं न समझ सकी। मानो जिस ईश्वर की उपासना करना उसने पिता से सीखा है, उसी ने ललिता को अपने दाहिने हाथ से छू दिया हो। मानो नदी के तरु-पल्लवों से छाए हुए निद्रित किनारे पर जब रात के अंधकार के साथ नए आलोक का पहला रहस्यमय मिलन हो रहा है, उसी पवित्र सन्धि-क्षण में नक्षत्रों की भरी सभा में कोई अनाहत महावीणा दुःसह आनन्द-वेदना के दिव्य संगीत में बज उठी हो।' (पृ. 192)

फिर दोनों के भीतर जो एक साथ घटित हुआ, वह लेखक के शब्दों में—

'ओस से भींगे हुए कास-वन के पीछे से आसन्न सूर्योदय की सुनहरी छटा फैलने लगी। इन दोनों ने जीवन में ऐसा प्रभात कभी नहीं देखा था। आलोक ने उन्हें ऐसे कभी नहीं छुआ था। आकाश निरा शून्य नहीं है, वह मौन विस्मय-भरे आनन्द से सृष्टि की ओर अनिमेष देख रहा है, यह उन्होंने पहले-पहल जाना। दोनों की आन्तरिक चेतना आज मानो ऐसी जाग गई थी कि सारे जगत के अन्तर्निहित चैतन्य से मानो उनका अंग-अंग छू रहा था।' (पृ. 193)

इस तरह के दृश्य वर्णनों से सम्पूर्ण उपन्यास जगमग है। इसी प्रकार रवि बाबू पात्रों के मनोभावों के द्वारा न केवल सम्बन्धित पात्र के आन्तरिक मनोभाव व्यक्त कर देते हैं, अपितु उसी में से उन भावों के पीछे छिपी सामाजिक मान्यताओं और वैचारिक सन्दर्भों का सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य भी इंगित कर देते हैं।

ब्राह्मो वरदासुन्दरी की विमूढ़ आस्था का कैसा रोचक चित्रण है—

'उनकी रेशमी साड़ी कुछ अधिक सरसराती थी और उनके ऊँची एड़ी के जूते कुछ अधिक खट-खट करते थे। दुनिया में कौन-कौन-सी बातें ब्राह्म हैं और कौन-सी अब्राह्म, उसकी पड़ताल में वे सर्वदा बहुत सर्तक रहती हैं।...लड़कियों के पैरों में मोजा पहनने और टोपी पहनकर बाहर निकलने को भी वह ऐसा महत्त्व देती हैं मानो ये ब्राह्म समाज के धर्म-सिद्धान्त का अंग हों। किसी ब्राह्म परिवार को जमीन पर आसन बिछाकर भोजन करते देख उन्होंने यह आशंका प्रकट की थी कि आजकल ब्राह्म-समाज फिर मूर्तिपूजा की ओर फिसलने लगा है' (पृ. 44-45)

परन्तु बात मन्दबुद्धि वरदासुन्दरी तक ही सीमित नहीं है। परम बुद्धिमती, परम शीलसम्पन्ना सुचरिता का ब्राह्मो संस्कार भी हिन्दुत्व के प्रति विरक्ति से भरपूर है—

'पहली दृष्टि से ही गोरा के प्रति उसमें एक खीझ उपजी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे किसी व्यक्ति में कट्टर हिन्दूपन को देखकर सह सके, ऐसे संस्कार सुचरिता के नहीं थे, न इतनी सहिष्णुता थी।' (पृ. 50)

और जब सहज प्रगल्भा ललिता प्रथम भेंट में गोरा के प्रति अपनी सहज नापसन्दगी जाहिर करती है तब सुचरिता पुनः हिन्दुतव पर ही कटाक्ष करती है। उद्धरण है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ललिता ने फिर कहा—'लेकिन जो कहो, दीदी, गौरमोहन बाबू मुझे बिल्कुल अच्छे नहीं लगे। कैसा भूरा चिट्टा रंग है, कठैठा चेहरा है, दुनिया में और किसी को कुछ समझते ही नहीं। तुम्हें कैसे लगे?' सुचरिता बोली—'कट्टर हिन्दूपन है।' (पृ. 61)

एक ही परिवेश है। सभी प्रमुख पात्र मूलतः ब्राह्मण कुलों के बंगीय भद्रलोक के अंग हैं। सामान्य संस्कारों की पृष्ठभूमि भी एक है। परन्तु ब्राह्मो और सनातनी हिन्दुओं का बोधजगत, मनोजगत, बौद्धिकजगत्, कल्पनाजगत, ध्यानजगत सभी कुछ नितान्त भिन्न है। यह है श्रद्धा एवं शिक्षा की भिन्नता से उत्पन्न प्रभावों का अन्तर। ब्राह्मो हारान बाबू को अपने हिन्दू अतीत से घृणा ही घृणा है। पर गोरा का मनोजगत सर्वथा पृथक है। रवि बाबू द्वारा किया गया वर्णन देखें—

'कहते-कहते गोरा चटाई छोड़कर उठ खड़ा हुआ और छत पर टहलने लगा। पूर्व में उषा का आभास मानो उसे एक वाक्य-सा लगा, मानो प्राचीन तपोवन से एक वेद-मन्त्र उच्चारित हो उठा। उसका शरीर रोमांचित हो आया—क्षण-भर वह स्तम्भित-सा खड़ा रहा और उसे लगा कि उसका ब्रह्म-रन्ध्र भेद करके एक ज्योति सूक्ष्म मृणाल-तन्तु के सहारे उठकर एक ज्योतिर्मय शतदल-सी सारे आकाश में व्याप कर खिल उठी है—उसके समूचे प्राण, समूची चेतना, समूची शक्ति मानो इससे एक परम आनन्द में जा मिली है।' (पृ. 86)

ब्राह्मणत्व से जुड़ा गोरा अतीत की समस्त गरिमा से स्वयं को एकाकार पाता है तो ब्रह्मसमाज से जुड़ी वैसी ही प्रतिभाशालिनी सुचरिता उस अतीत का सर्वथा परित्याग कर एक नया यूरण्डपंथी भारतीय भविष्य रचने के महत् उत्तरदायित्व का वरण करने को उदग्र है। हारान बाबू से विवाह वह इसी महत उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए करने को उत्सुक है। उसे जो लगता है, वह कवि के शब्दों में—

'वह किसी मनुष्य से विवाह करने जा रही है, इसका उसने हृदय से अनुभव नहीं किया—वह मानो समूचे ब्रह्म समाज के महान मंगल से ही विवाह करने जा रही हो और वह मंगल बहुत-से ग्रन्थ पढ़कर विद्वान हो गया हो तथा तत्त्व-ज्ञान के कारण बहुत गम्भीर हो। विवाह की कल्पना उसके लिए मानो बहुत बड़ी जिम्मेदारी की घबराहट के द्वारा रचा हुआ एक पत्थर का किला हो गई : वह किला केवल सुख से रहने के लिए नहीं है बल्कि युद्ध करने के लिए है—पारिवारिक नहीं, ऐतिहासिक है।' (पृ. 91)

बहरहाल, हारान बाबू के साम्प्रदायिक उत्साह से घनिष्ठ परिचय होने पर सुचरिता के सत्संस्कारों से भरे मन को धक्का लगता है—

'परेश बाबू की शान्त मुख-छवि देखने पर, जिस सत्य को वह हृदय में धारण किये हैं, उसी की महत्ता आँखों के सामने आती है। किन्तु हारान बाबू वैसे नहीं हैं, उनमें ब्राह्मत्व नाम का एक तीखा आत्म-प्रकाश और सब कुछ के ऊपर छा जाता है, उनकी प्रत्येक बात, उनके प्रत्येक काम में अशोभन ढंग से प्रकट हो जाता है। इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रदाय में उनका सम्मान बढ़ा था, किन्तु परेश बाबू की शिक्षा के प्रभाव से सुचरिता साम्प्रदायिक संकीर्णता में नहीं बँध सकी थी, इसलिए हारान बाबू की एकान्त ब्राह्मिकता उसकी स्वाभाविक मानवता को चोट पहुँचाती थी।' (पृ. 92)

आगे पुनः रवि बाबू बताते हैं—

'हारान बाबू के साम्प्रदायिक उत्साह के अत्याचार और नीरस संकीर्णता से सुचरिता का मन भीतर ही भीतर प्रतिदिन उनसे विमुख होता जाता था।' (पृ. 93) हिन्दू समाज की 'संकीर्णताओं' के विरुद्ध उठ खड़े होने की दावेदारी वाले ब्रह्म समाज ने किस प्रकार की नई साम्प्रदायिक घेरेबन्दी की, इसकी झलक रवि बाबू के इन वर्णनों में स्पष्ट रूप से मिलती है—

'ललिता जानती है कि विनय हिन्दू है, किसी तरह भी विनय के साथ उसका विवाह नहीं हो सकता। फिर भी अपने हृदय को किसी तरह वश में न रख पाकर लज्जा और भय से उसके प्राण सूख रहे थे।' (पृ. 218)

इसी प्रकार वरदासुन्दरी कहतीं, 'आजकल सुचरिता हिन्दू हो गई है।' (पृ 234)

आगे पुनः देखिए—

'यह बात भी तरह-तरह से अलंकृत होकर चलने लगी कि सुचरिता हिन्दू हो गई है और हिन्दू मौसी के घर आश्रय लेकर जप-तप, यज्ञ-अनुष्ठान और ठाकुर पूजा करने लगी है।' (पृ. 266) यह है ओढ़ी हुई निष्ठाओं का प्रभाव।

दूसरी ओर, अपने जन्म की सत्यकथा जानकर ब्राह्मण जाति के अतिरिक्त दर्प से मुक्त होकर गोरा और भी निखर उठता है, क्योंकि उसकी निष्ठा सच्ची है। रवि बाबू के शब्द हैं—

'गोरा कहता गया', ...श्रद्धा की नींव पक्का करने की कोशिश में मैं और कोई काम ही नहीं कर सका, वही मेरी एकमात्र साधना थी। इसीलिए वास्तविक भारतवर्ष से आँखें मिलाकर उसकी सच्ची सेवा करने में मैं बार-बार डरकर लौटता ही रहा हूँ। मैंने एक निष्कंटक निर्विकार भारतवर्ष गढ़कर उसके अभेद्य दुर्ग के भीतर अपनी भक्ति को सुरक्षित कर लेने के लिए अब तक क्या-क्या लड़ाइयाँ नहीं लड़ीं? लेकिन आज मेरी कल्पना का वह दुर्ग पल-भर में स्वप्न की तरह उड़ गया है। मैं एकाएक छुटकारा पाकर एक बहुत बड़े सत्य के बीच आ गिरा हूँ। समूचे भारतवर्ष का अच्छा-बुरा, सुख-दुख, ज्ञान-अज्ञान सब बिलकुल मेरे हृदय के पास पहुँच गया है।' (पृ. 452-453)

ब्राह्मणत्व के अतिरिक्त आवेश में गोरा अपनी माँ की सेविका लछमिया के हाथ का दिया पानी भी नहीं पीता था। अब सत्य जानकर, विगत ज्वर होकर (उद्धरण है)—

गोरा ने कहा, "माँ, तुम्हीं मेरी माँ हो। जिस माँ को मैं खोजता फिर रहा था, वह तो यहीं मेरे कमरे में बैठी हुई थीं। तुम्हारी जात नहीं है, तुम ऊँच-नीच का विचार नहीं करतीं, घृणा नहीं करतीं—तुम केवल कल्याण की प्रतिमा हो। तुम मेरा भारतवर्ष हो। माँ अपनी लछमिया को बुलाओ, कहो मुझे पानी पिला दे।' (पृ. 455)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृश्यों और पात्रों के मनोभावों के इन्हीं जीवन्त बिम्बों के सौन्दर्य-सरोवर में हिलोरें लेतीं विचार-वीथियाँ भी वैसी ही आकर्षक, वैसी ही स्फूर्तिप्रद, वैसी ही उल्लासदायिनी हैं :

भारतवर्ष के सत्य को जानने का आग्रह करता गोरा विनय से कहता है—'साधना करो। मन में विश्वास हो तो कठोर साधना में ही सुख मिलेगा। हमारे शौकिया पैट्रियट लोगों में सच्चा विश्वास नहीं है, तभी वे न अपने, न दूसरों के सामने कोई जोरदार दावा कर पाते हैं। स्वयं कुबेर भी अगर उन्हें वर देने आते तो वे शायद लाट साहब के चपरसी की गिलटदार पेटी से अधिक कुछ माँगने का साहस न कर पाते। उनमें विश्वास नहीं है, इसीलिए कोई आशा भी नहीं है।' (पृ. 25)

जब विनय अपनी सीमाओं का उल्लेख कर किसी एक काम का सीधा निर्देश माँगता है, तब गोरा कहता है—

'काम की बात कहते हो? इस वक्त हमारा एकमात्र काम यह है कि जो कुछ स्वदेश का है, उसके प्रति बिना संकोच, बिना संशय, सम्पूर्ण श्रद्धा प्रकट करके देश के अविश्वासियों में भी उसी श्रद्धा का संचार कर दें। देश के मामले में शर्मिन्दा हो-होकर हमने अपने मन को गुलामी के विष से दुर्बल कर दिया है, हममें से प्रत्येक अपने उदाहरण से इसका प्रतिकार करे, तभी हमें काम करने का क्षेत्र मिलेगा। अभी हम जो भी काम करना चाहेंगे, वह केवल इतिहास की स्कूली किताब लेकर दूसरों की नकल करना हो जाएगा। उस झूठे काम में क्या हम कभी भी सच्चाई से अपना पूरा मन-प्राण दे सकेंगे? उससे तो केवल अपने को और हीन ही कर देंगे।' (पृ. 25)

प्रगल्भ ब्रह्मसमाजी हारान बाबू हिन्दू समाज के दोष गिनाते हुए इसमें सुधार की जरूरत पर आवेशपूर्ण भाषण देते हैं। तब—

गोरा ने गरजकर कहा—'सुधार? सुधार बहुत बाद की बात है। सुधार से कहीं बड़ी बात है प्रेम की, श्रद्धा की। पहले हम एक हों, फिर सुधार भीतर से ही अपने आप हो जाएगा। आप लोग तो अलग होकर देश के टुकड़े-टुकड़े करना चाहते हैं—आप लोग कहते हैं, देश में कुसंस्कार हैं इसलिए हम सुसंस्कारी लोग उससे अलग रहेंगे। मैं यह कहता हूँ कि मैं किसी से श्रेष्ठ होकर किसी से अलग नहीं होऊँगा। यही मेरी सबसे बड़ी आकांक्षा है। फिर एक हो जाने पर कौन-सा संस्कार रहेगा, कौन-सा नहीं रहेगा, यह हमारा देश जाने—या जो देश के विधाता हैं वे जानें।' (पृ. 62)

गोरा कहता है कि क्रिश्चियन मिशनरियों एवं ब्राह्म समाजियों द्वारा हिन्दू समाज को 'अन्य' मानते हुए उसके सुधार की दावेदारी की जाती है, जो समाज स्वीकार नहीं करेगा। हारान कहते हैं—क्यों नहीं? तब गोरा कहता है—

'माँ-बाप की ओर से सुधार सहा जाता है, लेकिन पहरेदार की ओर से सुधार में, सुधार से अपमान कहीं अधिक है, इसलिए वैसा सुधार मानने में मनुष्यत्व नष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। पहले अपने बनिए, फिर सुधारक बनिएगा।' (पृ. 62-63) परन्तु आज तो सब सुधारक भारतीय समाज के लिए 'पराए' ही बने हैं।

वह यह भी कहता है–'आप जिन्हें कुप्रथा कहते हैं, केवल अंग्रेजी किताबें रटकर कहते हैं, स्वयं उनके बारे में कुछ नहीं जानते। जब अंग्रेजों की सब कुप्रथाओं की भी आप ठीक ऐसी ही बुराई कर सकेंगे, तब इस बारे में और कुछ कहिएगा।' (पृ. 54-55) यह कथन आज भी प्रासंगिक है।

प्रारम्भ में स्वाभिमानी लोग भी ब्रिटिश सरकारी नौकरी में रहे, परन्तु क्रमशः स्थिति बदलती गई, यह बात सुचरिता से गोरा इन शब्दों में कहता है–

'जो लोग गवर्नमेंट का पक्ष करते हैं वे गवर्नमेंट की शक्ति को अपनी शक्ति मानकर घमण्ड करते हैं और देश के लोगों से अलग एक श्रेणी के हो जाते हैं–ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं, हमारा यह भाव भी त्यों-त्यों बढ़ता जाता है। मैं जानता हूँ, मेरी पहचान के एक पुराने डिप्टी थे–अब काम छोड़ चुके हैं–उनसे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने पूछा था, 'बाबू तुम्हारी कचहरी में इतने ज्यादा लोग कैसे बरी हो जाते हैं?' इस पर उन्होंने जवाब दिया था, 'साहब, उसकी एक वजह है। आप जिन्हें जेल भेजते हैं, वे आपके लिए कुत्ते, बिल्ली के समान हैं, और मैं जिन्हें जेल भेजता हूँ वे तो मेरे अपने भाई लगते हैं।' तब तक भी ऐसे डिप्टी थे जो इतनी बड़ी बात कह सकें, और ऐसे अंग्रेज मजिस्ट्रेटों की कमी भी नहीं थी जो सुन सकें, लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, नौकरी के फन्दे अंग के गहने होते जा रहे हैं, और आजकल के डिप्टियों के लिए भी देश के लोग धीरे-धीरे कुत्ते-बिल्ली के समान हुए जा रहे हैं। और इस तरह तरक्की पाते रहने से जो उनकी केवल अधोगति हो रही है, इस बात की अनुभूति भी उनकी चली जा रही है। दूसरे के कन्धे का सहारा लेकर अपनों को नीचा समझना और नीचा समझकर उनके साथ अन्याय करने को बाध्य होना, इससे अधिक कोई अमंगल नहीं हो सकता।' (पृ. 131)

जिसका चित्त दुराग्रहों से पूरी तरह भरा न हो, वह अपने लिए अपरिचित नई बातों को भी शान्तचित्त से सुनता है और जो सत्य है, उसे ग्रहण करने की पात्रता रखता है। उपन्यास का यह अंश देखिए–

'भारतवर्ष नाम की एक बृहत् प्राचीन सत्ता है, यह बात सुचरिता ने कभी क्षण-भर के लिए भी न सोची थी। यह सत्ता छिपी रहकर भी अधिकारपूर्वक सुदूर अतीत से लेकर सुदूर भविष्य तक मानव-जाति के विराट भाग्यजाल में एक विशेष रंग का सूत्र एक विशेष ढंग से बुनती रही है, यह सूत्र कितना सूक्ष्म और विचित्र है और कितनी दूर तक उसका कितना गहरा प्रभाव है, यह आज गोरा के प्रबल स्वर से सुनकर सुचरिता ने मानो सहसा जान लिया। प्रत्येक भारतवासी का जीवन इतनी बड़ी सत्ता से घिरा हुआ और अधिकृत है, उसे सचेतन भाव से अनुभव न करने से हम लोग कितने छोटे हो जाते हैं और अपने चारों ओर के सम्वन्ध में कैसे बेखबर होकर काम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं, यह सुचरिता के सम्मुख पलभर में स्पष्ट हो गया। इसी आकस्मिक स्फूर्ति के आवेग से सुचरिता अपना सब संकोच छोड़कर सहज विनय से कह उठी, देश की बात मैंने कभी इस ढंग से, उसे इतना बड़ा इतना सत्य मानकर नहीं सोचा।' (पृ. 132)

सुचरिता की मूल चिन्ता धर्म की है। सत्य धर्म की, देश की उपाधि से बंधकर कहीं हम निरूपाधिक सत्य से विमुख न हो जाएँ, यह उस मनस्विनी की सहज चिन्ता है। वह मृदु स्वरों में पूछती है–

'धर्म क्या देश से परे नहीं है?' (पृ. 132) गोरा कहता है–'देश से जो परे है, देश से जो कहीं बड़ा है, वह देश के भीतर से ही प्रकाशित होता है। ईश्वर ऐसे ही विचित्र भाव से अपने अनन्त स्वरूप को व्यक्त करते हैं। जो कहते हैं कि सत्य एक है, इसलिए केवल एक ही धर्म सत्य हो सकता है, कि धर्म का एक ही रूप सत्य हो सकता है, वे इस सत्य को तो मानते हैं कि सत्य एक है, लेकिन इस सत्य को नहीं मानना चाहते कि सत्य अन्तहीन होता है। वह जो अन्तहीन एक है, वह अन्तहीन अनेक में अपने को प्रकाशित करता रहता है–उसी की तो लीला सारे जगत में हम देखते हैं। इसीलिए धर्म-मत भी विचित्र रूप लेकर कई दिशाओं से उसी धर्म-राज की उपलब्धि कराते हैं। मैं निश्चयपूर्वक आपसे कहता हूँ, भारतवर्ष की खुली खिड़की से आप सूर्य को देख सकेंगी–इसके लिए सागर-पार जाकर ख्रिस्तान गिरजाघर की खिड़की में बैठने की कोई जरूरत न होगी।' (पृ. 132-133)। यहाँ ख्रिस्तान गिरजाघर का निषेध नहीं है, उसकी एकान्तिक सत्यता के बलपूर्ण आग्रह का निषेध है।

निश्छल जिज्ञासा से भरी सुचरिता पूछती है–'भारतवर्ष का धर्म-तन्त्र हमें एक विशेष पथ से ईश्वर की ओर ले जाता है। वह विशेषत्व क्या है? (पृ. 133)

रवि बाबू के शब्दों में इस पर गोरा ने कहा–'ब्रह्म जो निर्विशेष है, वह विशेष में ही व्यक्त होता है, किन्तु उसके विशेष का अन्त नहीं है। जल भी उसका विशेष है, स्थल भी उसका विशेष है, वायु, अग्नि, प्राण, उसके विशेष हैं, बुद्धि, प्रेम सभी उसके विशेष हैं। गिनकर उसका कोई अन्त नहीं पाया जा सकता, इसीलिए विज्ञान का सिर चकरा जाता है। जो निराकार है, उसके आकार का अन्त नहीं है–ह्रस्व-दीर्घ, स्थूल-सूक्ष्म का अनन्त प्रवाह ही उसका है। जो अनन्त विशेष है, वही निर्विशेष है, जो अनन्त रूप है, वही अरूप है। दूसरे देशों में ईश्वर को कम या अधिक मात्रा में किसी एक विशेष में बाँधने की चेष्टा होती है–भारतवर्ष में भी ईश्वर को विशेष में देखने की चेष्टा होती है अवश्य, किन्तु भारतवर्ष उसी विशेष को एकमात्र और चरम नहीं कहता। ईश्वर उस विशेष का भी अनन्त प्रकार से अतिक्रमण करता रहता है, इस बात को भारतवर्ष के कोई भक्त कभी अस्वीकार नहीं करते।' (पृ. 133) निश्चय ही यहाँ रवि बाबू की दृष्टि ही अतीव सुन्दरता से व्यक्त है।

'गोरा' का एक अन्य कथन सुनिए–'मूर्ति क्या है, यह केवल आँखों से देखकर नहीं जाना जा सकता। उससे जिसके मन को शान्ति मिली है, जिसका हृदय तृप्त हुआ

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय 132249

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जिसके जीवन को सहारा मिला है, वही जानता है कि वह मूर्ति मृण्मय है कि चिन्मय, ससीम है कि असीम। मैं तुमसे कहता हूँ—हमारे देश का कोई भी भक्त ससीम की पूजा नहीं करता।' रवि बाबू की यही पवित्र दृष्टि आनन्दमयी के इन शब्दों में भी व्यक्त है—बेटा ब्राह्म भी कौन हैं, और हिन्दू कौन हैं? मनुष्य के हृदय की तो कोई जात नहीं है—वहीं आकर भगवान सबको मिलाते हैं और स्वयं भी आ मिलते हैं। उन्हें हटाकर मन्तर और मतवाद पर मिलाने का भार छोड़ देने से थोड़े ही चलेगा?' (पृ. 222)

लेकिन यह उदात्त दृष्टि किसी निष्क्रियता की ओर नहीं ले जाती। सभी सत्य हैं, सभी धर्मपंथ समान हैं। यह तर्क देकर आप किसी एक पंथ द्वारा अधर्म को, पाप को, दूसरों के प्रति अकारण अत्याचार और असहिष्णुता को, दूसरों के अकारण तिरस्कार को भी उनकी तथाकथित धर्मदृष्टि ही मानकर चुप रहें, यह पापपूर्ण कुभावरूपी तथाकथित 'सर्वधर्म-समभाव' इसमें से नहीं निकलता। सच्चे सर्वधर्म सम-भाव में सर्व-अधर्म-विरोध भी सम्मिलित है। शान्ति के नाम पर अनीति, अन्याय, अधर्म को ही धर्म कहकर सहना तो मंगलमय नहीं हो सकता। आनन्दमयी कहती हैं—

'जहाँ भीतर कहीं अन्याय हो, वहाँ बाहर शान्ति रहना ही सबसे बड़ा अमंगल है' (पृ. 278)।

मिथ्या शान्ति नहीं चाहिए। अन्याय को सहती शान्ति नहीं चाहिए। अकारण अनाचार के प्रति अविरोध सिखाती शान्ति एवं सर्वधर्म सम-भाव नहीं चाहिए। साथ ही अपने मतवाद के दर्प में दूसरों के सत्य का अनादर भी नहीं चाहिए। आपका मत जहाँ तक आपको सत्य की साधना में सत्य की पहचान में सहायता देता है, वहाँ तक वह सर्वथा सम्मानयोग्य है। पर अपने मतवादी दर्प में (मैं किसी भी मतवाद से नहीं बँधा हूँ—यह कथन भी एक मतवादी कथन विशेष हो सकता है।) भिन्न मतवालों को मनुष्य ही न मानना तो झूठ का विस्तार ही है। लेखक लिखते हैं—

परेश बाबू ने कहा, "सम्प्रदाय ऐसी चीज है कि लोगों को यह जो सबसे सीधी बात है कि इन्सान-इन्सान है, यही भुला देता है। इन्सान ब्रह्म है कि हिन्दू, समाज की गढ़ी हुई इस बात को विश्व-सत्य से बड़ा बनाकर एक झमेला खड़ा कर देता है। मैं भी अब तक इसी झूठ के भँवर में फँसा हुआ था।' (पृ. 285)। हम सभी जानते हैं कि अन्य सभ्यताओं, समूहों, दलों और व्यक्तियों के नृशंस संहार के लिए विगत कुछ सौ वर्षों में यह तर्क बारम्बार अपनाया गया है कि 'दूसरे (अन्य लोग) इन्सान नहीं हैं, फासिस्ट हैं, साम्प्रदायिक हैं, दौड़ते हुए कुत्ते हैं, अविकसित अर्ध बर्बर हैं, अंधकार में डूबे हैं, मूर्ख हैं, जाहिल हैं, गँवार हैं, प्रतिक्रियावादी हैं, मानवता के दुश्मन हैं' आदि। गोया मानवता भी केवल वह है जो अमुक मतवाद की अनुगामिनी है। ज्यां पाल सार्त्र की यह उक्ति प्रसिद्ध है—'दूसरे नरक हैं, जिनसे होकर मुझे गुजरना है।' यह एक विशिष्ट मतवाद की दृष्टि है, यह सर्वविदित है। यह दृष्टि किसी व्यक्ति को स्वयं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नरक नहीं कहने देती अथवा स्वयं के भीतर का नरक देखने की प्रेरणा नहीं देती। 'अन्यों' को ही नरक देखती है।

दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं, जो अपने समाज के दोष और अनौचित्य से इतने उग्र हो उठते हैं कि स्वयं को इस समाज का सदस्य ही नहीं मानते। रवि बाबू की इस पर जो दृष्टि है, वह यह है—

आनन्दमयी ने कहा, 'गालियाँ और निन्दा सब सिर-माथे पर लेकर भी मैं इस घर, इस समाज को अपनाए हुए हूँ। इसमें मुझे तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं दिखती। कभी ऐसी मुश्किल आ ही गई कि और ऐसे न चल सका, तब ईश्वर जो रास्ता दिखाएँगे, उसी पर चल पड़ूँगी—लेकिन अन्त तक जो मेरा है, उसको अपना ही कहूँगी, वही यदि मुझे स्वीकार न करे तो वह जाने।' (पृ. 299)

सुचरिता सिर झुकाए बैठी रही। आनन्दमयी ने कहा, 'तुम्हारा ब्राह्म समाज भी क्या मनुष्य से मनुष्य को नहीं मिलने देगा? ईश्वर ने भीतर से जिनको एक बनाया है, तुम्हारा समाज बाहर से उन्हें अलग कर रखेगा? जो समाज छोटे अनमेल नहीं मानता, वह बड़े मेल में सभी को मिला देता है, वह समाज क्या दुनिया में कहीं नहीं है? ईश्वर के साथ मनुष्य क्या ऐसे झगड़ा ही करता रहेगा? समाज नाम की चीज क्या केवल इसीलिए बनी है?' (पृ. 300)

भिन्न-भिन्न, चित्र-विचित्र प्रकार के वाक्य गढ़कर उस प्रत्यक्ष सत्य को ढँका नहीं जा सकता—जब आप अन्यों को अपने समकक्ष मनुष्य मानने को ही तैयार न हों। क्योंकि वाक्य कितने भी सुन्दर हों, कितनी भी दक्षता से गढ़े गए हों, कैसी भी कुशल वाक्य-योजनापूर्वक प्रस्तुत किए गए हों, मनुष्य का मन उनके पार सत्य को देख लेता है, भले वह वाक्यों में ही उनका उत्तर वैसी दक्षता से न दे पाए। अंग्रेजों ने भी वाक्य तो यही प्रस्तुत किए थे कि वे 'भारत को महान बना रहे हैं', कि 'क्रान्तिकारी लोग हिंसा के द्वारा देशद्रोह कर रहे हैं और अंग्रेज उनसे भारत की रक्षा कर रहे हैं' कि 'गाँधी ब्रिटिश सुशासन के विरुद्ध असन्तोष भड़काकर शान्ति एवं सुव्यवस्था बिगाड़ रहे हैं', आदि। परन्तु इन कुशल वाक्यों का साथ जिन भारतीयों ने दिया, वे भी इन वाक्यों का असत्य जानते थे, अंग्रेजों का साथ तो वे अपनी निजी लिप्साओं के लिए दे रहे थे। शेष समस्त देशवासी तो इन वाक्यों का असत्य जानते ही थे। रवि बाबू ने इसी दार्शनिक तथ्य को यों स्पष्ट किया है—'केवल वाक्य ही सब कुछ नहीं हैं, मनुष्य का मन नाम की भी एक चीज है।' (पृ. 346)

उपन्यास की कथा और कथा में व्यक्त सम्पूर्ण जीवन के अविच्छिन्न अंग की तरह ही विचार को भी देखा जाना न्याय होगा। विचार मानव-जीवन का रास्ता नहीं है, हो ही नहीं सकता। क्योंकि मनुष्य के भीतर विचार प्रत्यक्षतः परिवर्तनशील हैं। विचार सत्य की छवियाँ हैं। पर वैसी ही छवियाँ तो सत्य की और भी अनेक हैं—अनुष्ठान, भाव, रस, श्रद्धा, धर्म-बोध, इतिहास, राष्ट्र-जीवन, सृष्टि आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु 40 वर्षों बाद, जब मैंने 'गोरा' का अज्ञेयजीकृत यह अनुवाद दुबारा पढ़ा तो कई अन्य विचार भी उभरने लगे। ब्राह्म समाज का बंगीय भद्रलोक में उदय गहरे स्तर पर क्या व्यंजित करता है? शायद यही कि बलपूर्वक यदि राज्यसत्ता किन्हीं बिचारों को प्रजा के एक सबल सम्पन्न वर्ग में आरोपित कर दे तो धीरे-धीरे वे विचार समाज में छा जाते हैं। अपनी सम्पूर्ण परम्परा, संस्कृति, चिन्तन, धर्म—सभी की विस्मृति हो जाती है। ब्राह्म समाज का उदय मानो बंगाल में कम्युनिज्म के प्रसार की पूर्वघटना है, उसका बीज रूप है—गहरी आत्मविस्मृति, देश और विश्व का अद्भुत अज्ञान, अपनी संकीर्ण धारणाओं का प्रचण्ड उन्माद और उनके प्रति विस्मयप्रद आत्मविश्वास। उससे उपजे भाँति-भाँति के मिथक, प्रतीक, नारे, स्वप्न, मनोयोजनाएँ तथा इनसे प्रेरित, जटिल संगुम्फित प्रबल गतिविधियाँ, उन पर आश्चर्यजनक आत्मगौरव, भयावह जड़ता और उस पर दिलचस्प दर्प।

परन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है और वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू धर्म और समाज में वे कौन-सी कमियाँ आ गईं, जिनसे राज्यप्रेरित शिक्षा का ऐसा व्यापक प्रभाव हो सका और घर-परिवार तथा समाज की अनौपचारिक शिक्षा-परम्परा प्रभावशून्य ही हो गई? मानव-मन का निर्माण क्या मुख्यतः औपचारिक शिक्षा और संचार-माध्यमों, राजकीय संरक्षण में पोषित कला-रूपों एवं मनोरंजन-माध्यमों से ही होता है? ज्ञान के पारिवारिक-सामाजिक संस्कार क्या इतने उथले होते हैं? श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, भगवती काली की विराट उपासना-परम्परा, वैष्णव चेतना की हजार-हजार अभिव्यक्तियाँ—कुछ भी क्या बंगीय और भारतीय मानव-मन को गहरे में छू ही नहीं पाए? राज्य के एक प्रबल धक्के ने, राज्यपोषित शिक्षा और संचार माध्यमों के मकड़जाल ने उन सभी ज्ञान-संस्कारों का विलोप ही कर दिया? कम्युनिज्म तथा हिन्दुत्वद्रोही अन्य मतवाद इतनी तीव्रता और प्रगल्भता से कैसे छा गए? तो क्या राज्य ही मुख्य शक्ति है, राज्य की सर्वाधिकारी शक्ति ही सर्वोच्च शक्ति है? यदि हाँ, तो हिन्दू समाज अपने किसी राज्य की वैसी इच्छा क्यों नहीं कर पाता, जैसी इच्छा आस्थावान मुसलमान, आस्थावान ईसाई और आस्थावान कम्युनिस्ट प्रबलता से करते हैं? क्या हिन्दू एक मरणशील समाज है? क्या वह अपने रूपान्तरण के लिए निरीह, अवश, समर्पण भाव से यों प्रस्तुत है? क्या उसमें अपने प्रगल्भ शत्रुओं के प्रचार के प्रति ऐसी गहरी प्रमाण-भावना है कि सत्य का परीक्षण करने की इच्छा ही नहीं उभरती। ईसाइयत, इस्लाम और कम्युनिज्म के नाम पर भी तो भयंकर भेदभाव, ऊँच-नीच का फैलाव हुआ है। विश्व-इतिहास के ये मान्य तथ्य हैं। परन्तु उनमें से कोई भी आत्म-विलोपन के लिए, आत्म-रूपान्तरण के लिए, आत्म-विस्मरण के लिए ऐसे निरीह भाव से प्रस्तुत-समर्पित नहीं है। आखिर उनका बल क्या है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और हिन्दुओं की मुख्य आन्तरिक कमजोरी क्या है? अपने राज्य का अभाव? राज्य द्वारा हिन्दू धर्म को संरक्षण का अभाव? हिन्दुत्व को विशेषतः कलंकित बताने वाली चालू शिक्षा का प्रभाव? भारतीय इतिहास के सम्पूर्ण अज्ञान का और इस्लाम, ईसाइयत तथा कम्युनिज्म के प्रोपेगंडा को ही इतिहास मान लेने की निरीह बौद्धिक द्ररिद्रताजन्य कातरता का परिणाम? ईसाइयत के विरुद्ध उठे महान यूरोपीय बौद्धिक जागरण के पूर्ण अज्ञान का प्रभाव? 'बौद्धिक जागृति के उपरान्त फैली वैज्ञानिक चेतना' से ईसाइयत के 'अज्ञान-जन्य साम्प्रदायिक तथा साम्राज्यवादी उन्माद' का अन्तर न जानने की मूढ़ता का परिणाम? जो आधुनिक पश्चिमी प्रज्ञा भारत के सनातन धर्म की मित्र है और उसके प्रति खुली जिज्ञासा रखती है उसका घोर-अज्ञान? और ईसाई पादरियों द्वारा की जा रही उसकी निन्दा का विमूढ़ अनुसरण? प्रधानतः आध्यात्मिक जिज्ञासा से परिचालित यूरोप को भौतिकवादी कहना और मानने की बौद्धिक उद्दण्डता और विकृति? विश्व के विषय में भयावह अज्ञान का प्रभाव?

गाँधीजी ने सनातन धर्म के एक धर्मयोद्धा के रूप में तत्कालीन ब्रिटिश सभ्यता को पश्चिमी सभ्यता कहकर उसे शैतानी कह दिया तो उसका तात्कालिक रणनैतिक महत्त्व न जानकर तोते की तरह रटे जाना? और एक काल्पनिक शैतानी सभ्यता का शाब्दिक विरोध मात्र करते हुए उसी के दीन-हीन एजेंट या उसी के शौकीन व्यापारी अर्थात् समकालीन नेताओं-अफसरों का दैन्यपूर्वक अनुसरण करने की हीन बौद्धिक दशा? भारतीय राज्य को यूरोप के किसी भी देश की तरह बहुसंख्यकों के धर्म का अधिकृत संरक्षक बनाने वाला संविधान सम्मत कानून लाने की जगह कभी संविधान पर, कभी (काल्पनिक) भौतिकवाद पर, कभी समाज पर दोषारोपण कर हल्के हो जाने का तमस और प्रमाद? भारतीय धर्माचार्यों के अनुयायियों में हिन्दू धर्म को राज्य अपेक्षित संरक्षण दिलाने में अरुचि या उदासीनता तथा इस विषय में ईसाई पादरियों और मुस्लिम मौलवियों तथा उनके अनुयायियों से बौद्धिक रूप में पिछड़े, आध्यात्मिक रूप में आत्मकेन्द्रित तथा राजनैतिक रूप में अज्ञ होने की समकालीन स्थिति? 18वीं शताब्दी के एक यूरोपीय बौद्धिक परिशिष्ट—कम्युनिज्म—के प्रति दारुण दर्प, अज्ञान से परिपूर्ण आत्मगौरव और नशे जैसी मनोदशा में विभोर शिक्षित उच्च-मध्यवर्ग का भारतीय राजनीति में वर्चस्व? मुस्लिम एवं ईसाई साम्राज्यवादी दबावों से शताब्दियों बाद राहत पाने से खुली साँस लेने और मौज करने में मगन हिन्दू मध्यवर्ग का सांस्कृतिक-राजनैतिक आलस्य एवं प्रमाद? या कुछ और? आखिर क्या?

समकालीन भारत में हिन्दुओं की कमजोरी के कारण पर तो मनन होना ही चाहिए। इस पर भी मनन होना चाहिए कि हिन्दी क्षेत्र के आचार्य नरेन्द्रदेव के बाद एकमात्र सच्चे और बड़े कम्युनिस्ट नेता (जिन दोनों के विरोध में ही गाँधीजी ने 1934 ईस्वी में कांगेस छोड़ी थी) श्री जयप्रकाश नारायण ने क्वांटम भौतिकी के वैज्ञानिक तथ्य सामने आने पर और उससे न्यूटॉनियन मॉडल की अवधारणाओं के आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाप्त हो जाने पर उन पर आधारित सोशल इंजीनियरिंग, 'मासेज' के रूपान्तरण आदि विचारों वाले कम्युनिज़्म को तिलांजलि देकर 'सोशलिज्म से सर्वोदय की ओर' शीर्षक प्रसिद्ध व्याख्यान देकर और लेख लिखकर घोषणा की कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की देवी के चरणों में वर्षों भक्तिपूर्वक बैठकर बिताने के बाद मैं यह सत्य जान गया हूँ कि ईश्वर, आत्मा और पुनर्जन्म में श्रद्धा के बिना नैतिक समाज की स्थापना और गतिशीलता असम्भव है, तब भी स्वयं को बौद्धिक स्तर पर कम्युनिज्म से प्रभावित बता रहे या मान रहे बौद्धिकों ने जेपी की उस महत्त्वपूर्ण घोषणा को विचार योग्य तक क्यों नहीं माना? यहाँ तक कि जेपी ने इसी दृष्टि से जो एकमात्र शोध संस्थान बनाया उसमें भी कम्युनिस्ट दृष्टि से ही शोधकार्य होने लगे, ऐसा क्यों?

क्या कारण है कि बंगाल में दिग्गज बौद्धिकों—बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द आदि की, मराठी में वीर सावरकर जैसी विराट प्रतिभा की और हिन्दी में प्रसाद, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी के बाद अज्ञेय जैसी बड़ी प्रतिभा की मानो कोई छाप ही बाकी नहीं है। सभी जगह अठारहवीं शताब्दी के मतवाद—कम्युनिज्म का ही दीन-हीन अनुसरण या कहें, क्षीण-मंद, विकल-विकृत गायन ही चल रहा है? न तो अज्ञेय के समर्थ चिंतन पर उस स्तर के आयोजन हुए, जैसे होने चाहिए थे, न रवीन्द्रनाथ के 'गीतांजलि' और 'गोरा' पर, न महामना मालवीय के चिन्तन और कर्म पर, न डॉ. लोहिया और जयप्रकाश नारायण के अन्तिम दौर के चिन्तन और कर्म पर। उल्टे, इन सबके नाम पर भी वे ही बातें हवा में गूँजती रहीं, जो वस्तुतः कम्युनिज़्म और नेहरूई समाजवाद के साथ सतही पश्चिम यूरोपीय अनुसरणमूलकता के विचित्र संस्करण से उपजी बाते हैं? क्या यह भारतीय शिक्षा में बौद्धिक प्रतिभा को नगण्य और तकनीकी अनुसरण तथा यूरो-अमेरिकी 'स्टाइल्स' की नकल को ही उच्चतम महत्त्व दिए जाने का परिणाम है? क्या हिन्दू जाति अब पुनः बौद्धिक रूप से वैसी समर्थ न होगी, जैसी राजनीति में गाँधी, लोहिया, जेपी, सावरकर आदि के समय तक अभी थोड़े दिन पहले तक थी, दर्शन में स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द और स्वामी विवेकानन्द के समय तक थी तथा हिन्दी साहित्य में प्रसाद, निराला, और अज्ञेय के समय तक, बांग्ला साहित्य में बंकिम से रवीन्द्रनाथ तक के समय में थी?

'गोरा' का चिन्तन आज किसी भी उपन्यास के नायक का चिन्तन क्यों नहीं है? और हिन्दुत्व से गहरा तिरस्कार भाव पाल रहे ब्राह्मों लोगों का ही चिन्तन आज के अनेक उपन्यासों के नायकों-नायिकाओं का चिन्तन क्यों है? ये प्रश्न 'गोरा' को केन्द्रित कर उभरते हैं। इन प्रश्नों से बचने के लिए ही क्या हिन्दी क्षेत्र ने 'गोरा' पर व्यापक चर्चा इस शताब्दी वर्ष में भी नहीं की?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी उपन्यासों में भारतीयता**

नन्दकिशोर आचार्य*

भारतीयता क्या है? क्या भारतीयता एक दर्शन है, या समाज व्यवस्था के कुछ सूत्र जिनकी अभिव्यक्ति की अपेक्षा साहित्य से की जाती है? यह एक स्थिर प्रत्यय है या गत्यात्मक? यदि संस्कृति एक निरन्तर गत्यात्मक प्रक्रिया है तो हम किसी स्थिर निरूपण को भारतीयता नहीं कह सकते। एक सवाल और भी उठता है : क्या साहित्य किसी पूर्व निरूपित प्रत्यय की अभिव्यक्ति मात्र है अथवा जैसा कि हडसन पूछता है, *केवल राष्ट्रीय मनोविज्ञान के इतिहास का एक दस्तावेज?* क्या साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार *तेन* का जाति, युग और क्षण का प्रसिद्ध सूत्र साहित्य की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त है? निश्चय ही तेन द्वारा प्रस्तावित तीनों ही तत्त्वों का साहित्य-रचना में महत्त्व है, लेकिन, लेखक की सर्जनात्मकता और अन्वेषक प्रतिभा की भूमिका का क्या? क्या साहित्य संस्कृति की अभिव्यक्ति मात्र है, उसका सृजन नहीं? वह दर्शन का भावात्मक समकक्ष मात्र है या मानव सत्य के अन्वेषण की एक स्वायत्त अनुभूत्यात्मक प्रक्रिया है, जो अपनी विधि से सत्य का निरूपण करती है?

भारतीय साहित्य की भूमिका सांस्कृतिक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रही है—बल्कि भारतीय चित्त के सृजन में उसकी केन्द्रीय भागीदारी है। *रामायण* और *महाभारत* दोनों ही महाकाव्यों ने भारतीय चित्त के सृजन में किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय या पद्धति की अपेक्षा अधिक रचनात्मक भूमिका निबाही है और कालिदास का योगदान भी इतना महत्त्वपूर्ण है कि एक आधुनिक कवि आलोचक विजयदेव नारायण साही तो भारतीय जीवन की लय को *कालिदासीय लय* की संज्ञा देते हैं, जो अनेक ऐतिहासिक विक्षेपों के बावजूद अभी भारतीय चित्त में धड़कती है। एक आधुनिक योगी, दार्शनिक तथा कवि श्री अरविन्द भी *रामायण, महाभारत* तथा *कालिदास* के लेखन में उस *तपस्* या लौकिक जीवन के पावनीकरण और साधारण

*सुधारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर 334005, मो. 09413381045
**यह आलेख बेल्जियम के गेंट विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत पत्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में ही आत्यन्तिक सत्य या आत्मन् के अनूभूत्यात्मक अन्वेषण की इसी प्रक्रिया का साक्षात्कार कर पाते हैं। *कालिदासीय लय* की व्याख्या करते हुए साही भी उसे एक *नैतिक विजन* की तरह परिभाषित करते हैं। जहाँ एक पावन जीवन की प्रस्तावना के रूप में शक्ति का नैतिकता में विलय सम्भव होता है। हम यहाँ उस सम्पूर्ण भक्ति काव्य का भी स्मरण कर सकते हैं। जिसकी भी भारतीय चित्त के निर्माण में इतनी ही सार्थक भूमिका रही है। कई दृष्टियों से भिन्न होते हुए भी कबीर और तुलसी जीवन में इस तपस् अथवा लौकिक के पावनीकरण को लेकर एकमत हैं।

गद्यात्मक कथा के रूप में उपन्यास निश्चय ही यूरोपीय साहित्य के प्रभावस्वरूप हिन्दी या भारतीय भाषाओं में विकसित एक नया कथा-रूप है, लेकिन इस बात की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि हमारे महाकाव्य भी पद्यात्मक कथा-रूप हैं और इस अर्थ में उपन्यास एक आधुनिक विधा होते हुए भी हमारी महाकाव्यों की कथा परम्परा का ही उत्तराधिकारी है और इस नाते भारतीय जीवन की *कालिदासीय लय* के नए रूपों के अन्वेषण के लिए उत्तरदायी भी।

यहाँ इस संयोग की ही अनदेखी नहीं की जा सकती कि भारतीय और हिन्दी उपन्यास का विकास औपनिवेशिक दासता से संघर्ष के साथ-साथ हुआ है—संघर्ष केवल राजनीतिक दासता से ही नहीं, सांस्कृतिक-मानसिक दासता से भी, जो आर्थिक, सांस्कृतिक हिंसक संरचनाओं का परिणाम थी। जब साही महात्मा गाँधी को हिन्दुस्तान की जिन्दगी की लय की पूर्ण अभिव्यक्ति कहते हैं, तो उनका संकेत गाँधी जी द्वारा इस तपस् के पुनराविष्कार ही नहीं, उसके नए रूपों और आयामों की पूर्व शर्त *साधन की पवित्रता* है क्योंकि यही वह बात है जो हमें तत्काल नैतिक अर्थात् भविष्य की प्रतीक्षा के बिना ही स्वतंत्र कर देती है।

मैं इस परिप्रेक्ष्य में हिन्दी के तीन महत्त्वपूर्ण उपन्यासों का विवेचन प्रस्तावित करता हूँ : प्रेमचन्द का *गोदान*, जैनेन्द्र का *त्यागपत्र* तथा अज्ञेय का *अपने-अपने अजनबी* यद्यपि हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार माने गए लाला श्री निवासदास के *परीक्षा गुरु* भी, प्रकारान्तर से, जीवन में इस नैतिक विजन की केन्द्रीयता को ही केन्द्र में रखता है।

बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे एक पत्र में अपने जीवन के अन्तिम चरण में प्रेमचन्द स्वीकार करते हैं कि वह *स्वराज्य* के लिए लिखना चाहते हैं। महात्मा गाँधी द्वारा आविष्कृत इस *स्वराज्य* पद का तात्पर्य केवल राजनीतिक स्वाधीनता नहीं है। उनका आशय एक *नैतिक विजन* से है। प्रेमचन्द अपने एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध *स्वराज्य के फायदे* में कहते हैं कि केवल स्वराज्य के माध्यम से ही हम अपनी विस्मृत आत्मा को पुनरुपलब्ध कर सकते हैं। प्रेमचन्द जब धर्म पद का प्रयोग करते हैं, तो उनका आशय कभी भी हिन्दू धर्म, इस्लाम या ईसाइयत जैसे ऐतिहासिक धार्मिक सम्प्रदायों से नहीं, वल्कि एक नैतिक आचार संहिता से होता है, जो वास्तविक *स्वराज्य* की नींव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तथा इस नैतिकता और धर्म की आवाजें आत्मा के जागरण के लक्षण हैं, मिलान कुन्देरा ने भी कहीं उपन्यास को *आत्मा* या *आत्म की तलाश* के अर्थ में परिभाषित किया है।

गोदान राजनीतिक स्वाधीनता के संघर्ष की गाथा नहीं है। यह एक किसान परिवार की व्यथा-गाथा है, जो सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक हिंसा का शिकार है। होरी को इस उपन्यास का नायक या केन्द्रीय चरित्र माना जाता है। लेकिन, मेरी सम्मति में इस उपन्यास का केन्द्रीय चरित्र होरी की पत्नी धनिया है क्योंकि प्रेमचन्द का काम्य *नैतिक विजन* अथवा अन्याय के खिलाफ सकारात्मक आवाज उसी के माध्यम से व्यंजित होती है। एक पीड़ित होते हुए भी होरी एक अन्यायपूर्व आर्थिक व्यवस्था तथा मृत सामाजिक रूढ़ियों को स्वीकार कर लेने की ओर अग्रसर दिखाई पड़ता है, लेकिन, उसकी पत्नी धनिया अन्यायी एवं जड़ आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह के स्वर मुखरित करती दिखाई देती है।

वह इस अवस्था के विरुद्ध एक अहिंसक विरोधी का रूप है–एक सत्याग्रही जो न केवल अन्याय के प्रति असहयोग बल्कि न्याय के साथ सकारात्मक सहयोग का रास्ता स्वीकार करती है। वह गोबर के भाग जाने के बाद सामाजिक रूढ़ियों और निन्दा अथवा सामाजिक दंड की परवाह न करते हुए झुनिया को अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार कर लेती है। होरी ऐसा करने के पक्ष में नहीं है, लेकिन धनिया झुनिया को न्याय दिलाने के लिए कटिबद्ध है। इसी तरह, सिलिया के साथ मातादीन का सम्बन्ध ग्राम समाज द्वारा अनुमोदित नहीं होने पर भी धनिया उसकी सहायता के लिए आगे आती है एवं उसे अपने घर में शरण देती है। उसका यह आचरण इस बात को पुष्ट करता है कि धर्म अथवा नैतिकता मृत सामाजिक रूढ़ियों के पालन में नहीं, बल्कि पीड़ित का साथ देने में है।

यहाँ हम महाभारत के द्रौपदी के चीर हरण वाले दृश्य का स्मरण कर सकते हैं, जहाँ धर्म के सभी ज्ञानी चुप हैं तथा सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी युधिष्ठिर द्रौपदी को दाँव पर लगाने को धर्मसम्मत मानते हैं वहीं कृष्ण द्रौपदी की सहायतार्थ प्रस्तुत होते हैं। कृष्ण धर्म का मूर्त स्वरूप हैं, क्योंकि महाभारत की मूल प्रतिज्ञा ही यह है कि जय वहीं हैं, जहाँ धर्म है और धर्म वहीं है जहाँ कृष्ण हैं और कृष्ण इस प्रसंग में द्रौपदी के साथ हैं अर्थात धर्म द्रौपदी के साथ है, चाहे शास्त्रोक्त नैतिक संहिता कुछ भी कहती रहे। धर्म-पीड़ित को पीड़ामुक्त करना है। होरी एक निष्क्रिय पीड़ित है, जबकि उसकी सहपीड़ित धनिया अन्याय के खिलाफ सक्रिय कदम उठाती है चाहे वे कदम कितने छोटे हों। उपन्यास के अन्त में होरी की मृत्यु हो जाने पर *गोदान* के रूप में धनिया की हथेली से गिरने वाले सिक्के इस आत्माहीन व्यवस्था की असलियत को उजागर करते हुए पाठक के मन में ऐसी व्यवस्था के विरुद्ध सक्रिय होने का भाव प्रेरित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैनेन्द्र अपने उपन्यास *त्यागपत्र* में इस *नैतिक विजन* का एक नया आयाम आविष्कृत करते हैं। अपने एक निबन्ध में वह संस्कृति की एक नैतिक आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि स्वयं को विश्व के केन्द्र में मानना असंस्कृत होना है। अहंशून्यता के भाव में रहना ही संस्कृति है। अहंवाद से अहंशून्यता की ओर बढ़ना ही असांस्कृतिक अवस्था से संस्कृति की ओर अग्रसर होना है। अहंकेन्द्रीयता और अस्मिता-संघर्ष के इस दौर में जैनेन्द्र अहंशून्य होकर जीने का आग्रह करते हैं। उनके उपन्यासों के केन्द्रीय चरित्र इसी अहंशून्यता की साधना में रत दिखाई देते हैं।

यह जैनेन्द्र द्वारा उसी *विस्मृत आत्म* की पुनरुपलब्धि का प्रयास है। जिसका जिक्र प्रेमचन्द *स्वराज्य के फायदे* में करते हैं। अन्य के लिए स्वयं का बलिदान ही वह *यज्ञ* अथवा *तपस्* है, जिसका आग्रह कालिदास करते हैं। यह *मम* और *ममेतर के* भेद का विलोप है। मार्टिन बूबर *आई-इट* और *आई-दाऊ* सम्बन्ध विधान की बात करते हैं। जैनेन्द्र *मैं-पन* के विलोपन का आग्रह करते हैं जिसका स्वाभाविक परिणाम शुद्ध अस्तित्व की अनुभूति का उदय है। उल्लेखनीय है कि जैनेन्द्र सत्ता की नहीं शून्यता के अनुभव की बात करते और अस्तित्वानुभव के साथ रखते हैं। अन्य के लिए कष्ट सहन ही सत्याग्रह है, जिसे महात्मा गाँधी सत्य-बल अथवा आत्मबल कहते हैं, जो सत्य या आत्म की अनुभूति की ओर ले जाता है।

त्यागपत्र की मृणाल जैनेन्द्रीय सत्याग्रह की इस अवधारणा का मूर्तिमान रूप है। मृणाल अपने पति द्वारा परित्यक्त है, लेकिन वह पत्नी के अपने अधिकार का कोई दावा नहीं करती। उसका आत्मसम्मान उसे ऐसा दावा करने से रोकता है क्योंकि यदि उसका पति उसे पत्नी ही नहीं मानता तो वह उससे शरण या सहायता का दावा क्यों करे! वह एक कोयले वाले के साथ रहना स्वीकार कर लेती है। यह जानते हुए भी कि एक दिन वह अपने परिवार में लौट जाएगा। बल्कि चाहती है कि वह लौट जाए। वह न अपने पति से विश्वासघात करती है न कोयले वाले से। उसने जो मार्ग चुना है वह अबाध पीड़ाओं से भरा होने पर भी सत्य की ओर ले जाने वाला है। जब उसका भतीजा प्रमोद उसे अपने घर ले जाने के लिए आता है, तो वह उसे पूरा स्नेह करते हुए भी उसके साथ जाना अस्वीकार कर देती है क्योंकि वह अन्य पीड़ित व्यक्तियों के साथ रहकर उनके लिए कुछ करते रहने में सुख अनुभव करती है। उसे अपने आचरण के लिए सामाजिक निन्दा की कोई परवाह नहीं है क्योंकि वह जानती है कि उसका रास्ता ही सत्य का रास्ता है।

नैतिकता किन्हीं सामाजिक रूढ़ियों के निर्वाह में नहीं, अपने प्रति सच्चा होने में है। यह एक भिन्न किन्तु उच्च एवं गहरी नैतिकता है जो सभी प्रचलित नैतिकताओं का अतिक्रमण करती हुई नैतिकता के मूल तक पहुँचती है। सबके प्रति एक अहंशून्य प्रेम, जो शून्यता की अनुभूति साधना तथा आत्मा या सत्य को पाने का उद्यम है, यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति है, धर्म है, भारतीयता है। अपने एक पत्र में पुनर्जन्म के बारे में चर्चा करते हुए महात्मा गाँधी ने जैनेन्द्र को लिखा था कि *मैं-पन* के विलोप के साथ ही पुनर्जन्म के मसले का भी विलोप हो जाता है, क्योंकि जब मैं ही नहीं रहा, तो पुनर्जन्म किसका होगा! इसलिए जब मृणाल जैसे चरित्र इस *मैं* को मिटा पाने की साधना करते हैं, तो वह प्रकारान्तर से परम आत्म की अनुभूति की साधना-प्रक्रिया हो जाती है। यहाँ महात्मा गाँधी के इस कथन का स्मरण भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि नैतिकता और आध्यात्मिकता को विलग नहीं किया जा सकता और नैतिक ही आध्यात्मिक है।

यह स्वाभाविक ही है कि एक स्वातन्त्र्य सेनानी अज्ञेय के लेखन का केन्द्रीय सरोकार स्वतन्त्रता का अन्वेषण होता है। एक लेखक के रूप में वह राजनीतिक से लेकर आध्यात्मिकता तक स्वतन्त्रता के सभी रूपों का अन्वेषण करते हैं। अज्ञेय के लिए स्वतन्त्रता का अर्थ समाज से स्वतन्त्र होना नहीं है, बल्कि समाज में स्वतन्त्र होना है। अपनी स्वतन्त्रता की पूर्व शर्त अन्य की स्वतन्त्रता का सम्मान है। अस्तित्ववादी सार्त्र का प्रसिद्ध कथन है : *अन्य नरक है।* इसके बरक्स अज्ञेय का सूत्र है—*अन्य स्वतन्त्रता है।*

उनके पहले उपन्यास *शेखर : एक जीवनी में* उनका अन्वेषण मूलतः वैयक्तिक और सामाजिक राजनीतिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में है। दूसरे उपन्यास *नदी के द्वीप* में वह अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों में स्वातन्त्र्य का अन्वेषण करते हैं, जहाँ उनके लिए *फुलफिलमेंट* का तात्पर्य है किसी अन्य के लिए उसके जीवन की सार्थकता की अनुभूति का माध्यम हो जाना। अपने तीसरे उपन्यास *अपने-अपने अजनबी* में स्वतन्त्रता का एक और गहरा और आध्यात्मिक आयाम उजागर होता है—स्वत्वरहित प्रेम, करुणा और क्षमा में। यहाँ वरण की स्वतन्त्रता कसौटी नहीं है। दो महिलाएँ—युवा योके और वृद्धा सेल्मा एक काठघर में बन्द हैं, जो बर्फ के नीचे दब गया है। योके असहिष्णु और क्षुब्ध है क्योंकि यह उसका चुनाव नहीं है। वह उस सेल्मा की उपस्थिति को भी बर्दाश्त नहीं कर सकती, जिसके घर में स्वयं उसे शरण मिली हुई है और उसकी हत्या करने की कोशिश भी करती है। सेल्मा वृद्ध, बीमार और मृत्यु के सन्निकट होते हुए भी शान्त और अविचलित रहती है। कभी वह भी एक स्वकेन्द्रित व्यक्ति थी। लेकिन, जीवन के अनुभवों ने उसे सिखा दिया है कि हम अपनी परिस्थिति को चुनने के लिए सदैव स्वतन्त्र नहीं होते, लेकिन, उनके प्रति अपने रवैये का चुनाव हम ही करते हैं।

वास्तविक स्वतन्त्रता अहंकेन्द्रित वरण में नहीं बल्कि अहंकार से मुक्ति में है। अहंकेन्द्रीयता से मुक्त होने के कारण ही वह न केवल योके को क्षमा कर देती है, बल्कि उससे स्वयं क्षमा माँगती है क्योंकि उसकी उपस्थिति योके के क्षोभ की वजह है। मानवीय सम्बन्धों में इस क्षमा की अनुभूति ही ईश्वर की अनुभूति है। उपन्यास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अन्त में योके स्वातन्त्र्य के अपने अबाध आग्रह के चलते मृत्यु का वरण—आत्महत्या करती है। लेकिन, साथ ही ईश्वर को क्षमा कर देती है। अहंकेन्द्रित वरण और क्षमा यहाँ एक साथ हैं।

अज्ञेय इस उपन्यास में अहंकेन्द्रित वरण की चरम सम्भावना तथा अहंशून्य स्वातन्त्र्य की सम्भावनाओं को आमने-सामने रखते हुए आत्मानुभव या ईश्वरानुभूति को क्षमा के रूप में अन्वेषित करते हैं। यह क्षमा उस निर्वैयक्तिक प्रेम और करुणा की अभिव्यक्ति है, जो सत्याग्रह की बुनियादी शर्तें हैं, जिनका अन्वेषण इस उपन्यास में अज्ञेय एक आध्यात्मिक रूप और आयाम में करते हैं। लेखक के मन्तव्यानुसार सेल्मा भारतीय दृष्टि की प्रतिनिधि है और योके प्रचलित अहंकेन्द्रित दृष्टिकोण की। यह कल्पना की जा सकती है कि संवेदना-यात्रा के रूप में सेल्मा शेखर की तलाश की ही मंजिल है।

क्या यह एक संयोग ही है कि यहाँ विवेचित सभी चरित्र नारी चरित्र हैं? क्या इस बात का कोई सम्बन्ध महात्मा गाँधी के इस विचार से भी है कि स्त्रियाँ स्वभावतः पुरुषों की अपेक्षा अधिक सत्याग्रही होती हैं? क्या यह शकुन्तला की वेदना और पार्वती का *तपस्* है, जिन्होंने भारतीय जीवन की उस *लय* को रचा है, जिसे साही *कालिदासीय लय* कहते और उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति महात्मा गाँधी में पाते हैं? क्या ये नारी-चरित्र—*धनिया, मृणाल* और *सेल्मा*—स्वयं महात्मा गाँधी के ही औपन्यासिक अवतार हैं?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी वर्तनी की समस्याएँ

धर्मदेव तिवारी*

हिन्दी बोलने में असावधानी होती है, वह सहन करने के लायक है, क्योंकि जिस भाषा का जितना अधिक विस्तार होता है, उसके व्यवहार में, बोलचाल में विविधता का आ जाना न तो असंगत है और न असंभव। यथा, अंग्रेजी भाषा। यह भाषा आज अन्तरराष्ट्रीय भाषा बन गई है, पर उसके उच्चारण आदि में जो विविधता है, वह किसी से छिपी नहीं है। चीन, जापान, भारत, इंग्लैंड, अमेरिका आदि प्रत्येक देश के उच्चारण में अनेकरूपता तो है ही साथ ही एक ही राष्ट्र में भी उच्चारण की दृष्टि से विविधता पाई जाती है। यथा, बिहार, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, बंगाल, असम आदि प्रत्येक प्रान्त की अंग्रेजी का उच्चारण भिन्न-भिन्न है। अतः यह सिद्धान्त निरूपित होता है कि जिस भाषा का जितना अधिक विस्तार होगा, उसके उच्चारण में उतनी ही अधिक भिन्नता आएगी, किन्तु लेखन में वर्तनी की एकरूपता बरकरार रहती है। यह दूसरी बात है कि अमेरिका ने अंग्रेजी की वर्तनी बदल दी है। उसने देवनागरी के उच्चानुरुप लेखन के वैशिष्ट्य के अनुसार अंग्रेजी की वर्तनी में सुधार किया है। यह सच है कि विश्व की समस्त लिपियों में देवनागरी लिपि अपनी वैज्ञानिकता के लिए प्रसिद्ध है और वह उच्चारण के अनुसार ही लिखी जाती है। इसी विशेषता के कारण उसकी वर्तनी में एकरूपता है, पर आज अंग्रेजों के दलाल या अंगेजी के व्यामोह के कारण हिन्दी की वर्तनी को जानबूझकर या अज्ञान या असावधानी के कारण गलत लिख रहे हैं। यही हिन्दी का दुर्भाग्य है। कुछ लोग जो वर्तनी को बिगाड़ रहे हैं, उन्हें उस बिगड़ी हुई और अशुद्ध वर्तनी में हिन्दी का विकास नजर आता है। यदि अनाचारिता और नियम विरुद्धता ही विकास है, तो मानव को न्यायविरुद्ध आचरण करने पर दण्डित क्यों किया जाता है। नियम दोनों तोड़ रहे हैं। नियम तोड़ने वालों

* आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काटन कालेज तथा गुवाहाटी विश्वविद्यालय और पूर्व अतिथि आचार्य हिन्दी विभाग अरुणाचल विश्वविद्यालय, ईटानगर तथा त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला। संपर्क : सुखदेव भवन, ए.टी. रोड, गुवाहाटी (असम)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए जो दण्ड विधान है, वह सबके लिए एक समान है, न कि अलग-अलग। नीचे गलत वर्तनी के उदाहरण दे रहा हूँ—

1. यह सामान्य नियम है कि जब पुंलिंग से स्त्रीलिंग बनाया जाता है, तब मूल शब्द में ईकार लगाया जाता है। यथा नर + ई = नारी, लड़का + ई = लड़की, चला+ ई = चली, पढ़ा + ई= पढ़ी। इसी वजन पर गया + ई = गयी, नया + ई = नयी जैसी वर्तनी होनी चाहिए थी, पर गई, नई, आदि वर्तनी लिखी जाती है। वर्तनी विशेषज्ञों का मानना है कि गयी, नयी में य् श्रुति नहीं होती। अतः उसे लिखना ठीक नहीं। यह कितना लचर तर्क है, क्योंकि वे ही लोग स्थायी, उत्तरदायी जैसे शब्दों में य् लेखन करते हैं।

इसके साथ ही प्रिंट मीडिया हिन्दी की वर्तनी को बरबाद करने में जी-तोड़ कोशिश कर रहा है। वह हुआ + ई, ए = हुयी/हुये जैसी वर्तनी बेहिचक लिख रहा है। गयी/गये में य की श्रुति नहीं हो रही है और हुयी/हुये में कैसे सुनायी पड़ने लगता है? इस अनाचारिता को लेकर हिन्दी सीखने वाले दंग हो जाते हैं और प्रश्न करते हैं कि चला + ई= चली में ल् का लोप नहीं होता, तो गया + ई = गयी में से य् का लोप क्यों कर दिया जाता है हुआ + ई = हुई होना सहज-सरल है, तो उसमें य् आगम कर हुयी क्यों लिखा जाता है? इसका समाधान मेरे जैसे अल्पज्ञ के पास नहीं है। पर जो लोग विशेषज्ञ हैं, वे तर्कहीन बात कहकर अपने अज्ञान का परिचय देते हैं। ऐसे लोग व्याकरण के नियम से परहेज करने की बात कर हिन्दी की वर्तनी में अराजकता फैलाना चाह रहे हैं।

2. हम भविष्यकाल का जब रूप बनाते हैं, तब मूल क्रिया में एगा प्रत्यय जोड़ देते हैं। यथा चल + एगा = चलेगा, बैठ + एगा = बैठेगा, पढ़ + एगा = पढ़ेगा, इत्यादि। किन्तु जब आकारान्त आदि स्वरान्त क्रियाओं से भविष्यकाल का रूप बनाते हैं, तब उसमें व्/य् का आगम कर देते हैं। इसका क्या कारण है, समझ में नहीं आता। यहाँ विद्वत् मण्डली की अराजकता स्पष्ट है। यथा, खा + एगा = खायेगा/खायगा/खावेगा, सो + एगा = सोयेगा, सोयगा, सोवेगा, इत्यादि। आखिर ऐसा क्यों? क्या हम सीधे खा + एगा = खाएगा; सो + एगा = सोएगा नहीं लिख सकते? क्या विद्वत् मण्डली को इन शब्दों को लिखने में दुरूहता का बोध होता है? सुकर को दुरूह और दुरूह को सुकर प्रमाणित करने का यह कैसा दुराग्रह है? आप गयी, नयी इत्यादि शब्दों से य का उच्चारण नहीं होने के कारण उसका लोप करते हैं। क्या खायेगा जैसे शब्दों में य का उच्चारण होता है। फिर ऐसा दोहरापन क्यों? यह हिन्दी की एकरूपता, सरलता पर घोर कुठाराघात है। इससे सावधान होने की आवश्यकता है। अराजकता न तो समाज के लिए ग्राह्य है और न तो भाषा/वर्तनी लेखन में। यह सर्वत्र त्याज्य है।

3. अनुस्वार-चन्द्रबिन्दु का अन्तर प्रिन्ट मीडिया ने मिटाकर केवल अनुस्वार का प्रचलन कर दिया है, जिसका प्रभाव हमारे छात्रों पर तो पड़ता ही है, साथ ही अनेकशः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धिजीवी विद्वानों पर भी। मैं नहीं समझ सकता प्रिंट मीडिया ने ऐसा क्यों किया? मुझे लगता है कि वह खाता है हिन्दी भाषा का और उसकी ही भाषा/वर्तनी को नष्ट करने वालों से दलाली लेकर ऐसा कर रहा है। दैनिक समाचार पत्र, मासिक, त्रैमासिक पत्रिकाएँ भ्रष्ट वर्तनी के प्रचार में सिद्धहस्त हो रही हैं। समय रहते उसके ऊपर अंकुश नहीं लगाया गया तो उसका दुष्प्रभाव श्रेष्ठ पत्रिकाओं/सन्दर्भ/बहुमूल्य ग्रन्थों पर भी पड़ेगा। बहुत कुछ पड़ भी गया है। मैं कभी भी गई/नई का प्रयोग नहीं करता। इनके स्थान पर मैं गयी/नयी ही लिखता हूँ, किन्तु पत्रिकाओं के सम्पादक महोदय मेरी वर्तनी को अशुद्ध मानकर बदल देते हैं। यानी गयी को गई कर देते हैं। इस तरह जब मैं चन्द्रबिन्दु का प्रयोग करता हूँ, तो सम्पादक महोदय उसे अनुस्वार में बदलकर अपनी बहुज्ञता का गुरुतर बोझ मेरे ऊपर लादकर मेरी शुद्ध वर्तनी को अशुद्ध कर छाप देते हैं। क्या ऐसे लोग भारतीय जनता को हँसते हुए देखना नहीं चाहते? क्या ऐसे वरिष्ठ विद्वत् वृन्द हिन्दी के शब्द कोश से हँस क्रिया को समाप्त कर देना चाहते हैं? क्या वे सर्वसाधारण को हंस (पक्षी) बनाना चाह रहे हैं? क्या वे नहीं जानते कि अनुस्वार-चन्द्रबिन्दु के कारण हमारे शब्दों के अर्थ में अन्तर आ जाता है? वे इस तथ्य को जानकर भी अपनी हठधर्मिता छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। ऐसा लगता है कि कोई उनका गला रेतने के लिए तैयार है, जो जबरन उनसे हिन्दी की वर्तनी को भ्रष्ट करा रहा है।

हाँ, एक बात है कि अनुस्वार-चन्द्रबिन्दु के प्रयोग में सन्देह उत्पन्न हो सकता है? यानी किस जगह अनुस्वार का प्रयोग किया जाए और किस जगह चन्द्रबिन्दु का। यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि तत्सम शब्दों में चन्द्रबिन्दु का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है। वहाँ सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग श्लाघ्य है, किन्तु तद्भव शब्दों में इस सन्देह का निवारण होना आवश्यक है। जिन तद्भव शब्दों में स्वरों की मात्रा ऊपर नहीं रहती है उनकी अनुनासिकता के लिए चन्द्रबिन्दु और जिन तद्भव शब्दों के ऊपर मात्रा दी जाती है, उनके साथ अनुस्वार का प्रयोग होना उचित होगा।[1] यथा, हँस, गाँव, पाँव, हूँ; किन्तु में/नहीं/हैं इत्यादि।

आम आदमी या छात्र में यह धारणा हो गई है कि अनुस्वार का प्रयोग आवश्यक नहीं है। ऐसे लोग में/नहीं/हैं जैसे शब्दों में अनुस्वार का प्रयोग नहीं करते हैं। जब छात्र लिखता है कि हमलोग खेल रहे है तब है को अत्यल्प अशुद्ध मानकर उस पर ध्यान नहीं देते और उस अशुद्धि के लिए हम छात्र को न तो कोई सुझाव देते हैं और न ही दण्डित करते हैं? ऐसा कयों? उक्त अनुस्वार से ही एकवचन से बहुवचन का रूप बना है। यदि वही छात्र अंग्रेजी में इज के स्थान पर आर या आर के स्थान पर इज लिख दें तो उसे अशुद्ध माना जाएगा। ऐसा क्यों? दोनों अशुद्धियाँ समान हैं, फिर ऐसा भेदभाव क्यों? इसका एकमात्र कारण है हमारी मानसिकता में महत्त्व और महत्त्वहीन जैसी बात बैठी हुई है। स्वभाषा/राजभाषा हिन्दी को देश का हर नागरिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्वहीन मानता है और अंग्रेजी को महत्त्वपूर्ण। यही कारण है कि हिन्दी की अशुद्धि पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना अंग्रेजी की अशुद्धि पर। आज भी मेकाले का भूत हमारे ऊपर सवार है। प्रो. (डॉ.) निर्मला एस. मौर्य ने ठीक ही लिखा है—*विश्व में शायद ही कोई ऐसा राष्ट्र होगा, जहाँ एक विदेशी भाषा के द्वारा अपनी राष्ट्रीयता की पहचान होती हो। परन्तु भारत में ऐसा ही है।*[2] इस प्रकार मेकाले का घोषणा पत्र जिसे भारत की सरकार तथा हर बुद्धिजीवी व्यक्ति जानता है। *"मेकाले ने अंग्रेजी काल में भारत में शिक्षा पद्धति की नींव डालते हुए कहा था कि हम इस देश में ऐसे लोगों का निर्माण-विकास करना चाहते हैं, जिनका रंग तो भिन्न होगा, लेकिन उनकी भाषा, रुचि और आचार व्यवहार अंग्रेजों जैसा होगा।"*[3] यद्यपि भारत में इस नीति के अनुकूल हैं तो अल्पसंख्यक, पर बहुसंख्यक के ऊपर हावी बने हुए हैं, क्योंकि वे पद की अमोघ शक्ति से पूर्ण हैं। उनका विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका पर एकाधिकार है। वे मेकाले की दुर्नीति से पूर्णतः परिचित होकर भी अपरिचित बने हुए हैं। यही कारण है कि भ्रष्ट शब्दों का व्यवहार बिना संकोच होता है। यथा हमारे विदेश मंत्री एस.एम. कृष्ण हैं, पर उन्हें सब एस.एम. कृष्णा बोलते-लिखते हैं। इसी तरह हमारे पूर्व प्रधानमंत्री का नाम हैं स्व. पी.वी नरसिंह राव, उसे मीडिया तथा तथाकथित आभिजात्य शिक्षित विद्वानों ने नरसिम्हा, नरसिंघा और न जाने क्या-क्या बना दिया। इस प्रकार हमारे आदर्श पुरुष अवतारधारी, ईश्वर जानेमाने नामों को अंग्रेजों की तरह बिगाड़कर उसका न केवल मजाक उड़ाते हैं, बल्कि उन्हें हेयदृष्टि से देखते हैं। जिन नामों में उपेक्षा भाव, हेय भाव छिपा हुआ है, वही हमारे पण्डितों को आदर्श और श्रेष्ठ प्रतीत होता है। इनके प्रयोग में हमारी कौन-सी बुद्धि काम कर रही है, यह विचारणीय प्रश्न है।

4. दयार्द्र-दयार्द : दैनिक समाचार पत्रों ने दयार्द्र की जगह पर दयार्द लिखना आरम्भ किया है, जिसका अनुकरण भोले-भाले विद्यार्थियों ने कर लिया है। वस्तुतः दया + आर्द्र = दयार्द्र शब्द सर्वथा शुद्ध है, पर अशुद्ध शब्द का प्रचलन चलाया जा रहा है। इसी तरह न अतिदीर्घ, अनतिदीर्घ होगा, न कि नातिदीर्घ। यहाँ संधि न होकर नञ् समास होगा, जिस प्रकार *न ईश्वर अनीश्वर* होता है।

5. त्त लेखन की समस्या : दैनिक समाचार पत्रों के सम्पादक तथा पत्रकार लोगों ने दो तकार लिखने के प्रति बगावत कर दी है और जहाँ त् + त होना चाहिए वहाँ एक त् ही लिखने के पक्ष में हैं। यथा महत्व, सत्व, तत्व इत्यादि। इनका तर्क है कि प्राचीन जमाने में सूर्य्य, धर्म्म, वर्म्मा आदि दो वर्ण लिखे जाते थे, पर उसे आज जिस तरह से समाप्त कर एक ही वर्ण लिखा जाता है, उसी प्रकार महत्त्व, सत्त्व इत्यादि में एक त् का ही लेखन होना चाहिए। यह तर्क अपने आप में पूर्ण निराधार है, क्योंकि संस्कृत व्याकरण का नियम है कि रेफ के बाद यदि व्यंजन वर्ण आता है तो उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकल्प से द्वित्व होता है। इस नियम से सूर्य्य/सूर्य, कर्म्म/कर्म, धर्म्म/धर्म, वर्म्मा/वर्मा दोनों शब्द साधु हैं। उनमें से कोई शब्द लिखा जाय, वह व्याकरण सम्मत होगा, किन्तु महत्त्व/महत्व, सत्त्व/सत्व, तत्त्व/तत्व, महत्ता/महता जैसे शब्दों की ऐसी स्थिति नहीं है। इनमें से एक त् वाले शब्द पूर्णतः अशुद्ध हैं क्योंकि उनका प्रकृति-प्रत्यय नहीं दिखलाया जा सकता। महत्व, तत्व, सत्व का प्रकृति प्रत्यय क्या होगा? मह + त्व, त + त्व, स + त्व दिखलाया जाय, तो वह अत्यन्त हास्यास्पद होगा, क्योंकि मह, त, शब्द नहीं है। वस्तुतः महत् + त्व, सत् + त्व, तत् + त्व, महत् + ता से महत्त्व, सत्त्व, तत्त्व, महत्ता ये ही शब्द निष्पन्न होंगे, जो सर्वथा शुद्ध हैं। इन्हें लिखा जाना भाषा-प्रयोग, वाक्य-संरचना की दृष्टि से श्रेयस्कर है। किन्तु पत्रकार हिन्दी की वर्तनी को बरबाद करने की हठधर्मिता को नहीं त्याग रहे हैं। इसलिए उक्त अशुद्ध वर्तनियाँ प्रचलित हो रही हैं। यदि हिन्दी को सरल और प्रकृति-प्रत्यय सम्मत बनाना है तो दो त वाली वर्तनी स्वीकार करनी होगी, अन्यथा हिन्दीतर लोगों के लिए वह दुरूह हो जाएगी।

सच तो यह है कि आज हिन्दी न तो किसी राज्य या राष्ट्र की भाषा है, बल्कि वह विश्वभाषा की ओर तेजी से अग्रसर होती जा रही है। भले ही भारत में दो-तीन प्रतिशत लोग हिन्दी को हेय दृष्टि से देखें और उसके प्रति अपने प्रदूषित भाव को प्रचलित करते रहें, किन्तु आने वाला समय भारतीय भाषाओं का होगा और उसमें हिन्दी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करेगी। इससे हिन्दी का वर्चस्व स्थापित होगा। इसलिए हमें उसे सर्वांग रूप से विकसित करना होगा, जिसमें वर्तनी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वर्तनी में एकरूपता रहना भाषा प्रयोग की दृष्टि से तथा वाक्य संरचना की दृष्टि से अति आवश्यक है, जिससे भाषा की शिक्षा ग्रहण करने वालों को किसी प्रकार की कठिनाई का बोध न करना पड़े। इसी दृष्टि संपन्नता से हिन्दीतर लोग हिन्दी सहज भाव से तथा अति चाव से सीख सकते हैं। उनकी अभिरुचि का ध्यान हमें सदा रखना होगा।

6. शशि/ शशी इन दोनों शब्दों में से शशी शब्द शुद्ध है, क्योंकि नियम है कि *नकारान्त शब्दों के नकार का लोप होता है और उसके पूर्व स्वर का दीर्घ होता है। यथा, राजन् से राजा, गुणिन् से गुणी, धनिन् से धनी, मंत्रिन से मंत्री, स्वामिन् से स्वामी, अर्थिन् से अर्थी।* इन शब्दों के वजन पर *शशिन्* से *शशी* होगा न कि *शशि*। अतः *शशी* शब्द का ही प्रचलन होना चाहिए था। अनुमान किया जाएगा कि प्रारम्भिक अवस्था में हिन्दी लिखने वालों के समक्ष *शशिकला, शशिप्रभा,* जैसे शब्द थे, जिनमें सामासिकता के कारण *शशी* का *ईकार इकार* में बदल गया। प्रयोगकर्ताओं ने शशिकला से केवल शशि शब्द को ग्रहण कर लिया और उसके मूल शुद्ध रूप पर विचार नहीं किया। इस प्रकार *शशी* के स्थान पर *शशि* शब्द का प्रयोग अनजाने ही प्रचलित हो गया, जो आज तक चला आ रहा है और लोगों के तथा विद्वत् जनों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन में *शशि* ही शुद्ध शब्द है, *शशी* नहीं, ऐसा घर कर गया है। इस प्रकार प्रयोग के कारण शुद्ध *शशी* शब्द अशुद्ध बन गया है और अशुद्ध शब्द *शशि* शुद्ध बन गया, पर शुद्ध शुद्ध होता है और अशुद्ध अशुद्ध।

7. हल्/हलन्त : इन दोनों शब्दों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि आज लोग हल् शब्द का प्रयोग करना भूल गए हैं और हल् के स्थान पर हलन्त शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः अनेक लोग हल् का अर्थ से भी अनभिज्ञ हैं। हल् का अर्थ है स्वररहित व्यंजन वर्ण। स्वररहित व्यंजन वर्णों का सूचक चिह्न हल् है। हलन्त में बहुब्रीहि समास है। विग्रह होगा हल् है अन्त में जिसके वह (शब्द) है हलन्त। इस तरह जिस शब्द के अन्त में स्वरविहीन व्यंजन वर्ण रहता है, वह शब्द हलन्त कहा जाएगा। यथा, श्रीमान्, महान्, जगत्, राजन्, महत्, सत्, तत् इत्यादि। इन शब्दों के अन्त में नीचे जो चिह्न दिया गया है, वह हल् है और वह अन्त में है अतः उक्त सब शब्द हलन्त कहे जाएँगे। इसी तरह चिह्न, क्रान्त आदि शब्दों में शब्द के मध्य में स्वरविहीन व्यंजन वर्ण आए हैं। उन्हें हल् कहा जाएगा, न कि हलन्त। उन्हें हलन्त कहना असंगत, अत्युक्तिकर होगा।

8. वाक्य संरचना : हम वाक्य में अनावश्यक शब्द का प्रयोग करते हैं। डॉ. नगेन्द्र की किताब का नाम है–*साकेत : एक अध्ययन*। यहाँ एक संख्यावाचक विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, जिसकी अनुपयोगिता स्वतःसिद्ध है, क्योंकि उक्त शीर्षक में प्रयुक्त अध्ययन अनेक नहीं है, बल्कि एक ही है। यदि एक का कथन नहीं होता, तो भी अध्ययन बहुवचन का बोध नहीं कराता। अतः उक्त शीर्षक में प्रयुक्त एक शब्द स्वतः अनावश्यक सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार लिखा जाता है–*राम एक अच्छा लड़का है।* प्रस्तुत वाक्य का एक शब्द निष्प्रयोजन है, क्योंकि उक्त वाक्य में राम एक ही है, को चरितार्थ करने वाले शब्द हैं–*अच्छा* और *है*। *लड़का* स्वतः एक वचन में है, इसके साथ ही उसका विशेषण *अच्छा* और उसकी क्रिया *है* एकवचन रूप में हैं, फिर एक संख्या वाचक विशेषण का प्रयोग किसलिए? वस्तुतः Ram is a good boy का हमने अनुवाद किया–*राम एक अच्छा लड़का* है। अंग्रेजी के वाक्य में प्रयुक्त a संख्या वाचक विशेषण नहीं है, बल्कि वह उस भाषा की वाक्य संरचना की अनिवार्यता है, क्योंकि अंग्रेजी व्याकरण के अनुसार व्यंजन वर्ण से प्रारम्भ होने वाले शब्द के पूर्व a और स्वर वर्ण से शुरू होने वाले शब्द के पूर्व an आर्टिकल अनिवार्य रूप से आता है। इसी नियम के अनुसार अंग्रेजी के वाक्य में good के पूर्व a आर्टिकल आया है, जो संख्याबोधक नहीं है, किन्तु हमने उसे संख्यावाचक मानकर a का अनुवाद एक कर दिया, जो सर्वथा असंगत और अनावश्यक है। इसका शुद्ध अनुवाद होगा–*राम अच्छा लड़का* है। यह हिन्दी की वाक्य-संरचना तथा व्याकरण की दृष्टि से सही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. महत्ता/महानता इन दोनों शब्दों में महत्ता शुद्ध है, महानता अशुद्ध। महान् शब्द नहीं है, बल्कि यह महत् का निष्पन्न शब्द है, अतः महान् से ता प्रत्यय नहीं आ सकता। यदि थोड़ी देर के लिए ता प्रत्यय के लगने की संभावना को स्वीकार भी कर लें, तो *महान्ता* सिद्ध शब्द होगा, न कि महानता। वस्तुतः महत् शब्द से *ता* प्रत्यय आने पर महत्ता शब्द निष्पन्न होता है। जिस प्रकार विद्वानता शब्द नहीं होता, उसी प्रकार महानता शब्द भी नहीं होना चाहिए, पर प्रयोग की अवस्था को देखकर इसे स्वीकार कर लिया गया है।

10. तत्सम शब्दों के लेखन की वर्तनी पर विचार कर लेना अनुचित नहीं होगा। हमें तत्सम शब्दों की वर्तनी को अपरिवर्तित रखना चाहिए अन्यथा सन्धि प्रकरण में हमें कठिनाई का बोध करना पड़ेगा। यथा जगत् शब्द तकारान्त है। यदि इसे स्वरान्त लिखते हैं, तो हम *जगदीश, जगन्नाथ* जैसे शब्दों को निष्पन्न नहीं कर पाएँगे। *जगत् + ईश = जगदीश, जगत् + नाथ = जगन्नाथ* यदि हम जगत स्वरान्त लिखते हैं, तो *जगत + ईश = जगतेश* शब्द निष्पन्न होगा, न कि जगदीश। दूसरी बात यह है कि जगत + नाथ में कोई सन्धि नहीं हो सकती। ऐसी परिस्थिति में *जगन्नाथ* शब्द निष्पन्न नहीं हो सकता। इसी तरह अन्य व्यंजन सन्धियों से निष्पन्न शब्दों को देखा जाएगा। इसके अतिरिक्त जब हम विद्यार्थी को स्वरान्त जगत लिखने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, तब सन्धि के समय वह हलन्त जगत् कैसे लिखेगा? यह शब्द उसके न तो मस्तिष्क में और न अभ्यास में रहता है। इसलिए यह व्यंजनान्त जगत् आदि शब्दों को देखकर भौंचक हो जाता है। अतः तत्सम शब्दों का लेखन उसके मूल रूप में किया जाय तो किसी प्रकार का ननु नच नहीं रह जाएगा।

11. *तद्रूप-विद्रूप* शब्दों को देखने पर ऐसा लगता है कि *तद्रूप* के सादृश्य पर *विद्रूप* लोगों ने बना लिया, पर *विद्रूप* पूर्णतः अशुद्ध शब्द है क्योंकि विद् धातु है, उपसर्ग नहीं। धातु से *विद्रूप* नहीं होगा और यदि हठधर्मिता के कारण उसे बना लिया जाए, तो उसका अर्थ होगा—ज्ञान रूप न कि *खराब रूप*। खराब रूप के अर्थ में *विरूप* होगा न कि *विद्रूप*। मैंने अपने लेख में विरूप शब्द का प्रयोग किया था अवश्य, किन्तु सम्पादक महोदय की बहुज्ञता से उसे विद्रूप मुद्रित कर दिया गया और मेरे ऊपर उन्होंने उपकार का बोझ लाद दिया। ऐसे विद्वान् सम्पादक को मैंने एक पत्र लिखकर स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्हें साधुवाद दे दिया। इस प्रकार अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया।

12. *विश्व के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने पुनर् + रचना = पुनारचना, निर् + रोग = नीरोग, निर् + रस = नीरस* इत्यादि कुछ शब्दों की निष्पत्ति के लिए नियम बनाया कि *रेफ के बाद रकार रहने पर रेफ का लोप हो जाता है और उसके पूर्व स्वर का दीर्घ होता है।* यथा, *नीरोग, नीरस* इत्यादि। इस नियम के आधार पर उक्त दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दों को हिन्दी के विद्वानों ने तो स्वीकार किया, पर *पुनर् + रचना = पुनारचना* और *अन्तर् + राष्ट्र = अन्ताराष्ट्र* जैसी वर्तनी की जगह पर *पुनर्रचना और अन्तर्राष्ट्र* जैसे शब्दों को ग्रहण किया, जो भारतीय संस्कृति के पूर्णतः विपरीत है। यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि शब्द ब्रह्म है और वह अपने देश की संस्कृति का बोधक भी है। यदि किसी देश की संस्कृति नष्ट हो जाए और उस देश का साहित्य बचा रहे, तो साहित्य की शब्द-सम्पदा से संस्कृति पुनः प्रतिष्ठित हो जाएगी। यदि कभी कोई भारतीय संस्कृति का विश्लेषण शब्द-सम्पदा के आधार पर करेगा, तो पुनर्रचना, अन्तर्राष्ट्र जैसे शब्दों के आधार पर यह निष्कर्ष स्थापित करेगा कि भारत में स्वजाति के सिर पर बैठने की संस्कृति रही है, क्योंकि उक्त दोनों शब्दों में रेफ अपने स्वजाति वर्ण रकार के मस्तक पर बैठा हुआ है। इसी दोष से बचने के लिए पाणिनी ने उक्त नियम बनाया था। वस्तुतः *अर्धमात्रा लाघवेन वैयाकरणाः पुत्रोत्सवः मन्यन्ते* के सिद्धान्त को मानने वाला शिरस्थ वैयाकरण ने इस दोष से बचने के लिए ही उक्त दो सूत्रों का निर्माण किया। वे हैं—*रोरि* और *ढ्र लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः*। सच तो यह है कि इन दोनों शब्दों को छोड़कर दूसरा कोई भी ऐसा शब्द नहीं है।

आचार्य पं. किशोरीदास वाजपेयी ने अपने शब्दानुशासन की विसर्ग संधि में लिखा है कि *रेफ से परे रकार रहने पर रेफ का लोप होता है और उसके पूर्व अ, इ, उ का दीर्घ होता जैसा नियम हिन्दी ने स्वीकार नहीं किया है।* यदि पण्डित जी का उक्त नियम ठीक है, तो *नीरस, नीरोग* जैसे शब्दों में कौन-सी सन्धि है? नियम ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसको एक जगह लागू किया जा सके और दूसरी जगह नहीं। अतः पण्डित वाजपेयी का उक्त नियम एकदेशीय होने के कारण मान्य नहीं होना चाहिए।

13 मुझे यह परिज्ञान नहीं होता कि शुद्ध वर्तनी लिखने से लोग क्यों कतराते हैं और भ्रष्ट वर्तनी लिखकर क्यों गर्व करते हैं। यही हालत हमारी उपाधियों की है। हम जो उपाधि है, वह न कहकर अंग्रेजों का अनुकरण कर उपाधियों/शब्दों को बिगाड़कर बोलते हैं और अपने अत्याधुनिक आभिजात्य होने का गर्व करते हैं। यथा *शुक्ल > शुक्ला, मिश्र > मिश्रा, > गुप्त > गुप्ता* इत्यादि। इसी तरह कुछ नामों का उच्चारण करते हैं। यथा—*अशोक > अशोका, ब्रह्मपुत्र > ब्रह्मपुत्रा, विद्यालय > विद्यालया* इत्यादि। शब्द के अन्त में ए आता है, जिसके कारण इस तरह का उच्चारण करने का तर्क दिया जाता है। ऐसे लोग न तो भरत, कमल लिख सकेंगे और न उनका उच्चारण कर सकेंगे, क्योंकि ऐसे लोगों के लिए *ए आ* का बोधक है अ का नहीं। यही कारण है कि देवनागरी में लिखा जाता है—*आन्ध्र, महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल* किन्तु हमारे विद्वान् हिन्दी समाचार वाचक उन्हें क्रमशः *आन्ध्रा, महाराष्ट्रा, कर्नाटका, केरला* बोलते हैं। इस मनमौजीपन का क्या उपचार हो सकता है? अपनी भारतीय भाषाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को हेय दृष्टि से देखना और विदेशी भाषा की पूजा करना। इस नियति के कारण हम पीछे हैं, पिछड़े हुए हैं क्योंकि जिस प्रकार दूसरे की सन्तान को कोई दूसरी माँ प्रथम माता की तरह प्यार नहीं दे सकती, उसी प्रकार दूसरे की भाषा से कोई देश समुन्नत या विकसित नहीं हो सकता। चीन, जापान, जर्मनी, फ्रांस, रूस ऐसे विकसित देश हैं, जो न तो किसी दूसरे की भाषा के सहारे और न किसी का मुखापेक्षी होकर विकसित हुए हैं। ये स्वभाषा प्रेम, स्वदेश प्रेम, कड़ी लगन, कड़ी मेहनत और पूरी निष्ठा के कारण विकसित हुए हैं। यदि हमें विकसित होना है, तो उक्त देशों की विशेषताओं को अपने में आत्मसात करना होगा और निर्द्वन्द्व भाव से आगे बढ़ना होगा। यही एकमात्र प्रगति, विकसित होने का मूल मन्त्र है।

सन्दर्भ

1. आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा, हिन्दी समस्याएँ और समाधान, पृ. 105 से साम्य।
2. प्रो. निर्मला एस. मौर्य, हिन्दी में उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान, संचार बुलेटिन, सं. विनय शर्मा, Vol. I, Issue 2, April-June-11, पृ. 1
3. प्रो. सत्येन्द्र श्रीवास्तव, ब्रिटेन में हिन्दी, संचार बुलेटिन त्रैमासिक पत्रिका, सं. डॉ. विनय शर्मा, वही, पृ. 9

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी वर्तनी की एकरूपता के व्याकरणिक आधार

रवीन्द्र कुमार पाठक*

हिन्दी-वर्तनी की अनेकरूपता आज भी किसी हद तक बनी हुई है—यह दुखद सच्चाई है। अनेकरूपता के पीछे भाषा के कालगत एवं स्थानगत विस्तार रूप कई कारण हैं, प्रयोक्ताओं का रुचि-स्वातन्त्र्य भी अपनी जगह है, साथ ही, मानकीकरण के किए गए उपयोगी प्रयासों से उनकी अनभिज्ञता भी एक बड़ा कारण है। परन्तु, एक पक्ष यह भी है कि हिन्दी-वर्तनी के मानकीकरण के लिए हिन्दी भाषा के व्याकरिणक गठन का जो बोध आवश्यक है, उसका भी किन्हीं प्रसंगों में अभाव (या अपर्याप्तता) दिखलाई पड़ता है अथवा उसकी अनदेखी की जाती है।

व्याकरण जिस भाषा का अनुशासक है, वह मौखिक के साथ लिखित भी है। भाषा के लेखन के मानक या एक आदर्श रूप का विचार किसी हद तक व्याकरण-ज्ञान की अपेक्षा रखता है। 'किसी हद तक' इसलिए कहा गया कि ध्वनि/वर्ण-चिह्नों के संकेतों में अनेकरूपता दिखलाई पड़ रही है, उसे दूर करना व्याकरण का विषय नहीं है। वह मिल-बैठकर तय कर लेने की वस्तु है। लिपि-चिह्न भाषा की ध्वनियों के यादृच्छिक और रूढ़ संकेत ही तो हैं। इसलिए, किसी ध्वनि का एकाधिक तरह से अंकन हो रहा है तो उसे किसी एक रूप में स्थिर आम सहमति से किया जा सकता है। 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' ने एक बड़ी पहल द्वारा ऐसा किया भी है, जिसे कुछ सुधारों के बाद सर्वस्वीकार्य बनाने की आवश्यकता है। किन्तु, एक बार जो संकेत स्थिर किया जाए, उसी का निर्वाह हर अवस्था में हो—यह सदाध्यातव्य है। संयुक्त व्यंजनों का लेखन करते समय, घटक बने व्यंजनों की स्पष्ट प्रतीति हो, लेखन में उनके पूर्वापर क्रम और संयोग में पूर्ण (स्वर युक्त) या अर्द्ध (स्वर हीन) स्थिति का खयाल रखा जाए—यह आग्रह एक हद तक व्याकरिणक आग्रह है। परन्तु, असली व्याकरिणक सवाल वहाँ खड़ा होता है, जहाँ शब्दों (और उनके रूपान्तरों) के लेखन में अनेकरूपता

---

* डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक, सहायक प्राध्यापक, जी.एल.ए. कॉलेज, मेदिनीनगर, झारखण्ड; पत्राचार पता : ग्राम-पाटक विगहा, पोस्ट-जम्होर, जिला-औरंगावाद (विहार), पिन 824121, मो. 09801091682

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आने लगे। तब, वह व्याकरण का ही विवेच्य बन जाता है। उदाहरणस्वरूप, 'जाएगा-जायेगा-जायगा-जावेगा' या 'लिए/लिये' आदि विकल्पों में ग्राह्य रूप का निश्चय व्याकरण के द्वारा ही हो सकता है। किसी शब्द की व्युत्पत्ति या व्याकरणिक संघटना की जानकारी के बिना उसकी वर्तनी असंदिग्ध नहीं हो सकती। जैसे–'कृपा-क्रिया', 'शृगाल-श्रीगणेश' आदि युग्मों में प्रथम अक्षर में वर्तनी का भेद इनके शाब्दिक गठन के भेद से हुआ है। इस आलेख में हिन्दी-वर्तनी की एकरूपता में सहायक होने वाले कुछ इसी प्रकार के व्याकरणिक आधारों पर कुछ बातें की जा रही हैं।

1. एक शिरोरेखा में जोड़कर या अलग अथवा योजक-चिह्न के साथ लिखने की समस्या

यह समस्या 'समास', 'सन्धि' एवं परसर्गों के लेखन से सम्बन्धित है। संस्कृत में समस्त पद को एक शिरोरेखा में ही लिखने की परम्परा रही है, परन्तु हिन्दी में वाचन और स्पष्टता के लिहाज से ऐसा बन्धन नहीं है। यहाँ सिद्धान्ततः अन्वय की दृष्टि से एकपदता मानते हुए भी, अक्सर घटक पदों की स्पष्टता या अर्थ-भ्रान्ति से उन्हें बचाने के लिए उनका विश्लिष्ट प्रयोग किया जाता है तथा ऐसे घटक पदों के बीच योजक चिह्न (हाइफन) डाल दिया जाता है। इस चिह्न को 'समास-चिह्न' भी कहते हैं। जैसे–'राज्य-सूची', 'सीता-गीता' आदि। इसे वियोजक चिह्न भी कहा जा सकता है। स्पष्ट है कि इस प्रसंग में यह जितना योजक उतना ही वियोजक भी है–समस्त/एकपदीभूत इकाई के घटकों को अलग-अलग प्रतीत कराने वाला। समस्त पद बनने की प्रक्रिया में जहाँ सन्धि हुई हो (अथवा, इससे अलग किसी प्रसंग में सन्धि हुई हो) तो एक शिरोरेखा में लिखना अनिवार्य होता है। जैसे–विद्यालय (विद्या + आलय), खरीददार (खरीद+दार), तभी (तब+ही) आदि। इसी तरह, द्विगु, बहुव्रीहि तथा अव्ययीभाव के समस्त पद प्रायः एक ही शिरोरेखा में लिखे जाते हैं। जैसे–त्रिभुवन, चौराहा, जलज, दशमुख, प्रतिदिन, हाथोंहाथ, रातोंरात आदि। 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' की पुस्तिका ('देवनागरी लिपि तथा हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण', संस्करण 2006) में इस विषय में उपयोगी सुझाव दिए गए हैं। उसके अनुसार, द्वन्द्व समास में पदों के बीच योजक चिह्न अनिवार्य रूप से रखे जाने चाहिए। किन्तु, तत्पुरुष समास में केवल वहीं योजक चिह्न का प्रयोग हो, जहाँ उसके बिना अर्थ-भ्रम होने लगे। जैसे–भू-तत्त्व (पृथ्वी-तत्त्व) भूतत्व (भूत होने का भाव), अ-नति (नम्रता का अभाव)–अनति (थोड़ा) आदि। यहाँ इतना जोड़ देना ठीक रहेगा कि अर्थ का सन्देह जिस किसी समस्त पद में हो, वहाँ स्पष्टता के लिए यथावश्यक योजक चिह्न का प्रयोग होना चाहिए। उक्त पुस्तिका में (पृष्ठ 9) ही इस प्रसंग में जो बाकी दो उदाहरण दिए हैं, वे बहुव्रीहि समास के हैं, न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि तत्पुरुष समास के—अ-नख (बिना नख का)-अनख (क्रोध), अ-परस (जिसे किसी ने न छुआ हो) अपरस (एक चर्मरोग)। उक्त पुस्तिका में यह भी सुझाव दिया गया है कि "कठिन सन्धियों से बचने के लिए भी हाइफन का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—द्वि-अक्षर (द्व्यक्षर), द्वि-अर्थक (द्व्यर्थक) आदि।" यह सुझाव हिन्दी भाषा में सन्धि की स्थिति/भूमिका से सम्बन्धित है। संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी वियोगात्मक वर्ग की भाषा है। इसी से वह संस्कृत की तरह 'सन्धि' की प्रचंड प्रेमी नहीं। दो पदों के बीच वर्ण सामीप्य की सन्धि जैसी स्थिति बनने पर, कई बार वह ठहराव का सहारा लेकर उच्चारण कर लेती है, परन्तु 'सन्धि' करने से स्वयं को बचाती है। समास रहने पर यदि सन्धि की स्थिति बनी रही हो तो जहाँ संस्कृत में सन्धि लगभग अनिवार्य होती है, वहीं हिन्दी ने ऐसी अनिवार्यता नहीं रखी है। हिन्दी पद-पद को स्पष्ट प्रतीयमान देखने की अधिक पक्षधर है। वैसे उचित यही है कि सन्धि करने से मूल शब्द (पद) ज्यादा विकृत होते दिखें तो थोड़ा ठहर कर उच्चारण कर लेना उचित है, न कि सन्धि करना। जैसे—'स्त्री+उचित' का संयोग रहने पर संस्कृत अनिवार्य रूप से 'स्त्र्युचित' कर लेगी। परन्तु, हिन्दी को यह रास्ता पसन्द नहीं। या तो वह सन्धि करेगी ही नहीं, 'स्त्री-उचित' जैसा प्रयोग करेगी अथवा सन्धि करेगी भी तो अपनी प्रवृत्ति (पद-विकृति न्यूनतम रखना ताकि पद-स्पष्टता बनी रहे) के तहत 'स्त्रियोचित' जैसा प्रयोग करेगी। हाँ, जैसा वाचन में होगा, तदनुसार लेखन होगा। ऊपर कहा गया है कि सन्धि होगी, तो एक शिरोरेखा में लेखन होगा—'स्त्रियो चित' नहीं, 'स्त्रियोचित'—यही ठीक है। सन्धि घटित होने से यदि बचाया गया हो तो घटकों को एक शिरोरेखा में लिखने की अनिवार्यता नहीं है। 'द्विअक्षर', 'द्विअर्थक' भी लिख सकते हैं, इन्हें हाइफन से विलग करके भी लिख सकते हैं—'द्वि-अक्षर', 'द्वि-अर्थक'। 'निदेशालय' ने दूसरी स्थिति को अनिवार्य बनाने का सुझाव दिया है (जो उचित ही है), जिसके लिए उसने 'कठिन सन्धियों से बचने के लिए' जैसा शब्द-प्रयोग किया है। समास के घटक पदों की विभेदकता की प्रतीति योजक-चिह्न से रहित विश्लिष्ट प्रयोग द्वारा भी सम्भव है, परन्तु उससे समास की एकत्व वाली धारणा बाधित हो जाएगी।

'सा' 'जैसा' आदि : 'निदेशालय' ने 'सा'', 'जैसा' आदि से पूर्व हाइफन रखे जाने का सुझाव दिया है (पृष्ठ 9)—तुम-सा, राम-जैसा, चाकू-से तीखे। परन्तु, प्रयोग यदि 'राम, श्याम और मोहन जैसा' हो, तो? स्पष्ट है कि यदि 'जैसा' के पूर्व हाइफन लगा दिए जाए, तो वह केवल 'मोहन' से सम्बन्धित होगा। तब, यह विधान करना होगा कि एकाधिक पदों के बाद उनसे सम्बन्धित होकर 'सा'/'जैसा' आता है, तो वह बिना योजक-चिह्न के आएगा; अन्यथा योजक चिह्न अनिवार्य होगा। इस प्रकार की द्विधा व्यवस्था से बचने अथवा एकरूपता बनाए रखने के लिए क्यों न 'जैसा'/'सा' का प्रयोग आधारभूत पद से योजक-चिह्न-रहित, एकदम विलग करने का विधान बना दिया जाए?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वाला' का प्रयोग : इसी तरह, 'वाला' के प्रयोग को समझना चाहिए। उसे एकरूपता की दृष्टि से हर जगह, हर स्थिति में अलग ही लिखना चाहिए। जैसे—करने वाला, दूध वाला आदि। परन्तु, इस सम्बन्ध में 'निदेशालय' ने जो सुझाव दिए हैं, वे तर्कसंगत नहीं हैं—"क्रिया रूपों में 'करने वाला', 'आने वाला', 'बोलने वाला' आदि को अलग लिखा जाए। जैसे : मैं घर जाने वाला हूँ, जाने वाले लोग।"

"योजक प्रत्यय के रूप में 'घरवाला', 'टोपीवाला' (टोपी बेचने वाला), दिलवाला, दूधवाला आदि एक शब्द के समान ही लिखे जाएँगे।"

"वाला जब प्रत्यय के रूप में आएगा तब तों मिलाकर लिखा जाएगा, अन्यथा अलग से।" (पृ. 14-15)

सवाल है, क्या सिर्फ 'घर वाला', 'टोपी वाला' जैसे उदाहरणों में 'वाला' प्रत्यय-रूप है? पहले नियम में आए 'जाने वाले लोग' में भी तो वह प्रत्यय-रूप है। 'जाने वाले लोग' और 'टोपी वाले लोग'—इन दोनों के व्याकरणिक गठन में क्या कोई अन्तर है? 'जाने वाले' भी विशेषण है, 'टोपी वाले' भी। यही क्यों, 'मैं घर जाने वाला हूँ' में 'वाला' क्रियापद का (भविष्यगामी क्रिया) घटक बनकर आया है, सो प्रकार्य की दृष्टि से कुछ अलग है; किन्तु गठन की दृष्टि से 'जाने वाला' तो विशेषणात्मक ही है। फिर, एक जगह 'वाला' को अलग और दूसरी जगह संलग्न कर लिखने का नियम कैसा? दूसरी बात, (एक जगह) सटाकर लिखने के विधान से भी उपर्युक्त ('जैसा' वाली) उलझन यहाँ भी आती है। यदि प्रयोग हो—'घर और खेत वाला', तो स्पष्ट है कि इसे 'घर और खेतवाला' नहीं लिख सकते। ऐसी स्थिति में एक नियम बना देना पर्याप्त होगा कि 'वाला' किसी स्थिति में आए, आधारभूत शब्द से विलग लिखा जाएगा।

अव्यय शब्द : अव्यय शब्दों के बारे में 'निदेशालय' ने स्पष्ट विधान किया है कि समस्त पदों के घटक बनने पर वे जोड़कर लिखे जाएँगे, अन्यथा अलग। जैसे—'तक'—यहाँ तक। (समास में **प्रतिदिन, मानवमात्र** आदि)। यह विधान उचित है। ऐसे अव्ययों में 'तक', 'साथ', 'आह', 'ओह', 'ऐ', 'ही', 'तो', 'सो', 'भी', 'न', 'जब', 'तब', 'कब', 'यहाँ', 'वहाँ', 'कहाँ', 'सदा', 'क्या', 'तक', 'भर', 'मात्र', 'कि', 'किन्तु', 'मगर', 'लेकिन', 'चाहे', 'या', 'अथवा', 'तथा', 'यथा', 'और' के साथ सम्मानार्थक 'श्री' और 'जी' का उल्लेख 'निदेशालय' की 'पुस्तिका' (2006) में है। (पृष्ठ 9) इसमें 'क्या' तो अव्यय नहीं है, सर्वनाम है। उसकी रूपावली प्राप्त है—किस, किन, किस ने, किन ने, किन को आदि। इस भूल का सुधार होना चाहिए। इसके साथ, पुस्तिका में यह भी उल्लेख है कि "कुछ अव्ययों के आगे कारक-चिह्न भी आते हैं। जैसे—अब से, तब से, यहाँ से, वहाँ से, सदा से आदि।" (पृष्ठ 9) यह बात तो ठीक है, परन्तु यहाँ यह भी जोड़ देना ठीक रहेगा कि जहाँ भी 'अव्यय शब्दों' के साथ कारक-चिह्न (परसर्ग) जुड़ पाते हैं, वहाँ वे 'अव्यय' न रहकर नाम वर्गीय (संज्ञा-सर्वनाम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषण कोटि के) पद हो जाते हैं। तब, वे कारक बनने की योग्यता पा जाते हैं। कारण, 'अव्यय' का एक भेदक लक्षण है—कारक बनने या परसर्ग ग्रहण करने की क्षमता से हीन होना। अव्यय चूँकि शब्द-भेद की दृष्टि से एक स्वतन्त्र वर्ग में हैं, अतः उनका सदा पृथक् लेखन होना चाहिए।

परसर्ग का लेखन : हिन्दी की विश्लेषणात्मकता की चर्चा जिन तथ्यों के आधार पर होती है, उनमें से एक है—कारक-चिह्नों (परसर्गों) एवं का/के/की आदि सम्बन्ध प्रत्ययों का विश्लिष्ट प्रयोग। अतः, जहाँ तक सम्भव हो, इनका विश्लिष्ट प्रयोग ही होना चाहिए चाहे शब्द 'संज्ञा' हो या 'सर्वनाम'। जैसे—रजनी ने, मैं ने, डेविड का, तबस्सुम की, उसकी आदि। इस प्रसंग में, 'निदेशालय' ने जो नियम सुझाये हैं, वे एकरूपता की दृष्टि से वांछनीय नहीं हैं। उसके अनुसार, कारक चिह्न 'संज्ञा' शब्द से हटाकर, 'सर्वनाम' शब्द से सटाकर तथा एकाधिक-खण्डीय कारक चिह्न होने पर पहला खण्ड सर्वनाम से सटाकर और दूसरा हटाकर लिखा जाए। साथ ही, सर्वनाम और कारक-चिह्न के बीच 'ही', 'तक' आदि निपात के होने पर कारक-चिह्न को पृथक् लिखा जाए। जैसे—उसके लिए, इसमें से, आप ही के लिए, मुझ तक को। (पृष्ठ 8) जब एक स्थिति में सर्वनाम शब्द से भी हटाकर ही लिखने की बात है तो क्यों न हर स्थिति में हटा कर ही लिखा जाए? 'उस के लिए', 'उस को' आदि ही क्यों न विहित हों? (इस नियम का केवल एक जगह अपवाद रखा जाए—संश्लिष्ट परसर्ग 'ए' और संश्लिष्ट सम्बन्ध प्रत्यय—'रा/रे/री' के प्रसंग में। 'को' के विकल्प में सभी सर्वनामों के साथ 'ए' परसर्ग आता है (उसे, तुम्हें, हमें, मुझे आदि)। संश्लिष्ट 'रा/रे-री' सम्बन्ध-प्रत्यय मध्यम एवं उत्तम पुरुष के चारों सर्वनामों (तू, तुम, मैं, हम) के साथ लगते हैं, चूँकि इनमें 'का/के/की' का संयोग नहीं होता। (तेरा, तुम्हारे, मेरी, हमारा आदि) इस प्रकार, परसर्ग/कारक चिह्न के (उक्त अपवाद के सिवा) विश्लिष्ट प्रयोग का नियम ही एकरूपता की दिशा में उचित कदम होगा। चाहे वे संज्ञा के साथ आएँ या सर्वनाम के साथ, एकल रूप में आएँ या एकाधिक खण्डीय रूप में या परसर्ग के ऊपर परसर्ग के रूप में (जैसे—'कुएँ में से') अथवा अपने आधारभूत पद से 'ही', 'तक' आदि अव्ययों के बीच में आने के कारण नियुक्त हों। ('उस तक को' आदि)

इस सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि 'के द्वारा', 'के लिए', 'के निमित्त' आदि न स्वतन्त्र परसर्ग हैं, न परसर्ग के ऊपर परसर्ग लगने के उदाहरण। (शेष) सम्बन्ध सूचक अव्ययों 'द्वारा', 'लिए' (या तदर्थ प्रयुक्त संज्ञा शब्द 'निमित्त') आदि के प्रयोग से बने रूप हैं ये। सम्बन्धसूचक 'के'/'से' परसर्ग का बिना सहारा लिए प्रायः नहीं आते। (हाँ, 'द्वारा' और 'लिए' यदा-कदा 'के'/'से' के बिना भी आते हैं : इसीलिए, राजेश द्वारा आदि; पर देखा जाए तो समास-प्रक्रिया से एकपदीभूत हैं, अन्यथा 'इसके लिए', 'इसी के लिए', 'राजेश के द्वारा' आदि होते हैं।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'लिए' व 'द्वारा' का लेखन अलग ही किया जाना ठीक है, यदि ये समस्त पद के अंगीभूत न हों तो। जैसे—'तेरे लिए', 'तेरे और मेरे लिए', 'मेरे, उसके और देश के लिए'; 'माइकल के द्वारा'; 'संगिनी, रागिणी और सरिता के द्वारा' आदि। 'द्वारा' यदि 'के' के बिना (या 'रे' के बिना) आए, यानी समस्त पद का घटक बनकर आए, तो भी एकरूपता के खयाल से उसे विलग लिखना ही ठीक होगा। जैसे—'राजेश द्वारा'। 'इसलिए', 'इसीलिए' का एकपद होना अधिक स्पष्ट है, अतः इन्हें उसी तरह एक शिरोरेखा में लिखा जा सकता है, जिस तरह समस्त पद 'मानव मात्र' के 'मात्र' को। अन्यथा, 'चार रुपये मात्र', 'मात्र दो व्यक्ति' आदि जैसे विश्लिष्ट हैं, उसी तरह 'उस के लिए', 'राजा के लिए' आदि।

संयुक्त क्रियापद और पूर्वकालिक कर/के : इस सम्बन्ध में 'निदेशालय' की 'पुस्तिका' में सुझाव है—'संयुक्त क्रिया पदों में अंगीभूत क्रियाएँ पृथक्-पृथक् लिखी जाएँ। जैसे : पढ़ा करता है, घूमता रहेगा, बढ़ते चले जा रहे हैं आदि।' (पृष्ठ 8) यह पूरी तरह से उचित सुझाव है। सिर्फ शब्द-प्रयोग 'अंगीभूत क्रियाएँ' ठीक नहीं। होना चाहिए—'अंगीभूत क्रियांश/घटक'। कारण, 'पढ़ा', 'करता', 'है', आदि अपने आप में क्रियाएँ नहीं हैं। क्रिया तो साध्य-समापिका होती है। वह एक ही है 'पढ़ा करता है', जिसके ये घटक हैं ('पढ़ा', 'करता' कृदन्त घटक हैं, 'है' तिङन्त घटक), अतः क्रियांश हैं। इसी तरह 'पढ़ कर गयी' क्रिया में 'पढ़ कर' को 'पूर्वकालिक क्रिया' की जगह 'पूर्वकालिक क्रियांश' कहना उचित होगा। उक्त पुस्तिका में (पृष्ठ 14) 'कर' को 'पूर्वकालिक कृदन्त प्रत्यय' जैसा असमीचीन नाम दिया गया है। पहली बात, 'कृत्' प्रत्यय होता है, 'कृदन्त' प्रत्यय नहीं (क्योंकि कृदन्त='कृत्' प्रत्यय से बना नाम/प्रातिपदिक)। दूसरी बात, 'कर' यहाँ प्रत्यय-सदृश भले दिखे, पर वह प्रत्यय नहीं है। 'कर' धातु में '0' कृत् प्रत्यय के योग से बना 'कृदन्त अव्यय' है यह, जो पूर्वकालिक क्रियार्थ का सूचक है। इसे तथा इसके संयोग से बने 'पढ़ कर' आदि को 'पूर्वकालिक क्रियार्थक कृदन्त' (अव्यय) कह सकते हैं। इसके योग से क्रियापद की रचना हुई है—'पढ़ कर गयी।' 'कर' की तरह 'के' भी पूर्वकालिकता बोधक प्रत्यय-सदृश है। 'वह पढ़ के गया।' 'कर के' का प्रयोग भी होता है—'पढ़ कर के'। खैर! यहाँ प्रसंग वर्तनी का है। 'निदेशालय' ने इसे क्रिया (कहना चाहिए था मूल पूर्वकालिक धातु से बने मूल पूर्वकालिक कृदन्त) से मिलाकर लिखने का सुझाव दिया है, जो एकरूपता की दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है। कारण, 'खा-पीकर' (पुस्तिका, पृष्ठ 14) जैसे प्रयोग से 'कर' की 'खा' से संयुक्ति अविवेचित रह जाती है। इसी तरह, 'सो और खाकर' में भी 'कर' का 'सो' से योग बाधित हो जाता हैं। समाधान है—हर स्थिति में पूर्वकालिकता-बोधक 'कर', 'के' या 'कर के' को मूल पूर्वकालिक कृदन्त से विश्लिष्ट रूप में लिखा जाए। (खा-पी कर, सो और खा कर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. 'य्' /'व्' श्रुति की समस्या : यह समस्या क्रिया, विशेषण एवं संज्ञा शब्दों के प्रसंग में है। इस सम्बन्ध में, 'निदेशालय' ने जो व्यवस्था दी, वह व्याकरण-सम्मत नहीं है। उसकी पुस्तिका में कहा गया है कि 'य्' श्रुति जहाँ शब्द का ही मूल तत्त्व हो, वहाँ वह उसी रूप में लिखा जाएगा (स्थायी, अव्ययीभाव, दायित्व आदि), किन्तु जहाँ वह व्याकरणिक परिवर्तन भर हो या 'य्/व्' श्रुति का प्रयोग विकल्प से होता हो, वहाँ उसका प्रयोग न किया जाए। अर्थात्, 'किए', 'नई', 'हुआ' आदि रूप मान्य हैं, न कि 'किये', 'नयी', 'हुवा' आदि।

व्याकरणिक व्यवस्था यही है कि शब्दों के रूपान्तर में उसके मूल का अंश यथासम्भव सुरक्षित रखा जाए। 'नया+ई' से बनता है 'नयी', तो इसे 'नई' कैसे लिख दिया गया? 'किया+ए'='किये', पर 'किए' कैसे? 'निदेशालय' की उक्त पुस्तिका की ही बात मानें ('जहाँ 'य' श्रुतिमूलक व्याकरणिक परिवर्तन न होकर शब्द का ही मूल तत्त्व हो'...) तो 'नयी' में 'य्' (या 'किये' में भी) शब्द का ही मूल तत्त्व है। 'नई', 'किए' आदि लिख देने से व्याकरणिक रूपान्तर अव्याख्येय हो जाएगा। उक्त पुस्तिका ने 'दिखाए गए', 'राम के लिए', 'पुस्तक लिए हुए' आदि रूपों को प्रामाणिक माना। यहाँ दो प्रकार के प्रयोगों को एक ही श्रेणी में डाल देने की भूल भी की गई है। 'दिखाए गए' को 'दिखाये गये' लिखना उचित है; वह 'दिखाया गया' का बहुवचन-रूप है। शेष दो उदाहरणों में आए 'लिए' व 'हुए' की स्थिति अव्ययात्मक है। एक क्रिया भी है—'लिये', जो 'लिया' का बहुवचन रूप है; परन्तु 'राम के लिए' में 'लिए' सम्बन्धसूचक अव्यय है। वह हर स्थिति में 'लिए' ही रहता है। तीसरे उदाहरण में 'लिए हुए' भी अव्ययात्मक है। सुरेश पुस्तक लिए हुए गया। सावित्री फल लिए हुए गई। सर्वत्र एकरूप है प्रयोग। परन्तु, मैंने एक ग्रन्थ लिया। तुमने कई ग्रन्थ लिये। भेद स्पष्ट है। 'वहाँ सिनेमा दिखाया गया।' 'वहाँ कई नाटक दिखाये गये।'—रूपान्तर स्पष्ट है। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि धातु से बने समापिका क्रिया कृदन्त रूपों ('दिखाया', 'गया', 'दिखाये', 'लिये' आदि) और कृदन्त अव्ययों (लिए, लिए हुए आदि) का अन्तर बतलाने के लिए भी इनका अलग-अलग तरह से लेखन होना चाहिए।

क्रिया : 'य्'/'व्' श्रुति की समस्या क्रिया के विधि/संभाव्य भविष्यत्, सामान्य भविष्यत् और सामान्य भूत के रूपों में खड़ी होती है। परन्तु, व्याकरणिक पृष्ठभूमि के ज्ञान से इस समस्या का निवारण हो जाता है। उसी पर थोड़ा इत्मीनान से विचार करते हैं :

(1.) हिन्दी में धातु-विभक्तियाँ (तिङ्) केवल विधि/सम्भाव्य भविष्यत् के क्षेत्र में अवशिष्ट रही हैं :

ये चूँकि विभक्तियाँ हैं, अतः लिंग भेद नहीं मानतीं। इनसे बने धातु रूप हिन्दी की विधि (आज्ञा) एवं संभाव्य भविष्यत् में प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी धातुओं से इनके योग से रूप-सिद्धि इस प्रकार होती है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

	एकवचन	बहुवचन
अन्य पुरुष	ए	एँ/इये
मध्यम पुरुष	0/ए	ओ
उत्तम पुरुष	ऊँ	एँ

जा+ए = जाए (वह जाए।)
जा+एँ = जाएँ (वे/हम जाएँ।)
जा+0 = जा (तू जा।)
जा+ओ = जाओ (तुम जाओ।)
जा+ऊँ = जाऊँ (मैं जाऊँ।)
जा+इये = जाइये (आप जाइये।)

अन्य धातुओं से भी कुछ रूप इस तरह हैं :

पढ़+ए = पढ़े
आ+ए = आए
छू+ए = छुए
धो+ए = धोए
सो+ए = सोए
हो+ए = होए

'इये' विभक्ति केवल अन्य पुरुष आदरार्थक 'आप' के लिए 'एँ' के साथ विकल्प में आती है। ('आप जाएँ' की जगह 'आप जाइए' भी प्रयुक्त) यह 'इये' एक मत से अपभ्रंश के 'किज्जिय', 'करिज्जिय' आदि के 'इय' का विकास है। ('नागरी लिपि और हिन्दी वर्तनी'—डॉ. अनन्त चौधरी) दूसरे मत से, संस्कृत में 'विधि/लोट्' लकार में आत्मनेपदी अन्य पुरुष प्रत्यय 'यताम्' से यह विकसा है (यताम् → यतु → यदु → यउ → यो। जैसे—चल्यताम् → चल्यदु → चलियो → चलिए। इसी तरह, पठ्यताम् → पढ़िये)—'हिन्दी भाषानुशासन' /डॉ. रामदेव त्रिपाठी (पृ. 501-502)

'चाह' धातु से 'चाहें' के अर्थ में ही विकल्प से 'चाहिए' रूप बनता है। (आप जो चाहें/चाहिये, सो करिये।) एक दूसरा 'चाहिए' भी है, जो अव्यय-कृदन्त है। वह विधि (कर्तव्य) के अर्थ में किसी धातु के साथ सहायक क्रियांश बनकर प्रयुक्त होता है। जैसे—'राधा को पढ़ना चाहिए।' यहाँ 'चाहिये' नहीं होगा। दोनों का पार्थक्य रखने के लिए क्रिया पद (तिङन्त) को 'इये' से और कृदन्त अव्यय (सहायक क्रियांश) को 'इए' से सिद्ध किया जा रहा है।

'य्/व्' श्रुति का सवाल वहीं उठता है, जहाँ व्याकरणिक प्रक्रिया 'यण्' की होती है (हिन्दी में 'इ/उ' + कोई भिन्न स्वर = य्/व्')। 'चाहिए' में 'इ' के बाद भिन्न स्वर 'ए' के आने पर 'य्' श्रुति स्वतः आ जाती है। परन्तु, 'चाहिये' क्रियापद (तिङन्त) से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथकता जतलाने के लिए इसे ऐसा ही लिखा गया। 'इये' के अलावा जो शेष विभक्तियाँ 'ए', 'ऊँ', 'ओ' आदि हैं—उनसे भी 'यण' की प्रक्रिया बनने लगती है—खा + ओ= खाओ (खावो), छू + ए= छुए (छुवे) आदि। किन्तु, इन विभक्तियों का योग सभी धातुओं से होने के प्रसंग में एकरूपता बनी रहे, इसलिए किसी जगह कोई 'य्/व्' श्रुति नहीं लगानी चाहिए। ('इये' तो स्रोत का खयाल कर और अव्यय कृदन्त से विभेद दिखलाने हेतु लिखा गया है।) 'व' श्रुति के बारे में एक मत यह भी है कि हिन्दी में वह लुप्त हो चुकी है, जिससे 'भानुओं', 'साधुओं' आदि रूप ही लिखे जाते हैं, न कि 'भानुवों', 'साधुवों' आदि।

(ii) विधि/सम्भाव्य भविष्यत् के तिङन्त क्रियापदों में 'गा/गे/गी' प्रत्यय जोड़कर हिन्दी अपने सामान्य भविष्यत् के क्रियापद बनाती है—पुंलिंग एकवचन में 'गा', पुंलिंग बहुवचन में 'गे' तथा स्त्रीलिंग के दोनों वचनों में 'गी' जोड़कर। हाँ, 'इये' युक्त बहुवचन तिङन्त क्रियापद का 'सामान्य भविष्यत्' रूप 'गा' ही जोड़कर बनाती है। वही रूप स्त्रीलिंग में भी चलता है। (जैसे—जाइये + गा= जाइयेगा)। रूप-सिद्धि के उदाहरण :

आए + गा = आएगा, आएँ + गे = आएँगे, आए + गी = आएगी, आएँ + गी = आएंगी
आओ + गे = आओगे, आओ + गी = आओगी, आऊँ + गा = आऊँगा, आऊँ + गी = आऊँगी।

(iii) सामान्य भूत का रूप बनाने के लिए धातु में, पुंल्लिंग एकवचन के लिए 'आ', पुं. बहुवचन में 'ए' तथा स्त्रीलिंग के एकवचन के लिए 'ई' और उस के बहुवचन के लिए 'ईं' प्रत्यय जुड़ता है। 'अ/उ/ऊ' कारान्त धातुओं को छोड़कर शेष सभी धातुओं में इस स्थिति में 'य्' श्रुति का आगमन हो जाता है।

पढ़ + आ = पढ़ा, पढ़ + ए = पढ़े, पढ़ + ई = पढ़ी, पढ़ + ईं = पढ़ीं।

आ + आ = आया। सो + आ = सोया ('आआ' अनुच्चार्य होता, इसी से 'य्' श्रुति का आगमन हुआ। जब एक जगह ले लिया, तो एकरूपता के लिए 'आये', 'आयी', 'आईं' सब में माना गया। 'ग + आ = गआ' भी अनुच्चार्य होता, इसी से 'गया' हो गया।)

हो + आ = हु + आ = हुआ।

हो + ई = हु + ई = हुई। ('हो' का भूतकालिक 'आ' प्रत्यय के योग में 'हु' आदेश होता है।

विशेषण : उपर्युक्त सामान्य भूत रूप 'पढ़ा', 'पढ़े' आदि कृदन्त विशेषण ही हैं, अतः 'य्/व्' श्रुति का जो नियम उन पर लागू होता है, वही विशेषण पर भी लागू होगा। हिन्दी के तद्भव विशेषण 'आकारान्त' ही प्रायः हैं—काला, पीला आदि। इनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुवचन 'ए' जोड़कर तथा स्त्रीलिंग (दोनों वचनों में) 'ई' जोड़कर बनाया जाता है। जैसे नया → नये, नयी। सोया → सोये, सोयी। काला → काले, काली। आदि।

हिन्दी में विशेषण-रचनार्थ कुछ शब्दों के लिए विहित एक 'ई' प्रत्यय भी है। भाषा + ई = भाषाई। इसी तरह, बने अन्य शब्द हैं—दुनियाई, हलवाई, हवाई, एशियाई, दंगाई, ईसाई, भाजपाई, सपाई आदि। (कुछ लोग 'दुनियावी' या 'भाषायी' भी लिख देते हैं, परन्तु एकरूपता के खयाल से एक ही प्रयत्य 'ई' माना जाए, तो बेहतर है।)

संज्ञा—संज्ञा में भी 'य्/व्' श्रुति के सन्दर्भ में ये ही नियम होंगे, जो क्रिया व विशेषण में हैं।

(i) संस्कृत-प्राप्त (कथित तत्सम) शब्दों को छोड़कर, शेष 'आ' कारान्त पुंलिंग शब्दों का बहुवचन 'ए' जोड़कर तथा स्त्री./पुं. सभी शब्दों का स-परसर्ग रूप बहुवचन में 'ओं' जोड़कर बनता है। जैसे—लड़का + ए = लड़के। लड़का + ओं + ने = लड़कों ने। ('मुनियों' आदि में 'इ' के बाद 'ओं' आने पर 'य्' श्रुति का आगमन हुआ।)

(ii) संस्कृत प्राप्त (कथित तत्सम) स्त्री इकारान्त शब्दों में 'आँ' प्रत्यय तथा आकारान्त सहित शेष सभी कथित तत्सम स्त्री शब्दों में 'एँ' जोड़कर बहुवचन बनाते हैं। जैसे—

स्थिति + आँ = स्थितियाँ 'इ' के बाद 'आँ' आने पर 'य्' श्रुति स्वतः आ गई।
नदी + आँ = नदियाँ
विविधता + एँ = विविधताएँ
आशा + एँ = आशाएँ
आशा + ओं (+ ने) = आशाओं ने

'एँ' प्रत्यय और सभी स्त्री. शब्दों में भी लगता है—बात + एँ = बातें। गाय + एँ = गायें।

3. अनुनासिकता, अनुस्वार तथा नासिक्य (पंचम) वर्ण की समस्या

परम्परागत भाषा-व्यवस्था में 'अनुस्वार' अलग वर्ण के रूप में मान्यता रखता है, परन्तु अनुनासिकता कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं, बल्कि स्वरों में आ कर लग जाने वाला (आगन्तुक) गुण धर्म है, जिसका संकेत (ँ) से होता है।

ध्वनि के स्तर पर 'अनुस्वार' नासिक्य (पंचम) वर्णों 'ङ्', 'ञ्', 'ण्', 'न्', 'म्' से अलग नहीं है, बहुत हुआ तो इन्हीं का संस्वन है अनुस्वार। फिर भी, इसकी वर्ण-रूप में कल्पना (लिखित) व्यवस्था के रक्षार्थ हुई है। भाषा-व्यवस्था में अन्तःस्थ (य्, र्, ल्, व्) और ऊष्म (श्, ष्, स्, ह्) के संसर्ग में ही, उनसे पूर्व, इसकी सत्ता मानी गई है। (जैसे—संयम, संवाद, संरक्षक, संशय, संसार, संलाप, संहार आदि)। 'सम् +

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार' या 'सम् + वाद' जैसी स्थिति भाषा में बनती है, तो इनकी व्याख्या मुश्किल हो जाती है। कारण 'स्', 'व्' आदि का कोई वर्गीय पंचम वर्ण (नासिक्य वर्ण) नहीं होता। ('शम् + कर' जैसा होता तो 'क्' के वर्गीय नासिक्य वर्ण 'ङ्' से काम चल जाता, 'शङ्कर' बनाकर)। ऐसी ही स्थिति में ङ्, ञ्, ण्, न्, म् की जगह 'अनुस्वार' नामक स्वतंत्र वर्ण कल्पित किया गया, जिससे भाषा-व्यवस्था को 'संसार', 'संवाद' आदि के रूप में तर्क-संगत बना लिया जाए। इसी सन्दर्भ में 'संस्कृत-व्याकरण' ने सन्धि-सूत्र बनाया कि आगे किसी व्यंजन के होने पर पूर्व पदान्त 'म्' का अनुस्वार हो जाता है। (स्वयम् + सेवक = स्वयंसेवक)। फिर, 'स्वयंसेवक' में तो सम् + पूर्ण = सम्पूर्ण/युगम् + धर = युगंधर

अनुस्वार का प्रयोग अनिवार्य था, क्योंकि 'स्' का कोई वर्गीय नासिक्य वर्ण न था; किन्तु 'सम्पूर्ण में 'प्' वर्गीय पंचम वर्ण 'म्' उपलब्ध था; 'युगंधर' में 'ध्' के वर्ग का पंचम वर्ण 'न्' प्राप्त था–ऐसी स्थिति में मानना पड़ा कि इन स्थानों पर अनुस्वार का प्रयोग वैकल्पिक होगा, क्योंकि 'म्' के वर्गीय पंचम वर्ण में ढलने की पूरी सम्भावना इनमें मौजूद है। (सम्पूर्ण, युगन्धर)। तब, नियम बनाया गया कि आगे किसी वर्गीय वर्ण या अन्तःस्थ वर्ण के रहने पर पदान्त 'म्' का हुआ अनुस्वार पंचम (नासिक्य) वर्ण के रूप में भी ढल सकता है। हाँ, पद के बीच में 'म्' की ऐसी स्थिति में उसका परवर्ती वर्ण के पंचम (नासिक्य) वर्ण में ढलना अनिवार्य किया गया। यानी, पद-मध्यवर्ती 'म्' को अनुस्वार के रूप में ढालने का निषेध किया गया। जिससे रम्य, अम्ल, नम्र आदि को रंय, अंल, नंर आदि के रूप में लिखना प्रतिबन्धित किया गया। इसी तरह 'शङ्का', 'दम्भ' आदि को 'शंका', 'दंभ' आदि लिखना भी संस्कृत में प्रतिबन्धित था। लेकिन, पण्डित कामताप्रसाद गुरु ने अपने हिन्दी-व्याकरण में अपदान्त (पद-मध्यवर्ती) 'म्' का भी वैकल्पिक तौर पर अनुस्वार से लिखने का रास्ता साफ़ कर दिया। जिससे हिन्दी में अंक, अंग, दंभ आदि भी लिखे जाने का औचित्य बना। (संस्कृत में अपदान्त 'म्' का परवर्ती वर्ण के पंचम वर्ण (नासिक्य) यानी ङ्, ञ्, ण्, न्, म्' में रूपान्तरण जहाँ अनिवार्य था, गुरु जी ने उसे ऐच्छिक बना दिया था।) हिन्दी में सरलीकरण के लिहाज से अनुस्वार का प्रयोग खूब बढ़ा। हिन्दी में ङ्, ञ्, ण् तो अल्पप्राप्त हैं, न्-म् ही ज्यादा हैं। इसलिए अनुस्वार पाँचों नासिक्यों में से न् म् की तरह ही उच्चरित होता है अधिकतर।

इस दीर्घ परम्परा के सन्दर्भ में ही, 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' का अनुस्वार सम्बन्धी विधान खड़ा हुआ है उसके अनुसार, संयुक्त व्यंजन के रूप में जहाँ पंचम वर्ण (नासिक्य) के बाद सवर्गीय शेष चार वर्णों में से कोई वर्ण हो तो एकरूपता और मुद्रण/लेखन की सुविधा के लिए अनुस्वार के ही प्रयोग को अनिवार्य बताया गया है। (जैसे–पंकज, गंगा आदि) यह उचित ही है। इसके विरुद्ध कोई वितर्क खड़ा नहीं हो सकता। चूँकि अनुस्वार ध्वनि स्तर पर या वर्ण के स्तर पर ही कोई पृथक् अस्तित्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं रखता, इसलिए व्यवस्था के लिए कल्पित इस तत्त्व का व्यापकीकरण कोई गलत नहीं है। हाँ 'निदेशालय' ने यह शर्त लगायी है कि यदि पंचम वर्ण के बाद अन्य वर्ग का कोई वर्ण आए तो पंचमवर्ण अनुस्वार में परिणत न होगा। (जैसे वाङ्मय, अन्य, चिन्मय, उन्मुख आदि को वांमय, अंय, चिंमय, उंमुख आदि रूप में न लिखा जा सकेगा)। साथ ही, पंचम वर्ण यदि द्वित्व रूप में (दुबारा) आए तो अनुस्वार में परिवर्तित नहीं होगा। (जैसे—अन्न, सम्मेलन, सम्मति आदि को अंन, संमेलन, संमति आदि में रूपान्तरित न किया जा सकेगा।) 'निदेशालय' ने यह व्यवस्था शब्दों के प्रचलित रूपों की एकरूपता बनाने हेतु किया अवश्य, परन्तु यह भी एक तार्किक कड़ी में है। रही उच्चारण की बात, तो वह भी असमाधेय नहीं है। कोई यह कहे कि अंकित, संचित, कंटक, वंदित, कंपन आदि लिखने से इनके उच्चारण की अनिश्चितता होगी, तो इसका सरल समाधान यह है कि अनुस्वार के आगे के वर्ण की स्थिति के अनुसार स्वतः उच्चारण की सम्भावना है—अङ्कित, सञ्चित आदि। पर, इससे भी बड़ी बात यह है कि हिन्दी-भाषी समाज में अनुस्वार कवर्ग व 'ह' के पूर्व 'ङ्' जैसा, पवर्ग के पूर्व 'म्' जैसा और शेष स्थानों पर 'न्' जैसा आमतौर पर उच्चरित होता है।

पंचम वर्ण/नासिक्य वर्ण से अनुनासिकता अलग तत्त्व है। एक वर्ण है, तो दूसरा ध्वनि/वर्ण-गुण। इनका उच्चारण-प्रक्रिया से भी भेद है। फेफड़े से चला निश्वास स्वर-तंत्री से आगे बढ़कर मुख्यतः मुख-विवर से और गौणतः नासिका-विवर से गुजरे तो उससे स्वरों की अनुनासिक स्थिति (अँ, ईँ आदि) का उच्चारण होता है। वह निश्वास यदि मुख-विवर से निकलने की अपेक्षा मुख्यतः नासिका-विवर से निकले तो उससे नासिक्य व्यंजन-वर्णों का उच्चारण होता है। इसके साथ अनुनासिकता को लेकर हिन्दी में अर्थभेदक स्थिति भी है (काटा—काँटा, हँस-हंस आदि) इस कारण भी उसकी अलग सत्ता लेखन में रखनी होगी। 'निदेशालय' ने अनुनासिकता के संकेत चन्द्रबिन्दु के प्रयोग को लेकर स्पष्ट रवैया नहीं दिखाया है। वैसे तो अर्थ-भेदक स्थिति को देखते हुए वह चन्द्रबिन्दु के प्रयोग का समर्थक है, परन्तु शिरोरेखा के ऊपर जुड़ने वाली मात्रा के साथ, छपाई की कठिनाई की स्थिति में अनुस्वार चिह्न के प्रयोग की छूट भी दे रखी है। (जैसे नहीं, में आदि)। फिर, इसके साथ उसने तुरंत ढुलमुलपन का परिचय देते हुए कहा कि "कविता आदि के प्रसंग में छन्द की दृष्टि से चन्द्रबिन्दु का यथास्थान अवश्य प्रयोग किया जाए। इसी प्रकार छोटे बच्चों की प्रवेशिकाओं में जहाँ चन्द्रबिन्दु का उच्चारण अभीष्ट हो, वहाँ मोटे अक्षरों में उसका यथास्थान सर्वत्र प्रयोग किया जाए। जैसे—कहाँ, हँसना, आँगन, सँवारना, मेँ, मैँ नहीँ आदि।" (पृष्ठ 11) इस ढुलमुलपन की जगह क्यों न हर अनुनासिक अवस्था में चन्द्रबिन्दु का प्रयोग आवश्यक बना दिया जाए।

यदि टंकण/मुद्रण के लिहाज से देखा जाए, तो 'में' लिखें या 'मेँ', समान रूप से श्रम पड़ेगा। (कम्पोजिंग के समय)। कम्प्यूटर पर कम्पोजिंग करते समय दोनों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए तीन-तीन बार की-बोर्ड पर बटन दबाना होगा। पहली बार 'म/म्' के लिए, दूसरी बार (े) मात्रा चिह्न या 'इ' ध्वनि के लिए। इससे 'मे' अंकित हो जाएगा। तीसरी बार के प्रयास से या तो हम अनुस्वार (बिन्दु ं) डाल सकते हैं या चन्द्रबिन्दु (ँ)। जरूरत होगी सिर्फ ऐसे की बोर्ड के विकास की, जिसमें चन्द्रबिन्दु की ऐसी सहज योजना हो।)

4. हल् चिह्न से अन्त होने वाले तथा अन्य संस्कृत-प्राप्त (कथित तत्सम) शब्दों का लेखन

हल-चिह्न के सम्बन्ध में 'निदेशालय' ने व्यवस्था दी कि "तत्सम शब्दों का प्रयोग वांछनीय हो तब हलन्त रूपों का ही प्रयोग किया जाए; विशेष रूप से तब जब उनसे समस्त पद या व्युत्पन्न शब्द बनते हों। यथा—प्राक् (प्रागैतिहास), वाक् (वाग्देवी), सत् (सत्साहित्य), भगवन् (भगवद्भक्ति), साक्षात् (साक्षात्कार) जगत् (जगन्नाथ), तेजस् (तेजस्वी) विद्युत् (विद्युल्लता) आदि।" (पृष्ठ 13) इसके साथ "व्याकरण ग्रन्थों में व्यंजन संधि समझाते हुए केवल उतने ही शब्द दिए जाएँ, जो शब्द-रचना को समझने के लिए आवश्यक हों (उत् + नयन् = उन्नयन, उत् + लास = उल्लास) या अर्थ की दृष्टि से उपयोगी हों (जगदीश, जगन्माता, जगज्जननी)।" (पृष्ठ 13)

ये नियम तो सामान्यतः ठीक हैं, परन्तु 'तत्सम शब्दों का प्रयोग वांछनीय हो तब...' जैसी शर्त का क्या मतलब? वस्तुतः, सिर्फ कहना इतना चाहिए कि हिन्दी में व्युत्पत्ति और सन्धि प्रक्रिया के स्पष्टीकरण हेतु जरूरी शब्द ही संस्कृत-प्राप्त (तत्सम) हलन्त रूप में लिखे जाने चाहिए, शेष नहीं।" 'जगत्' शब्द को 'निदेशालय' ने हलन्त लिखने का सुझाव दिया, तो यही आधार है। परन्तु, 'साक्षात्कार', 'षट्कोण', 'हृदयंगम', 'उद्धरण', 'संचित' और चलते-चलते 'जगदीश' शब्द को भी स्वतंत्र शब्दों के रूप में ग्रहण करना ही अच्छा माना (जबकि उपर्युक्त नियम में 'जगदीश' को व्यंजन-सन्धि समझाने हेतु ग्राह्य उदाहरण माना था, 'जगन्नाथ' का तो स्वयं 'जगत्' से व्युत्पन्न होना भी संकेतित किया था)। सवाल है, व्युत्पत्ति और सन्धि-प्रक्रिया की अवहेलना कर ऐसे कितने शब्दों को स्वतन्त्र (रूढ़) शब्दों के रूप में ग्रहण करेंगे। उक्त शब्दों की ही बात लें, तो इनके घटकों 'साक्षात्', 'कार', 'षट्', 'कोण', 'उत्', 'हरण', 'सम्' आदि का कितना उपयोग व्युत्पत्ति में है। 'कार' से 'स्वीकार', 'अंगीकार', 'सत्कार', 'दुत्कार', 'बलात्कार' आदि; 'साक्षात्' से 'साक्षात्कर्त्ता' आदि; 'षट्' से 'षण्माता', 'षडानन', 'षडंग' (षट्+अंग) आदि। 'जगदीश' के 'जगत्' व 'ईश' से तो अलग-अलग बने शब्दों की लम्बी सूची है। (जगत्पति, जगज्जाल, जगदीश्वर, जगन्नाथ, जगद्विभूति, सर्वेश, करुणेश, मिथिलेश, अवधेश वागीश...)। यदि इन सबको रूढ़ मान लेंगे तो एक ऐसी व्युत्पत्ति प्रक्रिया से (नई जरूरतों के हिसाब से) हिन्दी में नित नए जनम रहे शब्दों पर रोक लगानी होगी या उन्हें लगातार रूढ़ ही मानते जाना होगा। यदि रूढ़ ही माने जायेंगे, तो इनके जो घटक (रूढ़ शब्द) हिन्दी में स्वतन्त्रता से प्रयुक्त होते हैं, उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके सन्दर्भ में तुलनात्मक तौर पर क्या व्याख्या होगी? दोनों को बिलकुल असम्बद्ध सा बतलाना होगा, जबकि दोनों में उभयनिष्ठ (और सार्थक) शब्द तत्त्व प्रत्यक्ष रहता है। एक जगह 'जगदीश', 'उद्धरण' को रूढ़ मानिए और दूसरी जगह इनके घटक 'जगत्', 'उत्' से हिन्दी-व्याकरण में व्यंजन सन्धि भी समझाइये (उत् + लास = उल्लास, उत् + नयन = उन्नयन तथा 'जगत्' से 'जगन्नाथ' तो 'निदेशालय' ने अपने उक्त नियमों में ही रखा है।)—यह कैसी विसंगति है !

'निदेशालय' ने तत्सम संबोधन में 'हे राजन्', 'हे भगवन्' और हिन्दी शैली में 'हे राजा', 'हे भगवान' लिखने का सुझाव दिया है। यह 'तत्सम सम्बोधन' और 'हिन्दी शैली' क्या लफड़ा है? इसी तरह, नियम 2.7 में कहा गया कि "यदि तत्सम रूप में प्रयुक्त हों तो विसर्ग का प्रयोग अवश्य किया जाए। जैसे : 'दुःखानुभूति' में। यदि उस शब्द के तद्भव रूप में विसर्ग का लोप हो चुका हो तो उस रूप में विसर्ग के बिना भी काम चल जाएगा। जैसे : 'दुख-सुख के साथी।' (पृष्ठ 12) यह कैसे कहा जा सकता है कि 'दुःखानुभूति' (इसी तरह 'हे राजन्') तत्सम-प्रयोग है और 'दुख-सुख के साथी' (इसी तरह 'हे राजा') तद्भव प्रयोग? यदि संस्कृत-उद्धरण में ये आये हों, तभी तत्सम प्रयोग कहना हो, तब तो ठीक बात है। पर, हिन्दी वाक्य-प्रयोग में ये आएँ, तो कैसे कहेंगे कि यहाँ तत्सम है, अतः दुःख होगा, यहाँ तद्भव है, अतः दुख होगा। हिन्दी में 'दुःख-सुख' भी समास है, 'दुःखानुभूति' भी। या तो दोनों जगह विसर्ग-युक्त हों या दोनों जगह विसर्गहीन। यह व्यवस्था ही एकरूपता की दृष्टि से उपयोगी होगी। 'राजन्' और 'भगवन्' को यदि हलन्त रूप में लिखने का सुझाव दे रहे हैं, तो इसलिए नहीं कि तत्सम प्रयोग की रक्षा का प्रश्न है, बल्कि इसलिए कि इनसे सन्धि/व्युत्पत्ति-प्रक्रिया का कुछ गहरा रिश्ता है। यदि ऐसा नहीं है, तो हलन्त लेखन भी जरूरी नहीं। 'निदेशालय' ने यह भी कहा कि "जिन शब्दों में हल्-चिह्न लुप्त हो चुका हो, उनमें उसे फिर से लगाने का प्रयत्न न किया जाए। जैसे—महान, विद्वान आदि, क्योंकि हिन्दी में अब 'महान' से 'महानता' और विद्वान से 'विद्वानों' जैसे रूप प्रचलित हो चुके हैं।" (पृ. 13) 'लुप्त हो चुका है' का क्या मतलब? उपर्युक्त 'भगवान' भी लुप्त हो चुके हल् चिह्न के उदाहरण में दिया जा सकता था। जैसा 'विद्वान' वैसा 'भगवान', वैसा ही 'श्रीमान'। हाँ, इस नियम का दूसरा हिस्सा ही वह सही तर्क है, जिसके आधार पर 'महान' आदि को हलन्त लिखना जरूरी नहीं रह गया है—'क्योंकि हिन्दी में अब 'महान' से 'महानता'...जैसे रूप प्रचलित हो चुके हैं।' सही बात है। संस्कृत प्राप्त हलन्त शब्द भी हिन्दी की सपरसर्ग (दूसरी) विभक्ति बहुवचन रूप-रचना में स्वरान्त शब्द की तरह आचरण करते हैं—यह एक तथ्य है। जैसे—महान्, विद्वान् आदि का रूप 'बालक' की तरह ही महानों, विद्वानों (ने/को...) आदि चलेंगे। तब, क्यों न इनकी पहली विभक्ति में भी रूप 'बालक' की तरह ही 'महान/विद्वान' (एक वचन), 'महान/विद्वान' (बहुवचन) ही मानें जाएँ? यानी, ऐसे शब्दों को हल-चिह्न रहित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरान्त ही लिखा जाए। ऐसा करने से व्युत्पत्ति सम्बन्धी कोई बाधा हो, तब तो ठीक नहीं, परन्तु व्युत्पत्ति-प्रसंग में 'महान्' आदि की भूमिका न होकर यदि 'महान' आदि की भूमिका हो।

जैसे—महान + ता = महानता (न कि 'महान्ता'); 'महत्ता', 'विद्वता' आदि तो 'महत् + ता', 'विद्वत् + ता' आदि से बने हैं।) तो इन्हें हिन्दी में स्वरान्त लिखने का ही औचित्य सिद्ध है। यही हाल 'भगवान', 'धनवान' जैसे शब्दों का है। जिस तरह 'महत्', 'विद्वत्', 'भगवत्/भगवन्' आदि इनसे अलग प्रातिपदिक हैं, उसी तरह 'राजन्' भी। पर, सवाल है किसकी कितनी भूमिका हिन्दी व्युत्पत्ति/सन्धि में है? यही मूल आधार है संस्कृत प्राप्त हलन्त शब्दों की वर्तनी के नियमन का।

वाङ्मय (वाक् + मय), चिन्मय (चित् + मय), मृन्मय (मृत् + मय) आदि की वर्तनी का नियामक भी हिन्दी में इनका व्युत्पादन है। इनके घटकों का हिन्दी व्युत्पत्ति में उपयोग भी है; अतः इनकी व्युत्पत्ति/सन्धि-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण हिन्दी-व्याकरण में जरूरी होगा। 'निदेशालय' ने 'तत्व', 'महत्त्व' आदि को द्वित्व-रहित 'तत्व', 'महत्व' आदि रूप में लिखने का सुझाव (पृष्ठ 33) देकर इस व्युत्पत्ति/सन्धि की अनदेखी की है :

तत् + त्व = तत्त्व, महत् + त्व = महत्त्व, महत् + ता = महत्ता, सत् + त्व = सत्त्व, तत् + काल = तत्काल, सत् + ता = सत्ता आदि। स्पष्ट होना चाहिए कि जब तक हिन्दी में ऐसी व्युत्पत्ति उपयोगी होगी, तब तक इन शब्दों का द्वित्व-रहित लिखना तर्कसंगत नहीं होगा। शब्दों का गठन समझाने और अन्य शब्दों में उनके घटकों के इस्तेमाल की स्थिति देखते हुए, एकरूपता के लिहाज से इनका द्वित्व-लेखन ही प्रस्तावित होना चाहिए।

इस प्रकार, व्याकरणिक प्रक्रिया का बोध हिन्दी-वर्तनी को एकरूपता देने (स्थिर करने) में मददगार साबित होता है—उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

5. विदेशी / पर भाषीय ध्वनियों के लेखन की समस्या

इस सम्बन्ध में निदेशालय की पुस्तिका (2006) में जो निर्देश/सुझाव दिए गए हैं—उनमें स्पष्टता/स्थिरता नहीं है।

बिन्दु 2.14.1 में कहा गया कि "उर्दू से आए अरबी-फारसीमूलक वे शब्द जो हिन्दी के अंग बन चुके हैं और जिनकी विदेशी ध्वनियों का हिन्दी ध्वनियों में रूपान्तर हो चुका है, हिन्दी रूप में ही स्वीकार किए जा सकते हैं। जैसे—कलम, किला, दाग आदि। (क़लम, क़िला, दाग़ नहीं)। पर जहाँ उनका शुद्ध विदेशी रूप में प्रयोग अभीष्ट हो अथवा (उच्चारणगत भेद बताना आवश्यक हो, वहाँ उनके हिन्दी में प्रचलित रूपों में यथास्थान नुक्ते लगाए जाएँ। जैसे खाना : ख़ाना, राज : राज़, फन : हाइफ़न आदि।" (पृ. 15) इसी सन्दर्भ में 'निदेशालय' ने अपनी पुस्तिका में 1.1.9 में 'गृहीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यंजन' नाम से ख़, ज़, फ़ को ('हिन्दी वर्णमाला' (1.1) से अलग बिन्दु में) रखा है। फुटनोट में यह भी कहा है कि "गृहीत व्यंजन पाँच हैं : क़, ख़, ग़, ज़, फ़। " 'हिन्दी-वर्णमाला' में व्यापक अर्थ भेदक तीन-व्यंजनों को ही सम्मिलित किया गया है।" (पृष्ठ 2)

यहाँ वस्तुतः उच्चारण-रक्षा की चिन्ता नहीं है, बल्कि 'अर्थ-भेद होता है'—उसके लिए उच्चारण भेद (तथा उसके नुक्तेदार लेखन) की संकल्पना है। अन्यथा, 'निदेशालय' ने उच्चरित स्वरूप की रक्षा या उसके संकेतन की बात कहाँ महत्त्वपूर्ण मानी? 2.10.1 में कहा कि द्विधा उच्चारणों (है/गवैया, और/कौवा) को व्यक्त करने के लिए 'ऐ/ ै, औ/ ौ' चिह्नों का ही प्रयोग किया जाए। 'गवय्या', 'कव्वा' आदि संशोधनों की आवश्यकता नहीं है। (पृष्ठ 14) यानी, अर्थ-भेदकता के तर्क पर 'निदेशालय' ख, ज, फ के साथ ख़, ज़, फ़ के विशिष्ट उच्चारण एवं तदनुरूप लेखन को उचित मान रहा है, अन्यथा क़, ग़ जैसी विदेशी ध्वनियों की व्यापक अर्थ-भेदक स्थिति के अभाव में, उन्हें हिन्दी ध्वनियों (क, ग) में रूपान्तरित मानकर काम चला ले रहा है।

अर्थ-भेदकता वाले वितर्क का समाधान यह हो सकता है कि क्यों न 'ख़ाना' (फ़ारसी) व 'खाना' (हिन्दी) अथवा 'ज़रा' (तुर्की) व 'जरा' (हिन्दी) जैसे युग्मों की अर्थ-भेदकता को एक ही शब्द की अनेकार्थता के रूप में समझ लिया जाए? कोशों में जो अनेक अर्थ एक ही शब्द के दिए रहते हैं, क्या पता, वे एक ही शब्द के न होकर उनके स्रोतों से आए श्रुतिसम शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ हों! रही बात, अनेक अर्थों में से किसी खास के बोध/ग्रहण अथवा अर्थ-विलक्षणता की, तो वह तो प्रसंगवश (वक्ता-बोद्धा, देश-काल, परिस्थिति आदि के सापेक्ष) ध्वनित होने वाली चीज है। अर्थ-निर्धारण व्याकरणिक नहीं, शब्द-शक्ति (लक्षणा-व्यंजना) का विषय है। 'शर्म' (संस्कृत, अर्थ—सुख) और 'शर्म'[1] (विदेशज, अर्थ—लज्जा) में तो कोई वर्ण-भेद व लेखन-भेद नहीं है, किन्तु अर्थान्तर है; तो इसकी व्याख्या क्या होगी?

उक्त विदेशी ध्वनियों की हिन्दी में स्थिति बन चुकी है, इसलिए उनका लेखन में भी संकेत किया जाए—यह कहना ठीक नहीं। विदेशी या अन्य भाषाओं के शब्दों के हिन्दी में आने के साथ, उनकी मूल भाषागत ध्वनियाँ भी हिन्दी में आ जाती हैं—ऐसा मानना तर्कसंगत नहीं है। हिन्दी का जो औसत (शिष्ट) समाज है, उसमें जो उच्चारण स्वीकृत हैं, वे ही हिन्दी के अपने उच्चारण हैं। कुछ थोड़े से सुशिक्षित-शहरी जन यदि हिन्दी में तमाम भाषाओं से आए शब्दों का मूलवत् उच्चारण कर लें, तो वे सारे उच्चारण हिन्दी के अपने उच्चारण तो बन नहीं जाते। (यदि संसार भर के गृहीत शब्दों के सम्यक् उच्चारण का प्रयत्न किया जाएगा, तो बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी। पहले तो यह जानना होगा कि एक-एक शब्द किस भाषा से आया? फिर यह जानना होगा कि उस-उस भाषा में वह किस प्रकार उच्चरित होता है? कोई भाषा इस प्रकार के अति कठिन प्रयत्न नहीं कर सकती। फिर, हिन्दी ही क्यों विवश हो कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुनियाभर के शब्दों के मूलभूत उच्चारण करे?) कुछ हिन्दीविद् यदि संसार की सारी ध्वनियों को उच्चारित करने की क्षमता पा लें, तो क्या वे सारी ध्वनियाँ हिन्दी की मान ली जाएँगी? (वे भी सारी ध्वनियाँ क्या अपनाते हैं? अरबी की 'ज़े', 'ज़्वाल', 'ज़्वाद', 'ज़ोए' जैसी ध्वनियों को एक ही ध्वनि 'ज़' के रूप में ग्रहण करते हैं। इसी तरह (ॉ) या 'ज़' अपना लेने मात्र से वे अंग्रेजी की सारी ध्वनियों को कहाँ अपना पाते हैं? फिर, अन्य-अन्य भाषाओं से आगत (शब्दों की) ध्वनियों का भी तो प्रश्न है।) 'व्याकरण' एक व्यवस्था है और कोई व्यवस्था औसत लोगों को लक्ष्य कर ही बनाई जाती है, अलोकसामान्य विलक्षण व्यक्तियों को देखकर नहीं। हिन्दी का औसत समाज उक्त सभी आगत शब्दों/ध्वनियों को अपने अनुसार हिन्दी रंग में रँगकर (ध्वनि-परिवर्तन के साथ) ग्रहण करता है। यानी, ख़, ज़, आदि को ख, ज आदि ही बोलता-समझता है। कोई कितना भी प्रयत्न करके 'राज़' बोले, आम हिन्दी-समाज उसे '<u>राज</u>' ही समझता है। (हाँ, प्रसंगवश यह समझ लेता है कि 'राज' का अर्थ कहाँ 'राज=राजा/राजकाज' वाला है, कहाँ 'राज़ = रहस्य' वाला? 'साधु महाराज का महा राज उजागर हुआ' बोलने-लिखने पर भी वह वही अर्थ समझेगा, जो 'साधु महाराज का महा राज़ उजागर हुआ' बोलने-'लिखने पर।)

किसी भाषा में प्रयुक्त अनन्त ध्वनियों के लिए लेखन-संकेत नहीं हो सकते, न होते हैं। हाँ, उनके स्वनिमों (स्वनों; वर्णों) के लिए (जो सीमित संख्या में होते हैं) ही लेखन-संकेत बने होते हैं। उक्त परिदृश्य के अनुसार, अभी ऐसी स्थिति नहीं बनी है कि ख़, ग़, ज़ आदि को हिन्दी के अलग स्वनिमों का दर्जा दिया जाए (और तदनुरूप उनका लेखन किया जाए)। यदि कुछ अलग उच्चारण भी कुछ लोग कर ले रहे हैं तो तब तक इन्हें ख, ग, ज, आदि स्वनिमों का संस्वन मानकर चला जा सकता है, जब तक आम हिन्दी समाज के मनोविज्ञान में ऐसा है।

काल, कील, कूल आदि में आए प्रथम स्वन (क्) अपने स्वरूप में अलग-अलग हैं, फिर भी आम हिन्दी समाज में वे एक ही स्वनिम 'क्' के स्थानीय रूप हैं। इसी तरह, 'ख़ाना' (आदि) का 'ख़' (आदि) स्वन भी आम हिन्दी मनोविज्ञान में 'ख्' स्वनिम का स्थानीय विकार है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर बोधित हो रहा ध्वनि-तत्त्व (स्वनिम) ही महत्त्वपूर्ण चीज है—वस्तुतः क्या बोला जा रहा है, वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं। यदि कोई बच्चा मन ही मन 'स्' समझ रहा है, पर बोल रहा है 'छ्' (छाफ-छाफ) और श्रोता उसे 'स्' (साफ-साफ) समझ भी ले रहा है तो <u>स्वनिम</u> के स्तर पर वह 'छ्' नहीं, 'स्' ही मान्य है। स्वनिम प्रयोक्ता वक्ता के उच्चारण (और उसके मानसिक बोध) से अधिक श्रोता/ग्रहीता के मानसिक बोध की वस्तु है। यदि बंगाली व्यक्ति 'ओ' (जोल) बोल रहा है तो तब तक उसे हिन्दी का 'अ' (जल) स्वनिम ही समझेंगे, जब तक आम हिन्दी समाज ऐसा ही समझ रहा है। आम हिन्द समुदाय यदि '<u>राज</u>'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व 'राज़' के (ज × ज़) उच्चारण भेद और तदनुसार अर्थ-भेदक स्थिति को एक व्यवस्था की तरह मान लेता है, तब ज व ज़ वर्ण हिन्दी के दो स्वनिम हो जाएँगे। पर, अभी ऐसा नहीं हैं। अभी 'ज' को ही वह मानता है—उसी में 'ज़' को उसके स्थानीय विकार की तरह समेटता है तथा 'राज' जैसे शब्दों को एकाधिक अर्थों वाला मानकर चलता है—जिनका अर्थ-विभेदन प्रसंगवश बहुत आसानी से वह कर लेता है।[2]

इस स्थिति में हिन्दी में परभाषीय ध्वनियों (क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि) के लेखन की कोई जरूरत नहीं लगती; चाहे वे अर्थ भेदक स्थिति ही क्यों न रखते प्रतीत होते हों।

अभी तो एक ही स्थिति में इनके मूल रूप का आग्रह किया जा सकता है। यदि कहीं विदेशी/परभाषाई कृति से कोई उद्धरण देना हो अथवा 'बाइबिल', 'क़ुरानशरीफ', 'कम्ब रामायण' जैसी कृतियों का पाठ करना हो, तब तो मूल उच्चारण रखना ही पड़ेगा। तदनुसार, मूल के रक्षार्थ उन्हें देवनागरी लिपि में लिप्यन्तरित करने का विशेष शौक जगे[3], तब की यह बात है कि 'परिवर्द्धित देवनागरी', 'विश्वनागरी' आदि की संकल्पना आकार ले। परन्तु, इस विशिष्ट अवसर को लक्ष्य कर के इन सारे आगत ध्वनि-तत्त्वों को हिन्दी-व्याकरण की विवेचना या हिन्दी-लेखन में स्वीकृत कर लेना उसी प्रकार की बात होगी कि कुछ विशेष लोगों की यदा-कदा हवाई-यात्रा की जरूरत को ध्यान में रखकर सबके घर में हवाई अड्डा बना दिया जाए।

6. कुछ प्रकीर्ण प्रसंग

(1) 'निदेशालय' की पुस्तिका (2006) के परिशिष्ट-4 के बिन्दु-1 में 'शरम', 'शरमाना', 'सरदी' आदि लिखे गए हैं, यह कहते हुए कि "निम्नलिखित शब्दों में संयुक्ताक्षर का प्रयोग न हो।" परन्तु, बिन्दु-2 में लिखा गया—'शर्म', 'शर्मीली', 'सर्दी' आदि, यह कहते हुए कि "निम्नलिखित शब्द संयुक्ताक्षर से ही लिखे जाएँ।" यह कैसा अन्धेर है! एक जगह 'शरम' को सही माना, दूसरी जगह 'शर्म' को। (प्रसंग 'हिन्दी में आगत शब्दों की मानक वर्तनी' का है।) उचित होगा, 'शर्म/शरम' में एक को मानक मान लिया जाए। फिर, तदनुसार व्याकरणिक परिवर्तन का विधान किया जाए। यदि 'शरम' को माना, तो 'शरमाना', 'शरमीली' आदि मान्य परिवर्तन होंगे। यदि 'शर्म' को माना, तो 'शर्माना', 'शर्मीली' मान्य परिवर्तन होंगे। परन्तु, निदेशालय, ने एकरूपता का विचार न किया। (दरसाना, हरसाना आदि क्रमशः 'दरस', 'हरस' आदि से बने हैं, जो हिन्दी तद्भव हैं।) मुस्कान > मुस्काना, मुस्कराहट। यदि मुसकान > मुसकाना आदि।

(2) उक्त पुस्तिका में बिन्दु 3.1 में 'नौ' वर्तनी मानी गई, पर क्रमसूचक रूप 'नवाँ' बनाया गया। यह ठीक है कि एक, दो, तीन, चार, छह के क्रमसूचक भी कुछ अलग प्रकार के हैं—पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, छठा (जो केवल 'वाँ' जोड़कर नहीं बनाए गए।) परन्तु, पाँच, सात, आठ आदि की तरह यदि 'नौ' का भी क्रमसूचक सीधे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वाँ' जोड़कर बना लिया जाए तो क्या हर्ज है? 'नवाँ' से 'न/नव+वाँ' जैसी व्युत्पत्ति से तर्कपूर्ण है—नौ+वाँ' की व्युत्पत्ति।

(3) उऋण : पुस्तिका (2006) ने बिन्दु 2.9.1 में 'उऋण' को 'संस्कृतमूलक तत्सम' शब्द मानकर उसके इसी रूप में लिखने का सुझाव दिया। 'उऋण' संस्कृत शब्द[4] कहाँ है? ('ऋण' भले है।) यह ठीक है कि संस्कृतागत 'ऋण' शब्द से ही भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति के तहत यह शब्द ('ऋण-मुक्त' के लिए) हिन्दी में बन गया है, किन्तु हिन्दी की निजी शब्द व्यवस्था में 'ऋ' की सत्ता नहीं है। केवल संस्कृतगत शब्दों में ही एक शब्द के लिए 'ऋ' को मानना ठीक नहीं। इसी से 'उऋण' की जगह 'उरिण/उरिन' लिखना ठीक रहेगा। फिर, इस शब्द को 'ऋण' से व्युत्पन्न नहीं, रूढ़ शब्द मानकर व्याकरणिक व्यवस्था देनी होगी। (नहीं तो 'उ+ऋण/रिन/रिण' की व्युत्पत्ति तो अतार्किक होगी।) इसी तरह 'छह' व 'छिह/छी' रूप ही ठीक होंगे; न कि 'छः', 'छिः', 'छिः'—कारण, हिन्दी की अपनी व्यवस्था (तद्भव शब्दावली) में विसर्ग नहीं होता।

(4) नैर्ऋत्य : यह वर्तनी चलती है। किन्तु, यह इसलिए तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि 'ऋ' स्वर है और स्वर के सिर पर व्यंजन (र्) का जाना पूरी व्यवस्था से हट कर होगा। आमतौर पर स्वर (मात्रा-रूप) ही व्यंजन के ऊपर (दाएँ-बाएँ भी) जाता है, व्यंजन स्वर के ऊपर नहीं लगता। इसी से 'नैर ऋत्य' या (नैरृत्य) लिखना तर्क-पूर्ण होता।

(5.) पुल्लिंग : आज व्याकरण तक की कई किताबों में 'पुल्लिंग'—यह वर्तनी मिलती है। पर शब्द की व्युत्पत्ति 'पुम+लिंग' होने के कारण 'पुंलिंग' वर्तनी अधिक ग्राह्य है। 'पुल्लिंग' तो भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति की देन है।

(6) राजनीतिक/राजनैतिक : ये दोनों रूप मुद्रण एवं लेखन में चल रहे हैं। 'राजनीतिक' को सही ठहराने वाले इसकी व्युत्पत्ति 'राजनीति+क' से बताते हैं, जिसमें 'क' को वे स्वार्थिक प्रत्यय मानते हैं। उनके अनुसार, जिस तरह 'लेखक' है, उसी तरह 'राजनीतिक'। लेख+'क' (स्वार्थिक प्रत्यय) से वे लेखक की सिद्धि मानते हैं। पहली बात, 'लेखक' को हिन्दी में यौगिक शब्द मानें या न मानें—यही सवाल है। यदि उनकी बात मानकर उसे 'लेख+क' से सिद्ध मानें, तो 'वादक', 'धावक' आदि ढेरों शब्द ऐसे हैं, जिनकी व्युत्पत्ति हिन्दी में बतलाना मुश्किल है—संस्कृत में तो 'लिख्', 'धाव्' आदि धातुओं से इनकी व्युत्पत्ति बतला सकते हैं, किन्तु हिन्दी के लिए 'धाव', 'वाद' आदि को मूल शब्द मानना असंगत है। हिन्दी में ये शब्द हैं कहाँ? हिन्दी में तो 'लेखक', 'धावक' आदि को मूल शब्द मानना ही ठीक रहेगा। दूसरी बात, 'लेख' में 'क' जुड़ा हुआ मानें, तो भी वह स्वार्थिक प्रत्यय कैसे है? 'बाल+क = बालक' में 'क' स्वार्थिक (उसी अर्थ में गया) प्रत्यय है। इस प्रकार, 'राजनीतिक' शब्द को किसी तरह सही ठहराना मुश्किल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनैतिक शब्द उसकी अपेक्षा तर्कसंगत है। 'नीति+इक = नैतिक' व्युत्पत्ति तो मान्य है ही। हाँ, कुछ लोगों के अनुसार, 'राजनीति+इक' से 'राजनैतिक' नहीं बनेगा, क्योंकि 'इक' प्रत्यय के स्वभावानुसार 'राजनीति' के प्रथम अक्षर ('रा') में यह विकार पैदा नहीं हो रहा है, बल्कि आगे 'नी' में हो रहा है। यह समस्या अपनी जगह है। फिर भी, उसमें कहीं तो विकार हो रहा है। इसी से 'इक' प्रत्यय से व्युत्पत्ति मानकर 'राजनैतिक' प्रयोग को मान्य बनाना ठीक होगा।

संदर्भ

1. निदेशालय की पुस्तिका (2006) के 'परिशिष्ट-4' में बिन्दु 1 में रखी गई वर्तनी का खयाल बिन्दु 2 में नहीं किया गया। जैसे—बिन्दु 1 में 'शरम', 'शरमाना', 'सरदी' हैं, तो बिन्दु 2 में 'शर्म', 'शर्मीली', 'सर्द' हैं। (पृ. 32)
2. 'निदेशालय' की पुस्तिका (2006) में अंग्रेजी शब्दों की अर्द्धविवृत ध्वनि '0' के लिए कहा गया है कि हिन्दी में उनके शुद्ध रूप का प्रयोग अभीष्ट होने पर 'आ' की मात्रा के ऊपर अर्धचंद्र का प्रयोग किया जाए (—ऑ/ॉ)। (पृष्ठ 16, बिन्दु 2.14.2) अंग्रेजी शब्दों के देवनागरी-लिप्यंतरण के बारे में पुस्तिका में कहा गया है कि वह इतना क्लिष्ट नहीं होना चाहिए कि देवनागरी में अनेक नए चिह्न लगाने पड़ें। साथ ही, यह भी शर्त लगाई कि लिप्यन्तरण मानक अंग्रेजी उच्चारण के अधिकाधिक निकट होना चाहिए। (पृष्ठ 16, बिन्दु 2.14.2)

   यहाँ भी कहना चाहिए था कि अंग्रेजी शब्दों का जो उच्चारण हिन्दी की ध्वनि प्रकृति के अनुसार हो चुका हो, उसी का पालन लिप्यंतरण में हो। रही बात 'ऑ' आदि की, तो उपर्युक्त 'ज़' आदिवाला तर्क यहाँ भी चलेगा। यदि डॉक्टर, कॉल आदि को भी जनता डाक्टर/डौक्टर, काल/कौल आदि ही समझ-बूझ रही है, तो लेखन भी वही होगा। हाँ, एक सिद्धान्त की तरह हम वर्तनी का विधान नहीं कर सकते कि विदेशी ध्वनियों को लिखा ही न जाए। जनता यदि 'ऑ' को मान चुकी है तो लिख सकते हैं।
3. 'भुवनवाणी ट्रस्ट', मौसम बाग, सीतापुर रोड, लखनऊ इस दिशा में व्यापक प्रयास कर रहा है। वह कई भाषाओं की मूल कृतियों को मूल लिपि के साथ परिवर्धित देवनागरी में भी ढाल रहा है।
4. संस्कृत में लगातार दो स्वरों के आने के उदाहरण केवल दो शब्दों में मिलते हैं—'तितउः' 'प्रउगम्'। इनके अर्थ क्रमशः 'चलनी' और 'त्रिकोण' हैं। ('संस्कृत-हिन्दी-कोश'—वामन शिवराम आप्टे)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वैदिक ग्रह-नक्षत्रों से संबद्ध कुछ तथ्य एवं मिथक

राजीव रंजन उपाध्याय*

ऋग्वेद के अनुशीलन से, पुराकालीन आर्यजनों के नक्षत्रादि की चर्चा तो स्पष्ट है ही, उसी के साथ सूर्य और चन्द्र की गति के फलस्वरूप उत्पन्न ऋतु परिवर्तनों के भी स्पष्ट संकेत उपलब्ध हैं। एक मंत्र में अजुर्नी और अघा नामक नक्षत्रों की स्पष्ट चर्चा है तथा एक अन्य मन्त्र में वर्ष, अयन और उसमें निहित दिनों की, पितृयान और देवयान की चर्चा है जिनका सम्बन्ध बसन्त निपात से है।[1,2] निश्चय ही पूर्व वैदिक जनों के ग्रह-नक्षत्रों मंडलों के निरीक्षण से यह ज्ञान दीर्घकाल में प्राप्त हुआ होगा।

ऋग्वेद घोषित करता है कि वरुण ने सूर्य के आवागमन हेतु एक-प्रशस्त पथ का निर्माण किया था[3] जिस पर आदित्य वास करते हैं। इसी ऋत पथ पर सरमा ने इन्द्र की गायों को खोजा था[4], महाजन इसी पथ का अनुसरण करते हैं, क्योंकि यह ऋत-पथ है।

वास्तव में ऋत शब्द की उत्पति ऋ धातु से हुई है, जिसका अर्थ जाना होता है, तथा यह चक्रीय पथ अनादि है। इसी सतत गतिमान चक्र, जो राशि पथ क्रान्ति वृत्त पर स्थित है, को बारम्बार रात्रि शब्द से संबोधित किया गया है।[5]

ऋग्वेद का यह मन्त्र[6] जो कहता है कि "अत्रि ही सूर्य को पूर्ण रूपेण जानते हैं" महर्षि अत्रि द्वारा सर्वप्रथम देखे गए सूर्य ग्रहण की ओर संकेत करता है।

प्राचीन काल में आर्यजनों ने आकाश में चमकते हुए ग्रहों, जिनका अर्थ एक पथ विशेष को ग्रहण किए हुए, जकड़े हुए, उस पर चलने वाले ज्योतिषीय पिण्डों-(अघो नक्षत्राणमघा मुयस्थे सोम अहितः। ऋ. 10, 85.2) को देखकर उनका नामकरण करने का प्रयास किया होगा। फलस्वरूप बृहस्पति, शुक्र और शनि सम दीपमान ग्रह उनकी दृष्टि में आकर्षण के केन्द्र थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में शुक्र और मंथिन का वर्णन उपलब्ध है[7] और तैत्तरीय ब्राह्मण में वर्णित है कि बृहस्पति का प्रथम उदय तिष्य नक्षत्र में हुआ था[8], जो कालान्तर में विकसित फलित ज्योतिष के अनुसार शुभकारी होता है।

* पूर्व प्रोफेसर, कैंसर शोध, तवरीज विश्वविद्यालय तवरीज, ईरान, 'विज्ञान' परिसर कोठी काके बाबू देवकाली, मार्ग, फैजावाद 224001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुक्र ग्रह का तिलक महोदय के अनुसार, एक नाम वेन भी है।[9] तथ्यतः ऋग्वेद के दशम मंडल का 123वां मन्त्र वेन को संबोधित है। इस शब्द का अर्थ महर्षि यास्क[10] के अनुसार "यह मध्य आकाश में स्थित एक देव, जिसका अर्थ कामना एवं प्रेम है।" उपर्युक्त मन्त्र में इसके ऋत पथ पर आसीन होने और उसी पथ पर चलने की चर्चा है तथा यह भी कहा गया है कि यह समुद्र की लहरों के संग प्रकट होता है।

इसी प्रकार की अवधारणा, प्राचीन यूनान-ग्रीस में इस ग्रह के विषय में विद्यमान थी, कि यह ग्रह समुद्र के फेन से उत्पन्न हुआ है। डॉ. ह्वाइट ने अपनी लैटिन-इंग्लिश कोष में इस बेनस शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के वेन वेनस शब्द से ही मानी है,[11] जो कालान्तर में ग्रीक भाषा में लिंग परिवर्तन के फलस्वरूप वीनस अथवा काम-देवी हो गया जिस प्रकार चन्द्रमा का लिंग परिवर्तन यूरोपीय भाषा में हो गया।

शुक्र ग्रह की खोज, आर्यजनों ने पुराकाल में ही कर ली थी, इसी कारण ग्रीक भाषा का Kurpis शब्द काम-देवी वीनस का द्योतक है साथ ही साथ शास्त्र के अनुसार यह Kupris कुप्रिस Kupros कुप्रोश-शुक्रोष शब्द में परिवर्तित होकर शुक्र की ध्वनि देता है।

स्पष्ट है कि शुक्र ग्रह की खोज के अधिक अंतराल के उपरान्त ही आर्यजनों की शाखा में विभाजन हुआ होगा और इसी कारण ग्रीक भाषा में यह शब्द पुराकाल के स्मृति के उद्घोषक के रूप में विद्यमान है।[12]

ऋभुओं की चर्चा ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में विद्यमान है तथा इनके सद्कर्मों की सराहना प्रचुरता से की गई है।[13] यह भी कहा गया है कि ऋभुगण सम्वतसाम अथवा संवतसर के सहयोगी हैं[14] तथा वर्ष पर्यन्त सहयोगी कार्य में रत रहते हुए सूर्य की गायों-किरणों की सहायता करते हैं।[15] एक मन्त्र में यह भी उच्चारित है कि ऋभुगण सूर्य के अगोह्य में बारह दिनों तक शयन करते हैं।[16] ऋभुओं का प्रत्येक संवतसर में बारह दिनों के लिए विश्राम करना एक अति महत्त्वपूर्ण तथ्य है। यहाँ पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि ऋभुगण मात्र सूर्य की किरणों के सहायक ही नहीं हैं; वरन इनका घनिष्ठ संबंध ऋतु-चक्र परिवर्तन से है। इसका स्पष्ट संकेत ऋग्वेद में विद्यमान है।[17] ऋतु परिवर्तन ऋभुगण प्रसन्न हो उठते हैं।

तीन ऋभु जो समय प्रवाह में सुधनवान के पुत्र-ऋभु, विभवान और बाज के रूप में प्रतिष्ठित हुए, संकेत देते हैं कि पुराकाल में आर्यजन-मध्य एशिया के सम्भवतः जिस क्षेत्र में 6000 से 5000 वर्ष ई.पू. (अदिति काल) वास करते थे वहाँ पर उस समय मात्र तीन ऋतुएँ होती थीं। कालान्तर में आधुनिक वृहत यूराल क्षेत्र की सीमा से लगे कजाकिस्तान क्षेत्र के आरकाइम (ARKAIM)[17] तथा समीपवर्ती स्थानों पर वास करते हुए तथा उसी क्षेत्र के सबसे ऊँचे पर्वत, जिसके आज रूसी नाम धारण (वेलूखा-पर्वत) करने के उपरान्त भी क्षेत्रीय आल्टित भाषा-भाषी जन, इसे उच्च-सुमेरु के नाम से संबोधित करते हैं तथा जहाँ से चारों समुद्र बराबर की दूरी पर हैं, को—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नाभा पृथिव्या' कहा होगा। यही भारतीय मानस में रचा बसा समेरु गिर है।[18] विद्वानों ने आरकाइम क्षेत्र में बने भवनों, दुर्गों और नक्षत्र-वेधशालाओं युक्त सभ्यता को एन्द्रानावो नामक ग्राम से सम्बद्ध नाम दिया है।

इनीसेल सरिता की उपत्यका में बसा यह ग्राम दक्षिणी साइबेरिया के चेल्याविन्सक जनपद में स्थित है। यद्यपि कुछ अनुमानों के अनुसार आरकाइम क्षेत्र की संस्कृति बारह हजार वर्ष पुरानी है पर प्राप्त अवशेषों के अध्ययन के उपरान्त उनकी आयु ई. पू. 2200 से 1600 वर्ष तक मानी जाती है। तथ्यतः ईसिम और तोबाल सरिताओं के कूल पर बसे पश्चिमी साइबेरिया के मैदानी क्षेत्र में यूराल पर्वत शृंखला के पूर्व में स्थित आर्य सभ्यता से संबद्ध 30 स्थलों की खोज रूसी इतिहासविदों ने 1989 ई. में की थी। इनके तथा सिन्तस्थ सभ्यता के 250 से अधिक स्थलों को जो कजाकिस्तान के स्टेपे से लेकर एनेसीई, पामीर और तिआनशान तक फैले हुए हैं, को सिन्तस्थ-आरकाइम सभ्यता के नाम से संबोधित किया गया है।[18]

ऋग्वेद वर्णित दध्यंच की कथा (ऋ. 1/16/12) को पोटापोवका, कारसनोयारस्क जनपद, कुईबीशेव उत्तर वोल्गा स्टेपे के शवाधान से प्राप्त मानव कंकाल, जिसके कटे हुए सर के स्थान पर घोड़े का सर लगा था और उस व्यक्ति का सर उसके पैरों के समीप पड़ा था, उसके घुटनों के पास से प्राप्त गाय का कटा हुआ सर एवं बोन पाइप-अस्थि तूर्य अथवा सोमपान हेतु प्रयोग में लाई जाने वाली अस्थि नलिका[18अ] इसके संभावित वैदिक संबंधों का उद्घोष करती है।

उसी प्रकार आरकाइम क्षेत्र स्थित वेधशाला से वैदिक जनों को नक्षत्र गणना ज्ञान के साथ तिष्य नक्षत्र में बृहस्पति ग्रह की उपस्थिति का भी ज्ञान 4650 ई. पू. पूर्व में हुआ हो।

इस क्षेत्र से सम्बन्ध गणनाएँ इसी तथ्य का संकेत करती हैं कि इस क्षेत्र की प्राचीनता बृहस्पति ग्रह के अन्वेषण के काल के आस-पास ठहरती है।[8,18]

आरकाइम क्षेत्र के स्वास्तिक युक्त भवनों, नक्षत्र वेधशाला-जो ग्रह-नक्षत्रों के अध्ययन हेतु निर्मित थी, संकेत देती है कि सम्भवतः ऋग्वैदिक मन्त्रों में वर्णित ग्रह-नक्षत्रों के अध्ययन के विवरणों तथा इन्द्र के नाम से सम्बद्ध यह संस्कृति, ऋग्वैदिक तथ्यों को वृहत्तर आयाम प्रदान करने में सक्षम है।[18]

उस क्षेत्र में ऋतु परिर्वतन (बसंत के आगमन पर) के फलस्वरूप पृथ्वी फल-फूल युक्त हुई, झरने पुनः गतिमान हुए, नववृक्ष-पादप पल्लवित हुए और यह चक्र निरंतर इसी प्रकार चलता रहता है।[19]

बारह दिनों तक शयन करने के उपरान्त ऋभु गण सूर्य से प्रश्न करते हैं कि 'हमको किसने जगाया?' सूर्य का उत्तर था 'श्वान ने।'[19] इस श्लेषात्मक भाषा में वर्णित श्वान है कौन? इस पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि ऋभुगणों का जागरण संवतसर के अन्त में, वर्ष के अन्त में होता था तथा चन्द्र वर्ष से 12 दिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकालकर सौर्य वर्ष में युक्त करने से एक वर्ष पूरा हो जाता था। वास्तव में यह बारह दिन न चान्द्र अथवा न सौर्य वर्ष के होते हैं। यही वह समय है जिसमें ऋभु गण शयन करते हैं, विश्राम करते हैं। जिस श्वान ने उन्हें निद्रा से उठाया था, वह वास्तव में नक्षत्र मंडल का महाश्वान–Canis Major था। क्योंकि इस नक्षत्र में बसंत निपात होने के ही परिणामस्वरूप धरा जागृत होती थी वनस्पतियाँ प्रगट होती थीं और हिम के पिघल जाने के कारण झरनों का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता था।

वैदिक आर्यजनों ने पृथ्वी के सूर्य की प्रदक्षिणा करने की गति के अनुसार वर्ष को दो अयनों में विभक्त किया था। यह गति उत्तरायण (देवयान) और दक्षिणायण (पितृयान) पथ थे। ऋग्वेद में यम का, पितृयान का मार्ग देवयान के विपरीत है तथा अग्नि ऋतु के अनुसार देवयान को जानते हैं।[20] यह 6 मास की अवधि, बसन्त, ग्रीष्म और वर्षा देवयान में तथा पितृयान पथ में, शरद, हेमन्त तथा शिशिर ऋतुएँ आती थीं। तथ्यतः मध्य एशिया के ऋतु चक्र और भारत के ऋतु चक्रों में अन्तर है। भारत में वर्षा का प्रारम्भ ग्रीष्म के उपरान्त होता है, परन्तु आर्यों के मध्य एशिया प्रवास के काल में यह पतझड़ के समाप्ति पर प्रारम्भ होती थी। देवयान ही यज्ञों और शुभकर्मों के करने का समय माना गया था।

वैदिक आर्यों ने सूर्य के प्रकाश की कल्पना गाय, वृष, बराह अथवा अश्व के रूप में की थी तथा विद्वान होमर के शब्दों में "मात्र सूर्य ही नहीं वरन समस्त नक्षत्र गण समुद्र की लहरों में स्नान कर प्रगट होते हैं।"[19] यही मिथक होमर से पूर्ववर्ती ऋग्वेद में ध्वनित होता है कि "सूर्य समुद्र से प्रगट होता है।"

परन्तु इस पर प्रहार करता हुआ, आत्रेय ब्राह्मण घोषित करता है कि सूर्य कभी अस्त नहीं होता।[12] ऋग्वेद के पांचवें मण्डल का 40वाँ मन्त्र संकेत देता है कि अत्रि ऋषि ने सर्वप्रथम सूर्य ग्रहण को देखा था, इसी कारण इस मंडल का अन्तिम मन्त्र कहता है कि मात्र अत्रि ही सूर्य को जानते हैं। सूर्य ग्रहण की चर्चा शाखायन (24.3) और सूर्य ताण्ड्य ब्राह्मण (4, 3.2,; 6, 14) में भी है।

महर्षि अत्रि द्वारा देखा गया ग्रहण सूर्य ग्रहण था। उस समय नभ में नक्षत्र स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगे थे। उन्होंने इस सूर्य ग्रहण को तुरीय ब्रह्म (तुरीय यंत्र) की सहायता से देखा था।[12]

सूर्य की गति से संबंधित है देवयान और पितृयान की कल्पना। ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि स्वर्ग के अवरुद्ध द्वार के रक्षक वैवस्वत यम हैं तथा यह मार्ग अनन्त सलिल के मध्य से जाता है।[21]

वैवस्वत यम उस युग में भीषण कर्मा नहीं माने गए थे। उनके विषय में इस प्रकार कल्पना कालान्तर में विकसित हुई होगी। यम पितृयान, दक्षिणी गोलार्ध के स्वामी थे तथा इन्द्र, तम आवृत पितृयान मार्ग के विपरीत प्रकाशमान, ज्ञान मार्ग, देवयान के रक्षक थे। मध्य का सलिल पथ आकाश गंगा थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तव में यह कल्पना ऋतु चक्र से जुड़ी है, जिसमें बसंत, ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु देवयान हैं तथा शरद, हेमन्त एवं शिशिर-पितृयान के द्योतक हैं। स्पष्ट है कि षडऋतु की यह कल्पना, आर्यों के उत्तर हिममंडित क्षेत्र से मध्य एशिया और उससे आगे चलकर भारतीय भू-भाग में प्रविष्ट होने के उपरान्त विकसित हुई होगी।

ऋतुओं के, तीन ऋभुओं के जागरण की कल्पना इसकी पूर्ववर्ती है तथा संकेत देती है कि उस काल में सुदूर साईबेरिया क्षेत्रों में भी मात्र तीन ऋतुएँ होती थीं।

देवयान और पितृयान की आवधारणा का विकास मृगशिरा नक्षत्र में बसंत निपात के उपरान्त प्रारम्भ हुआ होगा, क्योंकि पुराकालीन आर्यजनों का जीवन यज्ञादि शुभकर्मों के चतुर्दिक घूमता था।[21]

पितृयान और देवयान के रक्षक दो श्वान माने गए हैं। इन द्वारों को सदा खुला रखने की प्रार्थना ऋग्वेद में की गई है तथा प्राचीन ग्रीक-यूनानी परम्परा में प्रचलित था कि सद्कर्मा व्यक्ति कर्क राशि और वृश्चिक राशि के मार्ग से चलकर स्वर्ग द्वार तक पहुँचते हैं।[12] यह वर्णन संकेत देता है कि उस काल के ऋषियों को राशिपथ का पूर्ण ज्ञान हो गया था।

प्राचीन ईरानी आर्यों की अवधारणा थी कि अंतरिक्ष स्थित ऋतु परिवर्तन बिन्दु एक सेतु है जो स्वर्ग और नर्क को जोड़ता है तथा दो श्वान जो इस चिन्वात-सेतु के दोनों ओर रहते हैं—मृत आत्मा को उस लोक में प्रवेश करने में सहायता करते हैं। ये चार आँखों वाले श्वान यम लोक के मार्ग के रक्षक हैं।

'द सैक्रेड-बुक्स आफ ईस्ट' में दारमेरत्रतर ने एक ग्रीक मिथक की चर्चा की है कि केरबेरास (Kerberos) और आर थ्रोस नामक श्वान नर्क के द्वार की रक्षा करते हैं। वैदिक वाङ्मय में इन्हीं यम के दोनों श्वानों का रंग श्याम और शावाल-चितकबरा है। विद्वानों ने केरवेरॉस को वैदिक श्वान शर्वर और ऑरथास को वृत्र का परिवर्तित स्वरूप माना है।[12]

इस कल्पना की कुक्षि में निहित तथ्य है बसंत ऋतु का निपात अग्रहायण-ओरीयान नक्षत्र में होना और उस काल में Canis Major एवं Canis Muior—महाश्वान और लघु श्वान नामक तारे मंदाकिनी-आकाश गंगा के दोनों छोरों पर स्थित रहे होंगे। यही चिन्वात सेतु है जो ईरानी आर्यों के अनुसार चकन्दे-दाइ तक से लेकर अरेजुर—जो नर्क का द्वार है, तक विस्तृत है। यही आर्यों की वैतरणी है, जो ग्रीक मिथकों चेरान की कथा के रूप में विद्यमान है। इसी वैतरणी में त्वरण के हेतु 'देविम् नावम्' की आवश्यकता पड़ती है।[22]

देव और पितृयान के रक्षक श्वानों को ऋग्वेद 'चर्तु अक्षम' और आवेस्ता 'चहारचश्मन'[23] चार आँखों वाला मानता है। तथ्यतः केनिस मेजर-महाश्वान स्थित चार छोटे तारे जो इस अन्तरिक्ष में कई प्रकाश वर्ष की दूरी पर हैं, इन श्वानों के 'चर्तुअक्षम्' होने के कारक हैं।[12]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व उल्लिखित चर्चा कि इन्हीं श्वानों ने ऋभुओं को उनके 12 दिनों के शयन से उठाया था, इंगित करता है कि उस समय बसंत का निपात श्वान नक्षत्र के समीप होता था, जिसके परिणामस्वरूप ये श्वान सूर्योदय के पूर्व दिखकर प्रकृति के पुनर्जागरण का संदेश देवयान के प्रहरी रहते हुए प्रेषित करते थे। यह समय यज्ञादि शुभ कर्मों के करने का होता था।

मृगशिरा नक्षत्र मंडल में अनेक तारे हैं और इन सभी में से तीन छोटे योगतारक नक्षत्र मृगशिर का निर्माण करते हैं। इसके ऊपर स्थित दो तारे मृग के कंधों का और नीचे स्थित दो कम आभावान तारे मृग के पैर की कल्पना को साकार करते हैं। समीपस्थ आद्रा नक्षत्र को इस आकृति से संयुक्त करने पर स्वरूप और स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में यह पूर्ण मृग की स्पष्ट आकृति न होकर मात्र उसका सिर ही है।

शतपथ में वर्णित है कि इस मृगशिर रूपी प्रजापति को रुद्र ने वाण से काट दिया। यही वाण और सिर आकाश में स्थित हैं।[24]

इसी प्रकार का परन्तु किंचित परिवर्तित रूप में ऋग्वेद में वर्णित हैं जिसमें मृगरूपी शत्रु के सिर को काट देते हैं।[25]

वास्तव में यह मृगशिरा ही अग्रहायण मंडल है। वैदिक जन इसी नक्षत्र से अयन का प्रारम्भ मानते थे। कालान्तर में पाणिनि इसी को अग्रहायणी नाम से सम्बोधित करते हैं।[26] इसी नक्षत्र मंडल से संबद्ध अनेक मिथक ऋग्वेद में विद्यमान हैं जिसमें से दो की चर्चा संक्षिप्त में की गई है और उन्हीं मिथकों से साम्य रखते हुए कुछ ग्रीक मिथकों-यूनानी मिथकों की चर्चा पुराकाल में आर्यजनों को एक साथ वास करने का संकेत भी देती है।

ग्रीक जन इस अग्रहायण को ओरीआन नाम से संबोधित करते थे और समय के साथ इसका मानवीकरण हो गया। इन्हीं ग्रीक मिथकों में, ओरीआन को, उसके प्रेम बंधन में बंधी इओस (Eos), लेकर भाग जाती है। परन्तु देवों को यह व्यवहार प्रिय न लगा। उन्होंने आर्टेमिस (Artemis) को वाण द्वारा इसका वध करने के लिए कहा। यह कटा सर ही मृगशिरा नक्षत्र है।

एक अन्य मिथक में ओरीआन, अपोलो की बहन आरटेमिस को प्यार करता है। इस सम्बन्ध को समाप्त करने के लिए अपोलो अपनी बहन को समुद्र स्थित दूरस्थ एक लक्ष्य को भेदने के लिए कहता है। अपोलो की बहन लक्ष्य भेद करती है। वह विद्ध लक्ष्य अपोलो का सर होता है।

ग्रीक मिथकों के अनुसार ओरीआन की मृत्यु वृश्चिक दंश के परिणामस्वरूप हो जाती है। इस मिथक की पृष्ठभूमि में निहित तथ्य है, वृश्चिक राशि के पूर्व में प्रातः उदय होने के पहले मृगशिरा नक्षत्र का अस्त हो जाना। ग्रीक-यूनानी मिथकों के अनुसार अपनी मृत्यु के उपरान्त ओरीआन नक्षत्रों के मध्य भीमकाय स्वरूप धारण कर असि और कटिबंध सहित स्थित हो जाता है।[29]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जर्मन मिथकों में एक जंगली व्याध का विवरण मिलता है, जो आकाशस्थ है तथा वोडेन अथवा गॉडेन नाम से जाना जाता है। यह व्याध, वैदिक रुद्र है। यह प्रजापति-मृगशिरा का आखेट करता है। यह मृग फ्रेयर पालित है। फ्रेयर देवता-उवर्रा का एवं सूर्य का प्रतीक है–प्रजापति का स्वरूप है।

जर्मन और इंग्लिश परम्परा में पूर्वकाल नव वर्ष का जो उत्सव मनाया जाता था, वह 12 दिनों तक चलता था। इसको जर्मन भाषा में diezolften–द ज्वेल्फटेन कहा जाता था। जर्मन में ज्वेल्फ संस्कृत का द्वादश होता है। यह उत्सव वैदिक ऋभुओं के 12 दिन तक विश्राम कर पुनः नव वर्ष में जागृत होने तथा पृथ्वी के गर्भ से वनस्पतियों के प्राकट्य का स्मरण है।

इस उत्सव में एक व्यक्ति मृग बनता था और दूसरा उसका पृष्ठ भाग बनकर (मुख्यतः वृद्धा स्त्री) दर्शकों का मनोरंजन करता था। इसमें अनेक अश्लील गीत गाए जाते थे। यह गीत भारतीय ग्रामीण परम्परा के अनुरूप थे। सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में विवाह के अवसर पर अश्लील गीतों के गाने की परम्परा आज भी जीवित है।

इस प्राचीन उत्सव के उपरान्त प्राचीन जर्मन और इंग्लिश जनों की अवधारणा थी कि इस अवधि में देवगण मानव धरा पर विचरण करने आते हैं। जर्मन जनों का वोडन, रुद्र की भाँति एक कुशल चिकित्सक, महाभिषक था।[12,28]

भारोपीय पूर्वजों ने सूर्य और उसके प्रकाश की किरणों को वृष, बराह, गाय अथवा अश्व के रूप में कल्पना की थी। उनकी अवधारणा थी कि उनका वध प्रतिदिन सूर्यास्त के समय हो जाता है और सूर्योदय के साथ पुनः प्रातःकाल में वे जीवित हो उठते हैं।

जर्मन और उसके उत्तर दिशा में स्थित देशों में मध्यशीत ऋतु में सूर्य का प्रकाश क्षीण हो जाता है। अधिकांशतः सूर्य बादलों के मध्य आच्छादित रहता है। इसी कारण पुराकालीन जर्मन जनों का विश्वास था कि सूर्य का विनाश एक देव द्वारा कर दिया जाता है, जो रात्रि का, शीतकाल का एवं झंझावत का देवता था।

जर्मन जन, क्षीण सूर्य के अस्ताचल पर जाते ही, पूर्ण आभा के साथ चमकते मृगाशिरा मंडल को देख सकते थे। क्रमशः ऋतु चक्र का परिवर्तन सूर्य के प्रकाश को तीक्ष्णता प्रदान कर देता उस अवधि में देवगण धरातल पर आते थे। यह परम्परा अग्रहायण नक्षत्र में बसंत नियात काल से प्रारम्भ हुई होगी।

प्राचीन ईरानी मान्यताएँ और मिथक जर्मन मिथकों के समान रोचक हैं।

ऋग्वैदिक मान्यता के अनुसार सोम मृगशिरा नक्षत्र का प्रमुख देवता है। स शब्द के ह में परिवर्तित हो जाने के कारण सोम शब्द होम अथवा होमा हो जाता है। जिन्द आवेस्ता के अन्तर्गत होमा याश्त का 26वाँ मन्त्र दृष्टव्य है।[28]

"फ्रा ते माजदाओ वारात पाउरवानिम अईया ओतघा नेम स्तेहेरपाससानघेम माइन्यू-तास्तेम वानघूहिम दीनाम- माजायासनिम" विद्वानों के अनुसार पाउरवानिम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतिका का संबोधक शब्द है और पारू, पारवाह जो पूवर्जों के पवित्र वर्ष हैं, इसके देवता परबीन और परवीज हैं। इस मन्त्र में आईयाओतघानेम शब्द का लोगों ने कटिबन्ध, बेल्ट और मेखला सूचक अर्थ लगाया है, परन्तु यह जेन्द शब्द पारसीजनों की 'कुश्ती' या पवित्र सूत्र का प्रतीक है। यह कटिबंध मृगशिरा का कटिबंध है, क्योंकि मृगशिरा-प्रजापति है, वैदिक यज्ञ है।

वास्तव में यह कटिबंध पुराकाल में ऊन अथवा कपास निर्मित गोल किए हुए कपड़े से बनता था और यही यज्ञोपवीत यज्ञ के समय धारण किया जाता था।

विद्वानों ने यज्ञोपवीत शब्द को यज्ञ और उपवीत द्वारा निर्मित माना है जो यज्ञों में धारण किया जाता था। वास्तव में यज्ञोपवीत धारण करने के पूर्व जो मन्त्र उच्चारित किया जाता है, ब्राह्मोपनिषद का वह मन्त्र निम्नवत है–

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम् प्रजापतेर्यत्यहजं पुरस्तात।' इस मन्त्र और होमायाश्त के मन्त्र में अद्‌भुत साम्य है, क्योंकि इस मन्त्र में कहा गया है कि यह मन्त्र परम पवित्र है और प्रजापति द्वारा पुराकाल में प्रचलित किया गया था। यहाँ पर पुरस्तात होमा याश्त का पाउरवानिम है और मैन्यू-तास्तेम, प्रजापति के बाहों पर, के अर्थ में लिया जा सकता है।

उपवीत शब्द में वी शब्द से बुनने की निष्पत्ति हुई है। इस कारण प्रतीत होता है कि पुराकाल में बुना हुआ कपड़ा अजिनचर्म अथवा ऊन, न कि धागा कटि प्रदेश में धारण किया जाता था। यह तथ्य पुनः अग्रहायण के कटिबंध की स्मृति है। कभी-कभी इस वस्त्र के स्थान पर कटि प्रदेश में मृगचर्म को लपेट लेने की प्रथा थी।

ब्राह्मणों में यज्ञोपवीत को कंधे पर धारण करने की प्रथा के पूर्व वे भी यज्ञादि पुण्य कर्मों के सम्पादन के समय इस यज्ञोपवीत को कटि प्रदेश में ही धारण करते थे।[12] यज्ञोपवीत की पवित्रता का प्रारम्भ प्रजापति की कटिबंध की अवधारणा (मृगशिरा का कटिबंध) से प्रचलित हुई। तैत्तरीय संहिता में निविता, प्राचीनविता और उपवित, शब्द यज्ञोपवीत तथा ब्राह्मण के शरीर पर यज्ञोपवीत की स्थिति के द्योतक हैं।[29]

यज्ञोपवीत संस्कार आज भी मृगशिरा नक्षत्र की स्मृति को सुरक्षित रखे हुए है। इस संस्कार में प्रत्येक वटु को कटि प्रदेश में कुश घास की मेखला धारण करनी पड़ती है, जिसमें लगाई गई तीन ग्रन्थियाँ मृगशिरा नक्षत्र के तीन कटिबंधीय नक्षत्र-तारे हैं। इस ग्रन्थि बंधन के समय उच्चारित मन्त्र में इनको सोम की ग्रन्थियाँ कहा जाता है।[30] यह परम्परा पारसीक जनों की होम-याशात-परम्परा के ही समान है, क्योंकि मृगशिरा नक्षत्र का देव-सोम है।

यज्ञोपवीत संस्कार में वटु के हाथ का अंजीर अथवा पलाश दण्ड, मृगशिरा नक्षत्र में बिम्बित असि का स्वरूप है। इस प्रकार मेखला, अजिन चर्म-मृगचर्म और दण्ड प्रजापति मृगशिरा नक्षत्र के प्रतिबिम्ब हैं, जो प्राचीन पारसीक समुदाय और भारतीय द्विजों में उभयनिष्ठ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद में कृतिका नक्षत्र मंडल की चर्चा नहीं है तथा विद्वानों का विचार है कि तैत्तरीय संहिता काल (2500 ई. पू.) में आते-आते ये ऋग्वैदिक मन्त्र रूढ़ हो गए थे।[12]

ऋग्वेद के कुछ मन्त्र अति प्राचीन हैं, जिनके विषय में ऋषि का कथन है कि यह 'पुरुष' से प्राप्त हुए थे। दूसरे शब्दों में अनादि है[31] तथा मृगशिरा नक्षत्र-अग्रहायण में बसंत निपातकाल के उपरान्त ही मध्य एशिया स्थित मुख्य आर्य शाखाओं में विभाजन के फलस्वरूप-यूनानी-यूरोपीय, ईरानी और सर्वोपरि भारतीय आर्यों ने अपने-अपने देशों में इस नक्षत्र से जुड़े मिथकों की स्मृति को सुरक्षित रखा।

सन्दर्भ सूची

1. ऋग्वेद, 10, 85, 13 तथा अपत्ये तायवो यथा नक्षत्रा यंत्यक्तभि। सूराय वियव चक्ष से। ऋ 1, 50, 2
2. ऋग्वेद, 1, 164; 2, 48
3. ऋग्वेद, 1, 24, 8
4. ऋग्वेद, 5, 85, 1
5. ऋग्वेद, 1, 164, 2
6. ऋग्वेद, 5, 40
7. ऋग्वेद, 3, 32, 2
8. तैत्तरीय ब्राह्मण 3, 1.1., तिलक, बालगंगाधर, आर्कटिक होम इन द वेदाज, विजय गोयल, नवीव शाहदरा, दिल्ली-12, 2010, पृ. 10
9. ऋग्वेद, 10, 123, एवं तिलक, बाल गंगाधर, ओरिआन, पृ. 20
10. यास्क, निरुक्ति, 10, 38
11. जॉन, टी. एन. एवं ह्वाइट, डी.डी.,आक्सन, लैटिन-इंग्लिश डिक्शनरी.
12. तिलक, बाल गंगाधर; ओरीआन, विजय गोयल, हिन्दी-इंग्लिश पब्लिशर, एस-16, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32, 2010. पृ. 10-11, 21, 36, 76, 102, 78, 85, 79, 81, 115, 118।

    — दास, अविनाश चन्द्र, ऋग्वैदिक इंडिया, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1929
13. ऋग्वेद, 4, 33-30, 1, 20, 110, 111-161
14. ऋग्वेद, 4, 33, 4
15. ऋग्वेद, 4, 33, 7
15. ऋग्वेद, 4, 34, 2
16. वेटनी स्यूगस, अरकाइम, दे क्रेडिल आफ आर्यन सिविलाइजेशन, इंटरनेट से प्राप्त सूचना।
17. उपाध्याय राजीव रंजन, विश्वात्मा सर्वशैलोत्तमोत्तमोत्तम-मेरु, चिन्तन सृजन, वर्ष-4, अंक-4, अप्रैल-जून, 2009, पृ. 85

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

– वर्मा ठाकुर प्रसाद, वर्ष, वैदिकजनों का यूरोप एवं पश्चिमी एशिया में विसंक्रमण, इतिहास दर्पण, 14 (2), 2009, पृ. 25-42

– कुजमीना, ई.ई. हार्स, चैरियट्स एण्ड द इन्डो-ईरानियनस : इन आर्कियोलाजिकल स्पार्क इन द हिस्टारिकल डार्क, इन : ए पारपोला एण्ड पी. कोस्की कालिओ (एडिट) साउथ एशिअन आर्किओलाजी 1993, हेलसिंकी 1994 वॉल्यूम 1. 403-412

– जेडानोविच, डी.जी. आरकाइम : आरी ना यूराले, फान्तास्नेका इ. नाउका 25, 1992 बी, 156-271 (1992)

– विटजेल एम, : द होम आफ द आर्यन्स, आनसानताई, एफएस, जोहान नारर्टेन, जूम 70 गेवुर्सताग एडी. ए. हिन्टज एण्ड ई. टीची, डेल्टेवाख, जे. एच. रिओल, 2000 283- 338 इन्टरनेट पर उपलब्ध।

– वैसीलिव, आई. वी., कुजनीत्सोव, पी. एफ.; सेमीनोवा, ए. पी.; पोपाटोवास्की कुरगेनीमोगी लिंक इन्डोईटानिस्कीरव प्लीमेन ना वोल्गे सामारा, इज्दाटेल्सवो सामारास्की यूनीवर्सिटेट 1994

18.अ. सारींअनीडी, विक्टर, मारगुश-तुर्कमानिस्तान-एनिशएन्ट ओरियन्टल किंगडम इन द ओल्ड डेल्टा ऑफ द मुरगाव रिवर; अश्गावत, तुर्कमेरनडोवलेथावारलारी, वेनाटजकी ड्यूक एण्ड मीडेन, जीयमबीएच हनोवर, 2002

– द्विवेदी, सुनीता : एनशिएन्ट मेर्वः द क्वीन ऑफ द वर्ल्ड एण्ड इट्स लिंक विद इंडिया, डायलॉग, 13 (1), जुलाई-सितम्बर, 2011, पृ. 158

19. सुषष्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत। श्वानं वस्तो बोधियितारमब्रवीस्तंवत्सर इदमाद्या व्यख्यंत।
ऋग्वेद, 1, 161, 13

20. ऋग्वेद, 10, 18, 1; 10, 98, 11, ऋग्वेद, 10, 72, 7
ऋग्वेद, 10, 113, 8

21. ऋग्वेद, 1, 13, 6, एवं 2, 3, 5

22. ऋग्वेद, 10, 63, 10.

23. ऋग्वेद, 10, 14, 11, एवं आवेस्ता, वेन्दीदाद, 3, 16

24. शतपथ ब्राह्मण, 2, 1, 2, 3, 5.

25. ऋग्वेद, 4, 32, 2 एवं 8, 93, 14

26. डॉ. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पणिनि कालीन भारतवर्ष, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी-1, 1968, पृ. 174.

27. डॉ. विलियम, स्मिथ, स्माल क्लासिकल डिक्शनरी एवं ओरीआन, पृ. 100

28. डॉ. राजेन्द्र लाल मित्र, इन्डोआर्यन्स एवं जेम्स दारमेरत्रेतर : द जिन्द आवरेस्ता– होम याश्त, तथा एल. एच. मिल्स; सैक्रेड बुक्स आफ ईस्ट, अमेरिकन संस्करण 1898, सैक्रेड, लिटुर्गी एण्ड गाथाज- हाइमस आफ जरथ्रोस्ट - आवेस्ता यासना।

29. तैत्तरीय संहिता 2, 5, 5, 1

30. वाजसेयनी संहिता 5, 10

31. ऋग्वेद, 10, 99, 9.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्ण क्रांति–लोकतंत्र और भ्रष्टाचार

नरेश कुमार अम्बष्ट*

मैं मगध विश्वविद्यालय में भ्रष्टाचार पर एक व्यक्तव्य देने गया। वहाँ के विद्वान प्रो डॉ. आभा सिंह ने पूछा कि Corruption की परिभाषा क्या होगी? उस वक्त मुझे भारत के सन्दर्भ में Gunner Myrdel के द्वारा दी गई परिभाषा ही सही लगी जो उन्होनें अपनेAsian Drama पुस्तक में दी—Corruption is the Oil that keeps the machine of development going. भ्रष्टाचार वह तेल है जो विकास के Machine (कल पुर्जे) को चलाता है। क्या आप इसे नहीं मानते? Corruption न हो तो क्या ये सड़क झारखण्ड में बनेगी, ये रेल चलेगा, जिला के दफ्तर चलेंगे, मनरेगा का कार्यान्वयन होगा, ये पुलिस दिखाई देगी। जिस प्रकार All civilizations are rooted in violence उसी प्रकार All Governments are rooted in Corruption. कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है—Corruption is to the state functionary what water is to the fish – मछली के लिए पानी जैसा है वैसा ही भ्रष्टाचार सरकारी अधिकारी के लिए है। इसलिए भ्रष्टाचार मिटाना है तो Civil Society esa State का Function कम कर दीजिए। यह सम्भव है—Total Revolution एक Road Map है, Civil Society (नागरिक जीवन) को समृद्ध कैसे किया जा सकता है नागरिक जीवन को राज्य सत्ता से आगे कैसे रखा जा सकता है। किसी भी क्रान्ति का स्वरूप देश-काल और परिस्थिति के अनुसार ही निर्धारित होता है और इसी कारण भिन्न क्रान्तियों का स्परूप भी भिन्न हुआ करता है। सम्पूर्ण क्रान्ति लोकनायक जयप्रकाश की समस्त चिन्तन धारा और संघर्षों का प्रतीक है। यह मार्क्स और गाँधी की त्रुटियों को दूर करके दोनों की अच्छाइयों को ग्रहण करने का प्रयास था। इसके सात आयाम हैं—सामाजिक क्रान्ति, शैक्षणिक क्रान्ति, आर्थिक क्रान्ति, राजनैतिक क्रान्ति, सांस्कृतिक क्रान्ति, वैचारिक क्रान्ति और आध्यात्मिक क्रान्ति। यह जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन की एक लम्बी प्रक्रिया है। जयप्रकाश के विचार साम्यवादी और समाजवादी दोनों ह

---

*प्रो. नरेश कुमार अम्वष्ट, प्रोफेसर, दर्शन शास्त्र सिदो कान्हू मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका, झारखं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार धाराओं से भिन्न है। मार्क्स की हिंसात्मक पद्धति के स्थान पर गाँधी जी की अहिंसक पद्धति को ही उन्होंने अपनाया। मार्क्स की क्रान्ति में नैतिक मूल्यों का अभाव था, किन्तु जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति का आधार ही नैतिकता है। मार्क्स की क्रान्ति मात्र आर्थिक ढाँचा बदलने के लिए की गयी थी, किंतु जयप्रकाश नारायण 'मानव' को बदलने के लिए प्रयत्नशील रहे। आर्थिक संरचना के परिवर्तन मात्र से कोई सफल क्रान्ति नहीं हो सकती, जब तक कि मानव में परिवर्तन न हो। जयप्रकाश की सतत क्रान्ति में रूढ़िवादिता को तोड़ने और समाज में नये मूल्यों के निर्माण की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। यह समाजवादी विचार धारा से भी भिन्न है, क्योंकि समाजवादी विचारधारा में राजसत्ता के उपयोग द्वारा समाज परिवर्तन की बात कही जाती है, यहाँ जनशक्ति की परिवर्तनकारी भूमिका का अभाव रहता है, जबकि सम्पूर्ण क्रान्ति में जनशक्ति की ही मुख्य भूमिका रहती है और राजसत्ता सहयोगी की भूमिका में रहती है।

स्वतंत्रता, समता और मानवता के मूल्यों पर आधारित लोकतांत्रिक समाज की रचना हेतु शांतिमय संघर्ष द्वारा सभी आयामों में परिवर्तन ही सम्पूर्ण क्रान्ति की अंतर्वस्तु है। जयप्रकाश जी साधन-साध्य की महत्ता को स्वीकारते थे। उनका मानना था कि अच्छे साध्य के लिए साधन भी अच्छी होना चाहिए और इसी कारण उन्होंने अपनी क्रान्ति के अहिंसक स्वरूप को बनाए रखा। उनके अनुसार गलत साधनों के आधार पर क्षणिक सफलता राष्ट्र को निचे गिराएगी और उसे रक्तपात और सर्वनाश के अनन्तगर्त में ढकेल देगी। अहिंसक प्रक्रिया में परिवर्तन, नव निर्माण और विकेन्द्रीकरण तीनों एक साथ रहते हैं। जयप्रकाश नारायण के अनुसार सम्पूर्ण क्रान्ति गांवों में आरम्भ होनी चाहिए। नगर एवं गाँवों में आर्थिक उदारता होनी चाहिए। यही सर्वोदय समाज की स्थापना में सहयोग करेगा। सर्वोदय का उद्देश्य है—व्यक्तिगत् और सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं में आमूल परिवर्तन लाकर सम्पूर्ण और सर्वांगीण विकास करना। भारतीय संसद एवं विधान सभा के सदस्य दिखावटी और स्वार्थी पाये जाते हैं, कोई लोगों की भलाई के लिए नहीं सोचता। सिर्फ डर के कारण ही संसद कुछ काम करती है। भारतीय संसद एवं विधानसभा महज प्रजा का खिलौना है और वह खिलौना प्रजा को कष्ट एवं भारी खर्च में डालता है। प्रधानमंत्री को अपने दल की जीत की लगन होती है। संसद सही काम कैसे करे, इसका वह बहुत कम विचार करता है। आज के चुने हुए नेताओं में शुद्ध भावना और ईमानदारी नहीं होती। गाँधी जी ने आधुनिक संसदीय प्रणाली की कटु आलोचना की हैं इस आलोचना का महत्त्व समकालीन भारतीय सन्दर्भ में बहुत बढ़ गया है। बिहार राज्य के वैशाली में दुनिया का पहला गण-राज्य पनपा था और उसी राज्य में भारतीय इतिहास का पहला साम्राज्य-मगध भी विकसित हुआ था। जिस बिहार में ये दोनों पद्धतियाँ पैदा हुई और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकसित हुई वह बिहार संसदीय प्रणाली के कारण अपनी दशा, दिशा और तासीर भूलकर बदहाली के कगार पर खड़ा एक गाँधी या जयप्रकाश का इन्तजार कर रहा है। लोकतंत्र के नाम पर जिस तरह की राजनीति यहाँ विकसित हुई वह सबसे पहले स्वयं राजनैतिक दलों को खा गयी, प्रशासन को खा गयी और अब समाज को खाने पर उतारू है।

भगवान बुद्ध ने जिस लोकतंत्र का सूत्र दिया वह आज के लोकतन्त्र से भिन्न था। उसका सूत्र था : मिलो, संवाद करो और उस समय तक करते रहो जबतक सम्मति न बन जाए। इस सूत्र में जोर संवाद और सहमति पर था, न कि विवाद और विरोध पर। हमने भगवान बुद्ध की दी हुई दिशा नहीं पकड़ी। गाँधी के अनुसार हर गाँव एक समुदाय है। अपने खेतों में जरूरी कच्चा माल पैदा करे जिनसे जीवन की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी हो। उत्पादक का पेट काटकर बाजार का पेट भरने की कोशिश न की जाए। जो हमारी जरूरत से बच जाए वही बाजार में जाए। वे ग्राम स्वराज की बात करते थे। मेरा मानना है कि विगत दो दशक के दौरान भारत की दशा बहुतायत जनता की दशा एक रंक (कंगाल) जैसी हो गयी है। आज भारत पूँजीवाद से नहीं बल्कि आजकल व्याप्त भ्रष्टाचार से कुचला जा रहा है, उसकी चपेट में वह फँस गया है। उसमें से बचने का अभी भी उपाय है, लेकिन दिन-ब-दिन समय बीतता जा रहा है। हमें Paradigm Shift की जरूरत है—आर्थिक बाजारवाद यानी Mass production by Capitalist के बदले—Mass Production by masses हो जाए। 'इंडिया' की ताकत, समृद्धि और कौशल तो सबको दिख रहा है, और खुले आम स्वीकारा जा रहा है, लेकिन कंगाली और अज्ञान नजर नहीं आता। भारतीय व्यक्ति अपनी आमदनी और सामर्थ्य का, दूसरे समाजों एवं संस्कृतियों के व्यक्तियों की तुलना में काफी बड़ा भाग अपने ऊपर खर्च करने के बदले या तो दूसरों के उपर खर्च करता है या भविष्य एवं बाद की पीढ़ी के लिए बचा कर रखता है। जबकि पूँजीवादी मनोवृत्ति व्यक्ति केंद्रित थे जो काफी दुःखदायी है। इसलिए हमारे ग्राम स्वराज आवश्यक हैं। Mass Production of Masses ही एक मात्र उपाय है। भारत की व्यापक गरीबी का बहुत बड़ा कारण आर्थिक क्षेत्र से स्वदेशी की भावना का तिरोभाव भी है। यदि विदेशी वस्तुओं का आयात इस देश में न होता, तो यहाँ खुशहाली रहती। गाँधी जी ने खद्दर का व्रत लेने को कहा था यानी स्वयं सूत कातें और हाथ कते सूत का ही कपड़ा पहने। महात्मा गाँधी जी के आश्रम में गये हुए एक पाश्चात्य लेखक ने लिखा है : "जब हमने उस स्थान के सम्पूर्ण वातावरण और निश्चित आदर्शों—अपने काम के प्रति लोगों के स्वभाविक रुचि और उत्साह, सुखी, संतुष्ट परिवार, बच्चों को प्राप्त शिक्षण, 'कल' की चिंता का अभाव—पर विचार किया, तो हमें इस बात बड़ा क्लेश हुआ कि हमें इतनी जल्दी यहाँ से चले जाना होगा। अपने वयस्त जीवन में हमने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके पूर्व इन शब्दों की–श्रम ही भगवान की पूजा है–यथार्थता का कभी अनुभव नहीं किया था।" जयप्रकाश जी लिखते हैं–यहाँ यह तर्क उपस्थित करना मेरा उद्देश्य नहीं है कि स्वदेशी और खद्दर ही ऐसी विचार पद्धति, जो उचित और एकमात्र संभव आधार है। लेकिन क्या आप यह नहीं अनुभव कर रहे हैं कि यह भी आर्थिक सिद्धांत है, जो बहुत माने में जड़वादी अर्थनीति के सर्वथा विपरीत है। मेरा आग्रह विद्वानों, अर्थनीति के अध्येताओं और साथ ही राजनयिकों से यह है कि वे महात्मा जी की अर्थनीतिविषयक मान्यताओं पर उसी भाँति विचार करें, जिस भाँति उन्होंने भौतिकवादी अर्थनीति पर विचार किया है।

भारत मुख्य रूप से किसान आबादी वाला कृषिप्रधान देश है और इसकी इस तथ्य से पुष्टि होती है कि भारत में केवल 33 प्रतिशत लोग शहरों में रहते हैं। मेरा मानना है कि किसानों का लगभग 50 प्रतिशत के पास कोई भी सम्पत्ति नहीं है और जो मुख्यतः या काफी हद तक अपने श्रम को बेचकर जीवित रहते हैं, 30 प्रतिशत अंश मध्यवर्ती किसानों का है, जो कितनी ही कम आमदनी के बावजूद अपनी ही जमीन पर काम करके रहते-बसते हैं और 20 प्रतिशत किसान अपनी जिन्दगी इज्जत के साथ गुजार रहे हैं। भारतीय राजनेता, बुर्जुआ नवधनिक, बेलगाम अफसरशाह अपने विलास तथा फिजूलखर्ची के लिए विख्यात हैं। विगत दो दशकों में करोड़ों स्थायी रूप से भुखमरी के कगार पर हैं, अवर्णनीय गरीबी अज्ञान तथा दरिद्रता की दशाओं में रह रहे हैं।

भारत में पूँजीवाद विकसित हो रहा है। गरीब तथा अमीर के बीच वर्ग-विरोध स्पष्टतः दिखायी देने लगा है। छोटे पैमाने की सम्पत्ति वाले खंडित होकर एक तरफ बुर्जुआ वर्ग में और दूसरी तरफ सर्व-हारा सम्पत्तिहीन वर्ग में तब्दील हो गए। भारत में पूँजीवाद काफी बड़े कदम रख चुके हैं, क्योंकि विदेशी पूँजी औद्योगिक विकास में काफी बड़ी भूमिका अदा कर रही है। कृषि की आत्मनिर्भरता की प्रकृति अतीत में विलीन होती जा रही है। कृषि उत्पाद का बड़ा अंश शहर तथा निर्यात में चला जाता है तथा कृषक समाज भूखा, नंगा, असहाय रह जाता है। महँगाई आसमान छू रही है। समाज का एक वर्ग टुकुर-टुकुर कर आसमान देख रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था ने 45 वर्ष की तुलना में विगत दो दशकों के दौरान बहुत लम्बी छलाँग लगाई है। आर्थिक विकास की यदि सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो स्पष्टतः यह दिखाई देता है कि यहाँ बड़े पैमाने पर उद्योग राजकीय संरक्षण से विकसित हो रहे थे। यह केवल सीमा का प्रश्न नहीं है सिद्धांत का प्रश्न है। माननीय मनमोहन सिंह जी ने भारत के पिछड़ेपन को शीघ्रताशीघ्र दूर करने के लिए आर्थिक उदारवाद तथा बाजारवाद का सहारा लिया। उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण उसूलों को अपनाया और विकसित किया। निजी स्वामित्व की स्वतंत्रता और प्रत्याभूति, प्रतियोगिता की हित-कारी भूमिका, श्रम के विभाजन और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुशाखी अर्थव्यवस्था के निर्माण की आवश्यकता और लाभ, भोग-विलास की वस्तुओं का उत्पादन, ज्यादा से ज्यादा प्राकृतिक सम्पदा का विकास के नाम पर उपयोग और पूँजी संचय पर जोर।

हमें यथार्थवादी एवं व्यवहारवादी होने की आवश्यकता है अन्यथा भारत गरीबी, हिंसा, बेरोजगारी, बीमारी में फँसकर रह जाएगा। मेरा यह मानना है राजकीय हस्तक्षेप तथा विदेश औद्योगिक मालों के आयात पर चौकसी (प्रतिबंधों) के बिना भारत का सम्पूर्ण विकास असम्भव है। भोग-विलास की वस्तुओं पर जिसका भारतीय आयातों में बड़ा हिस्सा होता है, ऊँचा टैरिफ लगाने की आवश्यकता है। इसके बिना कृषक समाज एवं गाँव का समाज विकसित नहीं हो सकता एवं भारत कभी भी समृद्ध नहीं हो सकता। मैं जानता हूँ कि मेरे इस विचार को भ्रष्टाचार विरोधी अभियान के लोग पसंद नहीं करेंगे। हालाँकि अधिकांश आबादी अधभूखी रहती है और समय-समय पर भुखमरी का शिकार होती है। फिर भी भारत अनाज निर्यातक बना हुआ है। सांस्कृतिक स्तर पर भी भारत काफी नीचे है। 30 प्रतिशत आवादी निरक्षर है, बहुतायत के लिए शिक्षा का लुंज-पुंज आधार सरकारी स्कूल है, जबकि अमीरों के लिए शिक्षा की एक अलग व्यवस्था है।

पिछले 16 वर्षों में दो लाख छप्पन हजार नौ सौ तेरह (2,56,913) किसानों ने आत्म हत्या की है। यह वही दौर है जब नवउदारवादी नीतियाँ अपने उत्थान पर रही हैं। तीस नवम्बर 2011 को कृषि खाद्य प्रसंस्करण एवं संसदीय कार्य राज्यमंत्री हरीश रावत ने यह कहा कि "किसान परिवारों की कर्ज सम्बन्धी राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (N.S.S.O.) की 59 वीं रिपोर्ट के मुताबिक देश के 8.93 करोड़ किसान परिवारों में 4.34 करोड़ किसान परिवारों यानी 48.6 प्रतिशत के किसी न किसी रूप में कर्जग्रस्त होने की सूचना है।

इस परिघटना को देश के तत्कालीन आर्थिक ढाँचे के सम्दर्भ में इस तरह विश्लेषित किया जा सकता है—आजादी के बाद कृषि क्षेत्र को जितना बल मिलना था मिल नहीं पाया, हम मुश्किल से देश में एक तिहाई फसली क्षेत्र को ही सिंचित व्यवस्था दे सके। ऐसे में जब 1991 के संकट के दौरान नवउदारवादी नीतियों के तरह खेती में पूँजी निवेश घटाया गया, बैंकिंग सुधारों के नाम पर खेती के लिए संस्थागत कर्ज के स्रोत घट गए। खेती पर सब्सिडी कम किया गया नतीजा हुआ कि खेती की लागत वढ़ती गयी। 1995 में विश्व व्यापार संगठन की शर्तों के मुताबिक खेती में विदेशी व्यापार को बढ़ावा दिया गया, जहाँ एक ओर खेती की लागत बढ़ी, वहीं खेतिहर पैदावार के बाजार भाव में भारी गिरावट आयी। राज्य सत्ता ने खेती से अपने पैर खींचे तो उसकी जगह निजी महाजनों या सूद-खोरों ने अपनी जगह बनायी। इस तरह कमजोर किसान कर्ज के दुष्चक्र में फँसता चला गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूँजीवादी समाज की आलोचना करने के लिए किसी का समाजवादी होना जरूरी नहीं, केवल इंसान होना काफी है। आत्महत्या पूँजीवादी समाज व्यवस्था की बीमारी है इसे पूँजीवाद की विकृति कहा जा सकता है। महात्मा गाँधी जी कहा करते थे कि किसी भी सच्ची, अच्छी और कल्याणकारी सभ्यता का आधार धर्म, नीति और मूल्य होते हैं तथा यंत्रों, तकनीकों एवं मशीनों का उपयोग मार्ग साधन के रूप में होता है जबकि आज के भारत का आधार मूल्य, नीति और धर्म के बदले आधुनिक तकनीक एवं पूँजी आधारित हो गया है। गाँधीजी का मानना है कि मनुष्य के जीवन आकांक्षा, सुख-दुःख, सफलता-असफलता, हानि-लाभ, प्रगति-पतन जैसे मूल विषयों को जब मूल्यों के स्थान पर तकनीक परिभाषित करने लगते हैं तब सभ्यता का असली संकट आता है। मेरा मानना है कि पूँजीवाद जब ध्येय बन जाता है तो असली बर्बादी शुरू होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता के आयाम

कृपाशंकर सिंह तथा जगन सिंह*

प्रत्येक सृजनात्मक कृति से, चाहे वह लेखन हो या कोई और कलाकृति, चार आयाम जुड़े होते हैं। जो चार आयाम हैं, उनमें पहला है कृतिकार का पक्ष। अर्थात् कृतिकार या लेखक अपनी रचना को किस तरह की बनाना चाहता है। रचना को लेकर उसकी अपनी परिकल्पना क्या है। अब यह दूसरी बात है कि रचना जब पूरी हो जाती है तो बहुत बार वह रचयिता की परिकल्पना से अलग दिखाई देती है। रचयिता ने जैसा सोचा होता है, बिलकुल उस तरह की नहीं बन पाती। इसका कारण यह है कि लेखक की लेखन के दौरान की पूरी सर्जक मानसिकता और क्रियात्मकता, उसकी सामान्य तौर पर जो मानसिकता या सोच है, उससे बहुत बार भिन्न हो जाया करती है। कवि या लेखक या फिर कोई भी सर्जक कलाकार अपनी रचना की उँगली पकड़कर चलने लग जाता है इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रच ली जाने के बाद कलाकृति अपने रचयिता के प्रभाव से मुक्त हो जाती है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कलाकृति अपने में स्वनिष्ठ और स्वायत्त होती है।

लेकिन चूँकि लेखक समाज का एक सदस्य होता है, इसलिए व्यक्ति को लेकर या समाज, धर्म, संस्कृति और तमाम तरह की परिस्थितियों को लेकर उसकी अपनी मान्यताएँ बनी हुई होती हैं। ये मान्यताएँ धीरे-धीरे रूढ़ हो जाती हैं। जब लेखक कुछ लिखता है तो उसकी मान्यताएँ लेखन में भी किसी न किसी तरह उतरती हैं। इसी वजह से विचारधाराओं के आधार पर कृतियों का वर्गीकरण किया जाता है। इसमें यह भी होता है कि किसी खास समय में कोई खास सामाजिक या राजनीतिक विचारधारा, राज्य व्यवस्था के असर या उसकी विरोधी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, प्रचारित हो जाती है। तटस्थ कृतिकार भी उससे प्रभावित होता है और उसकी कृति उसी धारा की कृति बन जाती है। हिन्दी साहित्य के विकास में विभिन्न युगों की विशिष्टताएँ इसी का प्रतिफलन हैं। दूसरी ओर आधुनिक काल में विभिन्न प्रयोगों के पीछे विविध विचारों और हर क्षेत्र में विविधता का प्रचलित होना है।

सम्पर्क : डी-6 स्ट्रावेरी हिल, शिमला-171002; मो. 09805676883

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि लेखन के दौरान लेखक अपनी मान्यताओं या अपनी समकालीन विचारधारा से प्रभावित रहता है, और बहुत बार अपनी सोच और धारणा को लेखन के माध्यम से प्रच्छन्न रूप से दूसरों को प्रभावित करने की कामना रखता है।

यहाँ एक बात यह भी है कि जिन कविताओं को हम आत्मानुभूति की कविताएँ कहते हैं, या यों कह सकते हैं कि कविता में जो अनुभूत सत्य दिखाई देता है, वास्तव में वह भी पूरी तौर पर कवि की अनुभूति का चित्रांकन नहीं होता। कविता हो या उपन्यास, कहानी हो अथवा नाटक सभी के अन्तराल में कवि की अनुभूति की बारीकियाँ होती हैं सही, पर अपनी प्रस्तुति में उससे एक तरह की नाटकीयता आ जाती है। अनुभूति का बिन्दु ज्यादा विस्फारित होकर प्रकट होता है। उस पर कल्पना या सोच का मुलम्मा चढ़ा हो सकता है। या उससे मिलती-जुलती दूसरे लोगों की पढ़ी-सुनी अनुभूतियों के चिह्न उसमें घुस आ सकते हैं, जो अन्ततः कवि या लेखक की अनुभूति के हिस्से के रूप में प्रकट होते हैं। इसे बहुत से उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। पर यहाँ केवल एक उदाहरण प्रस्तुत है–जयशंकर प्रसाद के काव्य 'आँसू' से। 'आँसू' रचना की पृष्ठभूमि के रूप में प्रसाद जी की इन पंक्तियों को लिया जा सकता है–'जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई/दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।' 'आँसू' के पहले संस्करण और दूसरे संस्करण को अगर आप देखें तो यह सहज ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहाँ पहले संस्करण में कवि का आलम्बन हाड़-मांस का ही प्रिय है, वहीं दूसरे संस्करण में वह आलम्बन हाड़-माँस की जगह कोई अव्यक्त, अलौकिक प्रिय बन जाता है। मतलब यह कि जयशंकर प्रसाद कविता की सर्जनात्मकता की माँग की वजह से, या सर्वग्राह्य बनाने की वजह से या अन्य बाहरी दबावों की वजह से पूरी कविता की भावभूमि को ही परिवर्तित कर देते हैं। परिणामस्वरूप कविता की अवधारणात्मक रूपरेखा बिलकुल बदल जाती है।

सर्जनात्मक कृति से जुड़ा दूसरा आयाम पाठक और दर्शक का है। पाठक और दर्शक वह प्राणी है जो कलाकृति का मुख्य भोक्ता है। लेखक-कलकार के बाद पाठक और दर्शक ही सबसे पहले उसे पढ़ता और देखता है। पढ़ और देखकर उसे सराहता है, और सबसे ऊपर लेकिन अनायास अपनी जिन्दगी के अनुभवों से उसे जोड़ता है।

किसी कृति को पढ़ते हुए पाठक उसे दो तरह से महसूस कर सकता है। अधिकतर पाठक रचना की भावधारा के साथ बँधकर उसी भावभूमि पर उतर आते हैं और वैसा ही महसूस करते चलते हैं, जैसी भावभंगिमा रचना की होती है। कवि का सुख-दुख पाठक का भी सुख-दुख बन जाता है। इसमें यह भी होता है कि यदि कविता किसी सामाजिक उद्वेलन, जैसे फैज की मशहूर नज्म है–'अगस्त 1947' (पाकिस्तान बनने पर) या ऐतिहासिक काल खंड, जैसे कि जयशंकर प्रसाद की प्रसिद्ध रचना–'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' है को चित्रित कर रही है तो भी सामान्यतया पाठक कविता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
भावधारा (या विचारधारा) के साथ ही अपने को पता है, बशर्ते पाठक इस तरह की कविताओं को पढ़ते हुए किसी पूर्वग्रह से ग्रस्त न हो।

किसी कविता को पढ़ते हुए पाठक दूसरी तरह से भी महसूस कर सकता है। यह महसूस करना प्रतिक्रिया की तरह का होता है। किसी भावभूमि या विचारप्रणाली से सम्बन्धित कविता को पढ़ते हुए पाठक में भिन्न मानसिकता भी पैदा हो सकती है, जो कि कविता के उद्देश्य, कथ्य या विचार प्रणाली के विपरीत पड़ती हो। फैज की 'अगस्त 1947' (पाकिस्तान बनने पर) जो नज्म है, उसकी सारी खूबसूरती और काव्यात्मकता उस आदमी के लिए बेगानी है जिसके मन में पाकिस्तान बनने या बनाने का सपना रहा हो और विभाजन की तमाम खराबियाँ, विद्रूपताएँ और विसंगतियाँ जो उससे जुड़कर आ गई हैं, वह उन्हें नजरअन्दाज कर देना चाहता हो। अर्थात पाठक जब किसी विरोधी भावना से ग्रस्त होता है तो सामाजिक उतार-चढ़ाव या किसी विचारधारा या ऐतिहासिक परिदृश्य पर आधारित कविताएँ उसे उस तरह से अपने साथ लेकर नहीं चल पातीं जैसी कि एक तटस्थ पाठक को अपने साथ लेकर चलती हैं। इसमें कविता का कोई दोष नहीं है, या इसमें कविता की सामर्थ्य को लेकर कोई प्रश्नचिह्न उठाना उचित नहीं है। इसमें पाठक के पूर्वग्रहग्रस्त होने की बात है। संस्कृत काव्यशास्त्र में एक शब्द है सहृदय। यह शब्द उनके लिए है जो काव्य को पढ़ने और समझने के योग्य समझे जाते हैं। इससे यह समझा जा सकता है कि संस्कृत काव्य शास्त्र-वेत्ताओं ने इस बात पर गौर किया था कि समाज का हर व्यक्ति काव्य को सराहने योग्य नहीं होता। कविता के पाठक के साथ इस तरह की शर्त को उन्होंने जोड़ा। जाहिर है कि किसी पूर्वग्रह से ग्रस्त पाठक सहृदय नहीं कहला सकता।

लेकिन यह स्थिति सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक परिदृश्यों को लेकर लिखी कविताओं पर ही लागू होती है; जो व्यक्तिगत सुख-दुख और अनुभूतियों की श्रेष्ठ कविताएँ हैं, उनको पढ़ते हुए पाठक उन सुख-दुख और अनुभूतियों के साथ तो एकाकार होता ही है। जैसे कि प्रेम सम्बन्धी कविता को पढ़ते हुए उसकी अनुभूति के साथ पाठक एकाकार होता है, भले ही उसने कभी किसी से प्रेम न किया हो। प्रसाद के 'आँसू' की दो पंक्तियाँ हैं—'मधुराका मुस्काती थी पहले देखा जब तुमको/परिचित से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण हमको।' इन पंक्तियों को पढ़कर वह पाठक भी इसकी अनुभूति को महसूस करेगा जिसके साथ ऐसी कोई घटना नहीं घटी है। यह जरूर है कि उसके महसूसने में वह तीव्रता नहीं होगी जैसी तीव्रता उस पाठक के महसूस करने में होगी जिसने कभी प्रथम दृष्टि में प्रेम का अनुभव किया हो। मोमिन की एक मशहूर नज्म है—'वो जो हममें-तुममें करार था, तुम्हें याद हो कि न याद हो।' इस नज्म से पैदा होने वाला असर उस पाठक में अधिक गहरा होगा जो इस तरह की अनुभूति और परिस्थिति से कभी गुजर चुका हो। दूसरे सभी पाठकों में भी इसके असर की तीव्रता होगी। पर दोनों तरह के प्रभावों में गुणात्मक अन्तर हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलाकृति से जुड़ा तीसरा आयाम स्वयं कृति ही है। कृति इसलिए क्योंकि रचना, जैसा कि अभी कहा गया है, पूर्ण हो जाने के बाद अपने रचयिता से अलग और स्वतंत्र हो जाती है। उसके गुण-अवगुण उसकी अच्छाइयाँ और कमियाँ उसी में निहित रहती हैं। उनकी पहचान के लिए किसी बाहरी सिद्धान्त या नुस्खे की मदद की आवश्यकता नहीं होती। दूसरी बात यह है कि किसी रचना को पाठक किस तरह समझे या किस तरह उसे ग्रहण करे, इसका कोई सर्वमान्य नियम नहीं होता। हर पाठक अपनी मानसिकता, अपने कला-संस्कार और अभिरुचि के अनुपात में ही कृति को हृदयंगम करता है। इसीलिए कृति भिन्न-भिन्न पाठकों में विभिन्न प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, जिनका बहुत बार आपस में एक दूसरे से कोई मेल नहीं होता। वैसे कोई पाठक किसी कविता को अपनी मनःस्थिति के अनुसार ही ग्रहण करता है, यह बात उत्कृष्ट कोटि की रचनाओं के काफी बड़े भाग के बारे में सही कही जा सकती है। पर अच्छी कविताओं का एक हिस्सा ऐसा भी है जिसका अर्थ लगभग एक ही तरह से ग्रहण किया जा सकता है, जैसे मीर का एक शेर : 'किस किस अदा से रेख़्ते मैंने कहे वले/समझा न कोई मेरी जबाँ इस दयार में।' अब इस शे'र के आशय को समझने के लिए भिन्न-भिन्न पाठकों की अपनी-अपनी मानसिकता और रुझान की अलग-अलग भूमिकाएँ नहीं हो सकतीं, जिनका दबाव शे'र पर पड़े। क्योंकि अर्थ के विभिन्न आयाम नहीं हैं। अर्थ में निश्चितता मीर के ही इस शे'र में दिखाई नहीं देगी—'मीर के दीन-ओ मज़हब को, अब पूछते क्या हो। उनने तो क़श्क : खेंचा, दैर में बैठा, कब का तर्क इस्लाम किया।'

इस शे'र में अर्थ के दूसरे आयाम भी जुड़ते हैं, जिससे इसकी आर्थी सम्भाव्यता बढ़ती है।

कविता के विश्लेषण से जुड़ा एक बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि कोई कविता मानक भाषा से किस तरह का तालमेल बिठाए हुए है। मानक भाषा की जो संरचना है, जिस तरह के शब्दों का उसमें व्यवहार होता है, या उच्चार के अन्तर्गत कोशगत और संरचनात्मक शब्दों का जो आपसी सम्बन्ध या अन्विति है, देखना यह होना चाहिए कि कविता में व्यवहार किए जाने पर उनमें किस तरह का परिवर्तन आ गया है। कविता के शब्द भी आखिर मानक भाषा के ही शब्द होते हैं। 'संरचना' भी मानक भाषा की संरचना के सन्दर्भ से जुड़ी होती है। हाँ, कविता में व्यवहृत शब्दों के आपसी सम्बन्धों की अपनी तार्किकता होती है जो मानक भाषा से भिन्न होती है।

वास्तव में मानक भाषा के शब्दों को सर्जनात्मक ढंग से रखना ही कविता का मूल धर्म है। शब्दों के सर्जनात्मक उपयोग में कई बातें आती हैं। जैसे एक शब्द है—'आसमान', जिसका मानक भाषा में एक विशेष अर्थ है। अब जब इसी 'आसमान' का गालिब ने प्रयोग किया तो उसमें एक और अवधारणात्मक आयाम जुड़ गया—ऊँचे लोग, बड़े रुतबे वाले लोग। गालिब ने कहा—'हम कहाँ के दाना थे, किस हुनर में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यकता थे। बे सबब हुआ ग़ालिब दुश्मन आसमाँ अपना।'

यहाँ आसमान की अवधारणा में जो एक नई अवधारणा का प्रवेश कराना यही आसमान शब्द का सर्जनात्मक इस्तेमाल है। लेकिन शब्दों के सर्जनात्मक उपयो में भी इस बात का ध्यान हमेशा रहना चाहिए कि किसी शब्द की जो वास्तविक रूढ़ अवधारणा है उसका सन्दर्भ धुँधले रूप में बना रहे। ऐसा होने पर ही सर्जनात्म तीव्रता पैदा होती है। दूसरा उदाहरण लेते हैं, फिराक का एक शे'र है—'तुम नहीं आ और रात रह गयीं राह देखती/तारों की महफ़िलें भी आज आँखें बिछा के रह गयीं

मानक भाषा से इतर कविता में बिम्ब और प्रतीक का सहसम्बन्ध सामान्य से जटिल और बहुलस्तरणीय होता है। कविता की अनेकार्थता इसी पर अवलम्बि रहती है। लेकिन हर उत्कृष्ट कोटि की कविता के लिए अर्थ संकुलता और जटिल का होना आवश्यक नहीं है। उत्कृष्ट कोटि की ऐसी बहुत सी कविताएँ हैं जि अवधारणात्मक स्तर पर सीधी-सादी कहा जा सकता है। लेकिन सीधी-सादी का अ सपाट होना नहीं है। कविता कभी भी सपाट नहीं होती। वह हमेशा ही बिम्बात्म होती है। 'सीधा' शब्द से हमारा तात्पर्य है—जटिल और संगृहीत अवधारणा से अलग उदाहरण के लिए मीर का यह शे'र देखिए—'पढ़ते फिरेंगे गलियों में इन रेख़्तों लोग/मुद्दत रहेंगी याद यह बातें हमारियाँ।'

इस शे'र में बिम्बात्मक जटिलता नहीं है। सब कुछ सीधा-सादा है, पर यह ए बहुत ही उम्दा और खूबसूरत शे'र है। यहाँ पर यह सवाल उठता है कि शे'र की खूबसूरती के पीछे का राज क्या है? उस राज की खोज में जब हम शे'र के अन्द झाँकते हैं, तो हमें यह मिलता है—'यह बातें हमारियाँ' अर्थात यह जो हमारी बातें वह लोगों को मुद्दतों याद रहेंगी और ये बातें इतना विस्तार पाएँगी कि गली कूचों बसी होंगी। लोग गली गली इन रेख़्तों को पढ़ते घूमेंगे जिन रेख़्तों में ये बातें समाई हैं।

यहाँ फिर यह सवाल है कि वे बातें कौन-सी हैं? उन बातों में आखिर क्या छि हुआ है? क्योंकि जब मीर अपने रेख़्तों के अमरत्व की बात करते हैं तो उनके मन दो बातें हैं—एक यह कि वे जानते हैं कि उनके रेख़्ते बेमिसाल हैं, वे चिरस्थायी र ही। दूसरी बात यह है कि उनको यह अहसास है कि प्रेम अमर है और इसलिए रेख़्ते भी अमर ही रहेंगे जिनमें प्रेम समाया हुआ है। उनके रेख़्ते मुद्दतों तक उनक मुहब्बत को लोगों के दिलों में उतारते रहेंगे। इसी में उनका अगला शे'र है—'गुल हज़ार रंग, सुखन सट किया वले/दिल से गईं न बातें तिरी प्यारी प्यारियाँ।'

प्रेम की अनुभूति की जैसी तीव्रता मीर की है, कुछ वैसी ही तीव्रता पाठक त प्रसरणित होती है। शे'र को पढ़ने वाला उसी अहसास में से गुजरता है, उ अनुभूति-तीव्रता को महसूस करता है। इसलिए बहुल स्तरणी-बिम्बात्मकता के न हो हुए भी इन शे'रों में उत्कृष्ट कोटि की काव्यात्मकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके अलावा एक और बात भी कविता से जुड़ती है—विश्लेषक का नजरिया। जब हम किसी कविता को परखते हैं तो रचयिता का आयाम भी हमें देखना पड़ता है, पाठक के तौर पर भी हम परखते हैं। साथ ही विश्लेषण में एक और बात भी जुड़ी है, और वह है कविता के माहौल का सामान्य सामाजिक परिदृश्य, जिसे हम मूल्य के रूप में ले सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद की एक लम्बी कविता है—'प्रलय की छाया'। इस कविता में कविता की आर्थी-संरचना जिस रूप में हमारे सामने है उसमें अनुस्यूत मूल्य को अगर हम अपने विश्लेषण में न लें तो कविता की तीव्रता ही समूल नष्ट हो जाती है।

सती प्रथा एक निन्दनीय प्रथा रही है, पर पद्मिनी का सती होना निन्दनीय नहीं माना गया है, वरन् आत्मगौरव की रक्षा के उपाय के रूप में लिया गया है। उससे जातीय उच्च स्वाभिमान की रक्षा भी होती है। कमला का आत्ममंथन इसी कारण है। एक ओर उसके मन में पद्मिनी के अलाउद्दीन खिलजी की पटरानी बनने की अपेक्षा आत्मदाह को चुनने का उच्च आदर्श है, तो दूसरी ओर अपने अद्भुत सौन्दर्य का दर्प है। उसे रह-रहकर यह भी आभास होता है—'जीवन सौभाग्य है जीवन अलभ्य है? और 'जीवन अनन्त है, 'उसे छिन्न करने का किसे अधिकार है?' पर इस आत्म-द्वन्द्व में दूसरे विचार भी आते है—'हाय रे हृदय! तूने/कौड़ी के मोल बेचा जीवन का मणिकोण...' फिर कमला सोचती है—'रूप ने बनाया रानी मुझे गुजरात की, वही रूप आज मुझे प्रेरित था करता भारतेश्वरी का पद पाने को।'

जहाँ तक इस कविता में मूल्य का सवाल है, सती होना कितना भी निन्दनीय हो, पद्मिनी के सन्दर्भ में वह निन्दनीय नहीं है; क्योंकि पद्मिनी का सती होना पति के वीरगति को प्राप्त होने के कारण से उतना नहीं जुड़ा है, जितना अलाउद्दीन से अपने सतीत्व की रक्षा करने और अपने जातीय स्वाभिमान को बनाए रखने से जुड़ा है। इसीलिए पद्मिनी का सती होना आत्मघात नहीं है आत्मोत्सर्ग है। इसीलिए पद्मिनी का सती होना उच्च जातीय मूल्य का प्रतीक बन गया। पद्मिनी के सती होने को मूल्य के रूप में देखना उसके जातीय सन्दर्भ से जुड़ा हुआ है, सती प्रथा से जोड़कर उसे देखना उचित नहीं है। कमला के आत्ममंथन की तीव्रता भी इसी सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में देखने पर महसूस होगी। उसकी अधोगति को भी इसी सन्दर्भ से जोड़कर हम देख सकते हैं।

जब हम मूल्य पर विचार करते हैं तो सबसे पहले हमारी दृष्टि नैतिक मूल्यों की ओर जाती है, क्योंकि मूल्य व्यक्ति और समाज सापेक्ष प्रतिमान हैं। व्यक्ति और समाज को परिभाषित करने के आयाम हैं। लेकिन कविता में नैतिक मूल्य कितने प्रासंगिक हैं? यह सवाल टेढ़ा और अनेक तरह की पेचीदगियों से भरा हुआ है। कविता की गुणात्मकता की परख करने में नैतिक मूल्य की कोई भूमिका नहीं होती, इसलिए नैतिक मूल्य का प्रतिमान वहाँ बेमानी है। अत्यन्त उच्चकोटि की कविताएँ नैतिक मूल्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कसौटी पर निकृष्टतम साबित हो सकती हैं, और नैतिक मूल्य से आपूरित कविता घटिया कविता का नमूना बन सकती है। कहने का मतलब यह है कि कविता का मूल्यांकन नैतिक मूल्य के आधार पर नहीं किया जा सकता।

लेकिन मूल्य केवल नैतिक नहीं होते। मूल्य के साथ नैतिकता का जुड़ना सामाजिकता का तकाजा होता है। सामाजिकता की वजह से ही नैतिकता आती है। नैतिकता एक तरह का सामाजिक अनुशासन है। कविता में नैतिकता का सवाल कविता में सामाजिक क्रियाकलाप के चित्रण के सवाल से भिन्न मानना चाहिए। हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य में जो सामाजिक परिवेश है, उसका नैतिक-अनैतिक से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसका सम्बन्ध सामाजिक-आर्थिक आयाम से कविता को परिभाषित करने का है।

सभी तरह के मूल्य समाज सापेक्ष हैं, किन्तु यहीं पर एक सवाल यह उठता है कि मूल्य किसे कहें? और यह भी कि मूल्यों की स्वीकृति क्या सार्वभौम है या अलग-अलग सामाजिक समूहों के परिप्रेक्ष्य में है? दूसरा सवाल यह है कि मूल्य और साहित्य का आपसी रिश्ता किस तरह का है?

इस पर विचार करने के पूर्व मैं महादेवी वर्मा की कही हुई बात को पहले लेना चाहता हूँ। महादेवी वर्मा का एक लेख 24 फरवरी, 1980 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुआ था। उसमें महादेवी जी ने मूल्यों को दो भागों में विभाजित किया है। उन्होंने कहा कि एक तरह के मूल्य वे हैं जो शाश्वत और चिरस्थायी हैं। स्नेह, संवेदना करुणा, सद्भाव, बंधुत्व ऐसे ही मूल्य हैं और दूसरी तरह के मूल्य वे हैं जो युग परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते रहते हैं।

इससे यह लगता है कि महादेवी वर्मा ने जिन्हें शाश्वत और चिरस्थायी मूल्य कहा उन्हें सार्वभौम होना चाहिए। ऐसा होने पर ही हम मानवता की व्याख्या कर सकेंगे या मानवीय संवेदना को पारिभाषित कर सकेंगे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का यही आधार है। जहाँ तक साहित्य से इसके जुड़ने का सवाल है, तो यह स्पष्ट ही है कि समान मूल्यों के कारण ही विश्व के किसी कोने और किसी भाषा के साहित्य को पढ़ते हुए हम आनन्दित होते और सराहते हैं। अर्थात् सार्वभौव और शाश्वत मूल्यों के कारण ही हम अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी या फिर किसी भी भाषा के साहित्य से उसी तरह जुड़ते हैं जैसे कि अपनी भाषा के साहित्य से। सभी भाषाओं के साहित्य से लगाव का स्तर एक ही है। सभी भाषाओं के साहित्य में वर्णित स्नेह, संवेदना, करुणा को पढ़कर हममें समान प्रतिक्रिया होती है। इस आधार पर हम उन्हें मूलभूत मानवीय मूल्य कह सकते हैं। ये मूल्य सम्पूर्ण मानवता के मूल्य हैं, उन्हीं से सम्पूर्ण मानवता बँधी हुई है।

दूसरी तरह के मूल्य वे हैं जो परिवर्तनशील हैं और जिन्हें अलग-अलग समाजों के परिप्रेक्ष्य में देखना होता है। इसमें एक समाज का मान्य मूल्य दूसरे समाज में अमान्य और इसलिए त्याज्य हो सकता है। एक उदाहरण लेते हैं। हिन्दी के मध्य युग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भक्ति काव्य में जीव और ब्रह्म को लेकर जो लिखा गया है उसमें सामान्यतया जीव को प्रेमिका या पत्नी और ब्रह्म को प्रेमी या पति माना गया है। कबीर कहते हैं—'हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया।' पूरे भारतीय दर्शन में यही स्थिति स्वीकृत है। पर उसी भक्ति काव्य में प्रेम मार्गी सूफी कवियों ने जीव को प्रेमी और ब्रह्म को प्रेमिका मानकर काव्य रचना की है। जायसी का 'पद्मावत' इसका ज्वलंत उदाहरण है। अब समूची भारतीय चिन्तन पद्धति और काव्य परम्परा को देखते हुए आत्मा (जीव) को प्रेमी और परमात्मा को प्रेमिका मानकर चलना भारतीय पाठक के गले नहीं उतरता। रसभंग होता रहता है। ऐसा इसलिए है कि सूफी परम्परा और मान्यता कुछ इसी तरह की है। उसी के प्रभाव में या कहिए नकल में उर्दू शायरी में भी पुल्लिंग में ही सम्बोधित करने का रिवाज है। मोमिन कहते हैं—'तुम मिरे पास होते हो गोया, जब कोई दूसरा नहीं होता।' या फिर 'तुम हमारे किसी तरह न हुए, वरना दुनिया में क्या नहीं होता।'

दरअसल, इस पूरी बात को यों रखा जा सकता है कि मूल्य समाज द्वारा निर्मित हैं और समाज के लिए हैं। इसमें विश्व के प्रत्येक सभ्य समाज ने वास्तव में कुछ स्थायी मूल्य निर्मित किए—शाश्वत मूल्य। ये शाश्वत मूल्य चूँकि मानवीय गुणों और उदात्त प्रवृत्तियों से ताल्लुक रखते हैं, इसी वजह से सम्पूर्ण विश्व में एक जैसे हैं। करुणा, स्नेह, सद्भाव, संवेदना का महत्त्व तो एक जैसा ही होगा, वह चाहे भारतीय समाज हो या ब्रिटिश। साहित्य चूँकि मूलतः उदात्त भाव की अभिव्यक्ति है, इसलिए एक भाषा का साहितय दूसरी भाषा के पाठक को प्रभावित करता है। लेकिन प्रत्येक समाज के जो दूसरे मूल्य हैं; वे अन्य सामाजिक समूहों को प्रभावित नहीं करते और न उन्हें मान्य हैं।

इन बातों को ध्यान में रखकर अगर हम साहित्य पर विचार करें तो कह सकते हैं कि समाज के शाश्वत और सार्वभौम मूल्यों को अपने अन्दर समाहित करने वाला साहित्य सार्वभौम और चिरस्थायी होता है। और जो मूल्य किसी समाज तक ही सीमित रहते हैं, उन पर आधारित साहित्य ह्रासमान होता है, और शीघ्र ही काल कवलित हो जाता है।

लेकिन यहाँ पर एक बात और भी है। एक ही समाज के उतार-चढ़ाव के साथ उस समाज के मूल्यों में भी परिवर्तन आता है। हिन्दी समाज के इतिहास को यदि हम गौर से देखें तो यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि हिन्दी समाज का पूरा इतिहास बहुत से उतार-चढ़ावों से भरा हुआ है। उसके साथ ही हमें समाज के मूल्यों में बहुत अधिक फेर-बदल दिखलाई देता है। बेशक मूलभूत मूल्य वे ही रहे जो पहले से चले आ रहे थे, पर समसामयिक परिवर्तनों के प्रभाव समरूप नए मूल्य बने और कुछ पुराने मूल्यों में बदलाव आया। मध्यकालीन हिन्दी समाज में यह परिवर्तन अधिक तेज गति से हुआ। इसका कारण राजनीति और शासन व्यवस्था में तेजी से बदलाव रहा। दूसरा कारण तुर्कों, पठानों, मुगलों के अपने मूल्यों और हमारे मूल्यों का आपसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टकराव रहा। इस टकराव में आक्रमणकारी का पलड़ा भारी रहता ही है। हिन्दी कविता के विविध कालों के परिवर्तन का इतिहास उसी टकराव से पैदा हुआ है। सामंती मूल्य उसी से परिचालित रहे हैं।

कविता में जिन अस्थायी मूल्यों की बात की जा रही है। वे इसी तरह के मूल्य हैं, जो शाश्वत मूल्यों और मानवीय सरोकारों से भिन्नता लिए हुए हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि मध्यकालीन सामंती व्यवस्था में लिखे गए काव्यों में शाश्वत मूल्य के दर्शन नहीं होते। शाश्वत मूल्य भी लगभग सभी कालों में लिखी गई कविताओं में मिलते हैं।

जहाँ तक आधुनिक कविता का सवाल है, मूल्यों की दृष्टि से इसे संक्रमणकालीन अवस्था कह सकते हैं। सामन्ती समाज का मूल्य हमने नकार दिया है। आधुनिक समाज के मूल्य क्या हैं, इसे हम समझ नहीं पाए हैं। वैज्ञानिक और तकनीकी विकास इतनी तेजी से हो रहा है कि उनके प्रभाव से निर्मित होने वाला मूल्य कोई आकार ग्रहण करे या उसकी कोई अवधारणा बने, उसके पहले ही विकास की गति और आगे बढ़ जाती है और मूल्य की प्रक्रिया अधूरी की अधूरी रह जाती है।

यहाँ इस ओर संकेत करना भी जरूरी है कि मूल्य से यहाँ जो अवधारणा ग्रहण की गई है, वह निश्चित ही आई.ए. रिचर्ड्स आदि की मूल्य सम्बन्धी अवधारणा से भिन्न है। रिचर्ड्स भावना और इच्छा को संतुष्ट करने वाली किसी भी चीज (रचना) को मूल्य के अन्तर्गत रखते हैं, जो भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुकूल नहीं है। हमारे यहाँ करुणा, स्नेह, संवेदना, सद्भाव आदि उदात्त गुणों को शाश्वत मूल्य की संज्ञा दी जाती है। किसी भी भावना या इच्छा की तुष्टि जरूरी नहीं कि उच्च और उदात्त हो। दरअसल रिचर्ड्स ने अपनी आलोचना के पूरे ढाँचे को मनोविज्ञान और अर्थविज्ञान पर खड़ा किया है। इसीलिए उसने आवेगों की तुष्टि की बात लगातार की है।

अन्त में कविता के सम्प्रेषण को लेकर दो एक बातें अलग से कही जा सकती हैं। सामान्य भाषा की तरह ही कविता का भी बुनियादी प्रकार्य सम्प्रेषण है। पर यह सम्प्रेषण सीधा और सपाट नहीं होता। कई बार तो यह अनेक तरह की जटिलताओं और ग्रन्थियों में उलझा हुआ होता है। जो ऊपर से सीधी और सपाट कविताएँ दिखाई देती हैं, वे भी भिन्न-भिन्न रूपों में सम्प्रेषित हो सकती हैं। इसलिए बहुत बार कोई कविता अपनी सम्पूर्णता में सम्प्रेषित नहीं हो पाती। पढ़ने वाला अपने मानसिक स्तर, अपनी रुझान, अपनी सहृदयता आदि के हिसाब से उसे ग्रहण करता है। काव्य-सम्प्रेषण की यह सफलता है कि पाठक उसे पढ़ते हुए अपने को उसके साथ जोड़ता है। कविता की मनोदशा को अव्यक्त रूप से अपनाता है। जहाँ तक कवि का सवाल है, अपनी सर्जना को सम्प्रेषित करने का भाव प्रत्येक कवि कलाकार के मन में कहीं न कहीं रहता है। सम्प्रेषण, दरअसल, कवि की अनुभूति या उद्वेग या विचार का पाठक में स्थानान्तरण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीडिया नियमन हो पाएगा क्या?

संजय कुमार*

गाहे-बगाहे मीडिया के नियमन को लेकर सरकारी व गैर सरकारी महकमे में गूँज सुनाई पड़ती रहती है। हालाँकि, सरकार साफ कह चुकी है कि वह मीडिया पर सेंसर लगाने के पक्ष में नहीं है। यह बार-बार दोहराया जाता रहा है, चाहे वह प्रधानमन्त्री की ओर से हो या सूचना और प्रसारण मन्त्री की ओर से। केन्द्रीय सूचना और प्रसारण मंत्री अम्बिका सोनी ने 25 फरवरी, 2012 को नई दिल्ली में एक समारोह में साफ शब्दों में कहा कि, सरकार मीडिया पर सेंसर लगाने के पक्ष में नहीं है। उन्होंने कहा कि सरकार मीडिया से प्रचारित-प्रसारित सामग्री पर कोई नियमन नहीं करना चाहती। सरकार चाहेगी कि मीडिया स्वयं नियमन करें।

मीडिया नियमन पर लम्बे समय से चर्चा की जाती रही है, लेकिन इस प्रक्रिया की विश्वसनीयता और स्वीकार्यता की स्थापना के लिए उचित समय दिया जाना आवश्यक है। मीडिया में विश्वसनीयता और स्वीकार्यता की जो स्थिति आज है, उसे देखते हुए प्रसारण पूर्व सतर्कता और नियमन से जुड़े अहम मुद्दों पर विचार-विमर्श किया जाना चाहिए। खबर के नाम पर कुछ भी दिखा दिया जाना समाज-देश के हित में नहीं है? बात केवल नियमन तक ही नहीं है, इसके अन्दर राजनीतिक घुसपैठ की भी है।

24 फरवरी, 2012 को, पटना में एक कार्यक्रम के दौरान जब भारतीय प्रेस परिषद के अध्यक्ष न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू ने कहा कि बिहार की मीडिया के बारे में उन्हें जो जानकारी मिली है, वह अच्छी नहीं है। जो यहाँ हो रहा है, वह ठीक नहीं है, प्रेस की आजादी के खिलाफ है। न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू ने कहा, "मैंने सुना है कि बिहार में लालू प्रसाद की तुलना में वर्तमान सरकार ने बेहतर कानून-व्यवस्था कायम किया है, लेकिन जो दूसरी बात मैंने सुनी है वह यह है कि लालूजी की सरकार

* लेखक इलैक्ट्रोनिक मीडिया से जुड़े हैं। सम्पर्क : 303, दिगम्बर प्लेस, डॉक्टर्स कॉलोनी, लोहियानगर, कंकड़बाग, पटना 800020, बिहार; मो. 09934293148

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समय प्रेस को आजादी होती थी, जो वर्तमान सरकार में नहीं है।" श्री मार्कं काटजू ने कहा कि, अगर किसी पत्रकार ने सरकार, मन्त्री या अधिकारी के खिला कोई खबर लिख दी, तो उसे नौकरी से निकलवा दिया जाता है या फिर उस स्थानान्तरण कर दिया जाता है। मैंने अब तक इस मामले में पूरी तरह से अपनी र क़ायम नहीं की है। मगर मुझे जो सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उसके आधार पर ऐसा क रहा हूँ। न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू का इतना कहना था कि विरोध के स्वर फूट पड़ चर्चा बिहार विधानमण्डल के अन्दर भी हुई। न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू ने जो कहा व मीडिया और स्थानीय सरकार पर थी। बवाल होना ही था।

आरोप-प्रत्यारोप के बीच सवाल नियमन का ही उठता है। आखिर ऐसा क्यं जो बातें मीडिया के अन्दर से आनी चाहिए थी, वह प्रेस परिषद की ओर से आ र है। मीडिया चाहे वह बिहार की हो या देश के अन्य भाग की, जब भी उस पर अंकु लगाने की पहल हुई, तो खुलकर विरोध किया गया। लेकिन, जब खुद मीडिया अ फायदे के लिए समझौता कर ले तो, इसे क्या कहा जाए? बिहार में प्रेस पर लगे का विधेयक के खिलाफ दशकों पूर्व यहाँ की मीडिया का विरोधी तेवर फूटते देखा ग था। तो, आज जो प्रेस परिषद के अध्यक्ष न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू कह रहे हैं व सब क्या बेकार है? या फिर कहीं मीडिया का अघोषित समझौता तो नहीं? प्रेस व आजादी यानी उस पर कोई नियन्त्रण नहीं। यह बात देश के प्रधानमन्त्री डॉ. मनमोह सिंह भी कह चुके हैं। 2 जनवरी, 2012 को नई दिल्ली में एक समारोह को सम्बोधि करते हुए प्रधानमन्त्री ने मीडिया पर किसी तरह के बाहरी नियन्त्रण से इनकार क हुए कहा कि, देश का मीडिया पेड न्यूज जैसी बुराइयों पर खुद ही काबू पा सकता है उन्होंने कहा कि जब से हम आजाद हुए हैं तभी से मीडिया की भूमिका और उस काम करने के तरीके पर हमारे देश में चर्चा होती रही है। प्रधानमन्त्री ने कहा कि मीडिया के ऊपर किसी तरह का बाहरी नियन्त्रण नहीं लगाया जाना चाहिए। लेकि मीडिया के प्रतिनिधियों को मिल-जुलकर कोई ऐसा रास्ता निकालना चाहिए जिस निष्पक्षता को बढ़ावा मिले और सनसनी कम हो सके। उन्होंने कहा कि हम उन मु का कवरेज बढ़ा सकते हैं जो हमारे देश के लिए वास्तव में महत्त्वपूर्ण हैं।

सरकार की बातों से लगता है कि वह कोई नियमन थोपना नहीं चाहती है। ऐ में स्वतः मीडिया को आगे आना होगा? अपने ऊपर लग रहे आरोपों को पारदर्शि के साथ हटाना होगा। यह तब हो पाएगा, जब खबरों को लेकर नियमन ब हालाँकि, पिछले कुछ वर्ष पूर्व जब खबरिया चैनलों पर खबरों के प्रसारण के स्तर व लेकर खिंचाई होने लगी तब कुछ खबरिया चैनलों ने मिलकर एक नियमन बना लि कि किस खबर को देना है और किसे नहीं।

मीडिया पर निगाह रखने को लेकर नागरिकों की स्वतन्त्र संस्था बने इस चर्चा होने लगी है। नई दिल्ली में 2 अप्रैल, 2012 को मीडिया शोध जर्नल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीडिया' और 'मास मीडिया' का लोकार्पण करते हुए वरिष्ठ अधिवक्ता प्रशान्त भूषण ने कहा कि मीडिया सभी पर निगाह रखती है, लेकिन अब जरूरत है कि मीडिया पर निगाह रखने के लिए नागरिकों की स्वतन्त्र संस्था बने, जो पूरी तरह से स्वतन्त्र रहे। उन्होंने कहा कि प्रेस काउंसिल जैसी संस्थाएँ पूरी तरह से नकारा साबित हो गई हैं। जरूरत है कि नागरिक समाज की तरफ से ऐसी संस्था बने जो मीडिया के कामकाज और उसकी खबरों पर नजर रख सके। इस संस्था को कड़े कदम उठाने के अधिकार भी होने चाहिए। उन्होंने कहा कि मीडिया की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, लेकिन कई बार वहाँ छपने वाली खबरें पूरी तरह से गलत और मनगढ़ंत होती हैं। आतंकवाद के मामले में ऐसा कई बार हुआ है जब पुलिस के बयान को ही खबर बनाकर पेश किया जाता है। मीडिया में आतंकवादी करार दिए जाने के बाद कई ऐसे मुस्लिम युवाओं को अदालतों ने निर्दोष करार दिया।

मीडिया नियमन का सवाल हर ओर से उठने लगा है, ऐसे में पूरे मामले को देखा जाए तो बात साफ है कि मीडिया को नियमन बनाकर खुद उस पर पहल करने की जरूरत भी है। मीडिया को एक प्रहरी की भूमिका में रहते हुए आम जीवन से जुड़ी सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक-शैक्षिक, आर्थिक विकास के सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्षों को उजागर करने की है। लेकिन, ऐसा हो नहीं रहा है। खबरिया चैनल 'स्टिंग ऑपरेशन', 'ब्रेकिंग न्यूज' और 'केवल इसी चैनल पर' के साथ अपने को बाजार में मजबूत बनाने में जहाँ सक्रिय हैं वहीं प्रिन्ट मीडिया भी विकासमूलक खबरों की जगह अपराध पर ज्यादा ध्यान केंद्रित करते हैं। ऐसे में पत्रकारिता के सेहत का बिगड़ना स्वाभाविक है।

मीडिया, बाजार और लोकतन्त्र के उहा-पोह से बाहर नहीं निकल पांई है, बल्कि इसमें और फँसती ही जा रही है। ऐसे में मीडिया नियमन या स्व-नियमन के सवाल को लेकर हर स्तर पर मत एवं सम्मत आते ही रहते हैं। नियमन के सवाल पर निजी मीडिया अपने ऊपर लगने वाले सरकारी सेंसर को लेकर समय-समय पर चिल्ला-चिल्लाकर नाक में दम कर देती है। तो मजबूरन सरकार को सामने आकर कहना पड़ता है कि सरकार मीडिया पर सेंसर लगाने के पक्ष में नहीं है। सवाल उठता है कि ये सवाल आते कहाँ से हैं? तो इसका सीधा-सा जवाब है खुद मीडिया के अन्दर से। खबरों को बेचने, सनसनी बनाने एवं पेड न्यूज जैसे प्रचलन ने मीडिया को सवालों के घेरे में लिया है। जनपक्षीय व सामाजिक सरोकारों से आज मीडिया का मोह भंग लगभग हो चुका है। खबरों में जनसरोकार की जगह धन सरोकार की गंध फैल चुकी है। आरोप लगता रहता है कि खबर के नाम पर बेमतलब की चीजों से पटी मीडिया, खबरों को ही मैनेज करती फिरती है। ऐसे में अपने एथिक्स को दरकिनार कर चुकी मीडिया पर नियमन को लेकर हो-हल्ला मचना स्वाभाविक हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो नियमन आमतौर पर है उसे समय-समय पर धत्ता बता दिया जाता है। बलात्कार से पीड़ित लड़की/महिला की फोटो उसके मूल नाम के साथ छाप या दिखा दिया जाता है। ऐसे कई मसले हैं जहाँ मीडिया नियमन खुलेआम तोड़ती मिलती है। आश्चर्य तब होता है जब मीडिया के ऊपर हमला होता है। मीडिया का प्रतिकार देखने लायक होता है। फिर कुछ समय बाद मीडिया पर हमला बोलने वालों को खुद मीडिया हीरो बनाकर पेश करने से भी बाज नहीं आती, जबकि खबर के लिए कहीं से हमला करने वाला व्यक्ति इसके लायक नहीं होता कि वह खबर बनो। हाल ही में पटना के मीडिया ने एक दबंग विधायक को हाथों-हाथ लिया। खूब फोटो छापे-दिखाए। जी हाँ, वे वही विधायक हैं जिन्होंने एक खबरिया चैनल के पत्रकार और कैमरामैन को खूब मारा-पीटा था। स्थानीय-राष्ट्रीय मीडिया ने चीख-चीखकर प्रेस की अभिव्यक्ति पर हमले के खिलाफ आवाज बुलंद की थी। घटना को बीते महज कुछ ही दिन हुए थे कि, विधायक महादेव की शाही अंदाज में तस्वीर स्थानीय पत्रों में छापी गई। ऐसे में मीडिया के दोहरे चरित्र का पर्दाफाश होता है। मामला नियमन पर आता है। आखिर वे दिखाना क्या चाहते हैं? एक ओर उन्हें मारा-पीटा जाता है, दूसरी ओर पीटने वाले को ही हीरो बना कर प्रोजेक्ट किया जाता है। आज पत्रकारों के सन्दर्भ में खुलेआम कहा जाता है कि एक बोतल शराब और कुछ खिला-पिला दो और जो छपवाना हो छपवा लो? कहा जा सकता है कि बाजारवाद के शिंकजे में आज मीडिया इस कदर फँस चुकी है कि इसके बढ़ते प्रभाव ने पत्रकारिता के एथिक्स तक को दरकिनार कर दिया है। राजनीतिक सोच के आगे पत्रकारिता की सोच बौनी होती जा रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूफी सन्त

डॉ. बीनल जी घेटिया*

'सूफी' शब्द पर विभिन्न मत-मतान्तर रहे हैं। इन सन्तों का प्रमुख लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति करना था। मुख्यतः जीव और ईश्वर का सम्बन्ध प्रिया एवं प्रियतम का रहा है। इसमें शेख सिराजुद्दीन अझीझुल्लाह, पीर सैयद इमामुद्दीन और हसरत सैयद मुहम्मद जौनपुरी आदि प्रमुख रहे हैं। इनमें दो सूफी सन्त प्रभावी रहे जिन्हें हम इस प्रकार देख सकते हैं।

सूफी सन्तों के शहंशाह अल मन्सुर हल्लाज

सूफी सन्तों के शहंशाह अल मन्सुर हल्लाज का जन्म 26 मार्च 858 को पर्शियाना फरस गाँव में हुआ था। उनका मूल नाम हुसेन था। पिता का नाम मन्सुर। वह पिता के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। मन्सुर के पिता रूई धुनते थे। अरबी में हल्लाज शब्द का अर्थ रूई धुनने वाला होता है। अल मन्सुर के पितामह झोर्सतयिन धर्म का अनुसरण करते थे। किन्तु पिता ने इस्लाम धर्म अंगीकार किया था। 18 वर्ष की आयु में मन्सुर सहल बीन अब्दुल अर्जीज के शिष्य बने। इसके बाद मन्सुर ईराक और अरब गए। वहाँ अबुल हुसेन सारी और जुनेद बगदादी जैसे सूफी सन्तों से सम्पर्क हुआ और मन्सुर याका सूफी बन गए। तीन बार हज अदा करने वाले मन्सुर ने सूफी दरवेशों की निम्न दी गई सभी आचार संहिता का शब्दशः पालन किया।

1. भूख न लगे तब तक भीख न माँगना।
2. जरूरत हो उतना ही ग्रहण करना।
3. सुशील और विनम्र बनना।
4. भिक्षा हेतु धनवान व्यक्ति के गुण न गाना।
5. धनवान कुछ न भी दे तो उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए।
6. दीनता को जीवन में उतारना।

*डॉ. बीनल जी. घेटिया, 'समर्पण' तिरुपति सोसायटी, जामजोधपुर 360530 जिला : जामनगर (गुजरात); मो. 09428986416

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. भविष्य की चिन्ता न करना।

8. जो कुछ भी स्वेच्छा से मिले उसको स्वीकार करना।

9. भिक्षा हेतु धर्म-लाभ की झूठी बातें न करना।

इन सभी आचार व्यवहार को जीवन में साकार करते अल मन्सुर ने एक दि कहा—"अनलहक" अर्थात् "मैं खुदा हूँ", "अहम ब्रह्मास्मि"

मन्सुर ने अपनी इस उक्ति को स्पष्ट करते हुए कहा—"खुदा के साथ मे निकटता के कारण खुदा और मैं अब भिन्न नहीं रहे। खुदा और उसकी इबादत कर वाला बन्दा अब एकाकार हो गए हैं।"

किन्तु इस्लाम का कट्टरवादी वर्ग मन्सुर के इस विचार की गहनता को न नाप सका और मन्सुर का विरोध आरम्भ किया। इस विद्रोह की पराकाष्ठा तब हु जब मन्सुर ने अपने काव्य में गाया—

"अगर है शौक मिलने का
तो हरदम लौ लगाता जा
जला कर खुद नुमाई को
भस्म तन पर चढ़ाता जा
मुसल्ला फाड़, तस्बी तोड़
किताबें डाल पानी में
पकड़ दस्त तुं फरिश्तों का
गुलाम उनको कहेता जा,
न मर भूखा न कर रोजा
न जा मस्जिद, न कर सजदा,
हुकुम है शाह कलन्दर का
अनल हक तू कहता जा
कहे मन्सुर मस्ताना
कह मैंने दिल में पहेचाना
वही मस्तो का मैखाना
उसी के बीच आता जा।"

मन्सुर के इस कथन के बाद उसे मौत की सजा सुनाई गई। वह सजा हृदय कम्पित कर देने जैसी थी। भगवान ईशु को तो सूली पर चढ़ाकर हाथ-पैर पर कीलें ठोकी गई थीं। किन्तु मन्सुर को सूली चढ़ाने से पहले उसके एक-एक अंग काटे गए थे। सजा का आरम्भ हो उससे पहले मन्सुर ने अपने मित्र शीवली से पूछा :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तुम्हारे पास मुसल्ला (नमाज पढ़ने की चद्दर) है?"

शीवली को आश्चर्य हुआ। जो मन्सुर 'मुसल्ला फाड़, तस्बी तोड़" के नारे लगा रहा था, वही आज जीवन की अन्तिम घड़ी में नमाज पढ़ने के लिए मुसल्ला माँग रहा है? शीवली ने मन्सुर को मुसल्ला दिया। मुसल्ला बिछाकर मन्सुर ने नमाज आरम्भ की। किन्तु जल्लादों ने उसको नमाज पढ़ने नहीं दिया। मन्सुर के दोनों पैर काट दिए। तव मन्सुर ने आसमान की ओर निगाह करके कहा : "या अल्लाह, नमाज के लिए पैरों की क्या आवश्यकता? मैं तो बिना पैरों के ही तुझ में एकाकार हो चुका हूँ।"

जल्लादों ने मन्सुर का यह कथन सुना, तुरन्त ही उसके दोनों हाथ काट दिए। बाद में जिह्वा। फिर भी मन्सुर हँसता रहा। हजारों लोग चारों ओर से मन्सुर पर पत्थरों की बारिश कर रहे थे। फिर भी मन्सुर की मुस्कान बरकरार था। लेकिन जब उसके परम मित्र शीवली ने भीड़ में से एक फूल फेंका तब मन्सुर की मुस्कान खंडित हुई। उसने दुःखी होकर शीवली की ओर एक नजर डाली। शीवली मन्सुर की उस नजर को सह न सका और उसने नजर झुकाई। साथ ही मन्सुर की क्रूर हत्या हुई। वह दिन था 26 मार्च 922। अल मन्सुर का लिखा ग्रन्थ 'किताब-अल-त्वासीन' सूफी विचारधारा को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसमें आदम और शैतान के बीच के सुन्दर संवादों को आलेखित किया गया है। मन्सुर उसमें लिखते हैं—"अगर आप खुदा को पहचान न सकें, तो खुदा की निशानियों को पहचानने का प्रयास करें। वही सत्य है। मैंने उस सत्य को पाया, इसीलिए कहा 'अनलहक'।

मन्सुर के आध्यात्मिक विचारों में ताजगी एवं गहनता सन्निहित थी। वह कहते—"वायु मनुष्य का जीवन है। परमात्मा हृदय का जीवन है। विश्व का त्याग शरीर की परेहजगारी है। परलोक का त्याग मन ही परेहजगारी है। एक कदम विश्व में और एक कदम परलोक में से उनके विचारों के प्रभाव से ही वह उनके शिष्य बने। पाँच हजार दोहों एवं शायरी की पाँच किताबें लिखने वाले खुसरो की रचनाओं में सूफी विचारों का प्रभाव सहज मिल जाता है।

अपने गुरु निजामुद्दीन औलिया के अवसान की जानकारी उसे बहुत दिनों बाद होती है। पता चलते ही अमीर खुसरो उसकी दरगाह पर पहुँच गए। इतने रोए कि आँखों से आँसू सूखना मुश्किल हो गया। तब ही उनके अन्दर का कवि बोल उठा—

"खुसरो रैन सोहाग की
जागी पी के संग
तन मोरो मन पिउ को
दाउ भये एक संग

गोरी सोवे सेज पर
मुख पर डारे केस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चल खुसरो घर अपने
रैन भई चहुँ देस

श्याम सेत गोरी लिए
जनमत भई अनित
एक पल में फिर जाते
जोगी काके मीत।"

इस दोहे के तुरन्त बाद ही वहीं गुरु की दरगाह पर खुसरो बेहोश हो गए।

मन्सुर की निर्मम हत्या के बर्षों बाद शायर-ए-आजम गालिब ने मन्सुर को अंजली अर्पित करते कहा था–

"दी गई मन्सुर को शूली
अदब के तर्क पर
था अनलहक हक्क
मगर यक लफजे गुस्ताखाना था।"

कलम के बादशाह अमीर खुसरो

सूफी विचारधारा को सूफी सन्तों ने आलम (आचरण) से साकार किया है। जब कि कुछ चिन्तकों ने अपनी कलम के जरिए लोकभोग्य बनाया है। उसमें अमीर खुसरो अग्र गण्य हैं। सूफी विचारधारा की चिश्ती परम्परा के माने-जाने सन्त मुहम्मद निजामुद्दीन औलिया के शिष्य अमीर खुसरो का जन्म सन् 1253 ई. में पतियाला (इस वक्त का उत्तर प्रदेश) में हुआ था। उनका मूल नाम अबुल हसन था। दिल्ली के बादशाह इल्तुत्मासना युर्की अधिकारी के पुत्र अमीर खुसरो 1292 तक बादशाह की सेवा में रहे। फारसी के ज्ञाता प्रखर शायर और इतिहासविद अमीर खुसरो के जीवन में निजामुद्दीन औलिया का प्रवेश अनायास ही हुआ था। खुसरो ने इसी रचना में खुदा-ईश्वर को प्रियतम के रूप में आलेखित किया है। उसकी रचनाओं में प्रियतम का प्रेम खुदा-ईश्वर की प्रेमाभिव्यक्ति है। तो कभी खुसरो मनुष्य देह को दुल्हन के रूप में भी प्रतिपादित करते हैं–

"बहुत रही बाबुल घर दुल्हनिया
चल तेरे पी ने बुलाई
बहुत खेल-खेली सखीयान से
अन्त करी लारकाई

न्हाय धोय के वस्तर पहिरे
सब ही सिंगार बनाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदा करन को कुटुम्ब सब आए
सीगरे लोग लुगई

बेठ्त महिन कपरे पहनाए
केसर सिलक लगाई
खुसरो चली ससुरारी सजनी
संग नहीं कोई जाई।''

बाबुल अर्थात् पिता के घर को खुसरो इहलोक के रूप में वर्णन करते हैं। मानव शरीर को दुल्हन कहा है। इहलोक में मानव देह कई समय तक रहा। अच्छे-बुरे कर्म किए, किन्तु अब ससुराल यानी कि परलोक जाने का समय हो चुका है। परलोक के साज-शृंगार भिन्न ही है। वहाँ सद्कर्मों का सुवास एवं परमतत्त्व की इबादत साथ जाएगी। अब तो उसकी ही तैयारियाँ करनी हैं। वहाँ साथ कोई नहीं जाता, अकेले ही जाना होता है।

आवागमन के विचार को आसान शब्दों में अभिव्यक्ति मिलने वाली रचनाओं में–'ख्जैन-अल-फतह' और 'तारीख-ए-अलाय' है। जब ऐतिहासिक रचनाओं में 'नूह सिझिर' और 'तुगलखनाम' ख्यातनाम है। सन् 1325 में उनका अवसान हुआ। खुसरो की अन्तिम इच्छानुसार उन्हें गुरु निजामुद्दीन औलिया की कब्र के पास ही दफनाया गया। आज भी गुरु-शिष्य की जुगलबन्दी एकान्त पलों में सूफी विचारों की गहनता पर तर्क करती होगी। किन्तु उस तर्क का मर्म हमारे नसीब में कहाँ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक-जनित पावनता की सुगंध

कृष्णदत्त पालीवाल*

हिन्दी साहित्य के समकालीन परिदृश्य में नन्दकिशोर आचार्य एक ऐसा विशिष्ट नाम है जिसने अपने मूलगामी चिन्तन से पाठकों को दूर तक प्रभावित किया है। कविता, नाटक, निबन्ध, आलोचना के क्षेत्र में वह लगभग पाँच दशकों से सक्रिय है। इस सक्रियता में उनका निर्भीक सर्जक और चिन्तक हृदय और बुद्धि की मुक्तावस्था से नए रास्तों की तलाश करता रहा है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय जी ने नन्दकिशोर आचार्य की मौलिक प्रतिभा से चकित होकर भी उन्हें अपने से अभिन्न बनाया और *चौथा सप्तक* में स्थान दिया। आचार्य की साहित्य, दर्शन, इतिहास, पत्रकारिता तथा तमाम कलाओं में गहरी रुचि रही। इस अन्तर्विद्याश्रयी बहुज्ञता का सुफल यह हुआ कि नाटक का क्षेत्र हो या निबन्ध का क्षेत्र, वह संस्कृति, साहित्य, भाषा, परम्परा, अध्यात्म दर्शन के सम्बन्ध में पारम्परिक अवधारणाओं का मूर्तिभंजन करते रहे हैं।

आज हम सभी अनुभव करते हैं कि जड़ स्थापनाओं का खंडन उनकी प्रकृति का अंग ही बन गया और इस क्षेत्र में वह ऐसे आनन्द का अनुभव करते हैं कि बहुधा चिन्तन के श्रेष्ठतम बिन्दुओं का सहज ही स्पर्श करते मिलते हैं। उनके लिए सृजन-कर्म नए ढंग की अर्थोपत्ति का सन्देश है। उनके सृजन-कर्म की अन्तःयात्रा में जागरूक पाठक पाता है कि उन पर गाँधी, अज्ञेय, मानवेन्द्र राय तथा निर्मल वर्मा के चिन्तन की गहरी धमक है। पश्चिमी दर्शन, साहित्य, इतिहास साहित्यालोचन को उन्होंने मनोयोगपूर्वक पढ़ा है। एक अर्थ में वह गाँधी और अज्ञेय के मांनस शिष्य हैं, लेकिन उनके अंध अनुकर्ता नहीं हैं। उनकी अपनी मौलिक सोच है जो चिन्तन को न केवल अर्थ का नयापन देती है बल्कि उसमें सर्जनात्मकता के खमीर से नए स्वाद की सृष्टि करती है।

*भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी साहित्य विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे जैसे पाठक तो आचार्य जी के निबन्ध-कर्म को अज्ञेय निर्मल वर्मा की निबन्ध परम्परा का अगला विस्तार मानते हैं। निबन्ध लिखना उनके लिए *रचना का अन्तरंग* जैसे निबन्ध-संग्रह में अपनी प्रश्नानकुलताओं, चिन्ताओं, समस्याओं, जिज्ञासाओं को सुलझाना नहीं है, जितना तेजी से बदलते जटिल यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में उत्तर-आधुनिक सन्दर्भों से जूझते हुए उनका नए सिरे से सामना करना; परम्परा, आधुनिकता, अध्यात्म, अहिंसा, संस्कृति, इतिहास, स्मृति, काल-चिन्तन जैसी तमाम अवधारणाओं की पुनः-पुनः व्याख्या करना; कभी-कभार तो गाँधी जी की अहिंसा, अपरिग्रह, सत्याग्रह जैसी अवधारणाओं की व्याख्या में प्रवेश करके विचारयोगी की तरह चित्त समाधि लगाकर उसकी पुनः व्याख्या का अन्तःपाठ उठाना।

इस नए निबन्ध-संग्रह में नन्दकिशोर आचार्य ने अपनी प्रश्नाकुलता में साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन से जुड़े तमाम प्रश्नों को विचार के स्तर पर उठाया है, जिनके कारण इक्कीसवीं शताब्दी के इस प्रथम चरण में ही हमें अपनी जातीय स्मृति, जातीय अस्मिता की खोज जरूरी जान पड़ती है। बीसवीं शताब्दी के पिछले वर्षों में जिन अवधारणाओं पर धूल जमा हो गई थी, उसे पोंछकर आचार्य जी ने अपने समय के प्रश्नों पर पुनः चिन्तन किया है। उन्होंने *संवेदनात्मक सत्याग्रह, कला की जैविक प्रासंगिकता, संस्कृति, भाषा, हिन्दी की दार्शनिक सर्जनात्मकता* जैसे जटिल प्रश्नों का भारतीय परम्परा के सन्दर्भ में नया पाठ करने का अद्भुत साहस दिखाया है।

दरअसल, महात्मा गाँधी, अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा के संस्कृति विद्यापीठ के अतिथि प्रोफेसर रहे आचार्य जी ने न केवल वहाँ अहिंसा पाठ्यक्रम को अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से नई दिशा दृष्टि दी, बल्कि उसे ज्ञान के अन्य अनुशासनों से जोड़कर तुलनात्मक अध्ययन की एक नई प्रविधि का भी आविष्कार किया। अहिंसा, अपरिग्रह, सत्याग्रह, संस्कृति, राजनीति, इतिहास के क्षेत्रों से वह ऐसे तदाकार रहे कि विचार का अनोखा नीला कमल ही खिल गया। *अहिंसा विश्वकोश* इस अकेले चिन्तक का चकित करने वाला अनुसंधान कार्य है। यही चिन्तन रस रसायन उनके *रचना का अन्तरंग* के निबन्धों में पावनतान-जनित विवेक की सुगंध बनकर फूट-फट पड़ा है। इस कोश से पहले आचार्य जी के दस नाटक, दस काव्य-संग्रह आ चुके थे और वे नई-नई राहों की तलाश के लिए बेचैन थे।

हमें पता है कि उन्होंने जापानी जेन साधना के प्रख्यात कवि रियोकान के काव्यानुवाद *सुनते हुए बारिश* के अतिरिक्त लोर्का, जोसेफ, ब्रादस्की, ब्लादिमिर होलन तथा आधुनिक अरबी कविताओं का हिन्दी रूपान्तरण बड़े मनोयोगपपूर्वक किया है। इतना ही नहीं उन्होंने अनथक साधना से मानवेन्द्रनाथ के *न्यू ह्यमेनिटिज्म* (नवमानवतावाद) *साइंस एण्ड फिलॉसफी* (विज्ञान और दर्शन) तथा *रिफ्लेक्शन आन गाँधीज हिन्द स्वराज* (हिन्द स्वराज पश्चिमी दृष्टि में) का हिन्दी अनुवाद भी किया है। इन अनुवादों ने उनकी मनोभूमिका को नए ढंग से निर्मिति किया। फलतः उनकी मानसिकता में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखंड दृष्टि का प्रवेश हुआ। खंडित व्यक्तित्व और चिन्तन का अधूरा आदमी ऐसे निबन्ध नहीं लिख सकता है जैसे कि निबन्ध आचार्य जी ने समय-समय पर लिखे हैं।

मुझे याद है कि आचार्य जी ने चिन्तन की स्थायी भूमि *कल्चरल पालिटी ऑफ हिन्दूज* और *दि पालिटी इन शुक्रनीतिसार* (शोध) से प्राप्त की। उन्होंने निबन्ध-संग्रहों का एक संसार खड़ा किया जिनमें *संस्कृति का व्याकरण, परम्परा और परिवर्तन, आधुनिक विचार और शिक्षा, शिक्षा का सत्याग्रह, मानवाधिकार के तकाजे, संस्कृति की सामाजिकी, संस्कृति की सभ्यता* तथा *संस्कृति की आर्थिकी, सभ्यता का विकल्प* तथा *सत्याग्रह की संस्कृति* ने बौद्धिक क्षेत्र में तहलका मचाया है।

संस्कृति पर विचार करने वालों में आचार्य जी को अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, गोविन्दचन्द्र पांडेय, डी.डी. कौशाम्बी की परम्परा का खरा निर्भय चिन्तक मानना होगा। उन्होंने जीवन इस संकल्प को समर्पित कर दिया है कि मानव मूलतः हिंसक नहीं है। इसीलिए हिन्दी के आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने जो वैचारिक हिंसा अज्ञेय जी को *चिम्पाजी* तथा *मनहूस* कहकर की है, उसकी आचार्य जी ने *भाषा में अविचार* निबन्ध में कड़े शब्दों में निन्दा की है।

आचार्य जी ने *भाषा में अविचार,* निबन्ध में लिखा है और ऐसा लिखना हर अहिंसक चिन्तक को शोभा देता है कि *आलोचना विचार की भाषा है गाली वाली अविचार की नहीं।* आचार्य जी ने कहा है कि—समूचे साहित्यिक या बौद्धिक वातावरण में असहिष्णुता इस तरह तारी है कि रचना और विचार की दुनिया में लोग उनके बारे में असहमत लेखक की बात ही नहीं सुनना-पढ़ना चाहते और उसके बारे में ऐसी भाषा में बात करते हैं मानो वह लेखक न होकर कोई जेबकतरा या यदि बड़ा है तो कोई तस्कर आदि हो।

यदि नामवर जी या ज्ञानरंजन जैसे यशस्वी और प्रतिष्ठित लेखक *कूड़ा* और *चिम्पाजी, प्रेत* जैसी शब्दावली का प्रयोग करते हों तो नए लेखकों को दोष देने का क्या औचित्य होगा? अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के नाम पर ऐसी शब्दावली को क्षम्य तो माना जा सकता है लेकिन स्वीकार्य या वांछनीय नहीं। (रचना का अन्तरंग पृ. 116)

साथ ही आचार्य जी यह कहना भी नहीं भूले कि आज नामवर जी अज्ञेय को बड़ा साहित्यकार कहते हैं। और *शेखर : एक जीवनी* को हिन्दी के पाँच कालजयी उपन्यासों में गिनते हैं। लेकिन विचार के बजाय गाली या अपमान की भाषा में बोलते कभी उन्होंने ही कहा था कि अज्ञेय चिड़ियाघर के किसी *चिम्पाजी* के समान गम्भीर और *मनहूस* दिखाई देते हैं। क्या यह विचार की भाषा है। क्या एक बड़ा आलोचक एक बड़े लेखक के बारे में ऐसी भाषा का इस्तेमाल कर सकता है? नामवर जी कइयों के लिए आलोचना के रोल मॉडल होंगे? वे इस भाषा से क्या सीखेंगे? (वही पृ. 116)

रचनाकारों को लेकर प्रायः नामवरसिंह के विचार भ्रामक और राजनीति से प्रेरित होते हैं। आज अज्ञेय जन्म शताब्दी के वर्ष में अज्ञेय जी के सृजन-कर्म की हर ओर से सराहना हो रही है, तो नामवरसिंह भी हवा के अनुकूल एन.बी.टी. से प्रकाशित अज्ञेय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कविताओं के संचयनकर्ता के रूप में एक छोटी भूमिका लिखते हैं। और अज्ञेय के कवि-कर्म की प्रशंसा के पुल बाँधने के लिए उन्हें *साहित्य का अमृतपुत्र* तक कहते हैं। नामवरी आलोचना की अवसरवादिता का साहित्य में यह अद्‌भुत नमूना है।

नन्दकिशोर आचार्य ने बहुत कम उम्र में लगभग तेईस-चौबीस वर्ष की उम्र में अज्ञेय के कवि-कर्म पर *अज्ञेय की काव्यतितीर्षा* पुस्तक लिखी थी। आज भी वह पुस्तक हिन्दी की सर्जनात्मक आलोचना का प्रतिमान है। आचार्य जी ने अपना पूरा जीवन ही अज्ञेय के रचना-कर्म के चिन्तन को समर्पित कर दिया है। लेकिन उनके चिन्तन की धार में कहीं भी संयम-सन्तुलन का अभाव नहीं है। यहाँ *स्वतन्त्रता के अन्वेषी अज्ञेय* निबन्ध में आचार्य जी के चिन्तन की मौलिकता उनकी बाँकी शालीनता में देखते ही बनती है।

आचार्य जी ने अज्ञेय के विद्रोही व्यक्तित्व और युग प्रवर्तक रचनाकार व्यक्तित्व को ठीक-ठीक पहचान कर ही माना है कि उत्तर-छायावाद काल को स्वातन्त्र्य के बाद के हिन्दी साहित्य के युग को अज्ञेय युग कहना चाहिए। क्योंकि इस काल के पूरे चिन्तन पर अज्ञेय की अमिट छाप है। उन्होंने हजार-हजार हाथों से इस नए रचना-कार्य को सींचा और पनपाया है। आचार्य जी ने माना है कि स्वतन्त्रता के अन्वेषी थे अज्ञेय। अज्ञेय पर मानवेन्द्र राय, गाँधी जी, जयप्रकाश नारायण, लोहिया जी के विचारों की गहरी धाक है, लेकिन दूर तक अज्ञेय अलीकी चिन्तक हैं। आचार्य जी का इस प्रबन्ध पर एक साक्षात्कार में यह विचार व्यक्त भी हुआ है कि स्वयं प्रेमचन्द ने जैनेन्द्र और अज्ञेय के कथा-साहित्य को एक नए युग का प्रवर्तक साहित्य स्वीकार किया है।

आचार्य जी ने कहा है *कि मैं तो अज्ञेय को एक बड़ा कथाकार-उपन्यासकार मानता ही हूँ। सबसे पहले तो वह एक कहानीकार के रूप में ही स्थापित होते हैं। अज्ञेय के प्रति पहला आकर्षण हिन्दी के पाठकों और आलोचकों का हुआ वह उनकी कहानियों के कारण हुआ जो उन्होंने जेल से भेजी। प्रेमचन्द ने उन्हें प्रकाशित किया। प्रेमचन्द से उस समय जो इंटरव्यू किए गए हैं, अगर आपने देखा हो तो, उनसे जब पूछा गया कि आपके बाद कौन-से कथाकार दिखाई देते हैं, जो हिन्दी कहानी को आगे ले जाएँगे तो उसमें दो नए नाम लगातार आए हैं। जबकि बाकी नाम बदलते रहे हैं। जैनेन्द्र और अज्ञेय ये दो नाम प्रेमचन्द बराबर लेते हैं। आपकी स्मृति अगर हो तो प्रेमचन्द के बाद कहानी का जो युग है वह जैनेन्द्र-अज्ञेय के नाम से जाना जाता है।* (रचना का अन्तरंग, पृ. 113) इस तरह से हम पाते हैं कि आचार्य जी के साक्षात्कारों-निबन्धों में हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए बहुत बड़ा खजाना मौजूद है। अतः स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी का साहित्य के इतिहास को लिखने वालों के लिए आचार्य जी का चिन्तन एक नई दिशा दृष्टि देने का कार्य करेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना का अन्तरंग के निबन्धों की वैचारिकता में सर्वत्र अहिंसा और संस्कृति के सूक्ष्म-गहन चिन्तन का पाठ मौजूद है। सच बात यह है कि आचार्य जी के अपने विचारों की दृष्टि में संस्कृति मूल्यान्वेषण और मूल्यानुभूति की निरन्तर गत्यात्मक प्रक्रिया है। फिर मनुष्य तो सर्जनात्मकता का वरदान लेकर ही इस पृथ्वी पर आता है इस अर्थ में सर्जनात्मक होना मनुष्य का स्वभाव है। सर्जनात्मकता का गहरा रिश्ता है मूल्य-दृष्टि से और मूल्य-दृष्टि संस्कृति की कोख से जन्मती है। आज के सभी अस्मितावादी विमर्श, जिनसे हम सहमत हैं या असहमत, वे सभी संस्कृति की मूल्यचेतना से नाभिनाल सम्बन्ध रखते हैं। सृष्टि में मननशील मनुष्य ही मूल्य-सृष्टि के वरदान को लेकर आया है। इस दृष्टि से संस्कृति का बुनियादी आधार है—मानव का मूल्य-बोध।

संस्कृति की मूल दृष्टि मूल्यगत प्रक्रिया से जुड़ी रहती है। इसीलिए मूल्यों में आचरण की कसौटी से परिवर्तन होते रहते हैं। हम यह भी पाते हैं कि मूल्यगत प्रक्रिया सनातन है उसकी सनातनता ही निरन्तरता का पर्याय कही जा सकती है। आचार्य जी खूब सोच-समझकर यह सत्य कमाते हैं कि संस्कृति के देशबद्ध रूप को एकमात्र वैधरूप मान लेना—संस्कृति की मूल अवधारणा का ही विरोध करना है। अभ्यासवश हम संस्कृति को देश, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय से जोड़कर देखते हैं। जैसे हिन्दू संस्कृति मुस्लिम संस्कृति आदि।

संस्कृति में विभिन्नताओं को आधार बनाकर अलगाववाद पैदा करना लोक धर्म के प्रति शत्रुभाव नहीं है क्या? क्या इन सभी के भीतर से किसी सनातन और सार्वभौम मूल्य-दृष्टि का अन्वेषण सम्भव हो सकता है? क्या मानव के सांस्कृतिक इतिहास को मूल्य-दृष्टि, मूल्य-सृष्टि, मूल्यान्वेषण की प्रक्रिया के सन्दर्भ में तार्किक ढंग से समझा-समझाया जा सकता है। प्रश्न का यक्ष रूप यह है कि संस्कृति में धर्म की भूमिका का निर्धारण कैसे होगा क्योंकि मानव विज्ञानी तो धर्म को एक प्रकार का मिथ्या विज्ञान घोषित करते रहे हैं।

फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिक धर्म की उत्पत्ति मनुष्य द्वारा अपने त्राणकारी की इच्छा में पाते हैं। सभी धर्मों का अध्ययन करने वाले विद्वान मानते हैं कि सभी धर्मों की ज्ञान-मीमांसा और तत्त्वमीमांसा का सार सर्वस्व यह है कि धर्मों की विभिन्नताओं के भीतर एक आन्तरिक समानता की मूल्य-दृष्टि का बीज मौजूद रहता है। आचार्य जी अपने समस्त निबन्ध चिन्तन में इसी बीजभाव को स्वीकार करते हुए मिलते हैं उनके विचार में वेदनिष्ठ और अवैदिक दोनों ही प्रकार के धर्म-दर्शनों के केन्द्र में अहिंसा जैसा मूल्य ही स्थायी भाव के रूप में विद्यमान रहा है।

आचार्य जी *संवेदनात्मक सत्याग्रह है कला, कला की जैविक प्रासंगिकता, रचना माध्यम का रूपग्रहण, आत्म का संवेदनात्मक सृजन, अभेद साधना है संस्कृति* जैसे इन निबन्ध-संग्रह के ज्यादातर निबन्धों में संस्कृति की मूल्य-दृष्टि का अन्वेषण करते पाए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं। प्रायः इस अन्वेषण में उन्हें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, गोविन्दचन्द्र पांडेय जैसे चिन्तक याद आते रहते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस कथन का आचार्य जी नया भाष्य करते थकते नहीं हैं कि भारतीय संस्कृति और कोई भी अन्य संस्कृति (अगर संस्कृति शब्द का विश्लेषण बिना कहा ही ना जा सके) विश्वजनीन सत्य की विरोधी नहीं है। (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग 1, पृ. 221)

सच बात है कि मनुष्य की मूल्य-दृष्टि चाहे स्वतन्त्रता हो या अहिंसा अनुभूत होकर ही अपनी महिमा और महत्ता का उद्घाटन करती है। आचार्य जी को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन भा जाता है कि *सम्पूर्ण सत्य अविरोधी होता है*। जाहिर है कि द्विवेदी जी के लिए सत्य, धर्म या संस्कृति का मूल भाव अविरोध है। अविरोध की साधना ही संस्कृति की साधना है। दरअसल, विरोध-भेद बुद्धि से पैदा होता है और अविरोध अभेदानुभूति से (रचना का अन्तरंग पृ. 51) तभी तो अदम्य आस्थावादी संस्कृति को मनुष्य की जययात्रा के रूप में देखता है।

आचार्य जी अपने निबन्धों में भूलते नहीं है कि हिन्दू धर्म के पौराणिक रूप में तो अहिंसा को धर्म ही घोषित किया गया है। जातीय स्मृति का ग्रन्थ *महाभारत* अहिंसा धर्म को *सकल धर्म* और कहीं-कहीं पर *परम धर्म* कहता है। हमारे युग में गाँधी जी, इसी विचार को ग्रहण करते हैं। पुराणों, बौद्ध-जैन ग्रन्थों में जगह-जगह सत्य, धर्म, अहिंसा, नैतिक न्याय मूल्यों की व्याख्या है। हिन्दी के भक्तिकालीन संतों ने इसी चिन्तन परम्परा को आत्मसात करते हुए लोक-धर्म के रूप में *परहित सरस धरम नहीं* है का मन्त्र दुहराया है।

आचार्य जी ने *अहिंसा विश्वाकोश* में संसार-भर के धर्म-दर्शनों को छान मारा है। इस चिन्तन को इतना मथा है कि भेदों में अभेद की दृष्टि को आत्मसात कर लिया है। उनकी इसी दृष्टि का प्रतिफलन है—*सर्जनात्मक अन्वेषण के आयाम।* इस विचार स्थापना से यह निबन्ध शुरू होता है कि *किसी भी कलाकार की सर्जन-प्रक्रिया और सर्जनात्मक अवदान की सम्यक् समझ और उसका मूल्यांकन किसी भी तरह की सरल एकरैखिक विधि में नहीं किया जा सकता क्योंकि उनकी सर्जनात्मकता बहुस्तरीय संश्लिष्टता के रूप में प्रतिफलित होती है।* (वही, पृ. 54)

आचार्य जी को एक साथ हाइजेनबर्ग, विटगेंस्टाइन, पाल वैलरी—याद आते हैं। और वह कहते हैं कि प्रत्येक कला अन्वेषण ही नहीं, सम्प्रेषण भी है। सम्प्रेषणात्मक अन्वेषण। और वह सम्प्रेषण-कर्म की नैतिकता पर विचार की जरूरत महसूस करते हैं। अज्ञेय को लेकर लिखा है कि *उत्तर अज्ञेय के सृजनलोक में कविता की केन्द्रीयता के कारण हम अक्सर इस बात की ओर पर्याप्त सजगता नहीं बरत पाते कि हिन्दी साहित्य में उनकी स्वीकृति और प्रसिद्धि सर्वप्रथम एक कहानीकार तथा उपन्यासकार के रूप में हुई थी। मैं यहाँ उनकी मनोवैज्ञानिकता, दार्शनिकता या व्यक्ति की गरिमा आदि अवधारणाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण बात कहानी और उपन्यास की संरचना में*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह सर्जनात्मक रूपान्तर मानता हूँ जिसने इन विधाओं के स्वरूप और संरचना में बुनियादी परिवर्तन घटित कर दिया। अज्ञेय के बाद कहानी स्थूल घटना, चरित्र चित्रण और नाटकीय वर्णनात्मकता में नहीं बल्कि आन्तरिक मनोभावों और अन्तर्द्वन्द्वों के आधार पर विकसित होने के कारण इकहरे यथार्थ की जगह बहुस्तरीय जटिल और संश्लिष्ट यथार्थ की वाहक होने लगी। (वही, पृ. 56) अज्ञेय के इसी कर्म की परिणति और स्थापना आचार्य जी ने निर्मल वर्मा में देखी है।

वैसे भी निबन्ध लिखना आचार्य जी के लिए अपने को भीतर से खोलकर पढ़ना—*क्लोज रिडिंग* है, चिन्ताओं, प्रश्नों से उलझकर दूर तक साहित्य, दर्शन, इतिहास, राजनीति के सन्दर्भों-रूपकों को सामने लाना है, बदलते हुए युग की मनोभूमिका को तर्कों से गहना है ताकि बहुस्तरीय यथार्थ के अभिप्रायों की गाँठों को खोला जा सके। आचार्य जी के निबन्धों को पढ़ते हुए पाठक को निर्मल वर्मा का यह विचार बार-बार कौंध जाता है कि निबन्ध विधा एक तरह का चक्रव्यूह है, जहाँ सन्देह और आस्था हर अँधेरे कोने, हर अप्रत्याशित मोड़ पर एक-दूसरे के सामने क्षत विक्षत लहुलूहान खड़े दिखाई देते हैं। वहाँ यदि *सिनिसिज्म* के लिए जगह नहीं है, तो परस्पर विश्वासों की गुंजाइश भी नहीं है। (दूसरे शब्दों में, प्राक्कथन) पूर्व-पश्चिम की संस्कृति सभ्यता की तुलना के कठिन-सें-कठिन संकट क्षण में भी, नन्दकिशोर आचार्य अपनी संस्कृति के आत्मबोध को न तो खोने देते हैं, न उसे विसर्जित होने देते हैं। इनमें एक विचारयोगी निरन्तर अपनी धूनी रमाए रहता है। यही कारण है कि पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर छपने वाले उनके निबन्ध अन्य लेखकों के निबन्धों से एकदम अलग होने के कारण अलग व्यक्तित्व बनाते हैं। उनके लिए निबन्ध-सृजन वह लीलास्थल है जिसमें इतिहास, धर्म, दर्शन की द्वाभा और मानव सत्य के तलाश की द्वन्द्व क्रीड़ा चलती है। *सर्जनात्मक अन्वेषण के आयाम* जैसे निबन्ध में वह अज्ञेय के समग्र रचना-कर्म पर निगाह डालने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अज्ञेय के लेखन के बहुत-से पक्ष अभी हिन्दी आलोचना में छुए तक नहीं गए हैं, उन पर विचार करने, नए सिरे से उनका पाठ करने की आवश्यकता है।

अज्ञेय पर विचार करने के पश्चात् उनकी दृष्टि निर्मल वर्मा पर जानी ही चाहिए थी क्योंकि निर्मल वर्मा एक खास अर्थ में अज्ञेय की चिन्तन की राह का सटीक सप्रयाण आगे बढ़ाने वाले चिन्तक रचनाकार हैं। दोनों की मानसिक बनावट में भी गहरा साम्य है। नन्दकिशोर आचार्य, *आत्म के निर्मल आलोक में* पहले तो स्नान-ध्यान करते मिलते हैं। फिर पाठ का ठेठ ठाठ सामने लाते हैं। सब धर्म सम्प्रदायों के अपने धर्म ग्रन्थ हैं, किन्तु मनुष्य का धर्म-ग्रन्थ सिर्फ यह दृष्टि है, जिसके बिना ईश्वर की अवधारणा असम्भव होती है। ठीक विचार यही है कि धर्म, आत्मा, ईश्वर के विचारों को दरकिनार करना आसान नहीं है। आचार्य जी को निर्मल वर्मा के निबन्धों को पढ़ते हुए यह ध्यान में बराबर यह सच आता है कि निर्मल वर्मा के लिए धार्मिक अनुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी धर्मतन्त्र का अनुकरण नहीं, बल्कि उस सृष्टि के साथ एकत्व की अनुभूति है जिससे आत्मचेतस मनुष्य के अलगाव ने उस अँधेरे और अकेलेपन को पैदा किया है, जो उसकी वेदना का कारण है और वेदना में ही धर्म का बीज गड़ा है। (वही, पृ. 71)

निर्मल वर्मा के लिए साहित्य की प्रासंगिकता का अर्थ है–अकेलेपन का अतिक्रमण–उस अकेलेपन का अतिक्रमण जो शेष सृष्टि को अन्य के भाव से देखता है। इस पर आचार्य जी का कथन है–दूसरी तरफ से देखें तो इतिहास अलग करता है अर्थात् अन्य का बोध पैदा करता है और मिथक या स्मृति में अन्य बचता ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि आत्म हो जाती है। इसीलिए निर्मल वर्मा कहते हैं कि मनुष्य का धर्मग्रन्थ सिर्फ यह सृष्टि ही है। *(रचना का अन्तरंग, पृ. 71)* निर्मल वर्मा भारतीय और यूरोपीय सभ्यताओं को आमने-सामने रखकर उन्हें लड़ाने-भिड़ाने के पक्ष में नहीं हैं। प्राचीन यूनानी सभ्यता का सोच तो प्रकृति से लयबद्ध था किन्तु ईसाई चिन्तन इस लय में आगे चलकर दरार पैदा करता है।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण में संशय, अवसाद, पीड़ा के काँटे थे। इसी तरह का अवसाद भारतीय नवजागरण के आरम्भ में था। यह अवसाद गाँधी जी के आने पर दूर होता दिखाई देता है। गाँधी जी का सत्याग्रह जितना किसी अन्य के अन्याय से मुक्त होने की प्रक्रिया है, उससे अधिक अन्य के नैतिक आध्यात्मिक उत्कर्ष और उस अन्य को अपना आत्म समझने की भी प्रक्रिया है। निर्मल वर्मा गाँधी जी के इस आत्मत्व की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं और पाते हैं कि गाँधी ने अन्य के माध्यम से स्वयं को जानने की यूरोपीय पद्धति को उलटकर दूसरे को जान सकने की उस पद्धति को प्रतिष्ठित किया जहाँ स्वयं अपने से यह प्रश्न पूछा जाता है कि *मैं कौन हूँ* और इसी के सहारे दूसरे को जानने की चेष्टा की जाती है।

मैं कौन हूँ का प्रश्न महर्षि रमण के लिए बुनियादी प्रश्न था और यही प्रश्न दोनों सभ्यताओं के सन्दर्भ में गाँधी जी के लिए यक्ष प्रश्न था। आज निर्मल वर्मा को भारत व्याकुल या हिन्दुत्व का प्रवक्ता कहने वाले भूल जाते हैं कि निर्मल समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर एक भावयोगी की तरह आत्म की तलाश में निकले थे जिसमें, आचार्य जी ठीक कहते हैं कि, कोई प्रतिपक्षी अन्य है ही नहीं। भारत में राष्ट्रवाद के विकास की औपनिवेशिक परिस्थिति का सम्यक् मूल्यांकन करते हुए निर्मल कहीं भी अलगाववादी प्रवृत्ति से संचालित नहीं होते। वह मानते हैं कि औपनिवेशिक मानसिकता ने ही दोनों में अलगाववाद के जहरीले बीज बोए हैं।

समग्र आत्मबोध की इस अखंड भारतीय परम्परा के सम्पूर्ण भाष्य गाँधी थे, जिन्हें कवि-आलोचक विजयदेव नारायण साही ने *लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस* शीर्षक से अपने प्रसिद्ध निबन्ध में यह कहकर याद किया है कि गाँधी जी हिन्दुस्तान के लिए गाँधी इसलिए नहीं थे कि वे हमारे विचारों या आदर्शों के प्रवक्ता थे, उनका जोड़ देश के साथ कहीं और भी गहरा था, वे हिन्दुस्तान की जिन्दगी के *रिद्म* (Rythm)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अभिव्यक्ति थे, इतनी पूर्णता के साथ, जो उस युग में किसी और को प्राप्त नहीं थी, और आगे भी हो सकेगी, कहना कठिन है। (छठवाँ दशक, पृ. 271)

भारतीय चिन्तन परम्परा की गहरी समझ के कारण ही निर्मल वर्मा ने गाँधी, विवेकानन्द, प्रेमचन्द, रेणु, जयप्रकाश नारायण और हजारीप्रसाद द्विवेदी को आत्मबोध के विस्तार में पा लिया है। नन्दकिशोर आचार्य ने निर्मल वर्मा के सृजन और चिन्तन को भीतर से परखने के बाद पाया है कि निर्मल वर्मा का कथालोक इस आत्म के अन्वेषण की अनुभूत्यात्मक प्रक्रिया है और उनके निबन्ध इस प्रक्रिया की तात्त्विक आधार-भित्ति का निरूपण हैं। (रचना का अन्तरंग, पृ. 76)

आचार्य जी ने एक बेहद चौंकाने वाला शीर्षक देकर निबन्ध लिखा है—*प्रेमचन्द की आध्यात्मिकता*। आरम्भ इस प्रकार किया—*सर्जक के लिए चिन्तक भी होना अनिवार्य नहीं है। क्योंकि उसका चिन्तन तो सर्जन में ही रूपान्तरित होता है और इस कारण उसे किसी विशेष दर्शन की सीमा में बाँधकर नहीं देखा जा सकता। एकाधिक दर्शन-पद्धतियाँ उसकी सर्जनात्मक संवेदना में घुल-मिल गई होती हैं। लेकिन कुछ लेखक ऐसे भी होते हैं, जो सर्जनात्मक लेखन के साथ-साथ अपने समझ और समाज की समस्याओं पर सतत विचारात्मक लेखन भी करते रहते हैं। प्रेमचन्द के परवर्ती काल में जैनेन्द्र, अज्ञेय पर निर्मल वर्मा, आदि ऐसे ही लेखक हैं।* (वही, पृ. 77)

आचार्य जी ने साफ कहा है कि *प्रेमचन्द दर्शनशास्त्रीय बारीकियों में पड़ने वाले चिन्तक नहीं हैं। उनका मूल प्रयोजन अपने समय और परिवेश के सम्मुख प्रस्तुत समस्याओं पर विचार करना है। लेकिन इस विचार-प्रक्रिया की मूल प्रेरणा एक आध्यात्मिक बोध है जिसकी कसौटी पर वह जीवन को आँकते हैं।* (वही, पृ. 77)

कहना होगा कि आचार्य जी ने आध्यात्मिक बोध को एक प्रतिमान बनाकर प्रेमचन्द को परखा है। हममें से ज्यादातर के लिए आध्यात्मिकता भारतीयता का ही पर्याय रही है। इसी में से भारतीय आधुनिकता का सोच फूट-फूट पड़ा है। आचार्य जी ने पूरे विश्वास के साथ यह मत व्यक्त किया है कि यह केवल संयोग नहीं है कि प्रेमचन्द लगभग अपने सभी विचारात्मक लेखन में नैतिक, आध्यात्मिक जैसे पदों का प्रयोग बीज पदों के रूप में करते हैं। यह आध्यात्मिकता ही वह बीज है जिससे उनकी सामाजिकी अंकुरित-पल्लवित होती है। इसीलिए *स्वराज्य* को अपने सम्पूर्ण जीवन और लेखन की अन्तर्वस्तु मानने वाले प्रेमचन्द उसे पाने का अर्थ अपनी आत्मा को पा जाना मानते हैं। क्योंकि उसी से भारतीय जीवन का पुनरुद्धार सम्भव है और उसका सर्वोपरि साधन है : *स्वावलम्बन अर्थात् अपने देश की सब जरूरतों को अपने आप पूरा कर लेना और स्वाधीन व्यक्ति से उनका तात्पर्य है वह प्राणि जो अपने खेत का अनाज खाता है, अपने काते हुए सूत से कपड़ा पहनता है और अपने झगड़े-बखेड़े अपनी पंचायत में चुका लेता है। महात्मा गाँधी की तरह प्रेमचन्द भी अंग्रेजी शिक्षा के*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी आत्मा को कुचलने वाली तथा हमें कौड़ी का गुलाम बनाने वाली बताते हुए टिप्पणी करते हैं कि जिनकी आत्मा ही दब गई वे स्वराज और स्वाधीनता की कल्पना ही नहीं कर सकते। (वही, पृ. 78)

इस उद्धरण में प्रेमचन्द का वह अध्यक्षीय वक्तव्य भी अन्तर्ध्वनित सत्य के साथ मौजूद है जो उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में दिया था कि *साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है, और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं।* आचार्य जी ने विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि प्रेमचन्द कला को आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी मानते हैं। साथ ही यह ध्यान भी दिलवाया कि भारतीय साहित्यशास्त्र में साहित्य का प्रयोजन रसानुभूति के साथ शिवेतरक्षतये रहा है। यही बात रवीन्द्रनाथ और अज्ञेय जी घुमा-फिराकर कहते हैं। प्रेमचन्द ईश्वर में आस्था-विश्वास नहीं रखते—जैनेन्द्र रखते हैं। दोनों अपने-अपने मिजाज से गाँधी-दर्शन में आस्था रखने वाले लेखक हैं। क्या अद्भुत विडम्बना है कि ईश्वर में अविश्वास रखने वाले प्रेमचन्द हस्तरेखाशास्त्र में पूरी आस्था प्रदर्शित करते हैं। (वही, पृ. 81) इस तरह के अनुसन्धानपरक तुलनात्मक दृष्टि के निबन्ध-लेखन में नन्दकिशोर आचार्य बड़े उस्ताद हैं। *गोताखोर* की तरह साँस साधकर गहरे तक गोता लगाते हैं और तह में पड़े विचार के मोती को लाकर पाठक को समृद्ध करते हैं।

पं. विद्यानिवास मिश्र के साहित्य-चिन्तन पर आचार्य जी ने निबन्ध लिखा है–*रचना के अन्तरंग की पहचान* इस निबन्ध-संग्रह का शीर्षक इसी निबन्ध से जुड़कर सामने आया है। यहाँ मुग्धभाव से नन्दकिशोर आचार्य ने लिखा है कि *पं. विद्यानिवास मिश्र का साहित्य-चिन्तन जितना गहरा और विशद् है उनकी व्यावहारिक आलोचना भी उतनी ही मर्मभेदी और अन्तर्दृष्टिपूर्ण। सख्यभाव, आत्मीयता की तलाश और समग्र के साथ भावात्मक बोध की जो बात वह अपने साहित्य-चिन्तन में करते हैं, उसी का अनुसंधान वह अपनी व्यावाहारिक आलोचना में भी करते हैं। वह यह भी पाते हैं कि भाषा-मर्मज्ञ विद्यानिवास मिश्र हिन्दी को आत्मदान की भाषा मानते हैं। वह इन जनभाषाओं को हिन्दी का स्रोत मानते हैं और उन्हें युगों-युगों के अनुभव की जीती-जागती दीपशिखाएँ कहते हैं।*

भाषा साहित्य की परम्परा के सूत्र संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश से जोड़ते हुए विद्यानिवास पन्त, निराला, अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल आदि को साहित्यिक सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ते हैं। वह साहित्य को काल-खंडों, सम्प्रदायों में विभक्त कर देखने का विरोध करते हैं। पूरे हिन्दी के मध्यकाल को उसकी निरन्तरता में परखते हुए उसे लोकमंगल का युग मानते हैं। भक्तिकाव्य, भक्तिशास्त्र, भक्ति रस के विश्लेषण में विद्यानिवास मिश्र ने अपूर्वता का परिचय दिया है। इस तरह के मूलगामी चिन्तन से नन्दकिशोर आचार्य हृदय-संवाद स्थापित करते हैं। अज्ञेय जी के अभिन्न सखा मिश्र जी को नन्दकिशोर आचार्य ने पूरी तन्मयता से पढ़ा है और उनके चिन्तन से उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरा साधारणीकरण उनमें घटित हुआ है। आस्वादपरक आलोचना के विद्यानिवा मिश्र हिन्दी में प्रतिमान हैं।

आचार्य जी ने *मुक्तिबोध के सौन्दर्यशास्त्रीय सवाल* शीर्षक निबन्ध में मुक्तिबो के अन्वेषी व्यक्तित्व की गहराई से चर्चा की है। जीवन-भर मुक्तिबोध साहित्य के वस्तु और रूप कला पर विचार करते हैं। रचनावली में वस्तु और रूप निबन्ध के चा ड्राफ्ट मिलते हैं।—उनमें कुछ चीज़ें समान हैं, कुछ भिन्न। ड्राफ्ट के मंथन से प चलता है कि वस्तु और रूप के प्रश्न मुक्तिबोध को परेशान करते रहे। प्रश्न उठ है कि क्या वस्तु और रूप के प्रश्नों का वे एक यूनिर्वसल एस्थेटिक्स बनाने क अरमान रखते थे। निबन्धों में वह रचना-प्रक्रिया के तीन क्षणों की बात करते हैं औ जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचियों पर प्रहार करने का संकल्प सामने लाते हैं। वह इस सवा वर्गीय चेतना से जोड़ते हैं। समाजशास्त्री कहते हैं कि वर्गीय अभिरुचियों को केव आर्थिक स्तर पर ही नहीं समझा जा सकता, बल्कि अभिरुचि भी वर्ग का निर्मा करती है और कुछ खास तरह के सौन्दर्य प्रतिमान निर्मित करती है।

आचार्य जी वर्गीय अभिरुचियों की दृष्टि से मुक्तिबोध के रचना-कर्म पर विचा करने का मन बनाकर कहते हैं—इस कार्य की सौन्दर्याभिरुचि किस तरह की है उसका सम्बन्ध किस वर्ग से है? यह प्रश्न भी उठाते हैं कि कवि के रूप में मुक्तिबो की जो सौन्दर्याभिरुचि है और जिस तरह का फार्म वह विकसित करते हैं इसमें औ जो *परसोना* वह विकसित करते हैं और समाज में जो सौन्दर्याभिरुचि है, उसमें कु तालमेल दिखाई देता है क्या?

आचार्य जी पाते हैं कि सिर्फ वर्गीय चेतना से जोड़कर मुक्तिबोध देखते हैं, तं उसमें कुछ अधूरापन रह जाता है। सार-संक्षेप यह है कि आचार्य जी का यह निबन ग.मा. मुक्तिबोध के चिन्तन पर कई सवाल उठाता है। बेहद असुविधाजनक सवा जिनसे मार्क्सवादी चिढ़ते हैं और आचार्य जी को भाववादी चिन्तन का निबन्धका कहते हैं। लेकिन आचार्य जी हैं कि उनकी परवाह नहीं करते। नन्दकिशोर आचार्य के चिन्तन का अटूट विश्वास उनके विरोधियों को बहुत कष्ट देता रहा है।

डॉ. लोहिया और हिन्दी साहित्य आचार्य जी का मौलिक सूझ-बूझ से उपज अनुसंधानात्मक निबन्ध है। इसी प्रकृति का दूसरा निबन्ध इस संग्रह में है—*शल्य हिन्दी की दार्शनिक सर्जनात्मकता*। हिन्दी के अकादमिक बौद्धिक क्षेत्र में इस ढंग के भारतीय चिन्तकों पर निबन्ध बहुत कम लिखे गए हैं। इस क्षेत्र में आचार्य जी की पहल का विशेष महत्त्व है। पश्चिमी आधुनिकता के अनुकरण से दूर इन निबन्धों में कोई सांस्कृतिक दुचितापन नहीं है। यहाँ आत्माधिकार से मुक्त चिन्तन का खुल प्रवाह है जिसके भीतर से उजली भारतीयता झाँकती मिलती है।

आचार्य जी ने लिखा है कि *हिन्दी समाज और बौद्धिक वर्ग को न केवल इस पर गर्व होना चाहिए कि यशदेव शल्य हिन्दी भाषा की दार्शनिक सृजनशीलता के फ भी है, और माली-भी बल्कि, उससे भी अधिक उसमें न केवल अपने कर्तव्य-बोध बल्कि*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने सृजनात्मक स्वातन्त्र्य की इस आवश्यकता का अनुभवबोधक होना चाहिए कि मौलिकता अपनी सर्जनात्मकता की पुष्टि में ही है, अनुकरणगामी बौद्धिक प्रक्रियाओं में नहीं, यदि मौलिकता, सृजनात्मक स्वातन्त्र्य के लिए कोई मूल्य है। (वही, पृ. 106)

महादेवी वर्मा के रचना-कर्म को लेकर हिन्दी आलोचना ने बेहद पीड़ादायक स्थिति का परिचय दिया है। उनकी रचना-दृष्टि पर सांस्कृतिक नवजागरण के प्रकाश में विचार ही नहीं किया गया। केवल इन पर फ्रायडवादी, रहस्यवादी पर्दा डाला गया जिससे उनके चिन्तन को यथार्थ दिया गया। इस पीड़ादायक स्थिति से थककर ही नन्दकिशोर आचार्य ने *महादेवी : स्थूल में सूक्ष्म की तलाश* शीर्षक विचारोत्तेजक निबन्ध लिखा है। महादेवी का एक लम्बा उद्धरण देने के बाद कहा—*जिस रचनाकार को रहस्यवादी या जीवन के स्थूल रूप से पलायन करने वाली प्रवृत्ति की पोषक कहकर निन्दा की जाती रही हो, सूक्ष्म और स्थूल से स्वयं उसका तात्पर्य क्या है? इसे जान लेना आवश्यक है।* (वही, पृ. 108)

स्थूल एवं सूक्ष्म की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा कि दरअसल, रहस्यवाद पद के रूढ़ार्थ ने महादेवी के रचना-संसार के चारों ओर एक कुहासे से घेर दिया है, जिसे भेदकर ही उनके रचना-कर्म तक पहुँचा जा सकता है। ध्यान में रखना होगा कि रहस्यवाद से महादेवी का तात्पर्य किसी योगसिद्ध रहस्यानुभूति से नहीं, बल्कि जीवन की एकता के भाव से है। इस तरह पूरे निबन्ध-चिन्तन में महादेवी की रहस्यानुभूति से तात्पर्य अध्यात्म-बोध लिया गया है, एक बिल्कुल नए विमर्श के साथ। यहाँ आचार्य जी ने एरिकफ्राम के उस विचार का हवाला दिया है जिसमें जीवन-जगत् से एकात्मकता बनाए रखने का सर्वाधिक प्रभावशाली उपाय प्रेम को माना गया है। यह चिन्तन *मानुष प्रेम भयो वैकुंठी* चिन्तन का ही विस्तार है जिसमें भाव परिष्कार की उदारता रहती है। आचार्य जी ने गहराई में डूबकर यह विचार व्यक्त किया है कि उनकी आध्यात्मिकतता दरअसल महात्मा गाँधी की आध्यात्मिकता की परम्परा में है जिसमें प्रेम और करुणा भी उतने ही वरेण्य हैं जितना अन्याय से विद्रोह। (वही, पृ. 113)

आज कहा जा सकता है कि महादेवी वर्मा पर लिखा यह हिन्दी में एक अद्‌भुत निबन्ध है। *सृजन एक संवेदनात्मक अन्वेषण है* शीर्षक निबन्ध में आचार्य जी ने डॉ. ब्रजरतन जोशी से बातचीत में *वैचारिक या सृजनात्मक लेखन में एक नजरिया* पर विचार प्रस्तुत किया है। यह भी माना है कि यह नजरिया सभी जगह प्रतिबिम्बित होता है—*चाहे सामाजिक कार्य हो या सृजनात्मक उपक्रम। साथ ही यह भी माना कि स्थूल राजनीतिक-सामाजिक मुद्दों पर लेख तो लिखा जा सकता है, उन पर उत्कृष्ट कविता लिखना सम्भव नहीं।* इस सन्दर्भ में शमशेर के ठोस उदाहरण से अपने विचार को पुष्ट किया है। बड़ी बात यह है कि नन्दकिशोर आचार्य के इन निबन्धों में अमूर्त्तता नहीं है, धारदार विचारों का मूर्त्त रूप है और विचार की स्पष्टता एवं तार्किकता के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रेषणता कहीं भी बाधित नहीं है। जो विचार, मत या वाद आचार्य को भाता नहीं है, उस पर वे चुप नहीं रहते—शालीन भाषा में अपना विरोध दर्ज अवश्य कराते हैं। कथन का ऐसा संयम हिन्दी निबन्ध में आज बहुत कम नसीब है। *स्वतन्त्रता के अन्वेषी थे अज्ञेय; सृजन एक संवेदनात्मक अन्वेषण* और *अनुभूत्यात्मक अन्वेषण है साहित्य* जैसे साक्षात्कार हो या *भाषा में अविचार;* हम पाते हैं कि आचार्य जी में मैं का गरजता *घन घमंड* नहीं है।

एक पक्ष की ओर आपका ध्यान और खींचना चाहता हूँ—जैसा कि *विरचनात्मक निर्मित है पाठ* निबन्ध है या उनका निबन्ध है *साहित्य अध्ययन के अन्तर अनुशासनिक तुलनात्मक आयाम।* उनको पश्चिमवाद का दर्शन और समीक्षा सैद्धान्तिकी आतंकित नहीं करती है। वह अपनी परम्परा संस्कृति की भूमि पर स्थित होकर उस पर विचार करते हैं। *विरचनात्मक निर्मिती है पाठ* का आरम्भ देखिए *एक साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में संरचनावाद अर्थ की निश्चितता का अर्थ भाषा की सम्भावनाओं का ही नहीं पढ़त या पाठ की सर्जनात्मकता का भी अस्वीकार है जिसका राजनीतिक प्रतिफलन मानवीय चेतना के विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध हो जाना है।* (रचना का अन्तरंग पृ. 22) संस्कृति कोई जड़ वस्तु नहीं है। प्रत्येक संस्कृति का अपना निश्चित अर्थ है।

संरचनावादी काव्यशास्त्र या साहित्यिक सैद्धान्तिकी गहरे स्तरों पर सृजनात्मकता को ही अस्वीकार करती है। उत्तर-संरचनावाद की स्थापनाओं में केन्द्रीय अर्थ का अस्तित्व ही नहीं है। आचार्य जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उत्तर-संरचनावाद एक प्रकार की अनेकान्तवादी साहित्यिक सैद्धान्तिकी है। वह इस सन्दर्भ में बौद्ध दर्शन पर विचार करते हैं और जैन दर्शन के अनेकान्तवादी सैद्धान्तिकी पर भी। वह प्रश्न उठाते हैं कि क्या कृति केवल एक खूँटी है जिस पर पाठक अपना अर्थ टाँग देता है? मूल विचार यह कि नन्दकिशोर आचार्य ने देरीदाँ और मिशेल फूको के विचारों से अपनी असहमतियाँ प्रस्तुत करते हुए भारतीय चिन्तकों के विमर्शों को मथा-परखा है। इस तरह वह *बाबा वाक्य प्रमाण* को अस्वीकार करते हैं। विश्व-भर में उठने वाले विमर्शों पर चाहे नारी-विमर्श हो, दलित-विमर्श हो, उनकी निगाह रही है। उनका चौंकन्नापन पाठक को इन निबन्धों में चकित करने वाला है।

भाई नन्दकिशोर आचार्य ने *रचना का अन्तरंग* के निबन्धों को चित्त समाधि लगाकर लिखा है। नतीजा यह हुआ कि इन निबन्धों की वैचारिक अन्तर्योजना खंडित नहीं है। इन निबन्धों से साहित्य के पाठकों को चिन्तन की नवीन दृष्टि मिलेगी। आचार्य जी के ये निबन्ध पुनः उन शंकाओं, प्रत्ययों, प्रश्नों की ओर लौटने को प्रेरित करते हैं, जो भारतीय सभ्यता, संस्कृति, दर्शन के केन्द्रीय भाव रहे हैं।

रचना का अन्तरंग : नन्दकिशोर आचार्य, सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर-334005, मूल्य : तीन सौ रुपए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा और संस्कृति की साझेदारी**

महेश दुबे*

भाषा मनुष्य की श्रेष्ठतम निर्मिति है। भाषा ने ही मनुष्य को गरिमा प्रदान की है। भाषा सभ्यता के विकास-क्रम की एक महत्त्वपूर्ण शृंखला है। यह सच है कि भाषा का विकास अपने-आप होता है—पर इस विकास-क्रम पर भौगोलिक परिस्थितियों, ऐतिहासिक कारणों, आर्थिक व्यवस्थाओं, सामाजिक संरचनाओं और धार्मिक परम्पराओं का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। भारत में सामन्ती व्यवस्थाओं और उसके अन्तर्गत विकसित सामाजिक पद्धतियों पर धर्म का प्रभाव विशेष रूप से लक्षित किया जा सकता है-जिसका सीधा असर भाषा के विकास में भी देखा जा सकता है। संस्कृत हमारे लिए देवभाषा है तो उर्दू को नबी की जबान कहा जाता है। इन सन्दर्भों से हिन्दी-उर्दू और दक्खिनी हिन्दी के विकास की गाथा के कई आयाम हैं—जिनका आकलन एक व्यापक फलक पर ही सम्भव है।

'इतिहास का सच और हिन्दी-उर्दू तथा दक्खिनी हिन्दी' डॉ. कृपाशंकर सिंह की नई पुस्तक है जिसके आठ अनुभागों में इतिहास के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी-उर्दू तथा दक्खिनी हिन्दी के विकास की कहानी के विभिन्न पक्षों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया गया है। पुस्तक में दिए गए परिशिष्ट-1 में 'कविता का तिलिस्म' शीर्षक चौंकाता अवश्य है कि भाषा विषयक विश्लेषण में कविता के तिलिस्म पर विवेचना कितना प्रासंगिक है? पर, तभी कॉलरिज का कथन याद आता है कि कविता तो सबसे अच्छी भाषा है। कविता में ही मनुष्य भाषा के स्तर पर सम्पूर्णता प्राप्त करता है। कविता और भाषा एक दूसरे से फूल और गन्ध की तरह

*प्रो. महेश दुबे, 1102, साईं-अंश प्लॉट नं. 7, सेक्टर-11, सानपाडा, नवी मुम्बई 400705, महाराष्ट्र; मो. 09322013444

**इतिहास का सच और हिन्दी-उर्दू तथा दक्खिनी हिन्दी, डॉ. कृपाशंकर सिंह; प्रथम प्रकाशन 2011, नमन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली 110003

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गुम्फित हैं। यहाँ डॉ. सिंह का आग्रह है कि कविता की सम्पूर्ण संरचना को एक इकाई के रूप में देखा जाना चाहिए। परिशिष्ट-2 में हमारे समय के अत्यन्त प्रखर और मौलिक आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा की भाषा विषयक मान्यताओं को लेकर विचारोत्तेजक चर्चा की गई है–

डॉ. सिंह की इस शोधपरक प्रस्तुति के कुछ मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं:

1. खड़ी बोली का उद्गम अपभ्रंश में है।
2. हिन्दी के व्यापक प्रचार और प्रसार में सूफियों ने बहुत मदद की। उनकी हिन्दवी के परिनिष्ठित स्वरूप को ही बाद में हिन्दी का नाम दिया गया। यदि वे फारसी की बजाय देवनागरी में लिखते तो उनका प्रभाव और अधिक होता। खुसरो की कविता में दिल्ली की खड़ी बोली का जो स्वरूप मिलता है, वह आरम्भिक खड़ी बोली का मँजा हुआ सुथरा रूप है।
3. दक्खिनी हिन्दी की रचनाएँ उर्दू के आरम्भिक रूप की नहीं है, क्योंकि भाषा के रूप में उर्दू की पहचान 1800 के बाद से ही होती है।
4. हिन्दी और उर्दू मूलतः एक ही भाषा हैं। इनके बीच मतभेद उत्पन्न करने के प्रयास अंग्रेजों के हैं, जो फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से प्रारम्भ हुए और इसमें प्रो. गिलक्राइस्ट की सक्रिय भूमिका थी। अंग्रेज 'हिन्दू मुस्लिम दो नेशन हैं' के सिद्धान्त को आगे बढ़ा रहे थे और इसलिए जबान में अलगाव पैदा करना जरूरी था। अंग्रेजों ने इस कार्य के लिए मुस्लिम नेतृत्व में से सर सैयद अहमद खाँ को चुना।
5. भारतेन्दु नव जागरण काल में भारतीय अस्मिता के प्रतीक हैं। उनकी रचनाओं में देश और समाज की तत्कालीन दुर्दशा प्रतिबिम्बित होती है।
6. अंग्रेज सरकार हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं के पठन-पाठन को हतोत्साहित करने के प्रयास करती रहती थी।

पुस्तक की प्रस्तुति रोचक, प्रभावी और विचारोत्तेजक है। यह एक शोधपरक रचना है, जिसमें लेखक ने पर्याप्त साहित्यिक तटस्थता के साथ–तर्क और उद्धरणों सहित विश्लेषण और विवेचना प्रस्तुत किया है। पुस्तक की शैली सुसंगत और व्यवस्थित है। डॉ. सिंह अनावश्यक विस्तार से बचते हुए सारगर्भित रूप में अपने लक्ष्य और निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं और हिन्दी के विकास-क्रम का प्रामाणिक विवरण देते हैं–अपनी इस संक्षिप्त-सी पुस्तक में–जो 'देखन में छोटी लगै–पर बात कहे गम्भीर'।

किसी भी युग में भाषा दो स्तरों पर दो प्रारूपों में पाई जाती है। एक तो जन-सामान्य की बोली के रूप में और दूसरी अपने परिष्कृत, परिनिष्ठित साहित्यिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्करण में। इन सन्दर्भों से खड़ी बोली के क्रमिक विकास का एकरेखीय प्रारूप कुछ इस प्रकार से दर्शाया जा सकता है–

संस्कृत → जनपदीय पाली → प्राकृत → अपभ्रंश → अवहट्ट → पुरानी हिन्दी → खड़ीबोली

11वीं शताब्दी तक अपभ्रंश का प्रभुत्व शिखर पर था। उसके बाद पुरानी हिन्दी विकसित हुई, जिसने धीरे-धीरे आधुनिक खड़ी बोली का रूप ले लिया।

हिन्दी का आद्य-स्वरूप सिद्धों और नाथों की रचनाओं में देखा जा सकता है। सरहपा या सरोरूह वज्र (8वीं शताब्दी) को हिन्दी का आदिकवि माना जा सकता है। गोरखनाथ (9वीं शताब्दी) की सहज और सरल रचनाओं में उस समय की प्रचलित प्रारम्भिक हिन्दी का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। अपभ्रंश और हिन्दी की निकटता का परिचय सरहपा से लेकर नामदेव और कबीर की निर्गुण रचनाओं में देखा जा सकता है–जिससे भाषा की एक समृद्ध परम्परा की निरन्तरता की जानकारी तो मिलती ही है, साथ ही हिन्दी के क्रमिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का भी परिचय मिलता है। विद्यापति ने भी संस्कृत से हटकर अवहट्ट में 'कीर्तिलता' की रचना की है। अनुमान है कि अवहट्ट 14वीं शताब्दी के समय में प्रचलित साहित्यिक भाषा थी। इसे परिनिष्ठित अपभ्रंश के बाद की भाषा माना जाता है। कुछ विद्वान इसे अपभ्रंश का ही एक रूप मानते हैं। जो भी हो अवहट्ट में भारतीय आर्य भाषाओं का पूर्व रूप सुरक्षित है। डॉ. सिंह अवहट्ट को अपभ्रंश से हिन्दी के रूपान्तरण की प्रक्रिया में एक कड़ी मानते हैं। आरम्भिक हिन्दी की रचनाओं में डॉ. सिंह 'प्राकृत पैंगलम' और 'ढोला मारू रा दूहा' का भी उल्लेख करते हैं–जिनकी भाषा को पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है।

सन्तों की सामाजिक भूमिका की चर्चा करते हुए, डॉ. सिंह हिन्दी के विकास में उनके योगदान को स्वीकार करते हैं। उनका यह भी मानना है कि, मुस्लिम धर्मान्तरण में हिन्दू धर्म व्यवस्था की कोई भूमिका नहीं थी। संतों के प्रभाव से निचली जातियों की एक बड़ी संख्या इस्लाम अंगीकार करने से विरत रही।

नाथ और सिद्धों की रचनाओं से अलंकृत हिन्दी की मिठास ने सूफ़ियों के अन्तरमन को मोह लिया था। उन्होंने इस मिली-जुली भाषा में अपनी रचनाओं के साथ भारत के सामाजिक जीवन में प्रवेश किया। उनकी इस भाषा को फारसी बोलने वाले हिन्दवी कहते थे। यही खुसरों की भाषा थी। बाबा फरीद और शेख हमीदुद्दीन नागौरी की रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 13वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक आते-आते हिन्दवी पूरी तरह से एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित हो चुकी थी, जो साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न थी। इसी भाषा के परिमार्जित स्वरूप को बाद में हिन्दी का नाम दिया गया। मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' और जायसी की 'पद्मावत' में उस युग की भाषा का सुन्दर रूप मिलता है। अब्दुल कुद्दूस गंगोही (1456-1537)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के 'मुर्शिदनामा' में उनकी हिन्दी रचनाएँ संकलित हैं, जिनमें भविष्य की निखरी हुई हिन्दी की पदचाप सुनाई देती है–

आप गँवाये पिउ मिले पी खोवे सब जाय।
अकथ कथा यह प्रेम की जो कोई बूझे पाय॥

शाह बरकत उल्लाह 'पेमी' की रचनाओं को पढ़कर लगता है कि हिन्दी का प्रास्फुटिक आविर्भाव ज्यादा दूर नहीं था। मैं उदाहरण के लिए उनका यह दोहा यहाँ उद्धृत करना चाहूँगा–(यद्यपि डॉ. सिंह ने इसे उद्धृत नहीं किया है)–

नर नारी गावैं सबहिं आयो फागुन मास।
हौं अकेलि देखूं जरूं लेहुं सांस पर सांस॥

अपनी संरचना, शब्द-विन्यास और अभिव्यक्ति में हिन्दी से इसकी निकटता स्पष्ट है।

नूर मोहम्मद फारसी में 'कामयाब' के नाम से कविता लिखते थे, पर हिन्दी में भी काव्य रचना को महत्त्वपूर्ण मानते थे।

अमीर खुसरो (1236-1324) की भाषा ने खड़ी बोली के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी भाषा को 'जबान-ए-देहलवी' या हिन्दवी कहा गया है। खुसरो की हिन्दवी रचनाएँ लिखित रूप में प्राप्त नहीं होतीं–वाचिक परम्परा में लोक-मुख के माध्यम से हम तक आई हैं। इसलिए उनकी भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है।

दक्षिण का साहित्य हिन्दी की बहुत बड़ी निधि है। दक्खिनी, दकनी या दखनी से आशय उस भाषा से है, जिसका प्रयोग दक्षिण के बहमनी वंश तथा बीजापुर, गोलकुंडा और अहमदनगर से सम्बन्धित मुसलमान कवियों और लेखकों ने 13वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक किया। यह भाषा इन राज्यों में राज्यभाषा की तरह समादृत थी।

'दक्खिनी हिन्दी' शीर्षक से लिखे अपने सारगर्भित अध्याय में डॉ. सिंह ने दक्षिण भारत में हिन्दी साहित्य की स्थिति की चर्चा की है। उनके अनुसार दक्षिण में हिन्दी–

–नाथ पंथी योगियों द्वारा

–अलाउद्दीन खिलजी से प्रारम्भ हुए सैन्य अभियानों के सैनिक दलों द्वारा, और

–मध्य युगीन सन्त समुदाय द्वारा ले जाई गई। इसलिए उस पर उत्तर भारत की बोलियों का प्रभाव है ही साथ ही उसमें तेलगू, मराठी, कन्नड शब्दों के साथ अरबी और फारसी के शब्द भी पाए जाते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस भाषा की लिपि फारसी थी। डॉ. सिंह दक्खिनी के कई साहित्यकारों की रचनाओं से उद्धरण लेकर दक्खिनी हिन्दी के स्वरूप से हमें परिचित कराते हैं। वे श्रीरामशर्मा के कार्य का उल्लेख करते हैं और दिल्ली की हिन्दी तथा दक्खिनी हिन्दी के वैयाकरणिक साम्य को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शाते हुए, उसे हिन्दी की एक बोली के रूप में माने जाने पर जोर देते हैं। डॉ. सिंह का मानना है कि, सुलतान मोहम्मद कुल्ली कुतुबशाह (1580-1612) की सरल, आडम्बरहीन, हिन्दू रूपकों की बहुलता और भारतीय उपमाओं से अलंकृत–ठेठ हिन्दुस्तानी मिजाज की कविताओं ने फारसी के प्रभाव को दरकिनार करते हुए, दक्खिनी हिन्दी के काव्य को नई ऊँचाइयाँ दीं। इसी क्रम में वे वली को भी याद करते हैं।

डॉ. सिंह ने पर्याप्त तथ्यात्मक सारगर्भिता के साथ और प्रामाणिक उद्धरणों से अपने तर्कों को पुष्ट करते हुए, मुगल शासन में हिन्दी के विकास के प्रयासों को रेखांकित किया है। वे ताटस्थिक स्पष्टता के साथ उर्दू के जन्म और भाषा की राजनीति पर अपने विचार रखते हैं। उन्होंने हिन्दी-उर्दू अलगाव की राजनीति के सन्दर्भ में सर सैयद की भूमिका का निष्पक्षता के साथ विश्लेषण किया है और हिन्दी के नव जागरण काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के योगदान की भी विस्तार से चर्चा की है। अपनी प्रस्तुतियों में ये अनुभाग रोचक ऐतिहासिकता लिए हुए हैं और विचारोत्तेजक भी हैं।

डॉ. सिंह विशेषरूप से नजीर अकबराबादी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि नजीर जितने उर्दू के कवि हैं, उससे कहीं अधिक वे हिन्दी के समीप हैं। उनकी भाषा को डॉ. सिंह सौ फीसदी हिन्दी मानते हैं। डॉ. सिंह के अनुसार ईस्वी खाँ बहादुर की ललित गद्य रचना की भाषा दक्खिनी और परिमार्जित खड़ी बोली के बीच की शृंखला है।

1857 के एक लोकगीत में कहा गया है–

उर्दू लूटा दरीबा लूटा, लूटा मालीवाडा
गुड्वालों की कोठी लूटी, लूटा मन्दिर सारा

इससे मालूम होता है कि लाल किले के आसपास का क्षेत्र उर्दू के नाम से जाना जाता था। दरअसल–उर्दू मूलतः एक तुर्की शब्द है, जिसका अर्थ है शाही शिविर। अनुमान है कि अपने इसी अर्थ में यह शब्द बाबर के साथ हिन्दुस्तान में आया होगा। अपने इस अर्थ से एक भाषा विशेष की संज्ञा तक इसकी यात्रा का इतिहास लम्बा और रोचक है। शाहजहाँ ने अपनी राजधानी आगरा से दिल्ली बदली और शाहजहाँनाबाद नाम से नई दिल्ली बसाई।

फौज के साथ एक बड़ा बाजार भी हुआ करता था–जिसे 'उर्दू-ए-मुअल्ला' कहा जाता था। यहाँ प्रचलित बोली को ही धीरे-धीरे उर्दू कहा जाने लगा। रेखता, उर्दू का पुराना नाम है, जिसका अर्थ है मिश्रित या मिला-जुला। मुगल शासन में हिन्दवी में फारसी शब्दों के प्रयोग के कारण इसे रेखता कहा जाने लगा था। मौलवी मोहम्मद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुसैन आजाद ने उर्दू साहित्य के विकास पर लिखे अपने ग्रन्थ 'आबेहयात' में लिखा है :

> "संस्कृत और ब्रजभाषा की मिट्टी से उर्दू का पुतला बना है। बाकी दूसरी जबानों के शब्दों ने खत और खाल का काम किया है।"

मौलवी अब्दुल हक ने भी उर्दू को—'खालिस हिन्दी जबान' कहा है। डॉ. सिं का मानना है कि उर्दू हिन्दू और मुसलमानों की सम्मिलित जमात से पनपी औ विकसित हुई।

डॉ. सिंह उर्दू और हिन्दी के अलगाव के लिए सीधे-सीधे अंग्रेजों को दो ठहराते हैं। उनके अनुसार फोर्ट विलियम कॉलेज के गिलक्राइस्ट ने इसे आगे बढ़ाया सर जॉन गिलक्राइस्ट (1759-1841) उर्दू को हिन्दुस्तानी की दरबारी शैली मानते थे फोर्ट विलियम में हिन्दुस्तानी के नाम से इसी का अध्ययन-अध्यापन होता था गिलक्राइस्ट इसे हिन्दी, उर्दुवी और रेखता भी कहते थे। हिन्दवी को वे केवल हिन्दुओं की भाषा मानते थे और उसे गँवारू कहा करते थे। इस भाषायी अलगाव को आ बढ़ाने के लिए, अंग्रेजों ने मुसलमानों में से सर सैयद अहमद खाँ को चुना और उन्हों यह कार्य बखूबी निभाया।

1880 के बाद सर सैयद के विचारों में आया विस्मयकारी परिवर्तन हमें चौंका है। डॉ. सिंह कहते हैं कि इन परिवर्तनों को राजनीति के एक चतुर और मजे हु खिलाड़ी के कथन के रूप में लिया जाना चाहिए। वास्तव में सर सैयद ब्रिटिश स के सबसे प्रबल समर्थक मुसलिम नेता थे। मार्च, 1888 में मेरठ में दिए उनके व्याख्या की ये पंक्तियाँ उनकी मनोवृत्ति को दर्शाती हैं :

> It is therefore necessary that for the peace of India and for th progress the English Government should remain for man years... in fact for ever.

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर भी ब्रिटिश सत्ता के प्रशंसक होने का आरोप लगता रहा है। डॉ. सिंह, भारतेन्दु की रचनाओं के माध्यम से उनकी व्यंग्यात्मक और प्रतीकात्म शैली की चर्चा करते हुए, लिखते हैं कि : "भारतेन्दु ने ब्रिटिश सत्ता की जड़ों पर प्रहा करने वाली जो आलोचना की थी, वह अपने आप में बड़ा साहसिक कदम था। उन्हों अंग्रेजों के फूट पैदा करने वाले हर नीतिगत कदम की भर्त्सना की है।" भारतेन्दु क तेजधार की पत्रकारिता की प्रशंसा करते हुए, वे लिखते हैं : "उनकी साहित्य साध स्वदेश और समाज के इर्द-गिर्द घूमती है। समाज और देश की चिन्ता उनके लि सर्वोपरि रही है।"

हिन्दी के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्हों हिन्दी की शब्द-सम्पदा में वृद्धि की और भाषा की अभिव्यक्ति को नई सम्प्रेषणीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदान करते हुए उसे सामाजिक जीवन के यथार्थ से जोड़ा। फलस्वरूप हिन्दी उत्तरोत्तर समर्थ होती गई। पत्र-पत्रिकाओं की स्वतन्त्रता के संग्राम में भी अग्रणी भूमिका थी। ये जन-चेतना और राष्ट्रीय भावना के प्रमुख संवाहक थे। 'उदन्त मार्त्तण्ड', 'बंगदूत', 'हिन्दी बंगवासी', 'भारतमित्र', 'मतवाला' और 'सरस्वती' जैसी पत्र-पत्रिकाएँ उस समय अत्यन्त लोकप्रिय थीं। देव नागर पत्र ने सभी भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की आवश्यकता पर जोर दिया।

कोई भी कृति अपने आप में सम्पूर्ण नहीं होती। उसमें बहुत कुछ छूट जाता है। पुस्तक में प्रस्तुत सामग्री और उसके विस्तार की सीमा लेखक की वैचारिक स्वायत्तता है। पर पाठक की भी कुछ अपेक्षा रहती है। मैं, एक सामान्य पाठक की हैसियत से–अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कुछ तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, जिनका उल्लेख इस पुस्तक में किया जा सकता था–

1. सिद्धों की भाषा को 'संध्या भाषा' कहते हुए डॉ. सिंह ने लिखा है कि : 'संध्या से अभिप्राय क्या था, यह बहुत साफ नहीं होता।

   यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक होता कि विधुशेखर शास्त्री और प्रबोधचन्द्र बागची के कार्यों के बाद अब यह माना जाने लगा है कि सही शब्द 'सन्धा' है, जिसका अर्थ है अभिसन्ध युक्त, अभिप्राय युक्त। तान्त्रिक युग में भाषा के मन्त्र प्रधान और रहस्यात्मक स्वरूप को सन्धा भाषा का नाम दिया गया है।

2. 'हिन्दी के विकास की प्रारम्भिक रूपरेखा' में अपभ्रंश की विशेषताओं की चर्चा उसके ध्वनिविकास, व्याकरण और शब्द भण्डार के सन्दर्भों से भी की जानी चाहिए थी।

3. खुसरो के छन्दबद्ध कोश 'खालिकबारी' के सन्दर्भ में यह उल्लेख करना उचित होता कि कुछ लोग इसे 17वीं शताब्दी के जियाउद्दीन खुसरो की रचना मानते हैं।

4. 1398 में कुतुब आलम और शेख अहमद सूफी मत के साथ हिन्दवी भी गुजरात ले गए थे। वहाँ के स्थानीय वातावरण से प्रभावित इस भाषा की एक गुजराती शैली विकसित हुई थी–जो गुजरात और काठियावाड़ में प्रचलित थी। हिन्दवी की इस शैली में लिखी गई रचनाओं में खूब मुहम्मद हुसेन की 'खूब तरंग' और अमीम की यूसुफ जुलेखा बहुत प्रसिद्ध हुई। इसी प्रकार मध्यदेश की भाषा ग्वालेरी भी हिन्दी के विकास-क्रम की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। पुस्तक में इन दोनों शैलियों का उल्लेख उचित होता।

5. डॉ. सिंह ने वली की चर्चा की है। इसी सन्दर्भ में वली के कुछ नए प्रयोगों का उल्लेख प्रासंगिक होता–जैसे संस्कृत के चरण-चिह्न से उन्होंने नक्श-ए-कदम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाया। कहीं-कहीं वली नक्श-ए-चरन भी लिखते हैं :

चाहो कि पी के पग तले अपना वतन करो
अव्वल अपस कूँ अजल में नक्श-ए-चरन करो

इसी प्रकार ईस्वी बहादुर की भाषा में—सीतल, पवन, कंचन बरन, संचित, स्तुत, कोमलता, कोकिल, सुकुमारता जैसे संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के प्रयोग की ओर ध्यान आकर्षित किया जाना चाहिए था।

6. डॉ. सिंह लिखते हैं कि 'भाषा की संज्ञा के रूप में उर्दू का प्रयोग कब शुरू हुआ, इस बारे में निश्चयपूर्वक कुछ कहना बड़ा कठिन है।'

ग्राहम बेली के अनुसार भाषा के रूप में उर्दू का प्रथम प्रयोग मसहफ़ी (1750-1824) ने किया था—

खुदा रक्खे ज़बाँ हमने सुनी है मीर ओ मिर्ज़ा की
कहें किस मुँह से हम एक मसहफ़ी उर्दू हमारी है

और उर्दू के अधिकांश विद्वान इससे सहमत हैं। बेली के अनुसार यह शेर 1776 में लिखा गया था। मीर तकी मीर ने 1752 में, दक्षिण के शायर बाकर आगाह ने 1772 में, अली इब्राहीम खाँ ने 1783 में और अता हुसेन खाँ तहसीन ने भी लगभग इन्हीं वर्षों में 'ज़बान उर्दू-ए-मुअल्ला का प्रयोग किया है। इंशा अल्ला खाँ (दरिया-य-लताफ़त—1808) के शब्दों में उर्दू की कहानी कुछ इस प्रकार से कही जा सकती थी—

"यहाँ शाहजहानाबाद के खुश बयानों ने मुत्तलक होकर मुतादाद जबानों से अच्छे-अच्छे लफ़्ज निकाले और बाजे इबारतों और अल्फाज में तसर्रुफ करके जबानों से अलग एक नई जबान पैदा की, जिसका नाम उर्दू रखा।"

और अन्त में पुस्तक के शीर्षक के प्रथमांश—'इतिहास का सच' के बारे में—

लेखक ने मुस्लिम शासन के प्रारम्भिक दौर की चर्चा करते हुए उन सच्चाइयों की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिनकी चर्चा आमतौर पर भाषाशास्त्र की पुस्तकों में तो की ही नहीं जाती; इतिहास की पुस्तकें भी प्रायः इन तथ्यों को अनदेखा कर जाती हैं। मुसलमानों के आने के साथ, भारत में भाषा और संस्कृति के स्तर पर जो परिवर्तन आए और बाद में जिनके समन्वय से एक नई भाषा और एक मिली-जुली संस्कृति विकसित हुई, उसकी पृष्ठभूमि की कठोर सच्चाइयों में रक्तपात, नरसंहार, लूट-पाट, और बलात् धर्मान्तरण की घटनाओं की छाया है। यही इतिहास का सच है। लेखक ने अल-बिरूनी, इब्न बतूता और अनेक प्रतिष्ठित इतिहासकारों के हवाले से इन तथ्यों की पुष्टि की है। लेखक का मानना है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों के कत्लेआम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भयभीत हिन्दू बड़ी संख्या में इस्लाम अपनाने को मजबूर हुए। इसका हिन्दू धर्म की वर्ण या जाति व्यवस्था से उत्पन्न असंतोष या उत्पीड़न का कोई लेना-देना नहीं था। धर्मान्तरण के विशुद्ध राजनीतिक कारण और प्रभाव थे।

डॉ. सिंह सूफियों के कट्टरपन की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। चिश्तिया, सुहारावर्दी और नक्श बन्दी सूफी हिन्दुओं से नफरत करते थे। अब यह तथ्य स्थापित हो चुका है कि मुइनुद्दीन चिश्ती ने ही शहाबुद्दीन गोरी को भारत पर आक्रमण करने के लिए बुलाया था।

डॉ. सिंह सर सैयद के 1859 के पैम्फलेट—असबाब-ए-बग़ावत-ए-हिन्द का उल्लेख करते हुए संकेत करते हैं कि इसमें हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में दरार पैदा करने के नुस्खे थे। दरअसल भाषा की राजनीति का ऐतिहासिक सच पूरी पुस्तक में यत्र-तत्र-सर्वत्र है। तथ्यों का यह स्वरूप भी पाठकों के सामने आना चाहिए। इस ऐतिहासिक सच को लिखते हुए लेखक ने अत्यन्त संयम के साथ ऐतिहासिक तथ्यों का सप्रमाण उल्लेख किया है।

अपनी समग्रता में यह एक पठनीय पुस्तक है—जिसमें विचारोत्तेजक और तथ्यपरक सामग्री है। लेखक की दृष्टि में वैज्ञानिकता है और प्रस्तुति में शोधपरक प्रवृत्ति है। विश्वास किया जाना चाहिए कि हिन्दी के सुधी पाठक इस कृति का स्वागत करेंगे।

पुस्तकालय
132249
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक समीक्षा

ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान का समन्वय*

मृत्युंजय उपाध्याय**

प्रश्नोत्तर की परम्परा अत्यन्त पुरानी है। ज्ञान के व्यापक प्रचार-प्रसार में इसकी महत्व भूमिका है। प्रश्नकर्ता अनेक हैं। प्रश्न अनन्त हैं पर उत्तरदाता त्रिभुवन में दुर्लभ हैं। एक श्लोक में कहा गया है :

अर्थिप्रश्नकृतौलोके सुलभे तौ गृहे गृहे।
दाता च उत्तरदश्यौव दुर्लभे पुरुषो भुविः ॥

अर्थात याचक और प्रश्नकर्ता घर-घर में आसानी से उपलब्ध हैं पर दाता और उत्तरदाता तीनों भुवनों में दुर्लभ हैं। प्रश्नोत्तर-दाता आचार्य निशान्तकेतु ऐसे ही महापुरुष हैं जिन्होंने अपनी प्रखर प्रज्ञा से प्रश्नोत्तर द्वारा ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान का समन्वय प्रस्तुत किया है। महाभारत प्रश्नोत्तर की परम्परा का आदर्श उदाहरण है। यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद में एक सौ छब्बीस प्रश्न हैं। उनमें एक प्रश्न है :

किंस्विद गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात्।
किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद बहुतरं तृणात् ॥

यक्ष का प्रश्न था—पृथ्वी से भी भारी क्या है? आकाश से भी अधिक ऊँचा क्या है। वायु से भी अधिक तेज चलने वाला क्या है। और तिनकों से भी अधिक संख्या क्या है। युधिष्ठर समुचित्त उत्तर देते गए और यक्ष प्रसन्न हो गए। वरदान दिया।

समुद्र ज्ञान का सागर है और वही ज्ञान की गोपनीयता भी है। प्रश्नोत्तर के रूप में समुद्र से चौदह रत्न प्राप्त हुए थे। महाभारत प्रश्नों का भंडार ही होता है। आदि

---

* सर्वतोप प्रश्नोत्तर-शतक(आचार्य निशान्तकेतु से साक्षात्कार और सौ प्रश्नोत्तर) लेखक पंडित सुरें नीरव, प्रथम संस्करण 2010 निर्मल पब्लिकेशन्स, ए-139, गली न. 3 कवीर नगर, दिल्ली-11009 डिमाई, पृष्ठ 170, मूल्य दो सौ पचास रुपए मात्र (सजिल्द)

** प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, वृन्दावन, मनोरम नगर, एल. सी. रोड, धनवाद 826001, झारखं
मो. 09339088307

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंकराचार्य ने दिग्विजय के समय जो शास्त्रार्थ किया था, वह प्रश्नोत्तर ही था। प्रश्नोत्तर में ज्ञान का तात्त्विक रूप समझ आता है। न्यूटन का गति सिद्धान्त यहाँ अक्षरशः लागू होता है। क्रिया-प्रतिक्रिया, अन्तर्क्रिया का समन्वय प्रश्नोत्तर में ही देखा जाता है।

इस कृति में 13 प्रश्न गुच्छ हैं जिन्हें इस प्रकार विन्यस्त किया गया है—सिसृक्षा और रचना-प्रक्रिया, व्यक्तिगत जीवन, व्यक्तित्व और सर्जना, मानव-संसाधन विकास : शोध-निर्देशन, तन्त्र की सत्ता, हिन्दुत्व और धर्म, हिन्दी, भाषा और साहित्य, जन संचार : और चौथा स्तम्भ, सभ्यता और संस्कृति, राष्ट्रीयता और राजनीति तथा बाजारवादी लेखक के व्यक्तित्व एवं रचना-प्रक्रिया से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर से पता चलता है कि किसी व्यक्ति के ज्ञान-संस्कार और साधना का उनके उत्तर पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ता है। जब लेखक से उनके शब्द-जुड़ाव के बारे में पूछा जाता है तो उनका उत्तर कितना शास्त्रसम्मत और अनुभवात्मक है : "पिताश्री हिन्दू-धर्म के कर्मकाण्ड के सिद्ध साधक तथा सामाजिक अनुष्ठानों के आचार्य थे, जिनकी प्रेरणा से मैंने शैशवकाल में ही 'अमरकोश' और 'वाक्यपदीयम्' के प्रथम काण्ड को प्रायः कंठाग्र कर लिया था। फिर स्कूल के विभिन्न स्तरों पर संस्कृत के कुछ विद्वान और अधीनी शिक्षक मिले, जिन्होंने मुझे सदैव स्नेहपूर्ण प्रेरणा दी।" (पृ. 54)

उन्होंने इस सुभाषित को व्यवहार में उतारा जिससे उनके पांडित्य में वृद्धि होती गई। सुभाषित इस प्रकार है :

गुरु-शुश्रूषया विद्या।
पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्यया।

शोध-निर्देशन तथा शोधानन्द सम्बन्धित प्रश्न पर उनका उत्तर है :

"शोध-निर्देशन तो ज्ञान का शोधमूलक प्रक्रम होता है। इस प्रक्रिया में मुझे और अधिक आनन्द आता। शास्त्र वचन है : इन्द्रिय-भोग से ज्ञान अधिक आनन्ददायक है। इस ज्ञान से भी परोपकार बड़ा है। 'अध्यापन' ज्ञान तथा परोपकार का एकाश्रित अधिष्ठान होता है। मैं इस यज्ञशाला का ऋत्विक, अध्वर्यु, होता और उद्गाता सब था।" (पृ. 59)

वर्तमान शिक्षा-पद्धति में सम्पूर्णता एवं सर्वांगीणता नहीं है और इसे सर्वांगीण बनाने के क्या उपाय हो सकते हैं—इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य का मानना है :

"शिक्षा व्यक्ति-सशक्तीकरण-प्रक्रिया है। इसके तीन आधार हैं—शारीरिक विकास, बौद्धिक विकास तथा आध्यात्मिक विकास। इन तीनों में केवल बौद्धिक विकास को महत्वपूर्ण मानकर शेष दोनों को उपेक्षित कर दिया गया है। (पृ. 64)

नतीजतन मस्तिष्क विकसित हो गया पर शरीर दुर्बल रह गया और अध्यात्म के अभाव में शान्तिहीनता की स्थिति उत्पन्न हो गई। यह शिक्षा न तो सम्पूर्ण है न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वांगीण ही विद्या का निहितार्थ है—"सा विद्या विमुक्तये।' अर्थात् वास्तविक विद्या वह है, जो अध्यात्म की ओर उन्मुखीन कर मुक्ति दिलाए। अग्निपुराण में विद्या को पृथ्वी का सर्वोच्च-शिखर-शृंगार कहा गया है :

"नरत्वं दुर्लभ लोक विद्या तत्र सुदुर्लभा।"

मन्त्र, तन्त्र की सत्ता, साधना और परिणति के सम्बन्धों में प्रश्न पूछने पर उनका उत्तर है :

"मननात् गायते इति मन्त्रः। मन+ ष्ट्रन= मन्त्रः। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति है- मन्त्र+ अच्= मन्त्र अर्थात् मनन करने से जो कल्याणकारी सिद्ध हो, उससे मन्त्र यन्त्र कहते हैं। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति है यन्त्र+ यच्=यन्त्रम्। यम का अर्थ होता है सीमित करना, परिमित करना, दृश्यान्तरित करना इत्यादि"। तन्त्र का अर्थ होता है तानना, फैलाना, विस्तृत (पृ.82) करना—तनू+ ष्ट्रन= तन्त्रम् (तनोति इति तन्त्रः)। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति है—तंत्र् + अच्=तंत्रम् (तंत्रयति इतितंत्रम्) अर्थात् जो अनुशासित करे वह तन्त्र है। इसी प्रकार मन्त्र का अर्थ मनन है, यन्त्र है परिसीमन और तन्त्र विस्तारण। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र के त्रिकोण में आगम-शास्त्र और आगम-साधन की परम्परा है।

लेखक के अनुसार मन्त्र-साधना और जपयोग निराकार ब्रह्मोपासना है, जबकि यन्त्र-साधना और यन्त्र पुरश्च्चरण साकार ब्रह्मोपासना। अभीष्ट सिद्धि के लिए दोनों का समान महत्त्व है।

स्थान-शुद्धि के पश्चात् देह-शुद्धि होती है। देवता की पूजा, आराधना देवता बनकर ही की जाती है। तभी वह पूजा स्वीकार होती है। शास्त्रोल्लेख है :

देवो भूत्वा देवं यजेत्।
यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद्।
शिवो भूत्वा शिवं यजेत्।
देहो देवालयः प्रोक्ते, जीवो देव सनातनः।

भाषा की दृष्टि से विचार किया जाए तो दो प्रकार के मन्त्र मिलते हैं—संस्कृत के मन्त्र दूसरे पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती तथा अन्य संस्कृतेतर भाषाओं के मन्त्र, जिन्हें 'शावर-मन्त्र' की संज्ञा दी जाती है।

धर्म की बात चलती है तो उनके अनुसार सबसे बड़ा धर्म है राष्ट्रधर्म और देश के लिए बलिदान होनेवाले हैं सबसे बड़े धार्मिक। शहीदों से सबसे बड़ा धर्मावलम्बी उनकी दृष्टि में कोई नहीं है। मुझे माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'मैं हूँ एक सिपाही' की पंक्तियाँ याद आ जाती हैं :

नित्य शीश का दान, रक्त तर्पण भर का है ज्ञान
एक लड़ने तक मेहमान, पूँजी है तीर कमान।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्त्र को साधना का वाममार्ग कहा जाता है और ऐसी मान्यता है कि इसमें तमाम मारक विधियाँ समाहित हैं जिनका अधिकांशतः प्रयोग अघोरी-वर्ग के साधक करते हैं–इस प्रश्न के उत्तर में लेखक का मानना है कि तन्त्र में दोनों मार्ग हैं–दक्षिण वाम। जैसे बायाँ-दायाँ। एक पथ से उत्तरी ध्रुवान्त पर पहुँचते हैं तो दूसरे पक्ष से दक्षिण ध्रुवान्तर पर। इन्हीं दोनों से पृथ्वी-ग्रह संचालित होता है। तन्त्र-विज्ञान में दुष्टों से आत्मरक्षा के लिए मारणादि षट्कर्मों का विकास किया गया। कोई इसका दुरुपयोग करे तो उसका फल मिलेगा उसे।

मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध और उसकी प्रासंगिकता सम्बन्धी प्रश्न पूछने पर उनका उत्तर है :

"मन्त्र आत्मा या प्राण है, यन्त्र विग्रह या देह है और तन्त्र एक पद्धति या प्रक्रिया है। इसलिए तीनों का अन्तःसम्बन्ध अपृथक्करणीय है। देह के बिना आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार आत्मा के बिना देह का कोई अस्तित्व नहीं है। दोनों के संचलन-संचालन की एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। दूसरे शब्दों गणित की भाषा का प्रयोग किया जाए तो मन्त्र बीजगणित है, यन्त्र रेखागणित और तन्त्र गणित की पद्धति है।" (पृ. 95)

'हिन्दुत्व और धर्म' पर उनकी मान्यता स्पष्ट है, नीर-क्षीर विवेक-सम्पन्न। चार वर्णों का विधान है। गीता में कृष्ण कहते हैं–'चार्तुवर्ण्यमया कृत्वा कर्म विभागशः'– मैंने गुण, कर्म के आधार पर चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) का विभाजन किया है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है :

"जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा विप्र समुच्चते।"

सच पूछिए तो प्रत्येक व्यक्ति इन चारों वर्णों में विभागशः जीता है। मस्तिष्क ब्राह्मण है जहाँ चिन्तन-मनन का कार्य होता है। स्कन्ध और भुजाएँ क्षत्रिय हैं जो पूरे शरीर की रक्षा करते हैं। कटि प्रदेश का शरीरांग वैश्य कहलाता है क्योंकि पूरे शरीर के पोषण के लिए भोजन आदि की व्यवस्था के साथ जनन-प्रजनन का लोक-व्यापार इसी से सम्पन्न होता है और चरण शूद्र इसलिए क्योंकि इनसे गतिचक्रीय सेवा का काम लिया जाता है।

उनके अनुसार धर्म चाहता है आस्था जिसका आधार है परम्परा संस्कार, अभिरुचि, व्यक्तिगत मान्यता आदि। अध्यात्म धर्म की अन्तिम मंजिल है।

भाषा और साहित्य सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के गुच्छ में वह साहित्योद्देश्य को व्याख्यायित करने के लिए आचार्य मम्मट का श्लोक "काव्य यशसेऽर्थ कृते व्यवहार विदे..." उद्धृत करते हैं जो सर्वमान्य है। तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र साधना साहित्य, वेद, पुराण आदि से सम्बन्धित सारे प्रश्न सटीक हैं और उत्तर प्रामाणिक, शास्त्रसम्मत लेखक के प्रकांड पांडित्य का प्रमाण प्रस्तुत करने वाले इस एक कृति से ही आर्षग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन हो जाता है इसके लिए ऋषि वाणी है–"पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीयते।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकीय प्रतिक्रिया

'चिन्तन-सृजन' में रचनाएं निरन्तर हृदय की गहराइयों को छू लेने की क्षमता रखती हैं। वर्ष-9 अंक-4 में डॉ. जगमोहन सिंह राजपूत के संक्षिप्त लेख "परिवर्तन के प्रजातंत्र का सच" में जनता चयनित प्रतिनिधियों के नैतिक, वैचारिक तथा आचार में हुये कायाकल्प का ठोस तथा वास्तविक वर्णन यथार्थपूर्ण है। उनके द्वारा "अधिकार" को सर्वोच्च स्थान देना एक सार्वजनिक तथ्य है। 50-60 के दशक के सभी स्तरों के जन-प्रतिनिधियों तथा उनके वर्तमान अवतार की सोच, सादगी, कर्तव्य तथा त्याग के प्रति दृष्टिकोण में धरा और नभ का अन्तर है। इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव है।

डॉ. शंकर शरण का लेख "डॉ. अम्बेडकर की मुस्लिम राजनीति" अल्पसंख्यकों की वर्तमान राजनीति पर क्षमारहित प्रकाश डालता है। डॉ. शंकर की प्रस्तुति सदैव की भांति पैनी दृष्टि एवं स्पष्टवादिता से भरपूरहै। पूरे समाज का अथक प्रयास इस दिशा में होना चाहिये कि देश के विभिन्न वर्गों/समुदायों को जोड़ा जाय। मतों की राजनीति का सार्वजनिक उद्देश्य जो भी हो पर उसका फल इसके विपरीत है।

यह विडम्बना है कि वर्ष 1832 में अंग्रेजों ने समान अपराधिक कानून में सभी समुदायों को आच्छादित कर लिया, परन्तु स्वाधीन भारत में हम संविधान के दिशानिर्देश एवं उच्चतम न्यायालय द्वारा व्यक्त निर्देश के होते हुये भी इस दिशा में एक पग भी आगे नहीं बढ़ पाये।

मैं इस त्रैमासिक का कृतज्ञ हूँ कि भूत, वर्तमान तथा भविष्य के महत्त्वपूर्ण विषयों पर निरन्तर गहन विचार के फलस्वरूप गंभीर विश्लेशणात्मक लेखों से भरपूर प्रस्तुति उपलब्द्ध करा रही है।

—एस. वी. एम. त्रिपाठी, पूर्व महानिदेशक,
उ.प्र. पुलिस तथा के.रि.पु.ब.,
पूर्व सदस्य उ.प्र. मानव अधिकार आयोग,
बी-3/481, विशाल खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ।

'चिन्तन-सृजन' (अप्रैल-जून 12) के संपादकीय में परसाई के बहाने आपने "वैचारिक धुंध" को छाँटने का जो उपक्रम किया, उसने बहुत प्रभावित किया। परसाई ने एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगह लिखा था—"कबीर की बकरी एक मंदिर में घुस जाती थी। पुजारी ने शिकायत की कि तुम्हारी बकरी मंदिर में घुस कर चीजें बिखरा देती है। इसपर कबीर ने कहा—"वह जानवर है, इसलिए मंदिर में आ जाती होगी, मैं तो नहीं आता।" इस प्रकार की काल्पनिक कथा को कबीर के नाम से जोड़कर परसाई ने एक प्रकार से कबीर के नाम का दुरुपयोग तो किया ही, मंदिर जाने वालों को जानवर वताया (मस्जिद जाने वालों को नहीं।) यह मार्क्सवादी दृष्टि है!

मुझे हमेशा आश्चर्य होता है कि मार्क्सवादियों के दबाव या आतंक के कारण म.प्र. में भाजपा शासन के रहते यहाँ म.प्र. साहित्य अकादमी प्रतिवर्ष हरिशंकर परसाई और मुक्तिबोध की स्मृति में कार्यक्रम करती एवं पुरस्कार देती है। मुक्तिबोध ने तो राम और कृष्ण के "श्याम रंग" को वर्णशंकरत्व का प्रमाण बताकर हिन्दू जाति को अपमानित किया था।

निवेदन है कि चिंतन-सृजन में सांस्कृतिक यात्राओं पर आधारित आलेख भी दिये जाएँ। संभव हो तो अन्य विधाओं की श्रेष्ठ रचनाएं भी इसमें शामिल की जाएँ।

- गोविंद कुमार 'गुंजन', कवि, ललित निबंधकार एवं समीक्षक;
उत्तरायण 18, सौमित्र नगर, सुभाष स्कूल के पीछे,
खण्डवा-450001(म.प्र.)

अप्रैल-जून 12 के चिंतन-सृजन में "*वैचारिक धुंध*" शीर्षकांतर्गत बताया गया है कि किस प्रकार कुछ तथाकथित विद्वान ज्ञानाभाव में फुँफकारते हैं और अपनी हताशा-निराशा दूसरे पर लादना चाहते हैं। क्या नामवर द्वारा कमल किशोर गोयनका के प्रेमचंद पर ऐतिहासिक कार्य की अवहेलना और उन्हें नकारना उनकी ही बुद्धि का दिवालियापन नहीं है? तरुण विजय का हिंदू धर्म की तीखी आलोचना इसी की कड़ी है। *तुलानात्मक साहित्यः विकासात्मक स्वरुप* में डॉ. शीतांशु ने बताया है कि एक सही तुलनात्मक अध्ययन केवल प्रभाववादिता का अध्ययन नहीं होता, वह तद्रुपता (Identity), सादृश्य (Similarity), विसादृश्य (Dissimilarity) और व्यतिरेकिता (Contrastivily) का अध्ययन भी होता है। आज विश्वविद्यालयों में जो तुलनात्मक शोध हो रहे हैं, शोध की जो दुर्दशा है, शायद यह लेख उनके लिए दृगोन्मीलक हो। लेखक का प्रकांड पांडित्य सर्वत्र झलकता है। वराह मिहिर के गणित ज्योतिष परशोधपरक मीमांसा की है महेश दुबे ने। इस दिशा में शोध करनेवाले वैश्वानरों के लिए यह कल्पतरु है। आयुर्विज्ञान, जल विज्ञान, रसायनशास्त्र, वास्तुशास्त्र में उनकी विशेषज्ञता का विवेचन प्रामाणिक है। ऐसा लेखपत्रिका का गौरव है।

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, धनबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपके द्वारा प्रेषित 'चिन्तन-सृजन' का अप्रैल-जून 12 अंक मिला। बेबाक तथ चिन्तन-सृजन उत्साही सम्पादकीय पढ़कर मेरे पाठक को चिंतक की खुराक और खीझ दोनों मिलती है। खीझ इसलिए होती है कि 'जलेस'-प्रलेश जो भी प्रलाप करते रहे परन्तु हमारे नेतृवर्ग, जिनसे राष्ट्र को दिशा मिलती है, राष्ट्र विकास पथ पर अग्रसर होता है, वे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में क्यों नहीं सोचते? क्यों धृतराष्ट्र की तरह आचरण करते हैं?

श्री शंकर शरण का आलेख–'डॉ. अम्बेडकर और मुस्लिम राजनीति', वर्तमान भारतीय राजनीतिक परिदृश्य का मुकम्मल बयान-सा है। काश! हमारे राजनीतिज्ञ एवं सरकारें इसे पढ़ते और इसके परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय नीति बनाते ताकि सामासिक भारत का समन्वित विकास हो पाता और साम्प्रदायिकता कभी सिर न उठा पाती। इस आलेख में निम्नांकित उपशीर्षकों से प्रस्तुत तथ्य साधारण बुद्धिवालों की भी आँखें खोलनेवाली है "बराबरी नहीं, वरिष्ठता की माँग, केवल एक समुदाय की सुरक्षा, हिन्दू नासमझी, मुस्लिम वैश्विक समुदाय है, अल्पसंख्यक नहीं आदि। जान बूझकर आँखें बन्द किये सत्ता-सुख लुटेरों को भगवान सद्बुद्धि दें।

'रमेशचन्द्र शाहः आधुनिक भाव बोध के कवि', समीक्षात्मक लेख भी पठनीय है। चिन्तनीय भी है। "प्रो. शाह जैसे अपेक्षाकृत गंभीर और महत्त्वपूर्ण कवि की कविताई को चर्चा से परे रखने के साहित्यालोचकों की दुरभिसंधि में छेद भी लगाता है"। यह टिप्पणी सटीक है। लेखक पाण्डेय जी ने सही पड़ताल की है। दरअसल हिन्दी भाषा के साहित्यकारों और उसके प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यकारों का सहज स्वभाव सा देखा जाता है कि वे चौंसठ खूँटे और चौबीस खेमों में बँटे होते हैं। इससे साहित्य की क्षति होती है। शाह जैसे साधक साहित्यकार मान-सम्मान के लिए साधना नहीं करते। सूर-मीरा, तुलसी किसी अन्य को रिझाने के लिए नहीं गाते। समय सबसे बड़ा समीक्षक है।

प्रो. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' की कृति–'उत्तर आधुनिकताः बहुआयामी संदर्भ', की समीक्षा, जो पूर्वग्रह के सम्पादक प्रो. रमेश दवे के द्वारा की गई है, समझ बढ़ाती है। पत्रिका के अन्य लेख भी पठनीय हैं। सबों के प्रति साधुवाद और श्रीकृष्ण जन्माष्टमी की शुभकामनाएँ -

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यान्तु भूतानि शिवं मिथोधिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी।।

\- भाग- 5/18/7

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(विश्व का कल्याण हो। दुष्टों की बुद्धि भी निर्मल हो ताकि वे भी प्रसन्न रहें (दुष्ट बुद्धि दूसरे को तो परेशान करती ही है, खुद को भी चैन से नहीं रहने देती) मन शिवसंकल्पी हो और बिना हेतु-सेतु के कृष्णार्पित हो।)

- डॉ. शोभाकान्त झा, कुशालपुर, रायपुर-492001 (छत्तीसगढ़);
सम्पादकः लोक मंगल।

'संचेतना' पत्रिका (संपादकः डॉ. महीप सिंह), मार्च 2012 (प्रकाशित जून 2012), वर्ष 42, अंक-1, पूर्णांक 199 (पृष्ठ 53) में प्रकाशित सुरेन्द्र तिवारी के लेख ''कुछ विचारधर्मी पत्रिकाएँ'' से :

वैचारिक रचनाओं को प्रकाशित करने वाली पत्रिकाएं हिन्दी में बहुत कम हैं। इस कमी को 'चिन्तन-सृजन' (संपादक : बी.बी. कुमार, 23/203, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट, मयूर विहार फेस-1 विस्तार, दिल्ली-96) पत्रिका बहुत कुछ दूर करती है। 'चिन्तन' को पूर्णतः समर्पित इस पत्रिका के जनवरी-मार्च 12 के अंक में रमेश चंद्र शाह का 'हिन्दी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती', मोहन पिल्लै का 'सांप्रदायिकता बनाम भारतीयता', दिनेश मणि का 'बदलते परिवेश में शिक्षा की चुनौतियाँ', श्रीराम परिहार का 'दरकती धरती पर चिंतन-बीज-मंत्रः अज्ञेय', शंकर पुणतांबेकर का 'कला' आदि रचनाएं सोच को नया आयाम देती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' ने स्वर्गीय कुमार विमल पर बहुत ही आत्मीय ढंग से संस्मरण लिखा है- 'कुमार विमलः अमरत्व का वरण'। आलोचना के क्षेत्र में कुमार विमल का अपना एक अलग रंग था। शीतांशु जी के इस कथन को मैं दोहराना चाहूंगा कि 'उनकी सैद्धांतिक और सर्जनात्मक दोनों प्रकार की आलोचना से न केवल आलोचना के क्षेत्र में आनेवाले प्रशिक्षु बल्कि वर्षों से इस क्षेत्र में संलग्न रहनेवाले आलोचक भी बहुत कुछ सीख सकते हैं। इस पत्रिका में पुस्तक समीक्षाओं को विशेष स्थान दिया जाता है यह भी प्रशंसनीय है। समीक्षा के नाम पर सिर्फ खानापूर्ति नहीं, बल्कि कृतियों का सही मूल्यांकन हो, यह सजगता यहाँ नजर आती है।

- सुरेन्द्र तिवारी, बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी,
नई दिल्ली-110 089।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंको में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिका

पुस्तकें

कथा सनातन, रमेशचंद्र शाह; प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गे दिल्ली-110006; प्रथम संस्करण 2012; पृष्ठः 160; मूल्यः 225/- रुपये।

विसंरचनात्मक आलोचना : अर्थ की सर्जना, पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 337, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302003; प्र संस्करण : 2012; पृष्ठः 208; मूल्यः 425/- रुपये।

उत्तर पूर्वांचल के लोकोत्सव, डॉ. भूपेन्द्र रायचौधरी; प्रकाशकः भग प्रकाशन, मकान नं. 8, प्रथम तल, गरीमा मिलेनियम, जी.एन.बी. रोड, पान बाज़ गुवाहाटी-781001; प्रथम संस्करणः 2012; पृष्ठः 128; मूल्यः 200/- रुपये।

गुले शमअ, सुरेन्द्र आनन्द 'गाफिल'; प्रकाशक : प्रतिभा प्रकाशन, 92, ए सी. कालोनी, भारत माता मंदिर के पास, हिसार-125005 (हरियाणा); प्रथम संस्कर 2012; पृष्ठः 80; मूल्यः 125/- रुपये।

India in Hind Swaraj, Devdutt: Publisher : Surendra Kum Secretary for Gandhi Peace Foundation, 221 & 223 Deen Day Upadhyaya Marg, New Delhi; Page : 48; Price : Rs. 35/-

पत्रिकाएँ :

समास-6, साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र (अ) नियतकालीन, सम्पादक उदयन वाजपेयी; प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, कार्यकारी न्यासी, रजा फाउण्डेश सी-4, 139 सफदरजग डेब्लपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-16; समास : 6; 2012; पृष्ठ 80; मूल्य : 60/- रुपये।

संचेतना, सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम, पूर्णांक 199; वर्ष 42, अंक मार्च-2012 (प्रकाशित जून-2012); संपादक : महीप सिंह; मुद्रक एवं प्रकाशक संदीप सिंह, डी.के. ऑफसेट, डीएसआईडीसी, रोहतक रोड, इंडस्ट्रियल कॉम्प्लेक्स नांगालोई, दिल्ली-110 041; पृष्ठ : 58; मूल्यः 20/- रुपये।

अन्तरा, साहित्य और संस्कृति पर केन्द्रित पत्रिका, व्यंग्य विशेषांक, अंक- जून-जुलाई 2012; संपादक : नरेन्द्र दीपक; प्रकाशक : लोकहित प्रकाशन, (राष्ट्र ध प्रकाशन लि. का पुस्तक प्रकाशन विभाग), संस्कृति भवन, राजेन्द्र नगर, लखनऊ-22600 पृष्ठः 64; मूल्यः 50/- रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 10 अंक 2 अक्टूबर-दिसम्बर 2012

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थि
सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-3 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

हम करें क्या?

परम्परागत भारतीय समाज में ज्ञान के दो प्रमुख स्रोत थेः (क) समाज तथा बच्चे का परिवेश एवं (ख) परम्परागत विद्यालय। विद्यालय प्रायः हर गाँव में होते थे, जैसा कि धर्मपाल ने अपने *ब्युटीफुल ट्री* में उद्घाटित किया है। अंग्रेजों के आने के बाद से ज्ञान के ये दोनों ही स्रोत लगातार सूखते चले गये। शिक्षा की परिभाषा बदली; साथ ही उसके प्रति दृष्टिकोण भी। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि परम्परागत विद्यालयों में हर जाति के बच्चे शिक्षा पाते थे; हर जाति के शिक्षक होते थे। परम्परागत शिक्षा सामाजिक मूल्यों की जानकारी देती थी, शिक्षित व्यक्तिके जीवन में उसे प्रतिस्थापित करती थी। आज शिक्षा मात्र सूचना बन कर रह गयी है। फिर यह भी आवश्यक नहीं कि बच्चा शिक्षित होने के लिए किसी वस्तु को पहचाने या अवधारणा ही विकसित करें। उसके लिए उसे अंग्रेजी शब्दावली में जानना चाहिए; मातृभाषा का वहिष्कार शिक्षा की पहली शर्त हो गयी है। विद्यालय मूल्यों, यम-नियम, अच्छी बातों की जानकारी नहीं देते; समाचार पत्र बुरे को उछालते हैं; भाषायी तोड़-फोड़ करते हैं।

इस देश में बहुत कुछ बुरा हो रहा है जिसकी चर्चा लगातार होती है; अखबारी चीर-फाड़ से लेकर गोष्ठियों में, रेल के डब्बों में, गाँवों-शहरों के चौराहों पर, चाय-पान की दुकानों में। अच्छा भी बहुत कुछ हो रहा है, जिसकी जानकारी छिटपुट ही मिल पाती है। हमारे देश में आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो चुपचाप, अनाम रहकर, देश की, समाज की; भाषा, संस्कृति एवं साहित्य की सेवा कर रहे हैं; लेकिन बड़े स्तर पर उनकी पहचान गायब है; उनके कार्यों की जानकारी गायब है। अच्छा की, अच्छे कामों की जानकारी यदा-कदा ही किसी समाचार-पत्र, किसी पत्र-पत्रिका के कोने में दुबकी मिल जायेगी। यही बात किसी हत्यारे, शील-हरण-कर्त्ता या भ्रष्टाचारी पर लागू नहीं होगी।

पिछले दिनों पाकिस्तानी भाड़े के एक हत्यारे को चुपचाप फाँसी दे दी गयी। समाचार-पत्रों में होड़ लगी थी, उस समाचार को मोटे से मोटे अक्षरों में छापने की; सम्पादकीय विद्वता दिखाने की; मीडिया में छाये रणबाँकुरे स्तंभ-लेखकों के विश्लेषणात्मक विचारों को लोगों तक परोसने की। आश्चर्यजनक! सरकार ने तो कमाल ही कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया!! एक हत्यारे को फाँसी दे दी, और वह भी चुपचाप!!! क्या कमाल कर दिया इस सरकार ने। एक हत्यारे को फाँसी दे दी, और वह भी चुपचाप। उसकी क्षमा याचिका भी रद्द का दी राष्ट्रपति जी ने।

वैसे कुछ समय पहले प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का स्वर्गवास हुआ था। वे महान विद्वान थे। स्वर्गवास या उनके काम की जानकारी समाचार पत्रों से गायब थी, सिवाय जनसत्ता के। दूसरे मंच भी चुप रहे। ध्यातव्य है कि ऐसा कोई अपवाद-स्वरूप नहीं हुआ था। इस देश में तंत्र की गड़बड़ी के चलते काम करना काफी नहीं होता। काम की मान्यता मिले, उसके लिए जुगाड़ बिठाना पड़ता है, स्वयं प्रयास करके या सत्ता के गलियारों में सक्रिय दलालों द्वारा। फिर सरकारी कृपा-कटाक्ष के लिए प्रयत्न करना पड़ता है और असली काम रुक जाता है। इसलिए कुछ लोग जुगाड़ बिठाते हैं; काम करनेवाले काम करते हैं, चुपचाप, बिना फल की आशा किए। प्रसंगवश इसकी चर्चा कर दूँ कि हिन्दी का काम तो मैंने भी किया था, राष्ट्र-सेवा समझकर; पूर्वोत्तर एवं देश के अन्य हिस्सो की 64 जनजातीय भाषाओं के कोशों एवं शब्दावलियों, दर्जन से अधिक भाषाओं के व्याकरणों एवं स्वयं-शिक्षकों, तथा कुछ के लोक-साहित्य के प्रकाशन द्वारा हिन्दी एवं देवनागरी से उन्हें जोड़ने का काम। किन्तु विश्व हिन्दी सम्मेलनों में मैं, या कुछ अपवाद छोड़कर मेरे जैसे व्यक्ति, कहाँ रहे। 1980-81 में नागालैण्ड सरकार ने पद्मश्री के लिए दो बार नामित किया था, जो मिली नहीं। अंग्रेजी के माध्यम से काम होता तो शायद उससे अधिक भी पा जाता। मेरी, या मेरे जैसे अन्य लोगों की, राष्ट्रीय समस्याओं—पूर्वोत्तर, नक्सलवाद, समाजिक विघटन एवं घटते सामाजिक सौहार्द आदि से जुड़ी समस्याओं—के ज्ञान का कोई उपयोग तो नहीं ही है।

मेरे सामने बिड़ला के शुरू कराये समाचार-पत्र दैनिक हिन्दुस्तान का 20 नवम्बर 2012 का ~~वाराणसी~~ कटिहर से निकलनेवाला संस्करण पड़ा है। ध्यातव्य है कि इस समाचार-पत्र के प्रथम अंक का विमोचन महात्मा गांधी के हाथों हुआ था, जो हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं के प्रबल समर्थक थे। उक्त समाचार-पत्र के एक समाचार का शीर्षक है: ''महिला ने स्नेचर को धुना।'' यहाँ 'स्नेचर' शब्द के लिए—जो स्पष्टतः अंगेजी का snatcher है और 'छीना-झपटी करनेवाला' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—पाठक किस शब्द-कोश का प्रयोग करेगा? हिन्दी के शब्दकोश में तो यह शब्द मिलने से रहा। फिर हिन्दी अखबार पढ़ने के लिए अंग्रेजी शब्द-कोश के प्रयोग के बेतुकापन को आप क्या कहेंगे? भाषा पर समाचार-पत्र-कर्मियों का अत्याचार? सम्पादकीय काहिली? या गुण्डागर्दी? समाचार-पत्र के उसी अंक में प्रयुक्त कुछ अंग्रेजी के शब्द/वाक्यांश हैं: हेरिटेज सेल, नॉडल सेंटर, रीवर फ्रंट, सीओ, सेप्ट की कार्यशाला, डीपीआर, स्टील प्लांट, रोडवेज, कंसलटेंट, एडवोकेट जनरल, रजिस्ट्रार, प्रैक्टिकल, रीजल्ट, लगेज, हिस्ट्रीशिटर, वेंडर, एफिडेविट, कोर्ट, जज, प्रीलिम्स, कैग रिपोर्ट,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऑफर, आरबीआई, सीबीआई, इमरजेंसी (डाक्टर), वालंटियर्स, अलर्ट, डीजीपी, यूपीए, पीएम, सीबीसी, सीबीआई, डायरेक्टर, एनजीओ, पेज, कमेंट, रेफर, केश, सस्पेण्ड, फंड, सुप्रिम, लेफ्ट (वाम दल के लिए), रूट (मार्ग, रेलमार्ग के लिए) हार्ट अटैक, बोगी, रिटायर, फायरिंग, चेकिंग, आटो, कांउसिलिंग, टीसी, माइग्रेशन, पिकेट, डिवाइडर, रोडवेज, बाइक, आरटीओ।

भाषा के साथ हमारे सांस्कृतिक दाय का प्रश्न भी जुड़ा है। हम बच्चों को पालने से उठाकर तथा-कथित 'प्ले-स्कूल' एवं नर्सरी-स्कूल में अंग्रेजी के शब्द रटाने के लिए भेजकर न केवल उसका बचपन, बल्कि उसका सांस्कृतिक एवं भाषायी दाय भी छीन लेते हैं। वैसे गलत शिक्षा-पद्धति एवं भाषा को अपभ्रष्ट करने की प्रक्रिया एक दूसरे की पूरक बनकर कार्यरत है। खतरे से समाज अवगत है। फिर भी बदलाव नहीं हो पा रहा है। वैसे इन सबका कारक सार्थक नीति एवं उसके परिपालन के लिए आवश्यक राजनीतिक इच्छा-शक्ति के अभाव में खोजी जा सकती है। फिर समस्त रोगों की जड़ में सत्ता-केन्द्रित राजनीति तो है ही।

कल राज्य सभा की कार्रवाई नहीं चल पायी। संसद का पिछला पूरा सत्र नहीं चला था। क्या इस प्रश्न का जवाब संसद नहीं चलने देनेवालों के पास है कि उस मुद्दे का क्या हुआ, जिससे चलते संसद के एक पूरे सत्र को गँवाना पड़ गया था? यदि वह मुद्दा इतना महत्त्वपूर्ण था तो फिर उसे भुला क्यों दिया गया? फिर संसद न चलने देने के प्रति क्या उनका वही रवैया रहेगा जब वे सत्ता प्राप्त करेंगे? दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति तो यह है कि इस देश के सांसद जाने अनजाने इस बात को भूल रहे हैं कि संसद राष्ट्र की होती है, सांसदों की नहीं। फिर भारतीय राजनीति की झगड़ालू संस्कृति का अखाड़ा या रंगमंच तो संसद तथा विधान-सभाओं को बनने ही नहीं दिया जाना चाहिए।

हमारी असफलताएँ सार्थक विमर्श एवं नीतिगत बदलाव की माँग करती हैं। वैसे में संसद का चलने रहना निहायत आवश्यक है। दुर्भाग्यवश ऐसा हो नहीं रहा है। फिर ऐसा भी नहीं है कि यह राष्ट्र तथा इसके नेता यह नहीं जानते कि क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं? क्या गलत है और क्या सही? भटकाव कहाँ आया और क्यों? ऐसे में जानबूझ कर की गयी गलती का प्रतिफल हम भोग ही रहे हैं। वस्तुतः यह जानना ही काफी नहीं है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। आवश्यक है कि पहल की जाय, जो सार्थक हो। प्रत्येक शराबी जानता है कि शराब पीना बुरा है, फिर भी पीये बिना रह नहीं पाता। दुर्योधन जानता था कि धर्म क्या है, लेकिन धर्म में उसका मन ही नहीं लगता था। वह यह भी जानता था कि अधर्म क्या है, लेकिन उसी में उसका मन लगा रहता था। उसने कहा भी थाः

जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मम् न च मे निवृत्तिः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्टतः दुर्योधन जानकर भी अधर्म की राह पकड़े रहा। ऐसे में महाभारत तो होना ही था, जो हुआ भी। प्रश्न है कि जानबूझकर किए गलत के प्रतिकार एवं उचित कदम की पहल कैसे की जाय? आखिर हम करें क्या?

इस देश में हजारों गोष्ठियाँ होती हैं; अखबारों के कालम भरे जाते हैं; पुस्तकें लिखी जाती हैं। अधिकतर विमर्शों की प्रवृत्ति एवं दिशा समाज एवं राष्ट्र को कठघरे में खड़ा कराने की होती है। इनमें प्रायः ही तथ्यों की अनदेखी या इनके इकतरफा चुनाव की कमजोरी लक्षित होती है। कुछ विमर्श अच्छे एवं बुरे पक्ष को समान रूप से सामने लाते हैं। प्रायः ही यह नहीं बतलाया या सोचा जाता कि हम करें क्या? बदलाव का हमारा रास्ता क्या हो? लीक से हटकर समस्या के निदान का रास्ता क्या हो? इस पक्ष पर प्रायः ही सोचा नहीं जाता। ऐसे में आवश्यक है कि विमर्श की दिशा बदले। सघन विमर्श से उपजे विचार द्वारा जनमत में सार्थक बदलाव लाकर हम भारतीय राजनीति को प्रभावित कर सकते हैं, जिसके बिना नीतिगत बदलाव लाना एवं व्यवस्था की जड़ता खत्म करना संभव नहीं।

—ब्रज बिहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनतन्त्र में चुनाव प्रणाली

कैलाशचन्द्र पन्त*

यह एक सच्चाई है कि भारत में जब प्रजातान्त्रिक प्रणाली का प्रयोग प्रारम्भ हुआ था तब अनेक अन्तरराष्ट्रीय नेताओं और राजनीतिक विचारकों के मन में उसकी सफलता के प्रति सन्देह था। सन्देह के कारण भी मजबूत थे। भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ बहुसंख्यक जनता अशिक्षित थी और अंग्रेजी सत्ता तथा शिक्षा ने अलगाव के बीज बो दिए थे, प्रजातन्त्र की सफलता सन्दिग्ध ही थी। फिर पड़ोसी देशों में आजादी पाने के कुछ ही वर्ष बाद सेना ने सत्ता पलट दी। आज भी दुनिया के कई देश तानाशाही व्यवस्थाओं से मुक्ति के लिए छटपटा रहे हैं। कुछ स्थानों पर रक्तपात के बाद सत्ता-परिवर्तन हो चुका है। ऐसी वैश्विक परिस्थिति में भारत में जनतन्त्र का अस्तित्व में बना रहना बड़ी उपलब्धि माना जा सकता है। यदि इस तथ्य का गहराई से विश्लेषण किया जाए तो समझ में आ जाएगा कि भारतीय जनता में सहिष्णुता भी है और वह लम्बे समय तक सहन कर सकने में सक्षम है। जनता के साथ ही आजादी के बाद तत्कालीन नेतृत्व को भी श्रेय दिया जाना चाहिए, जिन्होंने नाजुक परिस्थिति में देश को गम्भीर नेतृत्व दिया।

उस संकटपूर्ण परिस्थिति से निकल जाने के बाद जनतान्त्रिक संस्थाओं की प्रखरता बढ़नी चाहिए थी। लेकिन ऐसा न होकर उनका अवमूल्यन होता चला गया। इसी कारण आज जनतान्त्रिक पद्धति पर प्रश्नचिह्न खड़े हो रहे हैं। हमें स्मरण रखना होगा कि भारत में जनतान्त्रिक पद्धति की असफलता के बहुत दूरगामी परिणाम होंगे, जो भारत को ही नहीं, सम्पूर्ण मानव सभ्यता को प्रभावित करेंगे। इसलिए कुछ विचारकों ने वर्तमान जनतान्त्रिक प्रणाली पर चिन्तनपरक विमर्श प्रारम्भ कर दिया है। यह एक विवेकशील राष्ट्र होने की निशानी है। जिस मुद्दे पर सबसे ज्यादा ध्यान केन्द्रित है वह है चुनाव प्रणाली। परन्तु विमर्श को गहरे उतरना होगा और चर्चा का

*कैलाशचन्द्र पन्त, मन्त्री-संचालक, मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा परिषद् समिति एवं प्रधान सम्पादक, अक्षरा; पता : 9/35, सह्याद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल (म.प्र. 462003)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दायरा विस्तृत करना होगा। निस्सन्देह मौजूदा चुनाव प्रणाली ने अनेक विकृतियों को जन्म दिया है। यह भी सही है कि उचित सुधारों के बाद उन विकृतियों को काफी नियन्त्रित किया जा सकेगा। परन्तु यह मान लेना कि सिर्फ चुनाव प्रणाली में सुधार से ही जनतन्त्र को एक आदर्श राज्य-पद्धति के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है, कोरा भ्रम है। फिर भी तात्कालिक समाधान के तौर पर इसे लेकर बहस को व्यापक बनाने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

यह निर्विवाद है कि राज्य की संकल्पना के पीछे नागरिकों को सुरक्षा देने के साथ मनुष्य जीवन के सर्वांगीण विकास का विचार रहा होगा। समय के साथ होने वाले अनुभवों ने विकास के नए-नए पक्ष खोज निकाले। सभी का गन्तव्य मानव समाज का कल्याण था। विचार अच्छा था, लक्ष्य भी अच्छा था। इसे पाने का माध्यम क्या हो और क्रियान्वयन किसके द्वारा कराया जाए इस बात को लेकर सामन्तवाद, पूँजीवाद, समाजवाद और मार्क्सवाद जैसी विचारधाराएँ प्रचलित हुईं। विभिन्न देशों ने इन सभी पद्धतियों का अपने-अपने ढंग से प्रयोग किया। परिणाम कहीं भी सुखद नहीं रहे। धीरे-धीरे राज्य की सत्ता को हस्तगत कर लेना ही लक्ष्य बन गया। इस उद्देश्य के लिए घोषित तौर पर सभी ने अपनी नीतियों को जनकल्याणकारी बताया। लेकिन सत्ता पर कब्जा जमाने के बाद सभी अपना आकलन करना भूल गए। यह कोशिश नहीं की गई कि जन को किस सीमा तक उन निर्णयों में भागीदार बनाया गया जो घोषित रूप से उसके हित में लिए गए। पूँजीवादी शासन प्रणालियों में धन बल और प्रचार तन्त्र को सशक्त माध्यम मान लिया गया। समाजवादी शासकों ने चुनावों को महज नाटक बना दिया और वे निरंकुश होते चले गए। एक प्रणाली ने जन को मुक्त तो बना दिया, लेकिन धन की उद्दाम भूख जगा दी और उसे स्व-केन्द्रित बनाया तो दूसरी ने मनुष्य को रोटी, कपड़ा और मकान की गारंटी देकर उसकी मौलिक स्वतन्त्रता ही नहीं छीनी, उसे सत्ता पर आश्रित बना दिया। एक अत्यधिक स्वच्छन्दता की शिकार हुई तो दूसरी मूक समाज की चरवाहा बन गई।

इसके कारणों का विश्लेषण किया जाए तो समझ में आ जाएगा कि विकास की अवधारणा का भौतिक पक्ष लेकर ही राज्य के उद्देश्य निर्धारित किए गए। सम्यक् जीवन का चित्र लेकर यदि बात की जाती तो राज्य नामक संस्था में अन्तर्निहित कमजोरियों पर ध्यान जाता। तब तीव्र प्रतिस्पर्द्धा और उससे सहज ही उत्पन्न होने वाली लाभ कमाने की प्रवृत्ति पर काबू पाने की बात सोची जाती। पूँजीवादी और समाजवादी दोनों व्यवस्थाओं में लाभ पहुँचाने की शक्ति राज्य में केन्द्रित कर दी गई। स्वाभाविक था कि नागरिकों में अपनी भौतिक प्रगति की भूख जागे। इस तरह जनतन्त्र एक तरह से राज्य केन्द्रित हो गया। राज्य की उस शक्ति को हथियाने की होड़ बढ़ती गई। जनतन्त्र में इस प्रतिस्पर्द्धा ने जन को माध्यम बनाया और उसका वोट हासिल करने के उपाय ढूँढ़े जाने लगे। आजकल की पत्रकारिता की भाषा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोक-लुभावन नीतियों की घोषणा सबसे महत्त्वपूर्ण हथियार बन गई। इसका सीधा अर्थ है कि जनतन्त्र के छद्म में एक समूह या दल द्वारा सत्ता का निजी स्वार्थों के लिए दोहन। यदि भारत में जनतन्त्र की वास्तविक पड़ताल करनी हो तो हाल ही में सरकारी स्तर पर भ्रष्टाचार के जो काण्ड उजागर हुए हैं वे क्या किसी व्यक्ति या समूह या दल के द्वारा किया जा रहा अनैतिक कृत्य नहीं है, जिसका प्रतिकार करने की भी क्षमता जन में शेष नहीं रह गई है। वह अपनी लाचारी बताकर चुप हैं। गाँधी जी ने स्वराज्य का अर्थ समझाते हुए लिखा था–

> "स्वराज्य की रक्षा केवल वहीं हो सकती है, जहाँ देशवासियों की ज्यादा बड़ी संख्या ऐसे देशभक्तों की हो, जिनके लिए दूसरी सब चीजों से–अपने निजी लाभ से भी–देश की भलाई का ज्यादा महत्त्व हो। स्वराज्य का अर्थ है देश की बहुसंख्यक जनता का शासन। जाहिर है कि जहाँ बहुसंख्यक जनता नीति-भ्रष्ट हो या स्वार्थी हो, वहाँ उसकी सरकार अराजकता की ही स्थिति पैदा कर सकती है, दूसरा कुछ नहीं।" (स्वराज्य का अर्थ : 'हरिजन बन्धु' 1933)

महात्मा का यह विश्लेषण कितना सही था। लोक-लुभावन घोषणाएँ करने के पीछे बहुसंख्यक जनता के हित की चिन्ता नहीं होती। लक्ष्य जनता को भरमाकर सत्ता पर कब्जा जमाना होता है। तब सवाल खड़ा होता है कि जनता भ्रमित ही क्यों होती है? इसीलिए ना कि वह निजी स्वार्थों को देशहित से ऊपर मान चुकी है। इन निजी स्वार्थों की पूर्ति चुनावों में ज्यादा होती है। स्वार्थ साधन में मतदाता से लेकर नेता तक धन पहुँचता है। दोनों के बीच की कड़ी बनने वाले माध्यम भी अपना हित साधन करते हैं। समाचार-पत्र भी (प्रजातन्त्र के चौथे खम्भे) चुनावों की अवधि में हरियाली चरते हैं। आर्थात् मौजूदा जनतन्त्र के चलते भ्रष्ट-तन्त्र को पनपने से रोका नहीं जा सकता। क्योंकि हमने जन को वोट का अधिकार तो दिया, उसके उपयोग के लायक नैतिकता का विकास नहीं किया। यदि आज देश में अराजकता दिखाई दे रही है तो उसका दायित्व बहुसंख्यक जनता पर है। वह गाँधी जी के शब्दों में नीति भ्रष्ट और स्वार्थी हो गई है। ऐसी परिस्थिति में यह अपेक्षा करना मृगतृष्णा ही है कि सिर्फ चुनाव-पद्धति में सुधार से भारत में जनतन्त्र को पटरी पर लाया जा सकेगा। यदि हम जनतान्त्रिक प्रणाली के वैकल्पिक स्वरूप पर चर्चा नहीं करते तो सारी बहस कोरी बौद्धिक विलासिता होगी।

विकल्प की बात करने से पूर्व हमें राज्य की संकल्पना के प्रमुख उद्देश्य पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। राज्य के नागरिकों की सुरक्षा और भौतिक जरूरतों की आपूर्ति तो बुनियादी लक्ष्य था। लेकिन महत् उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास था। इस विकास में उसका आन्तरिक विकास सन्निहित है। इस समग्र विकास को अभिव्यक्ति देने वाला सही शब्द स्वराज्य है, इस भाव का सर्वथा लोप हो जाना कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह किसी के अधीन है या कोई उसके अधीन है। तभी सच्चे स्वराज्य की अनुभूति सम्भव है। तब हमें 'स्व' का अर्थ समझना और समझाना होगा। स्व को शरीर मात्र मान लेने से तो उसकी बनावट, उसका आचरण, उसकी भाषा, उसकी इच्छाएँ आदि अनेक भिन्नताएँ सामने आती हैं। इन भिन्नताओं की विद्यमानता में विषमताएँ ही ज्यादा उभर सकती हैं। इस बिन्दु को राजनीतिक दर्शन का प्रस्थान बिन्दु माना जाए तो हम 'स्व' के उस अर्थ को आत्मसात करने की कोशिश कर सकेंगे जिसकी व्याख्या करते हुए महर्षि अरविन्द ने कहा था–

> "यह कहा गया है कि प्रजातन्त्र मनुष्य के अधिकारों पर आधारित है, इसका उत्तर यह दिया गया है कि इसकी बजाय उसे अपने को मनुष्य के कर्तव्यों पर आधारित करना चाहिए, किन्तु अधिकार और कर्तव्य दोनों ही यूरोपीय विचार हैं। भारतीय संकल्पना धर्म की है जिसमें अधिकार और कर्तव्य कृत्रिम विरोध छोड़ देते हैं। यह विरोध संसार के प्रति उस दृष्टिकोण की उपज है जो स्वार्थ को कर्म का मूल बनाती है। धर्म में अधिकार और कर्तव्य अपनी गहरी और चिरस्थायी एकता को पुनः प्राप्त कर लेते हैं।"

अरविन्द ने धर्म शब्द प्रयुक्त किया है। यूरोपीय सभ्यता ने धर्म को जिस अर्थ में ग्रहण किया है वह भारत में प्रयुक्त धर्म से सर्वथा विपरीत है। महात्मा गाँधी भी कहते थे–

> "मेरा विश्वास है कि भारत का ध्येय दूसरे देशों के ध्येय से कुछ अलग है। भारत में ऐसी योग्यता है कि वह धर्म के क्षेत्र में दुनिया में सबसे बड़ा हो सकता है। भारत ने आत्मशुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक जैसा प्रयत्न किया है, उसका दुनिया में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।"

ये दोनों महापुरुष यूरोपीय शिक्षा-पद्धति और जीवन-शैली से अन्तरंगता से परिचित थे। दोनों जिस धर्म की बात कर रहे हैं उसी ने भारत को 'स्व' का बोध कराया है, उसी ने आत्मबल की शक्ति की पहचान कराई है। उसी ने यह ज्ञान दिया है कि तुम आत्मा हो जिसे अग्नि जला नहीं सकती, तलवार भेद नहीं सकती, पानी डुबा नहीं सकता। वह अमर तत्त्व है जो न जन्म लेता है, न मरता है। इस आत्मतत्त्व को समझने के बाद बाहर से दिखाई पड़ने वाली सारी विभिन्नता स्वयं छिन्न-भिन्न हो जाती है। तब मनुष्य स्वयं की सीमाओं का उत्क्रमण करता है। वह परिवार, समाज, देश, राष्ट्र, संसार की सीमाओं को लाँघता हुआ सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एकाकार होता है। जब तक हम इस एकात्मता को प्राप्त नहीं करते तब तक कटुता, कलह, लोभ, मोह, स्वार्थ आदि प्राकृत वृत्तियाँ हमें व्यापक हितों में व्यक्तिगत हितों का त्याग करने वाला मनुष्य नहीं बनने देंगी। जनतन्त्र के परिप्रेक्ष्य में इसे व्यक्ति का 'जन' बन जाना कह सकते हैं। मौजूदा जनतान्त्रिक पद्धति में धर्म की उपेक्षा ही नहीं, अवमानना भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की गई है। क्योंकि इस प्रणाली का विचार उस भूखण्ड में हुआ जहाँ रिलीजन या मजहब के नाम पर अमानवीय अत्याचार और रक्तपात होता रहा। दुर्भाग्य से पश्चिम को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाने का सशक्त प्रयास स्वामी विवेकानन्द के बाद किसी ने नहीं किया। विडम्बना यह हुई कि उलटे भारत में ही धर्म को रिलीजन या मजहब का पर्यायवाची बताया जाने लगा। जब धर्म विलग हो गया तो जनतन्त्र में नैतिकता के समाप्त हो जाने की सम्भावनाएँ बढ़ गईं। नैतिकता के बिना स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की व्याप्ति की कल्पना आकाश कुसुम तोड़ने के समान है। जिस अवधारणा की बुनियाद में ही धर्म का निषेध हो, वहाँ नागरिक में नैतिकता के उत्कर्ष की सम्भावना समाप्त हो जाती है। जनतन्त्र में सारी जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी तो कभी सम्भव नहीं है। जनता अपना विश्वास किसी एक प्रतिनिधि को सौंपती है और वह प्रतिनिधि किसी नेता को। विश्वास का यह आदान-प्रदान तभी सफल होगा जब सभी में नैतिक मूल्यों पर चलने की आत्मशक्ति हो। आत्म को नकार कर किस शक्ति की कल्पना की जा सकती है? इसी आत्मतत्त्व के सहारे ही तो सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखने की शक्ति अर्जित होती है और तभी बन्धुत्व का विस्तार हो पाता है। स्वार्थी व्यक्ति में समानता आती नहीं, बन्धुत्व होता नहीं, तब जनता स्वतन्त्रता का उपभोग कैसे कर सकेगी?

एक और तथ्य है जिसके बारे में हमारे समय में प्रचलित जनतन्त्र में कोई विचार ही नहीं किया गया। मनुष्य की कुछ प्राकृत वृत्तियाँ हैं। जैसे—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और मत्सर की बात भारतीय चिन्तन में बार-बार आती है। हमारी पौराणिक कथाओं में इन वृत्तियों का शमन करने के अनेक रूपक वर्णित हैं। देवी पुराण का गहराई से अध्ययन करने वाले बताते हैं कि विभिन्न प्रकार के असुरों का संहार करने के लिए देवी अनेक रूपों में प्रकट होती हैं। प्राकृत वृत्तियाँ ही असुर बनकर विकास की साधना में अड़चन पैदा करती हैं। जिसे जनता अपना विश्वास सौंपकर सत्ता की शक्ति देती है, वही भस्मासुर बन जाता है और अपने वरदाता को ही भस्म करने का प्रयास करता है।

इन वृत्तियों पर विजय प्राप्त करनी जरूरी है। इसका अर्थ है कि जनतन्त्र में वस्तुतः प्राकृत-विकृतियों से मुक्त होने पर ही उसमें अन्तर्निहित स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता का साक्षात्कार जनता को हो सकता है। मौजूदा जनतन्त्र ने जन की इस तैयारी के बिना इसे वह दायित्व देने की कोशिश की जिसको निभाने की क्षमता उसने अर्जित नहीं की थी। इस पर नैतिकताविहीन आचरण को निषिद्ध करने वाली धर्म की शक्ति को निस्तेज कर दिया गया। जनतन्त्र के प्रति मोह टूटने की वर्तमान स्थिति का विकल्प ढूँढ़ने से पूर्व उन कारणों की पड़ताल जरूर की जानी चाहिए जिनकी वजह से यह स्थिति उत्पन्न हुई। कुलीनतन्त्र और राजतन्त्र के बाद प्रजातन्त्र की ओर मानव सभ्यता की यात्रा निश्चित रूप से एक बड़ा कदम थी। लेकिन यह डगमगा रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजतन्त्र और तानाशाही सत्ताओं से भी कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में आस्था टूटी होगी। कई स्थानों पर तो सत्ता-परिवर्तन के रक्त रंजित इतिहास लिखे गए। भारत में यह परिवर्तन बिना किसी संघर्ष के सम्भव हो सका था। लेकिन सत्ता पर काबिज हो जाने की लालसा में हिंसक झड़पें तो होने लगी हैं। शाब्दिक अस्त्र-शस्त्रों का इस्तेमाल तो खुलकर हो रहा है। जिस तरह बाहुबलियों और धनपतियों का वर्चस्व हमारे देश की राजनीति में बढ़ा है उससे सत्ता-संघर्ष किसी भी समय हिंसक रूप धारण कर सकता है।

ऐसी स्थिति आने से पहले ही सचेत हो जाना चाहिए। विवेकशील नागरिकों को गहन चिन्तन के द्वारा मौजूदा जनतन्त्र का विकल्प ढूँढ़ना होगा अथवा इसी पद्धति में कुछ व्यापक सुधार करने होंगे जिससे हम जनतन्त्र का एक बेहतर प्रारूप दुनिया को दे सकें। गाँधी जी ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण का एक रास्ता सुझाया था। हमने उसे पंचायती राज का रूप देकर भ्रष्टाचार का विकेन्द्रीकरण अवश्य कर दिखाया। लेकिन विकेन्द्रीकरण के बुनियादी तत्त्वों पर विमर्श को आगे बढ़ाया जा सकता है। हमें इस बात पर विश्वास भी रखना होगा कि भारत में वह आत्मशक्ति मौजूद है जो विश्व को जनतन्त्र का बेहतर विकल्प प्रस्तुत कर सकता है। उस विकल्प में हम मानव के कल्याण का मार्ग प्रदर्शित कर सकेंगे। लेकिन पहले हम अपने घर को सँवारने की चिन्ता करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्टून विवाद और राजनीति विज्ञान की शिक्षा

शंकर शरण*

हाल में बच्चों की पाठ्य-पुस्तक में कार्टून विवाद डॉ. आम्बेडकर के प्रति आदर-अनादर में सिमटकर रह गया। अधिक महत्त्वपूर्ण बात उपेक्षित-सी रह गई कि राजनीति विज्ञान की औपचारिक शिक्षा का उद्देश्य और कथ्य क्या होता है? फिर बच्चों-किशोरों के लिए यह शिक्षा कैसी होनी चाहिए? कुछ सांसदों ने यह बात उठाई, पर मीडिया की बहस में इसे महत्त्व नहीं मिला। इससे दिखता है कि राजनीति विज्ञान, बल्कि पूरे समाज विज्ञान विषयों की शिक्षा के प्रति हमारे बौद्धिक वर्ग की समझ कितनी अधकचरी है। बहुतेरे लोग चालू टीका-टिप्पणियों को ही ज्ञान का पर्याय माने बैठे हैं।

कार्टून विवाद पर छपे सैकड़ों अखबारी लेखों में अधिकांशतः कुछ यही दृष्टिकोण झलका। जबकि नेताओं के प्रति आदर-अनादर से बड़ा प्रश्न यह था और है कि क्या किसी पाठ्य-पुस्तक के पाठ अपने किशोर पाठकों को संविधान, कानून, राज्यतन्त्र की प्राथमिक जानकारी देते हैं या नहीं? उसे पढ़कर क्या विद्यार्थी जान सकेगा कि संविधान होता क्या है? संविधान, कानून और दूसरे राजकीय नियम-कायदों में क्या अन्तर है? संसद या न्यायतन्त्र की संरचना और उनके प्रमुख कार्य क्या हैं? यदि चित्रों, कार्टूनों, पोस्टरों और नारों की भरमार और बहस में आनन्दित/उत्तेजित होने में यह बातें रह जाएँ, तो निश्चय मानिए कि हमारे बुद्धिजीवी और प्रोफेसरान स्वयं भारी अज्ञान में हैं। यदि उन्होंने जानते-बूझते इन प्रश्नों को उपेक्षित किया, तब तो उनका अपराध अक्षम्य हो जाता है।

अपने लेखों, भाषणों में कई बुद्धिजीवियों, और अभियुक्तों ने भी दुहराया कि लोगों ने उन कार्टूनों का अर्थ नहीं समझा। लेकिन उन्हें उत्तर देना चाहिए कि तब उन पाठ्य-पुस्तकों को अबोध, बाल-किशोर पाठकों से क्या अपेक्षा थी जिन्हें अभी वयस्क जीवन का वह अनुभव ही नहीं, जिससे वे राजनीतिक प्रसंगों के उचित-अनुचित की पहचान कर सकें? तब तो सांसदों का आरोप सही बैठेगा कि बच्चों में नेताओं के

*डॉ. शंकर शरण, IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्रीअरविंदो मार्ग, नई दिल्ली 110 016

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति दुर्भाव भरने के लिए ही वैसी सामग्री दी गई। वैसा करना राजनीति विज्ञान की शिक्षा देने के बदले शिक्षा का राजनीतिकरण करना हुआ। शिक्षा के बदले मतवादीकरण (इण्डॉक्ट्रिनेशन) करना हुआ।

किसी विषय के व्यवस्थित ज्ञान को शिक्षा कहते हैं, जबकि मतवादीकरण किसी विद्यार्थी को एक विशेष नजरिए में फाँसना, किसी मतवाद, राजनीतिक विचारधारा, आदि का समर्थक बनाना है। उदाहरण के लिए, संसद और सांसदों के कार्य, अधिकार आदि व्यवस्थित रूप से बताना, समझाना शिक्षा है। इसका इससे कतई कोई सम्बन्ध नहीं कि अमुक नेता या मन्त्री किस चरित्र के हैं। लेकिन यदि किसी पाठ्य-पुस्तक में संसद, सरकार, न्यायपालिका की संरचना आदि के स्पष्ट विवरण के बदले नेताओं और न्यायाधीशों की खिल्ली उड़ाने वाली सामग्री भर दें, तो यह निस्सन्देह मतवादीकरण होगा। किसी विचारधारा विशेष का प्रचार, जो विधायिका और न्यायतन्त्र का मजाक उड़ाती है। हमारा दुर्भाग्य है कि लम्बे समय से यही विचारधारा हमारे बौद्धिक वर्ग पर हावी है। इसीलिए वे बुनियादी बातों पर ध्यान देने के बदले गौण बातों में उलझे रहते हैं। यह युवा वर्ग को शिक्षित करने की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक है।

इसकी पुष्टि इससे होती है कि स्वयं प्रमुख अभियुक्त के शब्दों में, "सांसदों की असली परेशानी कार्टूनों में उभरती उनकी खुद की छवि को लेकर है।" कि वे कार्टून "नेताओं और राजनीतिक प्रक्रिया पर व्यंग्य" करते हैं। कि उन कार्टूनों में "तंज है, चोट है", जो "सैकड़ों" की संख्या में उन पाठ्य-पुस्तकों में दिए गए हैं। लेकिन वे भूलते हैं कि ठीक इन्हीं कारणों से वैसी चीजें शिक्षा-प्रद नहीं, बल्कि मतवादी सामग्री हो जाती हैं। वैसी सामग्री पाठक में एक विशेष, वितृष्ण मनोभाव पैदा करती है, जो राजनीतिक प्रचारक की चाह होती है। किसी शिक्षक की हो ही नहीं सकती।

उदाहरणार्थ, यदि बच्चों को न्यायपालिका के बारे में बताने वाले पाठ में न्यायपालिका की संरचना, उसका क्षेत्राधिकार, न्यायाधीशों की नियुक्ति, कार्यमुक्ति आदि सम्बन्धित विवरण के बदले पहले ही पृष्ठ पर मोटे-मोटे अक्षरों में, बॉक्स बनाकर प्रमुखता से यह लिखा मिले की "सुप्रीम कोर्ट का जज प्रायः मूर्ख और चापलूस होता है"—तब क्या उसे शिक्षा कहेंगे? यह तो विशुद्ध वामपन्थी मतवाद है, जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था से लोगों को विमुख करने के लिए उसकी काली छवि खींचता है। ताकि 'क्रान्ति' करने की जमीन तैयार हो। किसी भी कम्युनिस्ट नेता का भाषण याद करें, उसमें किसी भी अवसर पर लोकतान्त्रिक संस्थाओं की अतिरंजित निन्दा के सिवाय शायद ही कोई तत्त्व समान मिलेगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी प्रकार के राजनीतिक मतवादी को नापसन्द राजनीतिक व्यवस्था का चित्रण करने के लिए सच-झूठ, सन्तुलित-असन्तुलित के भेद की चिन्ता नहीं रहती। क्योंकि उसका लक्ष्य ही होता है लोगों को आन्दोलित कर किसी तरह अपने मतवाद में लाने का जतन करना। हर वामपन्थी पर्चे में ऐसी प्रस्तुति होती है। उसका उद्देश्य शिक्षा नहीं, अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नारे प्रचलित करना होता है। यदि समाज विज्ञान विषयों की औपचारिक शिक्षा में वही नारेबाजी हो तो वह शिक्षा की ओट में केवल मतवादीकरण है। विद्यार्थियों और उनके माता-पिताओं के साथ छल है। क्योंकि वह तथ्यों के बदले नारे, और ज्ञान के बदले गाली-गलौज सिखाने के समान है।

इसलिए जब समाज विज्ञान विषयों की पाठ्य-सामग्री की चर्चा हो, तब 'अभिव्यक्ति स्वतन्त्रता' की आड़ लेना असली बात से ध्यान बँटाने जैसा है। अपने निजी विचारों, टीका-टिप्पणियों, सत्ताधारी या विरोधी नेताओं, संस्थाओं की निन्दा-आलोचना करने के लिए पार्टी-प्रेस से लेकर अखबार और टी.वी. चैनल तक बहुतेरे मंच उपलब्ध हैं, जबकि पाठ्य-पुस्तक मानक सन्दर्भ ग्रन्थ होते हैं। शब्द-कोष की तरह उनमें किसी विषय की प्रामाणिक, निर्विवाद प्रस्तुति रहती है। यदि उनमें लिखी बातें राजनीतिक फुटबॉल जैसी उछाली जाने लगें, तो अर्थ है कि उसमें पक्षपाती, दुराग्रही, असन्तुलित या अधूरी बातें हैं; कि उन बातों को देते हुए बच्चों की मानसिक क्षमता, अनुभव-स्तर, आवश्यकता, आदि का कोई ध्यान नहीं रखा गया; केवल अपनी राजनीतिक मनोभावना की तुष्टि कर ली गई कि हमने इसकी भी खिंचाई कर दी, उसकी भी कर दी; वह तुष्टि जो किसी राजनीतिक एक्टिविस्ट को अपने विरोधी के बारे में पोस्टर चिपकाकर होती है।

यह एक कड़वी सच्चाई है कि इसी मनोभावना में लम्बे समय से विचारधारा-ग्रस्त प्रोफेसरों, लेखकों ने हमारे विश्वविद्यालयों से लेकर स्कूली शिक्षा तक को अपनी राजनीतिक झक फैलाने का औजार बना लिया है। असली चिन्ता इस पर होनी चाहिए। सम्पूर्ण समाज विज्ञान शिक्षा को कड़ाई से जाँचा जाना जरूरी है कि उसमें कितनी शिक्षा है, कितना मतवादी राजनीतिकरण। कितना विवरण तथ्यपूर्ण है, और कितनी राजनीतिक लफ्फाजी।

हम सोवियत संघ के अनुभव पर ध्यान दें, कि सात दशकों तक रूस में मतवादीकरण को ही 'समाज विज्ञान शिक्षा' मानने के क्या-क्या बौद्धिक, राजनीतिक दुष्परिणाम हुए। उसी रूसी मतवाद से घोर सहानुभूति रखने वाले प्रचारक ही हमारे प्रमुख विश्वविद्यालयों, अकादमिक संस्थानों का दुरुपयोग करते रहे हैं। इस तथ्य से भी कुछ निष्कर्ष लेना चाहिए। आखिर किसी विषय की सम्यक् जानकारी के बदले 'अभिव्यक्ति स्वतन्त्रता' की ओर बहस क्यों घुमा दी जाती है? जबकि परख इसकी होना चाहिए कि किसी पाठ्य-पुस्तक से पाठकों ने क्या सीखा, और उससे वे क्या सीख ही नहीं सकते!

समाज शिक्षण विषयों में राजनीति विज्ञान और भी कठिन विषय है। कई लोग राजनीतिक प्रचार को राजनीतिक ज्ञान समझ लेते हैं। मगर राजनीतिक टिप्पणियाँ करने वाले, चुनावी विश्लेषक, टी.वी. एंकर, यहाँ तक कि असंख्य नेता व प्रचारक भी सदैव कोई राजनीति विज्ञान के ज्ञाता नहीं होते। कौटिल्य, प्लेटो, मार्क्स या रेमंड एरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दर्शन-चिन्तन से प्रायः वे वैसे ही कोरे होते हैं, जैसे दूसरे लोग। यही बात विदे नीति, फासिज्म, मानवाधिकार, सेक्यूलरिज्म, न्यायतन्त्र, आदि अवधारणाओं और विविध देशों, समस्याओं, राजनीतिक संस्थाओं की समझ के प्रति भी सच है। इ गम्भीर अध्ययन करके ही जाना जा सकता है। दैनिक टीका-टिप्पणियाँ करने मजाक बनाने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। टिप्पणियाँ और कार्टून किसी व्यक्ति समूह या जनभावना की अभिव्यक्ति हैं। उसमें स्वतः कोई ज्ञान नहीं है। उपालम्भ, मजाक, खीझ निकालना आदि को शिक्षा मानना भूल है।

इसीलिए, प्रामाणिक शोध, ठोस तथ्यों और विश्वस्त आँकड़ों के आधार निकलने वाले निष्कर्षों को ही किसी पाठ्य-पुस्तक में स्थान देने का चलन रहा किसी अनुमान, दलगत या विचारधारागत प्रचार या 'ऐसा कहा जाता है' के आधा पर नहीं। ठीक उसी तरह, जैसे प्रतिष्ठित लोकतान्त्रिक देशों के न्यायालयों में ठो सबूतों के आधार पर ही किसी को दोषी या निर्दोष ठहराया जाता है। समाज विज्ञा की पाठ्य-पुस्तकों में, विशेषकर कम उम्र के विद्यार्थियों के लिए बनी पाठ्य-पुस्तक में उसी कड़ाई से केवल तथ्य और प्रामाणिक निष्कर्ष ही देने चाहिए, ताकि विद्या की स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति विकसित हो सके। हमारे नेता भ्रष्ट और न्यायाधीश मू हैं, या संयुक्त राज्य अमेरिका दुष्ट देश है, या अमुक अल्पसंख्यक समुदाय के सा अन्याय हो रहा है, ऐसे खास मनोभाव वाले, बने-बनाए, पक्षपाती निष्कर्ष औपचारि शिक्षा सामग्री में देना राजनीतिक प्रचार है। ऐसे विचार लिखने की जगह पत्र-पत्रिका हैं। कुछ लोग अपने विचारों के पुस्तकें भी लिखते ही हैं। मगर औपचारिक शिक्षा वह सब देना भोले-भाले विद्यार्थियों में ज्ञान के बदले अज्ञान भरने और उसी को ज्ञा समझने का दोहरा घात करना है।

दुर्भाग्य की बात यह है कि कार्टून विवाद के प्रसंग में चली मीडिया-बहस में बिन्दुओं पर नगण्य चर्चा हुई। यही नहीं, पूरी बहस में शिकायतकर्ताओं को कम, अभियुक्तों को बहुत जगह मिली। प्रायः अभियुक्त ही पीड़ित की वैचारिक-सार्वजनिक पिटाई करते रहे। क्या इसलिए कि अभियुक्त मीडिया के माने जाते हैं? कारण जो है मैच-फिक्सिंग की तरह यह एक बहस-फिक्सिंग जैसी होकर रह गई। कई मामलों देखा गया है कि हमारे देश के प्रमुख अंग्रेजी मीडिया में एक बने-बनाए निष्कर्ष पाठकों, दर्शकों तक पहुँचाने के लिए सारे लेख, टिप्पणियाँ, परिचर्चा आयोजित हो है। गुजरात, सेक्यूजरिज्म, बिनायक सेन, कश्मीर आदि कई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक वैचारिक विषयों पर यही देखा गया है कि सम्बन्धित प्रश्न या समस्या के स पहलुओं को सामने आने ही नहीं दिया जाता।

यह कार्टून और पाठ्य-पुस्तक प्रसंग भी इसका अपवाद नहीं था। उदाहरण लिए, कितने भारतीय अभिभावक इसके लिए तैयार होंगे कि उनके बच्चों को ऐ व्यक्ति शिक्षा दे जो देशभक्ति की शिक्षा को 'सत्ता का जबरिया दबाव' कहता है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कश्मीर में भारतीय सेना को विदेशी अतिक्रमणकारी सेना ('आक्यूपेशन-आर्मी') मानता हो? या सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों को 'मूर्ख, चापलूस' कहता हो? या 18 वर्ष के कम आयु के बच्चों-किशोरों को सेक्स सम्बन्ध बनाने से वर्जित करने को माता-पिता या अभिभावकों की 'तानाशाही मानसिकता' मानता हो? ऐसी बातें कोई प्रोफेसर व्याख्यान में कहे, या कार्टून बनाकर, या लेख लिखकर, तो बहुत कम माता-पिता ऐसे शिक्षक के हाथों अपने बच्चे को सौंपना चाहेंगे। मगर ऐसे बिन्दुओं को शिक्षा की किसी बहस में रखने ही नहीं दिया जाता, जबकि ये विचार उन अभियुक्तों के हैं जो कार्टून-विवाद पर उलटे राजनीतिज्ञों की वैचारिक पिटाई करके रहे।

सच यह है कि यदि शिक्षा को कार्टून में बदलने से रोकना हो, तो विचारधारा-ग्रस्त लोगों के हाथों उसकी जिम्मेदारी नहीं देनी चाहिए। एक महाशय हाई स्कूल के बच्चों को राष्ट्रपति चुनाव का तरीका बताना 'बेतुकी चीज' समझते हैं। पाठ्य-पुस्तक में देश-विदेश के असंख्य, जाने-अनजाने संगठनों, व्यक्तियों, स्थितियों के बारे में सैकड़ों अबूझ प्रश्न रख देना उन्हें बेतुका नहीं लगता। ऐसे-ऐसे प्रश्न जिनका उत्तर पाठ्य-पुस्तक में तो नहीं ही है, बच्चों के अभिभावक और शिक्षक भी उनका उत्तर नहीं जानते। वे प्रश्न राजनीति विज्ञान का बुनियादी ज्ञान देने की दृष्टि से कितने अनावश्यक और अनर्गल है, यह तो अलग रहा। मगर महाशय वैसी चीजों से पुस्तकें भर देना, संजीदा तथ्यों के बदले 'सैकड़ों कार्टून' और उतनी ही मतवादी टिप्पणियाँ देना अपनी उपलब्धि मानते हैं।

यह एक पुरानी कम्युनिष्ट बीमारी है। बरसों के अहर्निश प्रचार और गैर-कम्युनिस्ट दलों, विद्वानों के आलस्य, नासमझी आदि के कारण यह बड़े पैमाने पर कांग्रेसियों, गाँधीवादियों, लोहियावादियों आदि सबको लग गई है। यानी, जिस किसी पर लांछन लगाना, बड़बोले प्रश्न उठाना, हर जगह उत्पीड़ितों, वंचितों की खोज करते रहना, या गढ़ लेना, फिर उनके सम्बन्ध में काल्पनिक, अतिरंजित, रोष भरे प्रवचन देना, अन्तहीन समस्याएँ गिनना—यही सब वे प्राथमिक शिक्षा, सर्वोत्कृष्ट शोध, अकादमिक लेखन और विद्वत् व्याख्यान मानते हैं। उन्हें कोरी लफ्फाजी करने और तथ्यपरक जानकारी देने में कोई भेद नहीं दिखता।

सम्राट अशोक का रथ चलानेवाला उनके शासन के बारे में क्या सोचता था? यह सवाल रखकर एक प्रसिद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार बड़े घमण्ड से चारों ओर देखती थीं, कि उन्होंने कैसी मौलिक बात कह दी! और अब तक के इतिहासकार गए-गुजरे थे, जो केवल राजा और उसके समय के विवरण इकट्ठा करने वाले 'फैक्टोग्राफर' मात्र थे! महोदया को इससे कोई मतलब न था कि वैसे प्रश्नों का उत्तर पाया भी जा सकता है या नहीं? स्वयं उन्होंने उस प्रश्न का कभी कोई उत्तर नहीं दिया, जबकि वह सवाल रखे चार दशक बीत गए। मगर, बस बड़े-बड़े, अनोखे, असम्भव,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनर्गल प्रश्न उठाना ही वामपन्थी लेखकों, प्रचारकों का शगल रहा है। उनकी देखा-देखी कई लोहियावादियों को भी यह रोग लग गया है।

बहरहाल, उन महाशय का यह अफसोस दूर हो गया होगा कि राजनीति शास्त्र की पाठ्य-पुस्तक पर 'कभी विवाद नहीं हुआ'। स्वयं उन्होंने इसे पैदा किया। उन्हें इसकी भी शिकायत थी कि अब तक राजनीति शास्त्र की स्कूली पुस्तकें 'राजनीति' नहीं पढ़ाती थीं। केवल राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, आदि के कार्य-अधिकार, चुनाव के तरीके आदि 'बेतुकी चीजें' पढ़ाती थीं। अब विवाद से स्पष्ट हो गया कि 'राजनीति पढ़ाने' से उनका मतलब केवल गरमागरम राजनीतिक प्रचार करना है। यह वामपन्थी प्रचारक की अहं-भावना को तुष्ट करता है। चाहे यह शिक्षा की कीमत पर हो। शिक्षा विकृत होकर राजनीतिक नारेबाजी में बदल जाए। स्वभावतः यह कुछ लोगों को खुश और कुछ लोगों को नाखुश करेगी। मगर महाशय इससे यह सीख नहीं लेते कि उन्होंने शिक्षा के नाम पर मतवादी बातें लिख मारी हैं। उल्टे शिकायत करने वालों को मूर्ख या निहित स्वार्थ मानकर अपना पवित्र रोष प्रकट कर रहे हैं।

क्योंकि उन्हें निष्पक्ष मानदण्ड की फिक्र नहीं। वे विचारधारा को तथ्य से अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। इसीलिए विचारधारा-ग्रस्त लेखक, प्रोफेसर पाठ्य-पुस्तक में अमेरिकी लोकतन्त्र की विशेषताएँ बताने के बजाय जगह-जगह अमेरिका-विरोधी छींटा-कशी करते रहना और जहाँ-तहाँ हिन्दू धर्म को शोषक, उत्पीड़क जैसी चीज बताना अपना शैक्षणिक कर्तव्य समझते हैं। देश के अन्दर भी किसी राजकीय संस्था के बारे में प्राथमिक जानकारी देना उन्हें बेतुका, बोरिंग लगता है। उसके बदले कार्टून, पोस्टर, नारेबाजी उन्हें मौलिक ज्ञान लगता है। इन्हीं चीजों को वे 'राजनीति पढ़ाना' समझते हैं। यानी अपने मन में आने वाली हर झक, हर 'नई चीज' को भोले विद्यार्थियों के सामने रख देना, जो बेचारे राजनीति की कोई परिभाषा तक नहीं कर सकते! यह बुनियादी बात भी नहीं जानते के घरेलू झगड़े और राजनीतिक झगड़े में क्या अन्तर है? कोई अन्तर है भी या नहीं?

इतना ही नहीं, जनवादी अहंकार में कई महाशय पाठ्य-पुस्तक लिखना समाज की महान सेवा समझते हैं। पहले ही कई मार्क्सवादी-वामपन्थी अपनी प्रोफेसराना कुर्सियों से कह चुके हैं कि स्कूली पाठ्य-पुस्तकें लिखना 'घटिया और छोटा काम' है, चाहे वास्तव में वे दर्शकों तक हर तरकीबें करते रहे कि यह काम किसी और के हाथ में न जाए, क्योंकि इससे धन, यश और प्रभाव हासिल होता रहा है। फिर, अपनी हिन्दू-विरोधी, भारत-विरोधी, लेनिनवादी-माओवादी आइडियोलॉजी के कीटाणु भोले-भाले पाठकों में भर देने का अवसर व साधन मिलना अलग बोनस है, जिससे कामरेडों की क्रान्तिकारी मनोवृत्ति तृप्त होती थी। मगर किसी कारण वे सार्वजनिक भंगिमा यही बनाते थे, कि पाठ्य-पुस्तकें लिखना 'छोटा काम' है, कि हम तो सेवा करने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिख देते हैं, हमें क्या मिलता है, आदि। वस्तुतः पाखण्ड और अहंकार, किसी भी विचारधारा-ग्रस्त मानसिकता के अनिवार्य तत्त्व हैं।

महाशय के अनुसार, 'किसी इलाके की राजनीति के बारे में वहाँ के पत्रकार किसी राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर से ज्यादा जानते हैं।' इस निष्कर्ष का आधार? कोई गम्भीर विद्वान ठोस आँकड़े, प्रामाणिक तथ्यों का भण्डार जुटाए बिना कभी कोई निष्कर्ष नहीं देता। यह सच्ची विद्वता का पहला और अचूक लक्षण है। जबकि राजनीतिक प्रचारक अपने अनुमान, राजनीतिक झुकाव, आदि को ही निरन्तर दुहराते हुए स्वयं अपने अन्धविश्वास को सच मानने लगता है। मौका मिलते ही वही पढ़ाने, रटाने भी लगता है। सोवियत संघ का सम्पूर्ण अकादमिक, राजनीतिक वर्ग तीन पीढ़ियों तक इसी रोग से ग्रस्त रहा। भारत के तमाम मतवादी भी यही दिखाते हैं। किसी निष्कर्ष का आधार पूछते ही उनके माथे पर बल पड़ जाते हैं, कि ऐसा पूछने वाला जरूर किसी विरोधी पार्टी या विचारधारा का एजेंट है! मानो किसी बड़े कुर्सीदार लेखक-प्रचारक से किसी निष्कर्ष का स्रोत, प्रमाण माँगना उसकी तौहीन करना है।

इसलिए बच्चों की पाठ्य-पुस्तक में नेताओं, न्यायाधीशों, अमरीकियों, आदि के मजाक उड़ाने वाले 'सैकड़ों कार्टून' देने की कैफ़ियत पूछना महाशय को हैरत में डाल देता है। मानो इसकी उपयोगिता स्वयं-सिद्ध हो! उन्हें सोचने की कोई जरूरत नहीं कि दुनिया के हर कोने में पाठ्य-पुस्तकें संजीदा, मानक, सन्दर्भ-ग्रन्थ जैसी चीज होती हैं। प्रतिष्ठित शब्द-कोष जैसी, जिसे किसी बात को प्रामाणिक रूप से जानने के लिए ही खोला जाता है। किसी के ओपीनियन, मताग्रह पढ़ने के लिए नहीं। उसके लिए अखबार के पन्ने होते हैं। कार्टून भी ओपीनियन ही हैं। नहीं तो, महाशय ने बाल ठाकरे का बनाया हुआ कार्टून क्यों नहीं लिया? अभी भारत में सबसे विशेष सबूत रखने वाले राजपरिवार का मजाक बनाने वाले कार्टून क्यों नहीं जोड़े? क्योंकि, प्रथम, उन्हें अपने ओपीनियन को पुष्ट करनें वाले कार्टून ही लेने थे। दूसरे, जिस राजनीतिक समीकरण के बल पर अपनी निजी तरक्की जुड़ी है, उसमें विशेष शक्तिधारियों की कुदृष्टि से बचना हर हाल में जरूरी है। अतः अपने मतवादी प्रचार को शिक्षा का जामा पहनाने में उन्होंने केवल विशेष प्रकार के कार्टूनों का उपयोग किया। अब विवाद हुआ तो कह रहे हैं कि वे कार्टून तो बड़े सम्मानित कार्टूनिस्टों के बनाए हुए हैं। जबकि मामला यह नहीं कि कार्टूनिस्ट कितने योग्य हैं, बल्कि कुछ विशेष प्रकार के कार्टूनों से बच्चों के कच्चे दिमाग को विषाक्त किया गया या नहीं?

निस्सन्देह, उन सुयोग्य कार्टूनिस्टों ने उन कार्टूनों को बच्चों की पुस्तक के लिए नहीं बनाया था। वे कार्टून उन वयस्क, जानकार नागरिकों के लिए बनाए गए थे जो किसी अखबार के पाठक थे, और तात्कालिक प्रसंग और उसकी तफसीलों से पूर्णतः परिचित थे। फिर अखबार को कोई रिजेक्ट कर सकता है, बदल दे सकता है। क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई बच्चा अपनी पाठ्य-पुस्तक खारिज कर सकता है? यानी, उस पर वह कार्टून और उसका राजनीतिक, मताग्रही सन्देश थोपा गया है। अखबार निजी, स्वैच्छिक, स्वतन्त्र क्षेत्र की चीज है, जिसमें छपी हर चीज के प्रति स्वीकृति रखना जरूरी नहीं। जबकि बच्चा अपनी पाठ्य-पुस्तक को आधिकारिक ज्ञान मानता है, जिस पर उसे श्रद्धा-भाव होता है। क्या इससे स्पष्ट नहीं कि बच्चों की पाठ्य-पुस्तक में विशेष राजनीतिक झुकाव की चीजें दे-देकर कितना बड़ा अनर्थ किया जाता है?

ऐसे अनगिनत गम्भीर बिन्दुओं को ढँककर महाशयों ने कार्टून के सैद्धान्तिक महत्त्व और कार्टूनिस्टों की प्रतिष्ठा के पीछे अपना बचाव करने की कोशिश की। यह दयनीय कोशिश दर्शाती है कि वे कितने पानी में हैं। मगर उन्हें फिक्र करने की कोई बात नहीं। अंग्रेजी मीडिया का राजनीतिकरण इतना गहरा हो चुका है, कि उसने मामला उठते ही पूरी ठसक से अभियुक्त को ही जज बना दिया। जब बेचारे सांसद भी अपनी बात को सुसंगत रूप में मीडिया में देख पाने को तरसकर रह गए, तब मामूली शिक्षकों, अभिभावकों और सामान्य जग-गण की भावना कौन पूछता है।

राजनीति विज्ञान की शिक्षा पर किसी भी चर्चा में यह आरम्भ से ही स्पष्ट रहना चाहिए कि राजनीति का अध्ययन गणित या भाषा के अध्ययन से नितान्त भिन्न है। सच पूछें तो, यह नैतिकता के अध्ययन से अधिक निकट है। अतः इसे समझने के लिए जीवन का थोड़ा अनुभव होना आवश्यक होता है। इस प्रकार, राजनीति के अध्ययन की सीमा विद्यार्थी की क्षमता के अनुरूप सीमित रहती है। इससे पहले कि कोई राज्य, कानून, शासन, न्यायालय, चुनाव आदि धारणाएँ समझ सके, उसे कुछ राजनीतिक अनुभव भी होना आवश्यक है। यह अनुभव कि समाज और समूह में सही और गलत की समस्याएँ क्या हैं, किसी तरह परिवार या निजी जीवन की सही-गलत की धारणा से भिन्न होती हैं। यह बहुत जटिल बिन्दु है। इस दृष्टि से कहना चाहिए कि स्कूली बच्चे राजनीति का वास्तविक अध्ययन नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें कई जरूरी बातों का अनुभव होना शेष रहता है।

अतः बच्चों के लिए राजनीति विज्ञान की कुछ धारणाओं तथा संस्थाओं की प्राथमिक समझ दे पाना भी आसान नहीं है। तब उन्हें ऐसी टिप्पणियाँ, एक्टिविस्ट मुहावरे, असंख्य नए-नए और विदेशी फैशनेबल नारे, अबूझ चित्रांकन या चालू मजाक वाले कार्टून आदि देना तो बहुत बड़ी भूल है। इसके पीछे राजनीति विषय की गम्भीरता के बदले ठीक उल्टी समझ बन जाती है कि बिना किसी विशेष अध्ययन के भी इसे कोई भी समझ सकता है। इस प्रवृत्ति से हम बच्चों को नेताओं का मजाक बनाना तो सिखा सकते हैं, मगर वे किसी भी राजनीतिक अवधारणा या संस्था को नहीं समझ सकेंगे। यह प्रत्यक्ष परीक्षण करके देखा जा सकता है। ढेर सारे नारे, मुहावरे, हस्तियों, घटनाओं के नाम, चित्र या सांकेतिक उल्लेख से भरे पाठ से वे या तो कुछ नहीं समझेंगे, या पूरी तरह गलत समझेंगे। अधिकांश शिक्षक भी इसमें उलझकर रहे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाएँगे। विशेषकर विदेशी घटनाओं, प्रसंगों और हस्तियों के उदाहरणों, उल्लेखों पर हमारे स्कूली और अनेक कॉलेज शिक्षक भी बिना गहरी खोज-बीन किए नहीं समझ सकते कि उनका सम्पूर्ण या वास्तविक अर्थ क्या था।

जहाँ तक हमारे नेताओं पर कटाक्ष आदि की बात है, तो यह कहना लफ्फाजी है कि समाज में जो हो रहा है, वह तो बच्चे देखते ही हैं और उसे पाठ्य-पुस्तकों से अलग कैसे रखा जा सकता है। इसमें बुनियादी भूल यह है कि राजनीतिक क्षेत्र के ऊपरी, सार्वजनिक व्यवहार या कदाचार को ही आदि-अन्त मान लिया गया है। मानो रोज किसी बैंक के भवन या रेल के इंजन को देखने वाला बैंकिंग या लोकोमोटिव की पूरी व्यवस्था, कार्य और संरचना को भी समझ सकता है। वस्तुतः राजनीति विज्ञान उससे भी जटिल विषय है। सरकार की इस या उस नीति की भरपूर आलोचना करने और नसीहतें देने वाले स्वयं जिम्मेदारी दिए जाने पर प्रायः उतने ही निकम्मे साबित होते हैं। कारण यही है कि उन्होंने ऊपरी अवलोकन को ही गहन ज्ञान समझ लिया था।

यहाँ प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और शिकागो विश्वविद्यालय के पूर्व चांसलर रॉबर्ट हचिन्स की टिप्पणी विचारणीय है, "मैंने खगोलशास्त्रियों का नाम सुना है जो सोलह वर्ष की आयु से पहले ही अन्तरराष्ट्रीय विशिष्ट पत्रिकाओं में शोध-पत्र लिखते रहे हैं। किन्तु मैंने किसी ऐसे बच्चे के बारे में नहीं सुना जो सामाजिक संगठन और मनुष्य के भवितव्य के बारे में कोई उपयोगी बात कह सका हो।" यह सामाजिक, राजनीतिक, मानवीय प्रश्नों की अत्यधिक जटिलता का ही संकेत है। इससे पता चलता है कि नेताओं, संस्थाओं पर फब्तियाँ कसना आसान है, किन्तु किसी समस्या को अपने सम्पूर्ण रूप में समझ भी पाना अत्यन्त दुष्कर है, समाधान करना तो दूर रहा। अतः बच्चों को पहले प्राथमिक अवधारणाएँ गम्भीरता से समझाने के बदले सस्ती नारेबाजी और छिछोरी टिप्पणियाँ सिखाना भारी अनर्थ करना है।

समाज विज्ञानों में राजनीति सबसे कठिन विषय है। इसे पूरी तरह समझ पाना कुछ असम्भव ही है। इसलिए बच्चों को राजनीति की शिक्षा देने में 'कम सीखें, पर बेहतर सीखें' भर ही लक्ष्य रखना चाहिए। जो लोग अपने पसन्द के सभी नारे और सभी निन्दा-आलोचना थोक भाव में बच्चों तक पहुँचा देना चाहते हैं, वे न राजनीति विज्ञान समझते हैं, न बच्चों को। बच्चे कच्चे मस्तिष्क के होते हैं। यदि समय से पहले ही उन्हें सामाजिक-राजनीतिक प्रसंगों के बारे में बहुत अधिक बताने की कोशिश करें तो उनके बौद्धिक मिथ्याचार की ओर बढ़ने का सीधा खतरा है। वे बिना समझे ऐसी बातें दुहराने लगेंगे जिसे उन्होंने न समझा, न अनुभव किया है। यह भी शिक्षा के बदले मतवादीकरण (इण्डॉक्ट्रिनेशन) ही है, जिस गलती से हर हाल में बचना चाहिए।

फिर राजनीति एक संवेदनशील विषय भी है। स्वतन्त्रता, समानता, न्याय, एकता, भेद-भाव आदि धारणाओं को नितान्त विभिन्न अर्थों में बताया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन, गाँधी और खुमैनी तीनों के लिए उपर्युक्त शब्दों के अर्थ भयंकर रूप में भिन्न थे! जबकि इन शब्दों को तीनों के लेखन-भाषण में पाया जा सकता है। क्योंकि राजनीति विभिन्न हितों, विचारों के कटु संघर्ष का मैदान भी है। इसमें राष्ट्रों, समूहों, मजहबों, दलों, नेताओं के हित टकराते भी हैं। इसीलिए कई बार एक ही शब्द बिलकुल भिन्न अर्थों के साथ प्रयुक्त होते हैं, तो कभी-कभी एक ही चीज को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है। इसलिए भी बहुत-सा राजनीतिक विमर्श भ्रामक तथा अस्पष्ट रहता है। इससे भी समझा जा सकता है कि क्यों बच्चों के लिए वास्तविक राजनीति समझना दूभर है। वस्तुतः बिना गम्भीर अध्ययन, अवलोकन के वयस्क भी इसे नहीं समझ सकते।

दूसरी ओर, राजनीति विज्ञान में कई शब्द अर्थ के साथ-साथ एक अतिरिक्त नैतिक मूल्य भी रखते हैं। वे प्रेरित करते, अनुशंसा करते, आदेश देते, प्रशंसा या निन्दा करते हैं, आदि। यह भाव उन शब्दों में अन्तर्निहित होता है। जब हम 'महान' (विचार, नेता, आदि), (लोकतान्त्रिक अधिकारों का) 'उल्लंघन' या (किन्हीं समुदाय की) 'उपेक्षा' जैसे शब्द कहते हैं तो यह हो नहीं सकता कि हम उनका अर्थ लें और उनमें जुड़ा हुआ प्रशंसात्मक या निषेधात्मक भाव छोड़ दें। जैसे ही हम 'अधिकार' या 'न्याय' कहते हैं, वैसे ही हम एक मूल्यांकन भी करते हैं। इन शब्दों के प्रयोग मात्र से हम किसी स्थिति को जायज या नाजायज कह रहे होते हैं। उदाहरण के लिए, माओ को 'महान' या 'तानाशाह' कहने में शब्द चुनते ही स्वतः एक अतिरिक्त सन्देश पहुँच जाता है। इसीलिए राजनीति विज्ञान के शिक्षण में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, ताकि बच्चों को सचमुच मानक ज्ञान दिया जाए। अन्यथा लापरवाही में हम उनके मस्तिष्क को छिछले विचारों से भ्रष्ट कर सकते हैं। यह उनके साथ छल करना है।

किसी अन्य विषय में शब्दों का इतना ढीला-ढाला या लापरवाही से प्रयोग नहीं होता जितना राजनीति में। कॉर्नवेल लेविस ने सन् 1832 में ही एक पुस्तक लिखी थी, 'ऑन द यूज एण्ड एब्यूज ऑफ पोलिटिकल टर्म्स।' उसकी आवश्यकता आज पहले से कई गुना बढ़ गई है, क्योंकि राजनीतिक शब्दों के साथ-साथ नारों, मुहावरों की बाढ़ आ गई है। उनके उपयोग के साथ-साथ दुरुपयोग भी बढ़ गया है। इसलिए हर लोकतान्त्रिक देश में, हरेक पीढ़ी के लिए ऐसी पुस्तक फिर-फिर लिखी जानी चाहिए। हमारे देश में तो अभी तक ऐसी कोई पुस्तक लिखी ही नहीं गई। इसका एक कारण तो यह भी है कि स्वयं लेखकों में ही ऐसा प्रभावशाली वर्ग है जो राजनीतिक शब्दों का दुरुपयोग करता है। वह हरेक परिघटना और स्थिति का अपना कुपाठ करता है, और वही प्रचारित करता है। इसलिए इसमें उसकी रुचि ही नहीं है कि विद्यार्थी किसी शब्द और संस्था को पहले अपने मूल और सम्पूर्ण अर्थ में जाने। जबकि राजनीति विज्ञान की शिक्षा में यह पहली और अपरिहार्य आवश्यकता है कि विद्यार्थी राजनीतिक शब्दों को सही अर्थ में, अच्छे उपकरण की तरह, सधा प्रयोग करना सीख सके। दूसरी है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक संस्थाओं की संरचना और कार्य की पक्की जानकारी कि वे क्या हैं, उनके अंग, उपांग क्या हैं और वे कौन-से काम करते हैं। इन संस्थाओं में केवल राजकीय व राजनीतिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक संस्थाएँ और संगठन आदि भी शामिल हैं। यह सब प्राथमिक विवरण बताना, जानना कितना भी उबाऊ लगे, इसे छोड़कर आगे बढ़ना विद्यार्थी को अन्धकार में ढकेलने के समान है। तीसरा और अन्तिम तत्त्व है राजनीतिक सिद्धान्त, जिसे वयस्क अनुभव के बाद ही ठीक से समझना सम्भव है। इन तीनों से ही राजनीति का व्याकरण बनता है। इसकी व्यवस्थित जानकारी पहले पाए बिना राजनीतिक टीका-टिप्पणी, फिकरे कसना, केवल भीड़-मनोवृत्ति का शगल है। रोचक बनाने के नाम पर पर्चे, पोस्टर और कार्टूनों से पाठ्य-पुस्तक को भर देना एक छिछली आत्म-प्रवंचना है। वह कोई राजनीति का ज्ञान देना कतई नहीं। ठीक उसी तरह जैसे सड़क पर रंग-बिरंगी गालियाँ सीख लेना किसी बच्चे का शिक्षित हो जाना नहीं है।

राजनीतिक सिद्धान्त तो इतना दुरूह, सामान्य अनुभव से दूर का विषय है कि निचली कक्षा के बच्चे तो इसे समझ ही नहीं सकते। स्कूली बच्चों को तो केवल इसका अप्रत्यक्ष संकेत भर कर देना ही उपयुक्त है, ताकि वे इतना जान लें कि सिद्धान्तों को जानने के बाद ही राजनीतिक घटनाओं का मूल्यांकन कर सकना सम्भव होता है। जैसे, चुनावी जीत क्या है? बिना लोकतन्त्र, तानाशाही, तथा इन दोनों के विविध अनुभवों की ठोस जानकारी तथा किसी देश-काल विशेष में विभिन्न राजनीतिक दलों, नेताओं, संस्थाओं की राजनीतिक प्रवृत्तियों आदि की सैद्धान्तिक समझ के किसी चुनावी परिणाम का गम्भीर मूल्यांकन नहीं हो सकता। उसके बिना तो लोग, जब जैसी स्थिति हो, किसी संस्था, घटना, अथवा किसी गोर्बाचेव या वाजपेयी की जीत-हार की भरपूर प्रशंसा या निन्दा करने लगते हैं। यह भीड़-मनोवृत्ति का शगल है, जो चंडूखाने की गप से अधिक मूल्य नहीं रखती। कार्टून आदि प्रायः इसी तात्कालिकता को व्यक्त करते हैं। यह कोई राजनीति शास्त्र का ज्ञान नहीं, बल्कि उल्टा है।

किसी राजनीतिक घटना का मूल्यांकन करने की समझ राजनीतिक सिद्धान्त के ज्ञान से ही मिलती है। वह केवल अखबार पढ़ने, टी.वी. देखने या भाषणबाजी से कभी नहीं मिल सकती। उसे उसी तरह परिश्रम करके ही जाना जा सकता है जैसे इंजीनियरिंग या जीव-विज्ञान जाना जाता है। जैसे रोज लोगों को आते-जाते, व्यवहार करते देखकर शरीर की आन्तरिक संरचना, उसके अन्दर के विविध रोग-व्याधियों, तथा उपचार को नहीं जाना जा सकता; वही बात राजनीतिक जीवन के साथ भी है। राजनीतिक सिद्धान्त, विविध देशों, समाजों के विस्तृत अनुभवों को सुसंगत रूप से बिना जाने राजनीतिक क्षेत्र की समस्याओं की समझ विकसित नहीं हो सकती।

अतः स्कूली स्तर पर पहला और अन्तिम लक्ष्य यही रहना चाहिए कि बच्चे राजनीतिक पदों, शब्दों और संस्थाओं को पहले अपने सही अर्थ में समझें। संविधान,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कानून का मूल अर्थ, अन्य नियमों से उनका भेद; विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की संरचनात्मक रूप-रेखा, उनके कार्य, कानून बनने की विधि; समानता, स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय सुरक्षा, लोकप्रिय शासन और स्वशासन आदि की प्राथमिक समझ देना शिक्षण के केन्द्र में होने चाहिए। विद्यार्थी को किसी राजनीतिक शब्द, धारणा और संस्था की यह पकड़ हो जानी चाहिए कि वह है क्या? बच्चे संसद, न्यायालय आदि सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्थाओं को इस तरह ठीक-ठीक समझें कि दूसरों को भी उसकी पहचान करा सकें। उदाहरणों के साथ कि वे क्या काम करती हैं और क्या नहीं करतीं। यह सब मजाक के विषय नहीं हैं। किसी भी पाठ्य-पुस्तक या पाठ को पढ़कर या दूसरों को पढ़ाकर इसका परीक्षण किया जा सकता है, कि क्या वे इन मूल बिन्दुओं की समझ दे सकीं या नहीं। इस बुनियादी प्रश्न का इससे कोई सम्बन्ध ही नहीं है, कि कार्टूनों का क्या महत्त्व है, या कि डॉ. आम्बेडकर कितने महान थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर छायावादी गीत परम्परा और बच्चन

रामनिरंजन परिमलेन्दु*

महाकवि बच्चन नहीं, श्री बच्चन नहीं, बच्चन जी भी नहीं—मात्र बच्चन क्योंकि बच्चन हरिवंश राय का घरेलू नाम था। 19 फरवरी, 1960 को बच्चन ने मुझे स्वयं लिखा था—

"मेरा घरेलू नाम महाकवि के भार को नहीं उठा सकता। उसके आगे-पीछे 'श्री' और 'जी' भी नहीं सोहते। मेरे नाम के साथ अन्याय करनेवालों का भगवान भला करें।"

28 अगस्त, 57 के पत्र में भी उन्होंने मुझे लिखा था—"जो महाकवि लिखता है, मैं समझता हूँ वह मुझ पर व्यंग्य करता है—मैंने कौन-सा पाप किया है कि मुझ पर व्यंग्य किया जाए?"

इसके पूर्व 2 सितम्बर, 1957 के पत्र में भी उन्होंने मुझे लिखा था—"आप मुझे महाकवि समझें आपको अधिकार है पर मुझे महाकवि कहने में आपको मेरी भावनाओं का ध्यान रखना चाहिए। मुझे यह बुरा लगता है।"

बच्चन नहीं चाहते थे कि उनके साहित्य पर डॉक्टरेट उपाधि हेतु शोध कार्य हो। 1968 में किसी अनुसन्धाता ने उनके काव्य पर शोध कार्य कर पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त की थी। मैंने उन्हें जब यह सूचना दी तो यह जानकर वे उदास हो गए थे। अपने ऊपर लिखा जाना वे बहुत पसन्द नहीं करते थे। 12 जून, 57 को मेरे नाम लिखित एक पत्र में उन्होंने कहा था—

"मेरे ऊपर दूसरों के लिखने का समय अभी नहीं आया। अभी तो मैं ही अपने ऊपर लिख रहा हूँ। उसका उचित समय तब होगा, यदि होगा भी तो, जब मेरे हाथ से मेरी लेखनी छूट पड़ेगी।"

आज बच्चन नहीं हैं, उनके हाथ से लेखनी सदा के लिए छूट गई है। अतएव उन पर कुछ कहूँगा।

* डॉ. रामनिरंजन परिमलेन्दु, पूर्व युनिवर्सिटी प्रोफेसर (हिन्दी) बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर; सम्पर्क : दक्षिण दरवाजा, गया 823001 (बिहार); मो. 09470853118

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर छायावादी गीत-परम्परा में अनेक कवि हुए। उनके नाम गिनाना मेरा यहाँ उद्देश्य नहीं है। उनमें अधिकतर ऐसे भी हुए जो विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो गए। किन्तु इस परम्परा में सर्वाधिक लोकप्रिय, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि बच्चन ही हुए—गीतों के राजकुमार ही नहीं, गीतों के युवराज भी और वे कालान्तर में गीतों के सम्राट भी बन गए। जनता ने उन्हें गीतों का सम्राट घोषित किया। वे जनता के हृदय-सम्राट थे।

21 जनवरी, 59 के पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था—"मेरा ऐसा ख्याल है कि छायावादी अपनी व्यक्तिगत वेदना को ही परमात्मा के विरह की पीर बनाकर कहते थे जैसे रीतिकाल के कवि अपनी वासना को राधाकृष्ण पर आरोपित कर सकते थे। समाज और युग ने व्यक्ति को अपना सुख-दुःख, अपनी आस-प्यास-वासना कहने की हिम्मत न दी थी। इसी से मैं छायावाद की आध्यात्मिक वेदना को नकली मानता हूँ।"

छायावाद की नकली आध्यात्मिक वेदना के दौर के बाद हिन्दी काव्य-गगन में बच्चन का उदय हुआ। खैयाम का अनुवाद करने के पहले भी बच्चन कविताएँ करते थे। ये कविताएँ 'आरम्भिक रचनाएँ' (भाग-1 और 2) में हैं।

कविताएँ करने के पूर्व बच्चन को कविता पढ़ने की आदत भी थी। मोहनलाल महतो वियोगी के *निर्माल्य* और *एकतारा* काव्य-पुस्तकों का अध्ययन भी उन्होंने किया था। *मधुशाला* की रचना-प्रक्रिया में *निर्माल्य* और *एकतारा* की मधु सम्बन्धी पंक्तियाँ भी उनके अवचेतन में थीं। इसके अतिरिक्त, भारतेन्दु, बालकृष्ण शर्मा नवीन, भगवती-चरण वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी आदि ने भी मृत्यु पर बहुत कुछ लिखे थे जिनसे वे सुपरिचित थे। उर्दू का नब्बे प्रतिशत काव्य इश्किया शायरी ही है जिससे वे सुपरिचित थे। इन सबका प्रभाव *मधुशाला* की रचना-धारा पर ज्ञात और अज्ञात रूप से पड़ा था। 8 मई, 1961 को लिखित अपने एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था—

"कविता लिखना आरम्भ करने के पूर्व ही मुझे कविता पढ़ने की लत लग गई थी। मैंने वियोगी जी की उस समय प्राप्त समस्त रचनाएँ पढ़ी ही नहीं थी, खरीदी भी थी, तभी की खरीदी शायद *निर्माल्य* और *एकतारा* अब भी मेरे पुस्तकालय में है। *मधुशाला* लिखते समय *निर्माल्य* की मधु सम्बन्धी पंक्तियाँ मेरे अवचेतन में रही हों तो कोई आश्चर्य नहीं। मृत्यु पर लिखे और बहुत-से भी मैं परिचित था। हिन्दी में भी मेरे पूर्व ये प्रतीक भारतेन्दु, नवीन, भगवतीचरण वर्मा, पन्त, महादेवी जी द्वारा प्रयुक्त हो चुके थे। उर्दू का तो 90 प्रतिशत काव्य ही इससे भरा है और उससे भी मेरा परिचय था। मनुष्य अपने पूर्वजों का कितना ऋणी होता है। उन सब का मेरा मधु सम्बन्धी रचनाओं में योग होगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

29 फरवरी, 1960 को मुझे लिखित एक पत्र में बच्चन ने स्वीकार किया था—"खैयाम ने मेरे आगे रखा—रूप, रंग, रस की एक नई दुनिया। साथ ही देश-काल की अनन्तता के समक्ष मानव की अल्पता का भी बोध कराया। उनकी कविता से मेरी भावप्रवणता जगी और सचेत हुई।"

बच्चन द्वारा खैयाम के अनुवाद करने के पश्चात् *मधुशाला* की रचना हुई। यह बच्चन की सर्वाधिक लोकप्रिय कृति है। *मधुशाला* सर्वप्रथम 1935 में प्रकाशित हुई थी। 27 अगस्त, 1933 को इसकी पहली भूमिका बच्चन ने लिखी थी। उस समय तक *रुबाइयात उमर खैयाम* की समता पर *मधुशाला* में 75 रूबाइयाँ थीं। दिसम्बर 1933 तक, जब इनमें से कुछ *सरस्वती* में प्रकाशित हुईं, इनकी संख्या 108 तक हो गई और मार्च 1934 में संग्रह-रूप में प्रकाशनार्थ अभ्युदय प्रेस, इलाहाबाद में दी गई तो यह अपने वर्तमान स्वरूप में अवतरित हुई। अभ्युदय प्रेस से इसका प्रकाशन नहीं हो सका, क्योंकि मुद्रण-व्यय की क्षमता कवि को नहीं थी। बच्चन ने इसके पुस्तकाकार प्रकाशन के पूर्व पहली बार दिसम्बर 1933 में शिवाजी हाल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में *मधुशाला* का पाठ किया था—प्रोफेसर मनोरंजन प्रसाद सिन्हा के सभापतित्व में आयोजित कवि-सम्मेलन में। *मधुशाला* के ग्यारहवें संस्करण की भूमिका में बच्चन ने लिखा था कि लगभग एक लाख लोग उसे पढ़ चुके होंगे। हिन्द पाकेट बुक्स की 100वीं पुस्तक के रूप में बच्चन की *मधुशाला* का प्रकाशन 1962 में हुआ था, जिसके टाइटिल पेज पर यह वाक्य अभिलेखबद्ध था—"मधुशाला की अब तक एक लाख प्रतियाँ बिक चुकी हैं।"

बच्चन ने *मधुशाला* की चौथी रूबाई में स्वयं कहा था—

कभी न कण-भर खाली होगा,
लाख पिएँ, दो लाख पिएँ!

बच्चन ने स्वयं कहा है—"*मधुशाला* की लोकप्रियता मेरे लिए भी एक समस्या है। मैं उसे हजारों की सभा में सैकड़ों बार सुना चुका हूँ, पर आज भी जब कविता सुनाने को खड़ा होता हूँ, तो एक स्वर में जनता मधुशाला की माँग करती है। मेरी पुस्तकों में वह *मधुशाला* ही सबसे अधिक पढ़ती भी है।" (*मधुशाला* : हिन्द पाकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, 1962 ई., परिशिष्ट, पृ. 83)

शराब जैसे-जैसे पुरानी पड़ती है, वैसे-वैसे उसका नशा तीव्रतर होता जाता है। इसलिए, बच्चन ने एक रूबाई लिखी—

बहुतों के सिर चार दिनों तक
चढ़कर उतर गई हाला,
बहुतों के हाथों में दो दिन
छलक-झलक रीता प्याला,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर बढ़ती तासीर सुरा की
साथ समय के, इससे ही
और पुरानी होकर मेरी
और नशीली मधुशाला।

मधुशाला के परिशिष्ट में एक वक्तव्य में बच्चन ने कहा था—

“*मधुशाला* के बहुत-से पाठक और श्रोता एक समय समझा करते थे, कुछ शायद अब भी समझते हों कि इसका लेखक दिन-रात मदिरा के नशे में चूर रहता है। वास्तविकता यह है कि ‘मदिरा नामधारी द्रव’ से मेरा परिचय अक्षरशः बरायनाम है। नशे से इनकार नहीं करूँगा। जिन्दगी ही एक नशा है। कविता भी एक नशा है। और भी बहुत-से नशे हैं।”

अपने काव्य-प्रेमियों के भ्रम निवारणार्थ बच्चन ने कभी एक रूबाई लिखी थी-

स्वयं नहीं पीता, औरों को,
किन्तु पिला देता हाला,
स्वयं नहीं छूता, औरों को,
पर पकड़ा देता प्याला,
पर उपदेश कुशल बहुतेरों
से मैंने यह सीखा है,
स्वयं नहीं जाता, औरों को
पहुँचा देता मधुशाला।

इसके बावजूद प्रश्नों की बौछार बच्चन झेलते रहे : आप पीते नहीं तो आपको मदिरा पर लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिलती है?

बच्चन कायस्थ कुलोद्भव थे, जो पीने के लिए प्रसिद्ध था। किन्तु वे अमोढ़ा के कायस्थ थे जिनके यहाँ किंवदन्ती थी कि यदि कोई मदिरा का सेवन करेगा तो उसे कुष्ठ हो जाएगा। और उनके एक वंशज़ ने मदिरा पर *मधुशाला* की रचना कर डाली, मदिरा की इतनी ‘वकालत’ की—

मैं कायस्थ कुलोद्भव, मेरे
पुरखों ने इतना ढाला,
मेरे तन के लोहू में है
पचहत्तर प्रतिशत हाला,
पुश्तैनी अधिकार मुझे है
मदिरालय के आँगन पर
मेरे दादों-परदादों के
हाथ बिकी थी मधुशाला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मधुशाला की विलक्षण और अभूतपूर्व लोकप्रियता आधुनिक हिन्दी काव्य के इतिहास में एक अविस्मरणीय महान ऐतिहासिक घटना ही है। विद्यापति और तुलसी के बाद बच्चन की *मधुशाला* ही सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। मैं तुलना नहीं कर रहा, उदाहरण दे रहा हूँ। सुमित्रानन्दन पन्त के अनुसार, *मधुशाला* की मादकता अक्षय है।

पुनः कहूँगा, दिसम्बर 1933 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयोजित कवि सम्मेलन में जब *मधुशाला* का प्रथम सार्वजनिक पाठ हुआ था, तब से आज तक इसकी लोकप्रियता में कभी कमी नहीं हुई। उक्त कवि सम्मेलन के सभापति मनोरंजन जी के अनुसार,

"दिन बच्चन का ही था। मस्ती के साथ झूम-झूमकर जब उसने अपने सुललित कण्ठ से *मधुशाला* को सस्वर सुनाना शुरू किया तो सभी श्रोता झूम उठे। नवयुवक विद्यार्थी ही नहीं, बड़े-बूढ़े भी झूम उठे। स्वयं मेरे ऊपर भी उसका नशा छा गया था।...बस, स्वरलहरी में लहराना, मद की मस्ती में झूमना और हर चौथी पंक्ति के अन्त में जब मधुशाला का उच्चारण हो तो बरबस गायक के साथ स्वयं भी आवृत्ति करना; और यह बात प्रायः प्रत्येक श्रोता के साथ थी।

...शाम को सम्मेलन समाप्त हुआ और रात-भर मैं उसी धुन में रहा—सुबह तक खुमारी रही।

...उस शाम बच्चन को सुनकर नवयुवक पागल हो रहे थे। पागल मैं भी हो रहा था...दूसरे दिन के कवि-सम्मेलन में जो केवल *मधुशाला* का सम्मेलन था—बच्चन का और मेरा सम्मेलन था—*मधुशाला* का सर्वप्रथम कवि-सम्मेलन—केवल *मधुशाला* का।

...बात ऐसी हुई कि पहले दिन बच्चन ने जब *मधुशाला* सुनाई थी तब सम्मेलन में उतने विद्यार्थी न थे। जब उसकी शोहरत फैली और अनेकानेक कण्ठों से छात्रावासों में तथा इधर-उधर *मधुशाला* की मादक पंक्तियाँ निकलने लगीं—हवा में थिकरने लगीं—तो जिन लोगों ने न सुना था वे भी पागल हो गए—जिन लोगों ने सुना था वे तो पागल थे ही बस, सभी का आग्रह हुआ कि एक बार फिर बच्चन जी का कविता पाठ हो—केवल बच्चन जी का—केवल *मधुशाला* का।

...बच्चन जी ने कविता-पाठ शुरू किया। लड़के झूमने लगे।...सभी आत्मविभोर से थे, किन्तु आखिर इंटरवल की आवश्यकता हुई ही, और तब मैंने अपनी चीज पेश की जो शराब के साथ के 'चिखने' के समान थी—महज जायका बदलने के लिए। लोगों का काफी मनोरंजन हुआ।"

मनोरंजन जी बच्चन के प्रथम पैरोडिस्ट थे। उनकी कविता-पुस्तक 'गुनगुन' का प्रकाशन 1937 में हुआ। उसमें उन्होंने 'मधुगीत' शीर्षक की *मधुशाला* की पैरोडी में आठ रूबाइयाँ दी थीं और उस कविता-पुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा था—"प्रयाग के प्रतिभाशाली कवि श्रीयुत बच्चन जी ने हिन्दी में *मधुशाला* की रचना करके एक नई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारा बहाई है, जो हमारे साहित्य के लिए ही नहीं, बल्कि हमारी इधर की संस्कृति के लिए भी बिलकुल नई है।"

मासिक पत्र *विश्वामित्र*, मई 1936, में मनोरंजन जी ने *मधुशाला* की विडम्बना का प्रकाशन कराया था और तुलनात्मक विवेचना के लिए बच्चन की कविता भी साथ में दे दी थी। यह तथ्य भी *मधुशाला* की लोकप्रियता का प्रमाण है।

किन्तु *मधुशाला* की लोकप्रियता का रहस्य क्या है? *मधुशाला* सर्वाधिक लोकप्रिय क्यों है? यह प्रश्न मैंने *मधुशाला* के रचयिता से ही किया था। 20 दिसम्बर, 1957 को मेरे नाम लिखित एक पत्र में बच्चन ने कहा था—"किसी कृति की लोकप्रियता यदि स्थायी हो तो उसके पीछे जीवन की किसी बड़ी सच्चाई को विश्वास किया जाना चाहिए। जीवन की सच्चाई का आधार पाए बिना कृति बिलकुल लँगड़ी है।"

किन्तु कविता का अन्तिम सत्य क्या है—जनस्वीकृति? या समय-स्वीकृति? मैं जनस्वीकृति को कविता का अन्तिम सत्य नहीं मानता। सिनेमा के कुछ पुराने गीतों को जनस्वीकृति मिल गई। किन्तु इसे मैं कविता का अन्तिम सत्य नहीं मान सकता। बच्चन से इस विषय पर मेरा विमर्श हुआ था। 19 अगस्त, 1958 के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—"कविता के अन्तिम सत्य के लिए अगर जनस्वीकृति पर्याप्त न हो तो मैं समय स्वीकृति भी जोड़ देना चाहूँगा।"

5 फरवरी, 1959 को मेरे नाम लिखित एक पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था—

"मैं *मधुशाला* या अपनी किसी रचना की आलोचना पर नाराज नहीं होता। अपनी रचनाओं के प्रति निष्पक्ष होना मेरे लिए सम्भव नहीं। मेरी प्रत्याशा से बहुत अधिक लोगों ने उनसे कुछ रस-आनन्द पाया है।"

उक्त पत्र में बच्चन ने मुझे पुनः लिखा—

"जो *मधुशाला* को शराब की व्याख्या भर समझेगा वह मुझे समझने में गलती कर रहा है। मैं किसी का विरोध नहीं करता...सबको अधिकार है अपनी कहो, मुझे अपनी कहने से न रोको। रोकनेवाले हैं मेरे श्रोता-पाठक। वे जिस दिन मुझसे मुँह फेर देंगे—कान बन्द कर लेंगे उस दिन भी मुझे अपने लिए लिखने का अधिकार तो होगा।"

मुझे सम्बोधित 20 फरवरी, 1959 के पत्र में बच्चन ने लिखा था—

"*मधुशाला* के लेखक ने शराब नहीं पी। ग्यारहवें संस्करण की भूमिका में कुछ ऐसे आरोपों के उत्तर में जो बात मुक्त जी ने श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी से की थी, उसका उल्लेख है। *मधुशाला* से पहले भी शराब पर बहुत लिखा जा चुका है। यदि उस सबको शराब का प्रचार करने का उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते तो बेचारी *मधुशाला* को क्यों दोष देंगे। जो शराब पीना चाहते हैं उन्हें *मधुशाला* की आड़ लेने की जरूरत नहीं। पीनेवाले ऐसे हैं जो खूब पीते हैं—*मधुशाला* की छाया भी उनके पास नहीं पहुँची। *मधुशाला* प्रतीक है—जीवन, यौवन, प्यार, प्रीत, शृंगार, स्वप्न, सत्य, आशा, आकांक्षा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निराशा, संघर्ष—अर्थात् उन सब चीजों को जो मानव-मन को मथती-विचलित करती हैं, जिसकी जैसी रुचि थी उसने वैसी देखी *मधुशाला*। मैं फिर कहूँगा कि जिसने *मधुशाला* में केवल शराब देखी है, उसने न कभी कविता समझी है, न कभी कवि को। भगवान से मैं तो उसी की प्रार्थना कर सकता हूँ कि मेरी पुस्तक अनधिकारियों के हाथों में न पड़े।"

हस्ताक्षर के बाद लाल स्याही से बच्चन ने मुझे उसी पत्र के अन्त में लिखा था—"स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने एक बार मुझे कहा था कि तुम्हारी *मधुशाला* में मुझे 'शराब' नहीं मिली।"

मधुशाला मदिरा का प्रचार है। इस प्रकार की अनेक गलत भ्रान्तियाँ एक लम्बे अर्से से प्रचलित रही हैं। मैंने बच्चन का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हुए 1957 में कहा था कि आप इन भ्रान्तियों का खण्डन क्यों नहीं करते। किन्तु उन्होंने कहा कि "मेरे पास सीमित समय-शक्ति है। मूर्खताओं का उत्तर दूँ या किसी रचनात्मक कार्य में लगाऊँ।" 10 अक्टूबर, 1957 को उन्होंने मुझे पत्र लिखा—

"*मधुशाला* में जितनी सामाजिक चेतना मैं आत्मसात कर सका हूँ शायद उसका प्रतिबिम्ब है।"

किन्तु *मधुशाला* लिखने की एक उम्र होती है। इसीलिए, 11 सितम्बर, 1957 के एक पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा—"मैंने कब कहा कि आप *मधुशाला* दें। *मधुशाला* न आप दे सकते हैं—न मैं दे सकता हूँ।"

उमर खैयाम बच्चन से कभी भी अलग नहीं हो सका। उनके चेतन ही नहीं, अवचेतन में उमर खैयाम कहीं-न-कहीं अवश्य उपस्थित रहा है। इस तथ्य पर बच्चन की भी सहमति रही है। 5 फरवरी, 1959 को मेरे नाम लिखित एक पत्र में बच्चन ने स्वीकार किया था कि "गुजरने को तो मैं *बुद्ध और नाचघर* की स्थिति से भी गुजर चुका हूँ। पर उमर खैयाम भी कहीं मेरे अवचेतन में अभी भी है और शायद कभी भी सर्वथा बाहर न हो सकेगा। बाहरी और सतही बातों को छोड़ दें तो उमर खैयाम की कविता ने मुझे नियति, प्रवृत्ति, संस्कृति की महानता, आकर्षण और भयंकरता के समक्ष अकेला पाकर खड़ा कर दिया। उस अनुभूति से अब भी काँप उठता हूँ—मनुष्य एक स्थान पर सर्वथा अकेला है।"

उत्तर छायावादी गीत परम्परा में बच्चन के गीतों की स्पष्टता और पारदर्शिता विलक्षण ही है। 2 सितम्बर, 1957 को एक पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था—

"कविता की स्पष्टता कवि के जीवन और भावों की स्पष्टता से आती है। जो स्वयं अस्पष्ट है उसकी कविता स्पष्ट नहीं हो सकती।"

इसीलिए, बच्चन ने कभी भी *तारसप्तक* को महत्त्व नहीं दिया। 28 अगस्त, 1957 के एक पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तारसप्तक वह बच्चा है जो अपनी माँ के पेट से मरा हुआ पैदा हुआ था। अज्ञेय जी अपने जीवन भर उसमें साँसें डालने के लिए उस पर उचके लगाते रहे हैं। उनकी कोई देन नहीं है और है भी तो कोई ऐसी नहीं जो और तरफ से भी नहीं आई। अज्ञेय जी ने साहित्यकारों के दल में नेता बनने के लिए उसे झंडे की तरह उपयोग किया है।"

मेरे नाम से सम्बोधित 11 सितम्बर, 1957 के एक पत्र में बच्चन ने कहा था कि *तारसप्तक* जब प्रकाशित हुआ था, मैंने उसे पढ़कर कूड़े की टोकरी में डाल दिया था। मेरे काम का वह नहीं था। हो सकता है दूसरों के काम का हो।

यह सत्य है कि दर्शन की परिधि इतनी व्यापक है कि उससे बचना किसी के लिए सम्भव नहीं। किन्तु किसी प्रकार के दर्शन से बँधकर या किसी दार्शनिक विचारधारा के प्रचार हेतु *मधुशाला* की रचना नहीं की गई थी। इसकी रचना जीवन की शाश्वत पिपासा की अभिव्यक्ति के लिए ही कवि ने की थी, कविता लिखने के लिए ही इसकी रचना की गई थी। 11 जुलाई, 1960 को मेरे नाम लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने कहा था–

"मैंने दर्शन देने के लिए *मधुशाला* नहीं लिखी थी, कविता लिखने के लिए लिखी थी और कविता लिखी थी जीवन की प्यास व्यक्त करने के लिए। इस प्यास को बहुत दिन से दबाया गया था, रोका गया था, इसकी उपेक्षा की गई थी, मुझसे यह नियन्त्रण तिरस्कार सहन नहीं हुआ। *मधुशाला* में फूट पड़ा और स्वाभाविक ही एक Exaggerated Form में। कहावत प्रसिद्ध है 'थोड़ कीन्ह रामचन्द्र बहुत कीन्ह कथकन।' *मधुशाला* के पीछे कौन दर्शन है–कौन नहीं है–है तो उसमें कितनी consistency है कितनी inconsistency यह सब 'कथकन' के लिए मैंने छोड़ दिया है। कविता में बहुत कुछ अंश अनजाने का भी होता है। लिखते समय मेरे मन के अनजाने कोनों से कौन-कौन ध्वनियाँ उठी हैं, वे कहाँ से आईं, उनका अर्थ क्या है यह मैं स्वयं नहीं जानता। इस कारण *मधुशाला* के बारे में कुछ कहनेवालों के प्रति प्रायः उदासीन ही रहा हूँ। शायद इसका प्रतिवाद किए बगैर मुझसे नहीं रहा गया कि *मधुशाला* की मदिरा ह्विस्की, ब्रैंडी, रम है। *मधुशाला* प्रतीक है शायद इसे अब सब लोग मान गए हैं।"

मधुशाला का अंग्रेजी अनुवाद *दि हाउस आफ वाइन* के नाम से अनुवादकद्वय कुमारी मार्जरी बोल्टन और रामस्वरूप व्यास ने किया था, जिसकी प्रस्तावना स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखी थी। इसका प्रकाशन 1950 में दि फारचून प्रेस, लन्दन से हुआ था। आधुनिक हिन्दी कविता की यह सबसे पहली पुस्तक थी जिसका अंग्रेजी अनुवाद हुआ और प्रकाशन लन्दन से हुआ।

बच्चन ने 23 फरवरी, 1960 को मुझे लिखा था–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"चूँकि आदर्श और नैतिकता हमारे जीवन में भार और बन्धन स्वरूप ही बन गए हैं–इसलिए *मधुशाला* में मानव स्वभाव की माँग कुछ अतिशयता से व्यक्त हुई है। *मधुशाला* उपेक्षित मानव स्वभाव के विद्रोह की हुंकार है। वस्तुतः वह संकुचित मनोवृत्ति का काव्य नहीं। कभी किसी वस्तु की ओर अधिक ध्यान आकर्षित करने के लिए उसे बढ़ाकर दिखाया जाता है।"

बच्चन ने कभी एक पत्र में मुझे लिखा था–"छायावाद की छत पर पहला गोला *मधुशाला* की मुरेड़ से फेंका गया था।" यह तथ्य *मधुशाला* की श्रेष्ठ उपलब्धि है।

यह सत्य है कि "जब कोई रचना किसी युग-समाज की संश्लिष्टि बनती है तब वह रस के उस उत्स को छू लेती है जो हर युग-समाज के लिए एक ही होता है। मेरा कहना तो ठीक नहीं, पर मुझे लगता है कि *मधुशाला* कुछ इसी प्रकार की रचना अपने को सिद्ध कर रही है नहीं तो 30 वर्ष में युग पर्याप्त बदल चुका है। पाठ्य-पुस्तकों को छोड़ दें तो आज भी साधारण साहित्यिक रुचि से पढ़ी जानेवाली यह सबसे लोकप्रिय रचना है। कारण तो *मधुशाला* में ही खोजना होगा–

फिर भी पीनेवालों को है एक पहेली मधुशाला–2 मई 1962 को बच्चन ने मेरे नाम लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में ऐसा ही लिखा था। यह सत्य है।

मधुशाला के बाद 1936 में *मधुबाला,* 1937 में *मधुकलश* और नवम्बर 1938 में *निशा निमन्त्रण* का प्रथम प्रकाशन हुआ। *निशा निमन्त्रण* का प्रथम प्रकाशन सुषमा निकुंज, इलाहाबाद से हुआ था। *मधुबाला* और *मधुकलश* में *मधुशाला* की छाया है और उसका उपग्रह भी। नवम्बर 1936 में बच्चन की प्रथम पत्नी देवी श्यामा का निधन लम्बी बीमारी के बाद हो गया था। श्यामा से उनका विवाह 1926 में हुआ जब वे मात्र उन्नीस वर्ष के थे और इण्टरमीडिएट कक्षा के विद्यार्थी थे। उनके प्रथम वैवाहिक जीवन के दस वर्ष बहुत संघर्षपूर्ण और उथल-पुथल के थे। उनके मार्मिक निधन के पश्चात् बच्चन अत्यन्त मर्माहत हुए। उनके निधन के बाद एक वर्ष तक उन्होंने कुछ नहीं लिखा। *निशा निमन्त्रण* का पहला गीत दिसम्बर 1937 में लिखा गया। गीत प्रायः छह महीने में लिखे गए। प्रकाशन-क्रम में नहीं, पहला गीत था–'आओ सो जाएँ मर जाएँ।'

निशा निमन्त्रण के गीतों के पहले ड्राफ्ट में प्रत्येक गीत का रचना समय और स्थान का उल्लेख हुआ था। वह ड्राफ्ट बच्चन के कागजात में ही रह गया, जिसका अवलोकन करने का सौभाग्य अब तक किसी भी अनुसन्धाता को नहीं हो सका। उक्त फर्स्ट ड्राफ्ट का अविकल प्रकाशन होना चाहिए। एतदर्थ, मेगास्टार अमिताभ बच्चन से आग्रह किया जाए।

निशा निमन्त्रण के गीतों में, 'साथी' की परिकल्पना की गई है। इस सम्बन्ध में 12 मार्च, 1960 को मुझे लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने कहा था–"एक और मुझ-सा ही समय का मारा दिख गया था। उसने 'साथी' की कामना करने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेरणा दी–'आओ सो जाएँ' जैसे उसी साथी को सम्बोधन करके लिखा। साथी का अर्थ बदलता गया। कुछ गीतों में साथी से मेरा तात्पर्य अपने दिवंगत जीवन-साथी से ही है–साथी सो न, कर कुछ बात।"

'बात करते सो गया तू'–सो गया, मतलब मर गया।

पूर्ण कर दे वह कहानी–जीवन की, जो तू कह रहा था–जी रहा था–वह कहानी कहते-कहते तू सो गया। मैं उस कहानी को हर रात दुहराता हूँ। यहाँ तक आता हूँ तो तू सो जाता है–कौन बताए आगे क्या हुआ?...आदि जिसका हर निशा में, अन्त चिर अज्ञात।"

किन्तु *निशा निमन्त्रण* के अनेक गीतों का तथाकथित 'साथी' कौन था? उसका नाम-पता? जिज्ञासावश मैंने *निशा निमंत्रण* के कवि से पूछा था। *निशा निमन्त्रण* का नामकरण कैसे हुआ? उसके नामकरण का इतिहास और उसके विभिन्न गीतों की रचना-प्रक्रिया जानने की मेरी प्रबल इच्छा रही है। मेरी इस जिज्ञासा और इच्छा के सन्दर्भ में बच्चन ने 3 अप्रैल, 1960 को मुझे एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा था–

"साथी के नाम-पते से किसी को कोई लाभ न होगा। उसमें जो मैंने देखा वह कोई दूसरा न देख सकेगा। उससे जो प्रेरणा ली जा सकती थी वह मैंने ले ली और वह *निशा निमन्त्रण* के गीतों में है। आखिरी गीतों में मैंने उससे विदा ले ली "जाओ कल्पित साथी मन के।

"अपने वेदनापूर्ण दिनों में मुझे रात को नींद न आती थी, पर रात को जो शान्ति छाती थी उसमें ऐसा लगता था कि जैसे कोई घावों को सहला रहा है, उसी में गीत फूटने से लगते थे। उसी में वेदना कला बनती थी। निशा जैसे निमन्त्रित करती थी–मेरे पास आओ, अपना दुःख सुनाओ–मैं सुनूंगी। दिन को ऐसी फुरसत कहाँ कुछ इन्हीं भावों से इन गीतों को मैंने *निशा निमन्त्रण* कहा। और कोई प्रसंग तो याद नहीं। शायद बहुत से गीतों को बिना संग्रह का नाम सोचे लिखा। संग्रह का विचार आया होगा तो नाभ सूझा होगा। पाण्डुलिपियों में शायद कोई संकेत हो। फिर भी यह सब सतही बातें हैं। मुख्य बात है कि गीतों से कैसी प्रतिक्रिया लोगों के मन में होती है।"

पुनः 26 अप्रैल, 1960 के व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा–

" 'साथी' ने केवल मुँह खोलने की प्रेरणा दी। मैं जो उसमें देख रहा था उसका शायद ही उसका पता हो। इसी कारण उसे मैंने 'कल्पित' कहा। मैंने उस पर अपनी भावनाओं का आरोप कर दिया था कि वह स्थूल objective कहाँ रह गया था। कल्पित तो हो ही गया था और उसकी ध्वनि से मैंने एक और अर्थ suggest किया था। पहले आप अनुमान करें। फिर मैं बताऊँगा।"

पुनः 17 मई, 1960 को बच्चन ने मुझे लिखा–"साथी वह भी है जिसे मैंने अपने दुःख के गीत सुनाए। साथी वह भी है जिसके दुःख से मैंने गीत सुनाए और मेरे दुःख का कारण केवल साथी ही नहीं है कुछ और भी है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10 अक्टूबर, 1957 को बच्चन ने मुझे लिखा—"व्यक्ति का संघर्ष भी युग के संघर्ष का एक पक्ष होता है।...युग को व्यापक दृष्टि से देखेंगे तो उसमें *निशा निमन्त्रण* के लिए शायद स्थान दिखाई पड़े।"

25 फरवरी, 1960 को लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था—

"*निशा निमन्त्रण* व्यक्ति का अज्ञात के आघात से उठने का काव्य है—रोकर, गाकर, श्रम कर, साहस कर। निशा निमन्त्रण निराशावाद के साथ संघर्ष है। आशावादी होना मानव का स्वभाव है।"

इसीलिए, बच्चन ने *निशा निमन्त्रण* के बाद कहा था—

"है अँधेरी रात तो दिवा जलाना कब मना है?"

1 मार्च, 1960 को बच्चन ने मेरे नाम लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में स्वीकार किया था—

"समष्टि के आन्दोलन ने व्यक्ति को इतना नहीं समेटा था कि वह अपने निजी घावों को भूल जाए। कभी समाज की त्रुटियों पर भी ध्यान देना चाहिए। समाज आज भी इतना विकसित नहीं कि व्यक्ति अपनी समस्याओं को बिलकुल भूल जाए। और पूर्ण विकसित समाज में भी व्यक्ति की इकाई लुप्त न हो सकेगी या न होनी चाहिए। बूँद-बूँद से समुद्र बनता है, पर मानव के सन्दर्भ में कभी बूँद को समुद्र से बड़ा भी मानना होगा। किसी-किसी अवस्था में समुद्र से अलग भी। बूँद हूँ, समुद्र में मिलकर अपनी विशालता का अनुभव करना स्वस्थ समझता हूँ। पर समुद्र मुझे खाना चाहेगा तो विद्रोह करूँगा। व्यक्ति का सम्बन्ध केवल समष्टि के सम्बन्ध तक सीमित नहीं है। उसकी एक दिशा (Dimension) देश-काल की परिधि की पकड़ से बाहर भी है।"

निशा निमन्त्रण की रचना की सार्थकता के बीज उपर्युक्त पंक्तियों के आस-पास ही है। कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं।

बच्चन से मैंने 1957 में एक क्रूर प्रश्न किया था—जब देश जल रहा था, उस वक्त क्या *निशा निमंत्रण* उचित था? 28 अगस्त, 1957 के अपने व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा—

"जब देश जल रहा था उस वक्त क्या *निशा निमन्त्रण* उचित था? इसके जवाब में मुझे यह कहना है कि कविता लिखते समय मैं इस बात का विचार नहीं करता कि वह लिखना उचित है कि नहीं। मैं केवल देखता हूँ, मैं जो लिख रहा हूँ वह बलपूर्वक उतर रहा है कि नहीं। जो मेरे दिल को फाड़कर निकल रहा है यदि वह उचित नहीं है तो संसार में कुछ भी उचित नहीं है।"

निशा निमन्त्रण बच्चन की प्रथम पत्नी देवी श्यामा के मार्मिक और असामयिक दुःखद निधन की पीड़ा से उत्पन्न एक बहुमूल्य कृति है। यह कवि के जीवन के दुःखद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोड़ की रचना है। इसीलिए, बच्चन ने 16 अप्रैल, 59 को मेरे नाम लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में कहा था—

"जीवन के मोड़ से जो मोड़ कविता में आएगा, वही सच्चा मोड़ होगा—बाकी तोड़-मरोड़, मोड़ नहीं। जीवन की धारा ही कला की धारा बनती है।"

मैंने *निशा निमन्त्रण* के गीत-संसार को कभी निशा निमन्त्रणवाद कहा था। इस शब्द की गहराई तक बच्चन नहीं जा सके और *निशा निमन्त्रण* की सरल व्याख्या मेरे नाम लिखित 26 दिसम्बर, 1960 के पत्र में इस प्रकार कर दी—

"पता नहीं निशा निमन्त्रणवाद से आपका तात्पर्य क्या है? जीवन में दुःख आते हैं—दुःख की प्रतिक्रिया होती है—मैं तो इतना ही जानता हूँ। यही है निशा निमन्त्रण।"

1938 में *निशा निमन्त्रण* का प्रथम प्रकाशन हुआ। इसके अनुकरण पर अनेक नवयुवक कवि बन गए—इसके गीतों के अनुकरण पर अत्यधिक गीत लिखे गए। नवयुवकों, छात्र-कवियों को इसने सर्वाधिक प्रेरित-प्रभावित किया। मैं स्वयं 1950 के आस-पास इसके गीत अपने छात्रावस्था में अक्सर गुनगुनाया करता था। मेरे एक सम्बन्धी थे। 1942 के आस-पास वे *निशा निमन्त्रण* के शिल्प और भाव का अन्धानुकरण कर गीत लिखने में प्रवीण हो गए थे। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं।

एकान्त संगीत 1939, *आकुल अन्तर* 1943, *सतरंगिनी* 1945, *मिलनयामिनी* 1950 और *प्रणय पत्रिका* का प्रकाशन 1955 में हुआ। इन सबमें एक ही धारा है—वह धारा बच्चन की है, मात्र बच्चन की। *बंगाल का काल* और *हलाहल* 1946, *खादी के फूल* और *सूत की माला* का प्रकाशन 1948 में हुआ। ये चार काव्य-पुस्तकें *मधुशाला* और *प्रणय पत्रिका* की परम्परा से अलग हटकर हैं। यह सत्य है कि 1943 में *प्रारम्भिक रचनाएँ* (दो भाग और तीसरा भाग 1946) का प्रकाशन हुआ था। किन्तु दो भागों के इस संकलन में बच्चन के कवि-रूप के बीज मात्र हैं, उनमें प्रौढ़ता का अभाव है। 1957 में धार के इधर-उधर से बच्चन की भाव-धारा में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। तत्पश्चात् *बुद्ध और नाचघर* (1958), *आरती और अंगारे* (1958) और *त्रिभंगिमा* (1961) आदि *धार के इधर-उधर* के आगे की कड़ियाँ हैं।

10 अप्रैल, 1958 को मुझे सम्बोधित एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने कहा—

"मेरी कविता जीवन के साथ संघर्ष करनेवालों की कविता है, क्योंकि मैं जीवन में संघर्षशील व्यक्ति हूँ। मेरे पाठक मुझे ऐसा ही जानते हैं। जो मुझे ऐसा नहीं जानते वे मुझे नहीं जानते।"

एक बार दशहरे के सुअवसर पर मुझे शुभकामनाएँ प्रदान करते हुए बच्चन ने 24 सितम्बर, 1960 को मेरे नाम लिखित एक व्यक्तिगत पत्र में कहा था—"दशहरा आपको भी मंगलमय हो। दशहरा मात्र ही मेरी कविता का विषय है। दो शक्तियों का संघर्ष। संघर्ष को मेरी कविता ओर मेरे जीवन से निकाल देने पर 0 (शून्य) ही बचा रहेगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भी, "मैंने कब कहा कि मैं जिन्दगी का आखिरी सत्य देने आया हूँ। मैं जिन्दगी का यदि एक सत्य भी दे सकूँ तो अपने को धन्य समझूँगा।" 10 अप्रैल, 1958 को बच्चन ने मुझे ऐसा ही लिखा था।

बच्चन और सुमित्रानन्दन पन्त अभिन्न मित्र थे। किन्तु बच्चन में पन्त के विपरीत प्रकृति-चित्रण के प्रति विरक्ति ही थी। इसीलिए, 6 जनवरी, 1959 को बच्चन ने मुझे लिखा—"मुझे मनुष्य प्रकृति से अधिक प्रिय है।"

"प्रकृति को रंगमंच की पीठिका मात्र मान सकता हूँ—अभिनेत्री नहीं। पन्त जी का प्रेमी हूँ। प्रकृति का प्रेमी नहीं बन सका"—24 सितम्बर, 1960 को बच्चन ने मेरे नाम लिखित एक पत्र में यह कहा था।

व्यक्ति और समाज अलग-अलग नहीं—दोनों एक-दूसरे के अविच्छिन्न अंग हैं। 6 जनवरी, 1959 को बच्चन ने मुझे लिखा—"व्यक्ति और समाज को मैं अलग करके नहीं देखता। हो सकता है व्यक्ति अधिक उभरा दिख रहा हो। मेरी अनुभूति की सीमाएँ हैं, जैसे शायद सबकी होती हैं।"

मनुष्य का दुःख-दर्द, आशा-निराशा और पिपासा उसकी तृष्णा और वासना के गीत बच्चन के गीत हैं। उनमें रहस्यवादियों की तथाकथित वेदना नहीं है क्योंकि रहस्यवादियों की वेदना विश्वसनीय नहीं है। 6 जनवरी, 1959 के एक व्यक्तिगत पत्र में बच्चन ने मुझे लिखा था—

"महादेवी जी की वेदना को मैं अवज्ञा की दृष्टि से देखता रहा हूँ—क्योंकि वह मुझे नकली मालूम होती है। इतनी वेदना में तो उन्हें 'काशी-करवट' के लिए चले जाना था। पर वे सांसारिक व्यवहार में पर्याप्त कुशल हैं। रहस्यवादियों की सारी वेदना को मैं सन्देह की दृष्टि से देखता हूँ। इसलिए मैंने मानवी दुःख-दर्द, आशा-निराशा, तृष्णा-वासना को गाना शुरू किया। यह सब मेरी नस-नाड़ी में डोली है।"

बच्चन के गीतों में सच्चाई है। उनकी अनुभूत भावनाएँ हैं जो उनके गीतों में सदैव दीप्तिमान रही हैं। उनके लिए कला की व्याख्या जीवन की व्याख्या है। वे जीवनधारा के कवि हैं। 16 अप्रैल, 59 को उन्होंने मुझे लिखा—

"सच्चाई बहुत बड़ी चीज है। ईमानदारी से जो देखी, समझी, सही, कही जाए उसे ही मैं अपने लिए सच्चाई मान लूँगा।

मेरे लिए कला की व्याख्या जीवन की ही व्याख्या है। यानी जिसकी व्याख्या की जानी चाहिए। व्याख्या देने योग्य जीवन ही है, कला का रस लेना चाहिए। कुछ लोग फूलों की सुगन्ध लेने की बजाय उसकी पंखुड़ियों को नोचना शुरू कर देते हैं। वे समझते हैं वे फूल की व्याख्या कर रहे हैं। वैज्ञानिकों की महत्ता स्वीकार करूँगा। उनसे ईर्ष्या नहीं करूँगा।"

बच्चन ने कहा था—"प्यार से आगे नहीं कुछ भी कर्म है।" जब मैंने इस कथन पर उनसे वाद-विवाद किया तो उन्होंने 29 दिसम्बर, 59 के पत्र में मुझे लिखा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

" 'प्यार से आगे नहीं कुछ भी कर्म है' मुझे तो ठीक ही लगता है। प्यार का अर्थ केवल चूमा-चाटी नहीं है।

सारी साहित्यिक हलचलों का अन्तिम ध्येय यदि मनुष्य को मनुष्य के निकट मात्र नहीं है तो मेरे लिए साहित्य निरर्थक है। इसी को मैं 'प्यार' समझता हूँ।"

पुनः 12 जनवरी, 1960 के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा—"प्यार की धारणा मैंने अपने अनुभव के आधार पर बनाई है, किसी से सुन-सीखकर नहीं।"

बच्चन की रचनाओं में अहं का अन्त है, अहं का मिटना और मिटाना है। इस तथ्य की व्याख्या 20 जनवरी, 1960 को मेरे नाम लिखित पत्र में बच्चन ने स्वयं की है—

"कविता या कला में अहं को मिटाना यह है कि जो दूसरे या सबके हृदय में ध्वनित हो रहा है वह अपने हृदय में प्रतिध्वनित होने लगे। तब पाठक और कवि के बीच का अन्तर मिट जाता है। कवि कहता है—'कवि न होऊँ।' पाठक कहता है कवि ने उसके मुँह से बात छीन ली। यही तो मैं भी कहना चाहता था।"

29 सितम्बर, 1959 को बच्चन ने मेरे नाम लिखित एक पत्र में कहा था—

"*मधुशाला* हो या *आरती और अंगारे* या *बुद्ध और नाचघर*—ये सब मेरी पिछली भंगिमाएँ हैं। दिग्भ्रम न हो तो अब उनकी ओर लौटना सम्भव नहीं।"

बच्चन ने 26 दिसम्बर, 1960 को मेरे नाम सम्बोधित एक व्यक्तिगत पत्र में कहा था—

"मुझे जो कहना था—या जो मैं हूँ—वह मैंने अपनी रचनाओं में कह दिया है। क्षणवादी और शाश्वतवादी और भोगवादी और त्यागवादी—यह मैं साथ-ही-साथ रहा हूँ—क्योंकि मैं जीवन से स्फुरित रहा हूँ और जीवन वाद नहीं है—वह यह सब है और उससे अधिक भी—

हमें जग जीवन से अनुराग
हमें जग जीवन से विद्रोह
उसे क्या समझेंगे वे लोग
जिन्हें सीमा बंधन का मोह।

यह एक सर्वप्रिय कवि की वाणी है—हाँ, बच्चन एक सर्वप्रिय कवि ही थे। मैंने 1965 में उनसे पूछा था कि सर्वपूज्य सन्त, सर्वप्रिय लेखक या चिन्तक या शुद्ध कवि, सर्वसत्ता-प्राप्त राजनीतिक नेता...आप इनमें से कौन-सा होना पसन्द करेंगे? बच्चन ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा था—सर्वप्रिय कवि। यही बच्चन की काव्य-साधना का निष्कर्ष है।

1 फरवरी, 1960 को बच्चन ने मुझे पुनः लिखा—

"अहं को मिटाकर ही सच्चा व्यक्तित्व प्राप्त होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"प्यार पूजा से ऊँचा है। प्रेम श्रद्धा से। प्रेम की ऊँचाई न पा सके तो श्रद्धा को ही अपनाएँ। अहं को मिटाने में दोनों सहायक होंगे। प्रेम के सब रूप समान हैं।

"कवि जो कहे जब वह दूसरों के हृदयों से प्रतिध्वनित होने लगे तो यह समझें कि इसमें दूसरे हृदयों की ध्वनियाँ सुनी थीं। ऐसी सुनी को सुनाना ही कविता है।"

और यही बच्चन की कविता है, ऐसी सुनी को सुनाने में ही बच्चन सिद्ध-प्रसिद्ध हैं।

26 नवम्बर, 1961 को मेरे नाम लिखित एक पत्र में बच्चन ने कहा था—"मैंने अपनी तुकबन्दियों द्वारा कुछ अपरिचितों के हृदय में स्थान प्राप्त किया है, वह मेरे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। मानव हृदय के छोटे-से कोने से बढ़कर स्वर्ग भी नहीं। 'काव्य', 'साहित्य', 'अमरता' जिस हाट के टकसाली सिक्के हैं वहाँ से गुजरते मैं घबड़ाता हूँ। जल्दी ही किसी साँकरी प्रेम गली में घुस गुनगुनाना चाहता हूँ। शायद मेरा स्वर सुनकर कोई अपना दरवाजा खोले, कोई अपने झरोखे से झाँके।"

उत्तर छायावादी गीत-परम्परा में बच्चन का रचना-संसार शरद ऋतु की धूप ही है–वहिर्जीवन और अन्तर्जीवन में जीवन की उष्णता से परिपूर्ण भी। सामान्य जनता से हिन्दी कविता का सीधा सम्बन्ध आधुनिक काल में सर्वप्रथम बच्चन ने ही स्थापित किया। वे उत्तर छायावादी स्वच्छन्द धारा के प्रवर्तक प्रथम प्रमुख कवि हैं जिसने कविता और कवि दोनों का समाजीकरण कर दिया।

12 मार्च, 1960 को बच्चन ने मुझे लिखा था—

"*खुश रहिए—दुःखी बनाया जिसने मुझको सुखी रहे वह मधुशाला—मतवालों की जिह्वा से हैं कभी निकलते शाप नहीं—*"

मैं, भी अन्त में यही कहूँगा—

> *दुखी बनाया जिसने मुझको सुखी रहे वह मधुशाला।*
> *मतवालों की जिह्वा से हैं कभी निकलते शाप नहीं।*

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली एवं इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद के संयुक्त तत्त्वावधान में इलाहाबाद संग्रहालय के सभागार में 17-18 फरवरी, 2009 को आयोजित हरिवंश राय बच्चन जन्मशतवार्षिकी राष्ट्रीय संगोष्ठी के अवसर पर शनिवार 17 जनवरी, 2009 को पठित आलेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसाद के उपन्यासकार का अलक्षित

पुष्पपाल सिंह*

"...क्या और भी किसी देश में इसी प्रकार का धर्म-संचय होता है? जिन्हें आवश्यकता नहीं, उनको बिठाकर आदर से भोजन कराया जाए, केवल इस आशा से कि परलोक में वे पुण्य-संचय का प्रमाण-पत्र देंगे, साक्षी देंगे, और इन्हें, जिन्हें पेट ने सता रखा है, जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है, जिनकी आवश्यकता नंगी होकर वीभत्स नृत्य कर रही—वे मनुष्य, कुत्तों के साथ जूठी पत्तलों के लिए लड़ें, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है।"

साहित्य के इतिहास की एक बड़ी भारी विसंगति यह देखी जा सकती है कि अपनी महती प्रतिभाओं को समुचित महत्त्व देते हुए भी, वह उनके कृतित्व का सर्वांगीण, सर्वपक्षीय, और सम्यक् मूल्यांकन नहीं कर पाता है। कभी किसी साहित्यकार के कुछ रचना-पक्ष इस तरह उभरकर आते हैं कि शेष पक्ष गौण या अनचीन्हे रह जाते हैं, या उनके सामने अपना सही परिप्रेक्ष्य नहीं खोज पाते हैं। जयशंकर प्रसाद के युग-प्रवर्तक व्यक्तित्व के साथ ही ऐसा ही घटित हुआ कि उनके कवि और नाटककार रूप के सामने उनका कथाकार अपनी पूरी पहचान नहीं करा पाया। उनके कहानीकार को फिर भी महत्त्व दिया गया और रोमाण्टिक भाव-धारा का उनका अलग ही 'प्रसाद संस्थान'—'प्रसाद स्कूल'—कहानी में आज तक भी चला माना जाता रहा है। निर्मल वर्मा और कृष्णा सोबती तक उनकी वंश-परम्परा बताई जाती रही। यह ओझल-सा हो गया कि जयशंकर प्रसाद के कथाकार के कितने गहरे सामाजिक सरोकार थे। प्रसाद जी की कहानी को तो गम्भीरता से लिया भी गया, किन्तु इनके दोनों उपन्यासों—'कंकाल' और 'तितली' को (अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' की तो चर्चा क्या) बड़े चलताऊ ढंग से 'धार्मिक संस्थाओं पर गहरे प्रहार' और 'हिन्दू समाज की विकृतियों और अवैध सन्तानों के यथार्थ को उद्घाटित करने वाला', 'कंकाल' तथा 'तितली' को 'यथार्थ की

* पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, पंजावी विश्वविद्यालय, पटियाला; सम्पर्क : ए केशरबाग, पटियाला (पंजाव)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीठिका पर आदर्श की स्थापना' अथवा प्रेमचन्द की परम्परा का 'आदर्शपरक' उपन्यास कहकर कर्तव्य की इतिश्री मान ली गई। वस्तुतः ध्यान से देखा जाए तो प्रसाद की औपन्यासिक चेतना बड़ी गहरी सामाजिक संलग्नता लिए हुए हैं। 'कंकाल' जिस तरह से सीधे-सीधे अपने समय के ज्वलन्त प्रश्नों से टकराता है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि विराट सांस्कृतिक चेतना का यह कलाकार केवल अतीतजीवी नहीं था। उन्होंने अतीत को इतिहास की चिरन्तन परम्परा के रूप में ग्रहण कर उसे वर्तमान के लिए प्रासंगिक बनाया था। उनका वर्तमान-बोध संस्कृति और दर्शन की वीथिकथाओं से अपनी रोमानी धज से गुजरता है। उपन्यास में यह छायावादी रोमानी बोध केवल वातावरण और प्रकृति-चित्रण तक ही सीमित रहता है, कथ्य के चयन और निर्वहन में वे पूरी तरह यथार्थ के खुरदरे धरातल पर उतरते हैं—अपने समय की प्रायः सभी विकराल समस्याओं से जूझते हुए उनका मौलिक समाधान प्रस्तुत करते हैं, जिसे 'आदर्श का स्थापन' कहा गया है। इस रूप में ये उपन्यास अपने समय के कथा-मुहावरे से अलग नहीं हैं। कुछ रूपों में तो प्रसाद ने इन समस्याओं को इस रूप में उठाया है कि आज जिसे मुख्यधारा के साहित्यिक सरोकार कहा जा रहा है, वे पूरे अधुनातन रूप में उनके उपन्यास 'कंकाल' में विद्यमान हैं। कुछ वर्षो से साहित्य में 'दो दुखियारों'—स्त्री और दलित—का भरपूर शोर है, प्रसाद 'कंकाल' में गहरे जाकर स्त्री-विमर्श में उतरते हैं। वे स्त्री को समाज में अत्यन्त उच्च, समादृत स्थान की अधिकारिणी बताकर ही नहीं रुक जाते हैं अपितु उसे दलितों की पाँत में बिठाकर दोनों के साथ हो रहे सामाजिक अन्याय का प्रतिरोधी स्वर उपस्थित करते हैं—"भगवान की भूमि भारत में स्त्रियों पर तथा मनुष्यों को पतित बनाकर बड़ा अन्याय हो रहा है। करोड़ों मनुष्य जलों में अभी पशु-जीवन बिता रहे हैं। स्त्रियाँ विपथ पर जाने के लिए बाध्य की जाती हैं, तुमको उनका पक्ष लेना पड़ेगा। उठो!" उपन्यास में उनके स्वप्नों की संस्था 'भारत संघ' का घोषणा-पत्र "श्रेणीवाद, धार्मिक पवित्रतावाद, अभिजात्यवाद इत्यादि अनेक रूपों में फैले हुए सब देशों के भिन्न प्रकारों के जातिवाद का प्रतिरोध करता हुआ', 'श्रीराम ने शबरी का आतिथ्य स्वीकार किया था, श्रीकृष्ण ने दासी-पुत्र विदुर का आतिथ्य ग्रहण किया था, बुद्धदेव ने वेश्या के निमन्त्रण की रक्षा की थी; इन घटनाओं को स्मरण करता हुआ भारत संघ मानवता के नाम पर सबको गले लगाता है।' दलितों, भूख से बिलबिलाते आर्त्त गरीबों को पत्तल से जूठन बीनते देखकर लेखक हिन्दू धर्म के उन ध्वजा-धारकों की अच्छी खबर लेता है, जो इन भूखों को भोजन न करा, अघाए पण्डितों को ससम्मान सुस्वादु भोजन खिलाकर पुण्य-अर्जन का काम करते हैं।

स्त्री-स्वातन्त्र्य और विवाह-संस्था के बेमानी होने के स्वर ने पिछली शती के उत्तरार्द्ध में ही जोर पकड़ा है, किन्तु प्रसाद विवाह-संस्था की सार्थकता को प्रश्नांकित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए स्वतन्त्र प्रेम को जिस रूप में अपना समर्थन देते हैं, उस रूप में वे कदाचित् अपने समकालीन साहित्यकारों में सबसे आगे और अधिक क्रान्तिकारी हैं। न केवल उनकी 'ध्रुवस्वामिनी' (नाटक) धर्माधिकारी को धर्मशास्त्र के उन पृष्ठों को फाड़ने की बात कहती है अपितु 'कंकाल' में भी घण्टी के सन्दर्भ में विजय मन्त्रों के महत्त्व को नकारता हुआ, पूर्ण समर्पण और 'स्वतन्त्रता प्रेम की सत्ता को' स्वीकारता है। आर्य समाज के प्रभाव से विधवा विवाह के जो प्रयत्न विभिन्न उपन्यासों में दिखाए गए हैं, उनसे आगे बढ़कर प्रसाद का यह प्रेम-दर्शन एकदम आधुनिक स्त्री-स्वातन्त्र्य के प्रकल्प और विमर्श के समकक्ष खड़ा है। इसीलिए घण्टी और विजय का यह सन्दर्भ बिलकुल आज का बन जाता है। सुधारवाद से आगे जाकर यह क्रान्तिकारी पग है। बहुत पहले प्रसाद 'लिव–टुगेदर' जीवन-शैली का समर्थन कर रहे हैं। विधवा विवाह का प्रसंग भी वे पूरी चिन्ता के साथ उठाकर उसका समुचित समाधान प्रस्तुत करते हैं, जो सहज अनुकरणीय बन जाता है। इसी प्रकार वेश्या को भी प्रसाद किसी आश्रम आदि में स्थापित कर कर्तव्य की इतिश्री नहीं मान लेते अपितु "मेरा विश्वास है कि उन्हें अवसर दिया जाए तो वे कुलवधुओं से किसी बात में कम न होतीं"–की धारणा रखते हैं।

प्रसाद सांस्कृतिक चेतना में जितने गहरे डूबे हैं, उससे यह अनुमानित करने की भूल का पर्याप्त अवकाश–स्पेस बनता है कि उन्होंने हिन्दू, हिन्दुत्व तथा धर्म के पारम्परिक रूप को प्रश्रय दिया होगा। स्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। धर्म के छद्म, हिन्दुत्व के मिथ्या दम्भ, हिन्दुओं के कदाचार की वे न केवल घोर निन्दा 'कंकाल' में करते हैं, अपितु अपने पात्रों को इन सबके प्रतिरोध में खड़ा करते हैं–"जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरापृष्ठ पर नहीं बची।"–ऐसे समय हिन्दू होना वे 'परम सौभाग्य' की बात नहीं मानते। हिन्दुओं की बद्धमूल और कूपमण्डूक दृष्टि का निषेध करते हुए वे तल्ख शब्दों में कहते हैं, "...हिन्दुओं के पास निषेध के अतिरिक्त और भी कुछ है", "हिन्दुओं को पाप को छोड़ पुण्य कहीं दिखलाई ही नहीं पड़ता।" हिन्दुओं द्वारा समाज में फैलाई गई छूतछात का वे खुला विरोध करते हैं। भिक्षाटन की प्रवृत्ति पर 'कंकाल' में कड़े शब्दों में यह कहा गया है–"देखो यह बीसवीं सदी में तीन हजार बी.सी. का अभिनय।" पाप और पुण्य पर भी प्रसाद 'कंकाल' में वही बीज-विचार रखते हैं जिस कथ्य पर आगे चलकर भगवतीचरण वर्मा ने अपना अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यास 'चित्रलेखा' लिखा–"जो एक के यहाँ पाप है, वही दूसरे के लिए पुण्य है।" धर्म की व्याख्या जिस आधुनिकतापूर्ण दृष्टि से प्रसाद 'कंकाल' में करते हैं, वह तत्कालीन साहित्य में विरल है–"धर्म मानवीय स्वभाव पर शासन करता है, न कर सके तो मनुष्य और पशु में भेद क्या रह जाए?" वे हिन्दू धर्म के उस दकियानूसी दृष्टिकोण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का तीव्र विरोध करते हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित होने देने में बाधक बनता है—"स्वतन्त्रता और हिन्दू धर्म—दोनों विरुद्धतावाची शब्द हैं।" प्रसाद मानते हैं कि व्यक्ति का आचरण ही उसके धर्म और जातीय श्रेष्ठता का मापक हो सकता है, इसीलिए वे 'कंकाल' में महर्षि वाल्मीकि को 'सच्चे तपस्वी ब्राह्मण' का गौरव देते हैं।

समाज और धर्म की अनेक ऐसी समस्याओं से 'कंकाल' में प्रसाद जूझते हैं जिनके समाधान के लिए हम वर्तमान में तरह-तरह के प्रयोग कर रहे हैं। इसका एक उदाहरण स्कूल में बच्चों के पाठ्य-क्रम-निर्धारण का प्रश्न है। आज हम स्कूली पाठ्य-क्रमों की नित नई बहसों में उलझ रहे हैं, किन्तु मंगल के माध्यम से प्रसाद स्कूली पाठ्य-क्रम के विषय में यह दिशा देते हैं—"मंगल ने स्वीकार किया कि वह पाठ्य-क्रम बदला जाएगा। सरल पाठों में बालकों के चरित्र, स्वास्थ्य और साधारण ज्ञान को विशेष सहायता देने का उपकरण जुटाया जाएगा। स्वावलम्बन का व्यावहारिक विषय निर्धारित होगा।" इतने समय पहले लिखे गए उपन्यास में ऐसी प्रखर वैचारिकता, 'कंकाल' को अपनी शैल्पिक न्यूनताओं में भी बहुत-बहुत समसामयिक और प्रासंगिक बनाते हुए अपने पुनर्पाठ की बाध्यता देती है। आज के सांस्कृतिक-सामाजिक कुहासे को छाँटने के लिए बहुत कुछ दिशा देता है।

'तितली' में प्रसाद सामन्तीय समाज में गाँव के यथार्थ का अंकन करने के लिए प्रवृत्त होते हैं किन्तु वे स्थितियों को जस-का-तस स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। तत्युगीन समस्याओं और ज्वलन्त प्रश्नों पर वे अपनी ऐसी सोच प्रस्तुत करते हैं कि उनकी कल्पना का आदर्शलोक प्रकल्पित होता है। भले ही इसे समस्याओं का आदर्शीकृत समाधान माना जाए किन्तु निदान के वे ऐसे सूत्र हैं जो हमारे वर्तमान में भी आवाजाही करते हैं। आज तक हम उन प्रश्नों से जूझ रहे हैं जिनके सम्बन्ध में प्रसाद 'तितली' में अपनी प्रखर विचार-सरणि प्रस्तुत करते हैं। अपने सीमित आकार में भी 'तितली' के कथ्य का इतना विस्तार है कि राष्ट्र और जातीय चिन्ता तत्कालीन गरीबी, उससे उत्पन्न वर्ग चेतना, सामाजिक ताने-बाने में गहन प्रवेश, धर्म और शास्त्र, वेदान्त, स्त्री-विमर्श के अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं के विषय में आधुनिक दृष्टि जैसे कितने ही ऐसे गम्भीर प्रश्न हैं जिनसे प्रसाद का चिन्तन सीधे-सीधे टकराता है। प्रसाद के चिन्तन का वैचारिक ताप आज भी इन प्रश्नों पर विचार करते हुए हमें एक दिशा प्रदान करता है। अपनी पहली कहानी 'ग्राम' (1990) में ही जमींदारों के शोषण पर दृष्टि केन्द्रित करते हुए प्रसाद पुनः 'तितली' में ग्राम-समाज की ओर मुड़ते हैं। इंग्लैंड से उच्च शिक्षा प्राप्त जमींदार पुत्र, उनकी नई पीढ़ी का प्रतिनिधि इन्द्रदेव, धर्म संस्कृति और जातीय जीवन में सुधार लाकर परिवर्तन का आकांक्षी है। जमींदारी प्रथा के बरक्स चकबन्दी और 'नमूने का गाँव' (मॉडल विलेज) को भले ही आदर्शीकृत समाधान का दर्जा दिया जाए, किन्तु ये ही विचार हैं जो प्रसाद अपने समाज के बदलने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए आवश्यक मानते हैं। ध्यान दीजिए कि उनके समकालीन उपन्यास-साहित्य में ग्रामोत्थान का क्या कोई ऐसा विकल्प रचा गया है? तितली का गाँव में स्वावलम्बी होकर स्कूल चलाना उस समय की स्त्री के लिए कम साहसपूर्ण पग नहीं है। महँगू का तहसीलदार, आदि के विरुद्ध विद्रोह उस समय समाज में सुलग रही वर्ग-चेतना को तो प्रतीकीकृत करता ही है, दलितों द्वारा आपसी अस्मिता की पहचान का भी प्रेरक बनता है—"मनुष्य को जान-बूझकर उपद्रव मोल न लेना चाहिए। विनय और कष्ट सहन करने का अभ्यास रखते हुए भी अपने को किसी से छोटा न समझना चाहिए, और बड़ा बनने का घमण्ड भी अच्छा नहीं होता।" अपनी परम्परावादी छवि के विपरीत यहाँ भी प्रसाद धर्म और शास्त्र तथा पश्चिम के धर्म—ईसाइयत के प्रति जो खुली दृष्टि रखते हैं वह 'कंकाल' के समान 'तितली' में भी प्रकाशित होती है। व्यक्ति के धर्म के सम्बन्ध में जो क्रान्तिकारी बात प्रसाद ने इतने वर्षों पहले यहाँ कही हैं, पश्चिम के विचारक आज उस बात को न केवल स्वीकार कर रहे हैं अपितु उसे किसी तरह जीवन में उतारने की जुगतें तलाश रहे हैं। व्यक्ति को अपना धर्म जन्म से मिलता है, जब उसे तत्सम्बन्धी कोई समझ भी नहीं होती, यह धर्म अपने माता-पिता का होता है। उनका मानना है कि जब व्यक्ति 30-35 साल का हो जाए तब सभी धर्मों का सार-तत्त्व जानने के बाद उसे अपने धर्म-चयन, वरण का अधिकार मिले। 'तितली' की शैला इस विचार-सूत्र को इस रूप में प्रस्तुत करती है—"प्रत्येक जाति में मनुष्य को बाल्यकाल ही में एक धर्म-संघ का सदस्य बना देने की मूर्खतापूर्ण प्रथा चली आ रही है। जब उसमें जिज्ञासा नहीं, प्रेरणा नहीं, तब उसके धर्म-ग्रहण का क्या तात्पर्य हो सकता है? मैं आज तक नाम के लिए ईसाई थी। किन्तु धर्म का रूप समझकर उसे मैं अब ग्रहण करूँगी।" पश्चिम की जीवन-प्रकृति, धर्म आदि कुछ सारभूत बातों को अपनाने में वे एक खुली दृष्टि की बात जगह-जगह कहते हैं। उनका मानना है कि—"पश्चिम एक शरीर तैयार कर रहा है किन्तु उसमें प्राण देना पूर्व के अध्यात्मवादियों का काम है।" तभी 'मानवता को स्रोत प्रसन्न धार में बह' सकेगा। कहना न होगा कि प्रसाद के संस्कृति विषयक ऐसे विचार अपने समय से बहुत आगे के हैं। वर्तमान में हम उनकी पूर्ण सार्थकता पा रहे हैं।

इसी प्रकार प्रेमचन्द सामाजिक ताने-बाने में बड़ी गहरी टटोल करते हैं। विशृंखलित होती संयुक्त परिवार प्रणाली का चित्रण तो तत्युगीन उपन्यास में कुशलता से हुआ है, किन्तु इस प्रणाली के चरमरा जाने के कारण 'अपने अध्ययन' के आधार पर प्रसाद जो 'व्यक्तिगत चेतना का उदय' बताते हैं, वह समस्या को समझने में एक सार्थक दिशा देता है। इसी क्रम में वृद्धावस्था की असहायता पर विचार करते हुए प्रेमचन्द इस बात के पक्षधर हैं कि पुत्र से अलग माता-पिता वृद्धावस्था में अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए अलग पूँजी का विधान करें। इसी प्रकार वे स्त्री की आर्थिक स्वतन्त्रता को नितान्त आवश्यक मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसाद अपने उपन्यास के लिए बहुत अधिक उपयुक्त कथा-भाषा का सन्धान नहीं कर पाए हैं, किन्तु प्रीतिकर यह है कि 'तितली' में वे तत्सम शब्दावली को इतना अधिक महत्त्व नहीं देते, बार-बार सहज रूप में अपनी भाषा में देशज, तद्भव शब्दों का प्रयोग कर उसे एक जीवनधर्मी गन्ध दे सके हैं। 'पिछाड़', 'दिहाती', 'करारे', 'अठवारों', 'टूटी हुई धरनें', 'महाराज', 'गुदाम', 'बंक' (बैंक) आदि ऐसे शब्द हैं जिनके प्रयोग से भाषा अपना ऐसा मुहावरा रचती है जो प्रसाद की अपनी ही लीक का अतिक्रमण है। समय के नए परिप्रेक्ष्य में प्रसाद के ये उपन्यास अपनी एक नई पहचान और धज स्थापित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दर्शन और उसका स्वातंत्र्योत्तर युग

प्रो. श्रीप्रकाश दुबे*

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा**

इस आलेख के माध्यम से हम लोगों ने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय अध्येतृता की दशा-दिशा एवं कतिपय उपलब्धियों की चर्चा करते हुए उसकी एक झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आज से लगभग नौ दशक पूर्व जब सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त अपना मैग्नम ओपस *'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफ़ी'* पाँच भागों में (कैम्ब्रिज) लिख रहे थे तो उन्होंने कहा था—"इतिहास में सम्भवतः पहली बार भारत के महान् ऋषियों ने 'स्वतंत्रता' का बिलकुल सही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उन्होंने अपने जीवनानुभव, आलोचनात्मक चिन्तन-मनन, दृढ़ इच्छाशक्ति और यहाँ तक कि स्वयं के निषेध द्वारा भी अपनी निष्ठा को सत्यान्वेषण और मनुष्य के परम आध्यात्मिक सार-स्वरूप की खोज में चरितार्थ किया था।" आज 21वीं शताब्दी के इस दूसरे दशक में हम उसी महान् परम्परा और विरासत के उत्तराधिकारी हैं। इस उत्तराधिकार को न केवल हमें गर्व के साथ आत्मसात् करना चाहिए बल्कि यदि आवश्यक हो तो अपेक्षित परिष्कार के साथ इस विरासत को भावी पीढ़ी के योग्य हाथों में सौंपा भी जाना चाहिए।

हममें से प्रायः सभी को किसी न किसी रूप में इस आलोचनात्मक टिप्पणी का सामना करना ही पड़ता है कि स्वाधीन भारत में हमने कुछ भी ऐसा उत्पादित नहीं किया है जिसे दार्शनिक दृष्टि से आधारभूत और मौलिक कहा जा सके। वास्तव में देखा जाय तो इस प्रकार की टीका-टिप्पणी को औपनिवेशिक मन की ही उपज कहा जा सकता है। प्रश्न उठता है कि दर्शन के क्षेत्र में मौलिकता और आधारभूत होने का

*अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् दर्शन-डी-9, अप्सरा अपार्टमेन्ट्स, दक्षिण सिविल लाइन्स जबलपुर—482001 (म.प्र.)

**महामंत्री, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर- 470003 (म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या मतलब है? द्रष्टव्य है कि यूरोपीय दृष्टि में मौलिकता का अर्थ सर्वथा आमूल उद्भावना से लिया जाता है लेकिन भारतीय दृष्टि में मौलिकता का मतलब कभी भी विचारों के क्षेत्र में आमूल उत्प्रेक्षा से नहीं रहा है। 'नामूलं लिख्यते किंचित्' और ऊर्ध्वमूलं अधः शाखम्' (गीता 15,1) के भावबोध के साथ मौलिकता यहाँ सदैव ही परम्परा के उपबृंहण और उसकी पुनर्व्याख्या के रूप में ही पुरस्कृत होती रही है। इस दृष्टि से देखा जाय तो इसमें दो राय नहीं कि भारत की प्राचीन निगमागमिक, आस्तिक-नास्तिक दर्शन परम्परायें अपने आप में समृद्ध और सूत्र, भाष्य, वार्तिक एवं अन्यान्य प्रकार के टीका ग्रन्थों के माध्यम से बहुत ही गतिशील और वर्द्धमान रही हैं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि परम्परागत भारतीय दर्शन की वह प्रवहमान अन्तःसलिला आज विलुप्त-प्राय हो गई है। वस्तुतः 'स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन' पदावली से हम जिस युग के दार्शनिक अध्यवसाय और पुनर्रचनाओं को चिह्नित करना चाहते हैं वह भी पारम्परिक भारतीय दर्शन का वैश्वीय परिप्रेक्ष्य में सकारात्मक-नकारात्मक प्रभावों के साथ उसका युगानुरूप पुनराविष्कार ही है। किसी भी विचार-परम्परा की पुनर्व्याख्या और पुनराविष्कार की अपनी ही गति होती है। इस प्रक्रिया में मूल विचार-परम्परा का उन्नयन भी होता है तो कहीं-कहीं विजातीय प्रभावों के चलते उसके अवमूल्यन की सम्भावना भी बनी रहती है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन भी इस तथ्यात्मकता का अपवाद नहीं है। यह एक ओर अपनी मूल प्रेरणा अभी भी वैदिक-अवैदिक परम्परा से निःसृत दर्शनों से ही ग्रहण करता है तो दूसरी ओर कहीं-कहीं पश्चिमी विचारों के प्रभाव में अपने मूल से भटकता हुआ प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में यह देखना उचित होगा कि इन सबके बावजूद स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन अपने दार्शनिक अध्यवसाय और पुनर्रचनाओं के साथ आज भी कितना जीवन्त बना हुआ है, अपने मूल से ही प्राणदाशक्ति पाकर किन-किन दिशाओं में अपना युगीन विस्तार पा रहा है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के स्वरूप की बेहतर समझ के लिए उसकी रूपरेखा को कालक्रम की दृष्टि से तीन अन्तरिम खण्डों में विभाजित कर देखना यहाँ समीचीन होगा। इसमें प्रथम कालखण्ड को उसकी 'पैतृक पृष्ठभूमि' से अभिहित किया जा सकता है। यह काल वस्तुतः अंग्रेजी राज का है जिसकी शुरुआत 1858 से होती है और 20वीं शताब्दी के दूसरे चरण तक आते-आते इसका अवसान हो जाता है। 19वीं शताब्दी में जन्मे लेकिन स्वतंत्रता के पूर्व तक सक्रिय रहे दार्शनिकों और उनके चिन्तन को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है। दूसरे कालखण्ड में दार्शनिकों की उस पीढ़ी को रखा जा सकता है जो 20वीं शताब्दी के तीसरे चरण में सक्रिय रहे। इस पीढ़ी को स्वातन्त्र्योत्तरयुगीन अध्येताओं की पहली पीढ़ी कहा जाना उचित होगा। इसी तरह स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के तीसरे कालखण्ड में वैसे अध्येताओं को रखा जा सकता है जो 20वीं शताब्दी के चौथे चरण में सक्रिय रहे। वस्तुतः यह कालखण्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अध्येताओं की दूसरी पीढ़ी है। इस पीढ़ी के अध्येताओं की सक्रियता 21वीं शताब्दी तक विस्तार पाती है। इस पीढ़ी के अन्तर्गत भारतीय विश्वविद्यालयीन व्यवस्था में प्रशिक्षित अनेकों वरिष्ठ दार्शनिकों के नाम गिनाये जा सकते हैं। लेकिन साथ ही साथ कुछ युवा दार्शनिकों को भी इसी पीढ़ी के अध्येताओं के रूप में मान्य किया जा सकता है जिन्होंने दर्शन के क्षेत्र में अपेक्षित जागरूकता दिखाई है और महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप भी किये हैं। ऐसे युवा अध्येताओं को स्वातन्त्र्योत्तर युग की तीसरी पीढ़ी मानी जा सकती है। स्वातन्त्र्योत्तर युगीन भारतीय दर्शन के अध्येताओं की एक चौथी पीढ़ी का भी संकेत करना यहाँ अनुचित नहीं होगा जो वास्तव में सम्प्रति अपनी दार्शनिक प्रतिबद्धता के साथ उदीयमान है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की इस उपर्युक्त रूपरेखा का रंग-रोगन करने के लिए हम आगे बढ़ें, इससे पहले एतद्विषयक अपनी कुछ सीमाओं का विनयपूर्वक संकेत कर देना उचित होगा। देखा जाय तो स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन का क्षेत्र न केवल विस्तृत बल्कि बहुआयामी भी है। इसीलिए इसकी दशा-दिशा और उपलब्धियों का आकलन करना एक कठिन कार्य है। इसके समुचित आकलन और मूल्यांकन के लिए तो कई खण्डों में पुस्तकाकार लेखन भी अन्ततः अपर्याप्त ही रहेगा। ऐसे में एक आलेख के अन्तर्गत इसके सतत वर्द्धमान क्षितिज को समाहित करने का यह प्रयास एक अकादमिक खतरा उठाने जैसा ही कहा जायेगा। इसलिए विषय-वस्तु के विस्तार और अपनी सीमाओं का ध्यान रखते हुए हम यहाँ स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की एक सिलसिलेवार झाँकी ही प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में यह सम्भव है कि कुछ वरिष्ठ दार्शनिकों को और कुछ कनिष्ठ तथा उदीयमान अध्येताओं को हम सन्दर्भित न कर पायें। परन्तु इसे उन वरिष्ठों के प्रति अवमानना और कनिष्ठों के प्रति अनुराग का अभाव नहीं समझा जाना चाहिए।

औपनिवेशिक युग में भारतीय दर्शन की क्या दशा-दिशा रही, इसका जायजा लेने के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से 2011 में ही प्रकाशित एक ग्रन्थ को सन्दर्भित करते हुए अपनी बात को आगे बढ़ाना उचित होगा। *इण्डियन फिलॉसफ़ी इन इंगलिश - फ्रॉम रेनांसां टू इण्डिपेन्डेंस* नामक इस ग्रन्थ को नलिनीभूषण एवं जे.एल. गारफिल्ड ने मिलकर सम्पादित किया है। यह ग्रन्थ भारतीय पुनर्जागरण काल से लेकर भारत में ब्रिटिश राज के अवसान काल तक भारतीय दर्शन की स्थितिपरक एक अच्छी तस्वीर प्रस्तुत करता है। इसमें विवेकानन्द, लाजपत राय, रवींद्रनाथ टैगोर, भगवान दास, रामचन्द्र रानडे, हीरालाल हलधर, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, सूर्यनारायण शास्त्री, एम. हिरियन्ना, कुमारस्वामी, मलकानी, अरविन्द घोष, अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, पी.टी. राजू तथा रास विहारी दास जैसे लोगों के विचारों की चर्चा की गई है। इनमें से अधिकांश ने उस युग में नव्य-वेदान्त की स्थापना का कार्य किया। हमारे लिए यह प्रसन्नता की बात है कि सम्पादक-द्वय ने अपने इस दस्तावेजी उपक्रम में हममें से एक (एस.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुबे) के द्वारा चार भागों में सम्पादित *फेसेट्स ऑफ रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी* का समारोह के साथ उल्लेख किया है और अपने उपक्रम के लिए स्रोत ग्रन्थ के रूप में उसका उपयोग भी किया है। इस ग्रन्थ के चारों भागों का सम्पादन उन्होंने 1994 से 1998 के बीच किया था और इसकी सामग्री वे अध्यक्षीय भाषण रहे जो 1925 से लेकर 1997 तक देश के प्रतिष्ठित दार्शनिकों एवं अध्येताओं के द्वारा 'इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस' के विभिन्न अधिवेशनों में दिये गये थे। द्रष्टव्य है कि 'इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस' एक ऐसा संगठन है जो अपने दार्शनिक उपक्रमों को अंग्रेजी माध्यम से संचालित करता है। इसलिए यह तो स्वाभाविक है कि उपर्युक्त सम्पादित इन ग्रन्थों की सामग्री और भाषा अंग्रेजी ही है। इस सन्दर्भ में प्रो. दयाकृष्ण की एक टिप्पणी का स्मरण आना स्वाभाविक है, जो पूरे तौर से सही नहीं भी होते हुए उल्लेखनीय अवश्य है। वह यह कि कोई भी व्यक्ति जो अपनी दार्शनिक पुनर्रचना अंग्रेजी माध्यम से प्रस्तुत करता है, उसे सही अर्थों में भारतीय दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। हकीकत यह है कि अंग्रेजी माध्यम से भारतीय दर्शन को उसकी उस प्रामाणिकता में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, जिस प्रामाणिकता के साथ वह अपनी मातृभाषा में प्रस्तुत हुआ है। भारतीय दर्शन का अध्येता होने के लिए यह जरूरी शर्त है कि उस व्यक्ति की संस्कृत, पालि और यहाँ तक कि प्राकृत भाषा में अच्छी पकड़ हो। वास्तव में देखा जाय तो 1835 में थॉमस मैकाले द्वारा प्रस्तावित *मिनट्स ऑफ एजुकेशन* के बाद भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में अंग्रेजी भाषा को माध्यम बनाया गया और इसी के साथ प्रोटेस्टेंट मिशनरी प्राध्यापकों ने भारतीय महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी माध्यम से दर्शन के अध्ययन-अध्यापन का जिम्मा लिया। द्रष्टव्य है कि भारतीय पुनर्जागरण में दर्शनशास्त्र की केन्द्रीय भूमिका रही है। इसने स्वाधीनता आन्दोलन को वैचारिक गति और उत्तेजना प्रदान कर वैतालिक की भूमिका निभाई है। श्री अरविन्द ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति *दी रेनांसां इन इण्डिया* (1918) में इसे उचित ही भारत का पुनर्जागरण कहा है। दार्शनिकों ने ही भारत के जन-गण की राजनीतिक स्वाधीनता आन्दोलन को वैचारिक आधार प्रदान किया है। उस समय के दार्शनिकों ने न केवल इस संघर्ष में दर्शन की भूमिका को तय किया बल्कि उस संघर्ष के माध्यम से अपने दर्शन को जीवन में चरितार्थ करने का अर्थ भी प्रदान किया। वह इस रूप में कि 'अमृतपुत्र' के रूप में स्वतन्त्रता मनुष्य होने का तत्त्वमीमांसीय अधिकार है। वह जो इसे आत्मसात् नहीं कर सकता और वह जो इसे हरने का दम्भ भरता है, दोनों अज्ञानी ही कहे जा सकते हैं। निश्चय ही औपनिवेशिक युग के भारतीय दार्शनिक जितना सृजनधर्मी रहे उतना ही प्रामाणिक और वैश्वीय दृष्टि रखनेवाले थे। यहाँ यह अवधेय है कि पूरा का पूरा स्वातन्त्र्योत्तर युग का भारतीय दर्शन अपने इसी पैतृक पृष्ठभूमि में मूलित है। उस समय के बहुतेरे स्वनामधन्य शिक्षकों ने अनेकों अध्येताओं को दर्शन में प्रशिक्षित किया और वही स्वातन्त्र्योत्तर युग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भारतीय दार्शनिक के रूप में मान्य हुए। वास्तव में उन लोगों ने भारतीय दार्शनिक चिन्तन की एक नई परम्परा की जड़ रोपी और न केवल भारत का समकालीन दर्शन बल्कि विश्व-दर्शन भी उनके इस दार्शनिक नवारम्भ का ऋणी है।

औपनिवेशिक काल में भारतीय दर्शन के कुछ-एक प्रतिनिधि विचारक बड़े ही मूर्धन्य और जननायक जैसे रहे। इनमें महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गाँधी को सर्वाधिक प्रभावशाली चिन्तकों में परिगणित किया जा सकता है। टैगोर (1861-1941) की असाधारण और अद्वितीय साहित्यिक प्रतिभा पर तो भारत को बहुत गर्व है। इनकी प्रतिभा तो संस्कृति की दार्शनिक समझ और मुनष्य की गरिमा के क्षेत्र में भारत की सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर प्रतिष्ठित हुई है। स्वयं राधाकृष्णन् इनकी 'समग्रतावादी दृष्टि' के कायल थे और अपनी एक प्रारम्भिक पुस्तक में उन्होंने लिखा भी है कि टैगोर की समग्रतावादी दृष्टि ऐसी है जिसे शरीर और मन तथा जड़ और चेतन के द्वैत में विभाजित नहीं किया जा सकता (द्रष्टव्य, *दी फिलॉसफी ऑफ आर. टैगोर* -1918)। महात्मा गाँधी ने तो आजादी की लड़ाई का नेतृत्व करते हुए भारत को एक दर्शनाधारित अतिविशिष्ट राजनीति दिया जो आज भी न केवल भारत के लिए धरोहर जैसा है बल्कि पूरी विश्वमानवता आज उसमें अपना त्राण देखती है। उनके दर्शनाधारित राजनीति के निहितार्थ को बस चन्द शब्दों में यही कहा जा सकता है कि राजनीतिक स्वतंत्रता सही अर्थों में तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने आप में अन्दर से स्वतन्त्र हो, और व्यक्ति की ऐसी स्वतंत्रता अपने ऊपर आत्मनियंत्रण, आत्मालोचन तथा आत्मानुशासन से ही सम्भव है। अपने *हिन्द स्वराज* (1909) में उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के वैज्ञानिक तकनीकी पक्षों की बखूबी आलोचना हाइडेगर से भी गहरे में जाकर की है और भारत के स्वराज्य की वास्तविक रूप-रेखा को प्रस्तावित किया है। इसके लिए उन्होंने साधन के रूप में केवल और केवल अहिंसा और सत्याग्रह को अपनाया। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि गाँधीजी भारत से बाहर पश्चिमी दुनिया की अच्छी चीजों के प्रशंसक नहीं थे। *यंग इण्डिया* (26-06-1924) में उन्होंने लिखा है—"स्वराज की मेरी अवधारणा भारतीय सभ्यताबोध की अद्वितीय विशिष्टता को अक्षुण्ण रखती है। हम बहुत कुछ लिखना चाहते हैं लेकिन उन सब को भारतीयता के स्लेट पर ही लिखा जाना चाहिए। हम पश्चिम से तभी कुछ लेने के हकदार हैं जब हम बदले में उसे वह सूदसहित लौटा सकें।"

अवधेय है कि उपनिवेशकालीन भारतीय दर्शन अपनी प्रकृति में अधिकांशतः आदर्शवादी और प्रत्ययवादी रहा है। इसकी मूल प्रेरणा का स्रोत वेदान्त रहा, लेकिन उस काल की दार्शनिक पुनर्रचनाओं को 'नववेदान्त' से अभिहित किया जा सकता है जिसने अपनी दार्शनिक योजना में प्रगतिशील रचनात्मक जीवन के लिए अधिक अवकाश निर्मित किया है। इस काल की दार्शनिक प्रवृत्ति को पाश्चात्य विचारकों की उस आलोचना के प्रत्युत्तर में भी देखा जा सकता है जिसे अलबर्ट स्वीट्ज़र (1575-1965)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने अपनी पुस्तक *इण्डियन थॉट ऐण्ड इट्स डेवेलपमेंट* (1936) में यह कहते हुए सन्दर्भित किया है कि भारतीय दर्शन पलायनवादी है। वस्तुतः स्वीट्ज़र का यह दृष्टिकोण शॉपेनहावर (1797-1860) जैसे फ्रेंच विचारकों की औपनिषदिक समझ पर आधारित है। इसका पुरजोर उत्तर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अपनी कृति *ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट* (1939) में दिया है। उनके अनुसार यह धारणा ऐतिहासिक रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकती कि हिन्दू चिन्तन में जीवन और जगत् के प्रति नकार और निराशा निहित है जबकि ईसाई चिन्तन अपने स्वरूप में जीवन और जगत् के प्रति स्वीकार्यता और आशावाद को लिए हुए है। वास्तव में दोनों के बीच का वास्तविक विरोध धर्म और स्वायत्त-मानववादी दृष्टिकोण को लेकर है।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना हम उचित समझते हैं कि 1916 में अमलनेर, महाराष्ट्र में श्रीमन्त प्रताप सेठ के सौजन्य से 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी' की स्थापना हुई और कोल्हापुर में मई 1917 में 'इण्डियन फिलॉसफिकल एसोसिएशन' का पहला अधिवेशन हुआ तथा *इण्डियन फिलॉसफिकल रिव्यू* नामक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया गया। इसका पहला अंक जुलाई 1917 में प्रकाशित हुआ। ये सभी संस्थागत प्रयास औपनिवेशिक युग में भारतीय दर्शन को संसदीय स्वरूप प्रदान करनेवाले प्राथमिक और पहलकारी रहे हैं।

उपनिवेशकालीन भारतीय दर्शन के संसदीय स्वरूप को समझने के लिए एतद्विषयक ब्रिटिश औपनिवेशिक दृष्टि और फ्रेंच औपनिवेशिक दृष्टि के अन्तर को समझना भी बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। इन दोनों परम्पराओं के विचारकों की समझ भारतीय दर्शन के प्रति एक-दूसरे से भिन्न रही है। भारत में श्री अरविन्द (1872-1950) के चिन्तन को 'फ्रेंच औपनिवेशिक दृष्टि' से प्रभावित और उसी का प्रतिनिधित्व करनेवाला माना जा सकता है। श्री अरविन्द मौलिक रूप से एक प्रत्ययवादी दार्शनिक थे और उन्होंने वैदिक तत्त्वदृष्टि को 'विकासवादी प्रारूप' में देखते हुए एक ऐसा 'समग्र अद्वैतवादी दर्शन' प्रस्तुत किया है जिसमें जड़ और चेतन का अन्तहीन द्वैत नहीं बल्कि दोनों एक ही वैश्विक प्रक्रिया के समान भागीदार हैं। अनन्त के तर्क और मायावाद के बदले लीलावाद पर आधारित उनका दर्शन भौतिकवादियों के 'एसेटिक डिनायल' और अध्यात्मवादियों के 'मैटीरियलिस्टिक डिनायल' नामक दो अतियों से बचते हुए इस पृथ्वी पर 'दिव्य जीवन' के अवतरण का दर्शन है। अपनी तत्त्वदृष्टि, इतिहास-दर्शन, संस्कृति-दर्शन और योगसमन्वय के द्वारा उन्होंने भारतीय सभ्यताबोध को दुनिया के समक्ष जिस 'कॉस्मिक टीलियोलॉजी' के साथ प्रस्तुत किया है वह अपने आप में जितना मौलिक है उतना ही प्रयोगधर्मी और सार्वभौमिक चरित्रवाला है। इस विश्वद्रष्टा ऋषि को अपनी दार्शनिक योजना के याथार्थ्य पर कितना भरोसा रहा होगा कि उन्होंने भारत की स्वाधीनता को भी एक वैश्वीय भवितव्यता के अंगभूत घटना के रूप में देखा। इस अर्थ में भारत की स्वतन्त्रता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य महज राजनीतिक और भौगोलिक न होकर वैश्वीय हो जाता है। यह मानव की आदर्श एकता के चरितार्थीकरण में भारत की भूमिका का हेतुबन्ध है।

ब्रिटिश औपनिवेशिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करनेवाले भारतीय दार्शनिकों में के. सी. भट्टाचार्य (1876-1949) का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। वे आधुनिक भारत के ऐसे तत्त्वमीमांसक थे जिन्होंने अद्वैतवेदान्त की पुनर्रचना काण्ट और हेगेल की विचार-सरणी के समानान्तर दुनिया के समक्ष रखा। अपने बहुविध प्रकरणात्मक निबन्धों यथा 'कॉन्सेप्ट ऑफ फिलॉसफी', 'सब्जेक्ट ऐज फ्रीडम', 'दी कॉन्सेप्ट ऑफ एब्सोल्यूट एण्ड इट्स अल्टरनेटिव फार्म्स' इत्यादि के द्वारा उन्होंने अपनी दार्शनिक पुनर्रचना को आधार प्रदान किया है। यद्यपि उन्होंने भारतीय दर्शन के लगभग सभी सम्प्रदायों पर अन्तर्दृष्टि सम्पन्न प्रकरणात्मक लेखन किया है लेकिन ऐसे अवान्तर लेखन जो लीक से हटकर हैं, उनमें जैन दर्शन के अनेकान्तवाद (1925) की पुनर्व्याख्या विशेष महत्त्व की प्रतीत होती है। उन्होंने अनेकान्तवाद के दार्शनिक-तार्किक महत्त्व को पुनरोद्घाटित करते हुए यह दिखाया कि न तो तादात्म्य और न ही विरोध को तार्किक विचार-सरणी के लिए आधारभूत माना जा सकता है। वस्तुतः तादात्म्य और विरोध दोनों ही परस्पर विनियोजनीय हो सकते हैं और दोनों की ऐसी विनियोजनीयता (अल्टरेशन) ही व्यापक दार्शनिक आधार को प्रस्तुत करती है। तादात्म्य और विरोध के बदले 'सहावस्थान' (टुगेदरनेश) तार्किक विचार-सरणी की अपेक्षाकृत अधिक आधारभूत कोटि है जिसे जैन दार्शनिकों ने 'क्रमार्पण और सहार्पण' नामक दो प्रारूपों में देखा है। कुल मिलाकर 'अनेकान्तवाद' अनिर्वाच्यता का एक विशिष्ट तर्कशास्त्र है जो सप्तभंगी नय के द्वारा सत्य की वैकल्पिकता का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। भट्टाचार्य द्वारा अनेकान्तवाद की ऐसी व्याख्या को स्वातन्त्र्योत्तर भारत में धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र और सामासिक अथवा बहुलवादी संस्कृति के लिए उपर्युक्त दार्शनिक आधार के रूप में समझा जा सकता है।

भारत के पुनर्जागरण के परिप्रेक्ष्य में के.सी. भट्टाचार्य का 'स्वराज इन आइडियाज़' नामक व्याख्यान भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है जिसे उन्होंने 1929 में हुगली कॉलेज, कलकत्ता के विद्यार्थियों के बीच दिया था। बाद में इसका प्रकाशन *विश्वभारती जर्नल*-अंक-XX, 1954, में हुआ है। उनका यह व्याख्यान अपने आप में भारत के 'वैचारिक स्वराज' का दार्शनिक घोषणा-पत्र जैसा है। द्रष्टव्य है कि 1984 में पुणे से प्रकाशित *इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली* [अंक-XI (4)] में उनके इस व्याख्यान का पुनर्मुद्रण किया गया और डॉ. दयाकृष्ण, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. रामचन्द्र गाँधी, डॉ. एस.पी. गौतम सरीखे लोगों ने इस व्याख्यान के भाष्य किये हैं। यद्यपि यह व्याख्यान उन्होंने अंग्रेजी में दिया था लेकिन वैचारिक स्वराज के मातृभाषीय राजपथ के महत्त्व और पश्चिमी विचारों के असमीक्षित पृष्ठपेषण के दुष्परिणामों को उन्होंने बखूबी उजागर किया है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी निर्देशित किया है कि भारतीय दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को किस प्रकार एक सार्वभौमिक ज्ञानविधा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। वैचारिक स्वराज के आशय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि "सांस्कृतिक पराधीनता साधारणतः अचेतन प्रकार की होती है और उसमें दासता प्रारम्भ से ही निहित होती है। जब मैं सांस्कृतिक पराधीनता की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय किसी विदेशी संस्कृति को मात्र अपना लेने से नहीं होता। इस प्रकार का अपना लेना सदैव अवांछनीय ही हो, यह आवश्यक नहीं। किसी भी परिस्थिति में उसका अर्थ स्वाधीनता की हानि नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। सांस्कृतिक पराभव केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परम्परागत विचारों और भावनाओं को बिना तुलनात्मक मूल्यांकन के ही एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनायें उखाड़ फेंकते हैं और वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक भूत या प्रेत की तरह अपने वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है। जब व्यक्ति अपने आप को उससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता है जैसे उसकी आँखें खुल गईं। उसे एक नये जन्म की अनुभूति होती है। इसे ही मैं विचारों का स्वराज कहता हूँ।"

स्वराज की भारतीय अवधारणा के सन्दर्भ में यहाँ भारतरत्न डॉ. भगवानदास (1869-1958) के उस आलेख का जिक्र करना प्रासंगिक प्रतीत होता है जिसे उन्होंने 1921 के मुम्बई कांग्रेस अधिवेशन में एक प्रस्ताव-पत्र के रूप में प्रस्तुत किया था। उन दिनों स्वराज के स्वरूप को लेकर बुद्धिजीवियों के बीच मतभेद और सामान्यजन में अनेकों भ्रान्तियाँ पनप गई थीं और इन्हीं सब को दूर करने के लिए इस प्रस्ताव-पत्र को उन्होंने तैयार किया था। लेकिन उनके इस आलेख की चर्चा अकादमिक जगत् में नहीं के बराबर होती है। डॉ. भगवानदास एक महान् शिक्षाविद्, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़े एक बहुमान्य बुद्धिजीवी और थियोसोफिकल सोसायटी से जुड़े सक्रिय व्यक्ति थे। उनके अनुसार 'स्वराज' मूल रूप में एक नैतिक प्रत्यय है और व्यवस्था के अर्थ में यह 'स्व-शासन' है। जिस प्रकार एक व्यक्ति में दो तरह की आत्मा—एक उच्चतर और दूसरी निम्नतर—का निवास होता है अर्थात् व्यक्ति दैवीय और पाशविक दोनों ही प्रवृत्तियों से संचालित होता है, उसी प्रकार किसी समाज और राष्ट्र की भी उच्चतर और निम्नतर आत्मा होती है। कोई भी सरकार या शासन तभी सुशासन अथवा 'स्व-शासन' से अभिहित हो सकता है जब वह उच्चतर आत्मा द्वारा संचालित हो। उच्चतर आत्मा से अभिप्रेरित राज-काज और नीति ही अधिकाधिक समन्वयकारी हो सकती है। इसका लोकतांत्रिक क्रियान्वयन और व्यवस्थापन केवल विवेकवान् विधायिका के द्वारा ही सम्भव है, जो प्रत्येक व्यक्ति में रहने वाले 'मैं' और 'हम' को समन्वित कर सके। जैसे प्रतिस्पर्धा और परस्पर सहयोग दोनों ही आवश्यक हैं, उसी प्रकार वैयक्तिक पहल और सामाजिक विनियोग दोनों ही स्वस्थ एवं समृद्ध समाज के लिए अपरिहार्य हैं। यदि हम भारत के स्वराज को इसी अर्थ में लें, और उसकी स्थापना में ही औचित्यपूर्ण विधि तथा आध्यात्मिक मनोवृत्ति के निर्वाचित विधायकों के द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो, तभी भारत जिस स्वराज को प्राप्त करने की लड़ाई लड़ रहा है, वह स्वरा शताब्दियों तक अक्षुण्ण रह सकेगा। डॉ. भगवानदास की यह अन्तर्दृष्टि, वास्तव में लोकतंत्रात्मक स्वराज की नैतिक आधारभूमि की ओर महत्त्वपूर्ण संकेत है। इस नैतिक आधार के बिना किसी भी लोकतंत्र का 'भीड़तंत्र' में रूपान्तरित हो जाना स्वाभाविक ही है। उनकी अनेकों बहुमान्य कृतियों में *दी एस्सेन्सियल यूनिटी ऑफ ऑल रिलिजन्स* (1939) सर्वाधिक प्रतिष्ठित कृति है।

इस युग के मान्य अध्येताओं में आर.डी. राणाडे (1886-1957) का व्यक्तित्व बिलकुल अलग प्रकार था। उनकी प्रसिद्धि एक दार्शनिक के साथ-साथ रहस्यविद् के रूप में भी थी। *ए कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी* (1927) उनकी बहुमान्य कृति है। इसमें उन्होंने न केवल औपनिषद् दर्शन को उसकी सम्पूर्ण गरिमा और अन्तर्वस्तु के साथ प्रस्तुत किया है बल्कि लॉर्ड रोनाल्डसे की उस आलोचना को सिरे से खारिज भी किया है कि भारतीय दर्शन निराशावादी है। उनके जीवनकाल की अन्तिम कृति *भगवद्गीता ऐज ए फिलॉसफी ऑफ गॉड रियलायजेशन* (1959) थी। मरणोपरान्त उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण (मैग्नम ओपस) कृति *वेदान्त - दी कल्मीनेशन ऑफ इण्डियन थॉट* (1970) नाम से प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को उन्होंने महान् समन्वयकारी दार्शनिक सिद्ध किया है और साथ ही साथ यह प्रतिपादित किया है कि 'स्वाराज्यम् वैराज्यम्' की वैदिक दृष्टि प्लेटो के 'दार्शनिक राजा' के सिद्धान्त की अपेक्षा उच्चतर आदर्श को प्रस्तुत करती है। 'स्वाराज्यम्-वैराज्यम्' की अवस्था को प्राप्त व्यक्ति ही वास्तव में देवाधिदेव 'अनन्याधिपति' होता है।

राणाडे के ही समकालीन अनुकूलचन्द्र मुखर्जी थे जिन्हें उचित ही 'इलाहाबाद का प्लेटो' कहा जाता था। *दी नेचर ऑफ सेल्फ* (1938) एवं *सेल्फ, थॉट एण्ड रियलिटी* (1957) उनकी अति प्रसिद्ध और गम्भीर दार्शनिक कृतियाँ हैं जिनमें उन्होंने अद्वैतवेदान्त में परम चैतन्य के स्वरूप को ब्रिटिश-नवहेगलवादी अभिगम में उद्घाटित किया है। ये अपने समय के सम्भावनावान् और मौलिक भारतीय दार्शनिकों में अन्यतम रहे। इनकी रचनाओं में तुलनात्मक दार्शनिक संस्कृति और उसकी नवोन्मेषी सृजनात्मकता का भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में उत्कर्ष देखा जा सकता है।

औपनिवेशिक युग के भारतीय दार्शनिकों में सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (1888-1975) का नाम निर्विवाद रूप में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। पूरे विश्व में इनकी प्रतिष्ठा 'पूरब और पश्चिम के प्रवक्ता' के रूप में थी। इन्होंने मानव-जीवन के सभी पक्षों की व्याख्या 'नव-वेदान्तवादी' दृष्टि से किया है। नव-वेदान्त की तत्त्वमीमांसा को उन्होंने परमतत्त्ववादी वैश्वीय दार्शनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में पुनर्व्याख्यायित करते हुए यह प्रतिपादित किया कि यह दृश्यमान् जगत् परम सत् का ही आभास है लेकिन फिर भी यह भ्रम मात्र नहीं, जैसा कि अद्वैत वेदान्त के परम्परागत चिन्तक मानते रहे हैं। वस्तुतः शंकर के मायावाद का विरोध और जगत् की यथातथ्यता का स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औपनिवेशिक युग के नव-वेदान्ती-चिन्तन की प्रस्थानमूलक विशेषता रही है। राधाकृष्णन् का 'धार्मिक अनुभूति' के स्वरूप की व्याख्या और धर्म के औचित्य प्रतिपादन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। पूरब और पश्चिम के मध्य दार्शनिक संवाद की आवश्यकता को औचित्यपूर्ण ठहराते हुए उन्होंने तुलनात्मक दर्शन को सदैव बढ़ावा दिया। इस हेतु हवाई विश्वविद्यालय, अमेरिका में 'ईस्ट-वेस्ट सेन्टर' की स्थापना में उन्होंने पहलकारी भूमिका निभाई थी। 'ऐन आइडियलिस्टिक व्यू ऑफ लाईफ' में उन्होंने सफलतापूर्वक प्रतिपादित किया कि बुद्धि सत्य को उसकी सम्पूर्णता में जान ही नहीं सकती। अन्तःप्रज्ञा ही मानवीय चेतना का वह आयाम है जहाँ सत्य अपनी सम्पूर्णता में साक्षात्कृत होता है। इस अन्तःप्रज्ञात्मक साक्षात्कार में सारे द्वैतों का, आपातिक विरोधों का उपशमन हो जाता है। यही अन्तःप्रज्ञात्मक अनुभूति धर्म, नीति और सर्वसमावेशी अद्वैत सत्ता को प्रमाणित करती है। बुद्धि केवल विश्लेषण में ही विश्रान्त हो जाती है लेकिन अन्तःप्रज्ञा अपने संश्लेषणात्मक व्यापार में एक समग्र बोध के साथ आदर्श जीवन की सम्भावना को प्रस्तुत करती है। अपने 'आदर्श जीवन' की अवधारणा को उन्होंने हिन्दू जीवन-दृष्टि पर सफलता के साथ लागू कर दिखाया है। अपनी एक महत्त्वपूर्ण दूसरी कृति *दी हिन्दू व्यू ऑफ लाईफ* में उन्होंने पश्चिम के समक्ष इस भारतीय सत्य को प्रामाणिकता के साथ उजागर किया कि भारत की सांस्कृतिक-धार्मिक चेतना बहुदेववादी होते हुए भी अद्वैतवाद का विरोधी नहीं है। हजारों वर्षों से अनेकता में एकता वाली भारतीय संस्कृति का यही अमृतनाभ है जिसके चलते अनेक उतार-चढ़ावों और वैजात्य प्रहारों के बावजूद इसकी प्राणदा शक्ति समाप्त नहीं हुई है।

यद्यपि नव्यवेदान्त की तर्कसम्मत विश्लेषणात्मक तत्त्वमीमांसा की शुरुआत औपनिवेशिक युग में के.सी. भट्टाचार्य से ही होती है लेकिन उसी परम्परा में रासबिहारी दास (1899-1976) भी आते हैं जिन्होंने उसे अपने तरीके से आगे बढ़ाया है। काण्ट के परमसत् विषयक विशिष्ट संशयवाद और व्हाइटहेड के चिन्तन के प्रभाव में वेदान्ती तत्त्वमीमांसा की पुनर्रचना को उनके दार्शनिक चिन्तन का सर्वाधिक मौलिक पक्ष माना जा सकता है। *रिव्यू ऑफ मेटाफ़िजिक्स* (अंक-10 से 1- 1956) में प्रो. बुर्च ने उनके सम्बन्ध में उचित ही कहा है कि प्रो. दास का दार्शनिक चिन्तन 'यूथफुल स्पेक्युलेशन' और 'मैच्योर एनालिटिकल' नामक दो चरणों में विकसित हुआ है। इसमें पहले चरण की सम्पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति उनकी पुस्तक 'सेल्फ एण्ड दी आइडियल' (1935) में देखी जा सकती है। यद्यपि यह पाश्चात्य प्रभाव में विकसित हुआ उनका चिन्तन है जो स्पष्टतः वेदान्त की परम्परा में आते हुए भी इस अर्थ में अत्यन्त मौलिक है कि उसे परम्परागत वेदान्त दर्शन के किसी सम्प्रदाय से बाँधा नहीं जा सकता। उनकी अन्य पुस्तकाकार कृतियों में *दी एस्सेन्सियल ऑफ अद्वैतिज़्म* (1931), *दी फिलॉसफी ऑफ व्हाइटहेड* (1937) एवं *ऐन इन्ट्रोडक्शन टू शंकर*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(1968) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रो. दास के दार्शनिक योगदानों को समझने के लिए उनके प्रकीर्ण लेखनों का संग्रह (रासबिहारी दास : फिलॉसफिकल एस्सेज, सम्पा. रामप्रसाद दास, यूनीवर्सिटी ऑफ कलकत्ता) बहुत ही उपयोगी है।

औपनिवेशिक युग के वैसे विश्वप्रसिद्ध चिन्तक और बुद्ध-पुरुष जो भारतमाता की गोद में पैदा हुए, उनमें जिद्दू कृष्णमूर्ति (1895-1986) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सभ्यता की वर्तमान दहलीज पर मनुष्य की चेतना पर शताब्दियों से पड़े परम्परा, इतिहास और गहन मनोवैज्ञानिकता की परतें जो मनुष्य को उत्तरोत्तर परतंत्रता की जंजीर में जकड़ती जा रही हैं, उनका भंजन करते हुए 'क्रियात्मक मानव स्वातन्त्र्य' के इस भाष्यकार ने अपने जीने योग्य जीवन्त विचारों से पूरी दुनियाँ के समक्ष एक मौलिक जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है। कुछ इन्हें बुद्ध तो कुछ 'प्रेम का देवता' कहते हैं। दार्शनिक जगत् तो इनमें सर्वदृष्टि प्रहाणवादी नागार्जुन का आधुनिक रूप देखता है। औपनिवेशोत्तर काल में ओशो रजनीश जो अपने आप में भारत के 20वीं शताब्दी के क्रान्तिकारी चिन्तक रहे, उन्होंने कृष्णमूर्ति के चिन्तन से बहुत कुछ लिया है। कृष्णमूर्ति कोई 'एकेडेमिक फिलॉसफर' नहीं रहे बल्कि वे आत्मचेता बुद्ध पुरुष थे। उनके व्याख्यानों का संग्रह अपने आपमें एक वाङ्मय है (18 भागों में मोतीलाल बनारसीदास से प्रकाशित) लेकिन *कॉमेन्टरीज ऑन लिविंग, फ्रीडम फ्राम नोन, फर्स्ट एण्ड लास्ट लिबरेशन* और *यू आर द वर्ल्ड* इत्यादि में उनके मौलिक विचार व्यवस्थित रूप में प्राप्त होते हैं।

के.सी. भट्टाचार्य के शिष्य एवं महात्मा गाँधी के अनुयायी धीरेन्द्र मोहन दत्त (1898-1974, पटना विश्वविद्यालय) का नाम उपनिवेशकालीन भारतीय दर्शन के कुछ विरले प्रामाणिक, प्रांजल और निर्दोष अध्येताओं में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। *सिक्स वेज ऑफ नोइंग* (1932), *द फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी* (1953) और *चीफ करेण्ट्स ऑफ कॉन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी* (1950) उनकी प्रसिद्ध और आज भी पठन-पाठन में सर्वाधिक उपयोग की जानेवाली पुस्तकें हैं। भाषा और उसमें निहित कोटियों का विश्लेषण—दार्शनिक मीमांसा की पूर्वापेक्षा है—यह उनकी कृतियों में सर्वत्र परिलक्षित होता है। इसी तरह बीते हुए कल से पहले के भारतीय दर्शन का लेखा-जोखा तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक कि सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (1885-1952) के द्वारा पाँच खण्डों में प्रकाशित *ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी* (1922) का उल्लेख न किया जाय। पारम्परिक भारतीय दर्शन की उसके समस्त गुण-सूत्रों के साथ जिस प्रगत रूप में उन्होंने दुनियाँ के सामने रखा है, इसके लिए भारत की भावी दार्शनिक पीढ़ी उनके प्रति सदैव ऋणी रहेगी। इसके अतिरिक्त उन्होंने योगदर्शन, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र एवं भारतीय नीतिमीमांसा जैसे विषयों पर भी इदंप्रथमतया अत्यन्त प्रामाणिक लेखन किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा 1858 में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारत को सद्यः अपने नियंत्रण में लिया और भारत में 'ब्रिटिश राज' की स्थापना हुई। इसके पश्चात् इस देश को 'राजनीतिक स्वराज' पाने में पूरे नौ दशक लगे। पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व और कतिपय अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं के चलते स्वाधीन भारत में पंचशील की बौद्ध अवधारणा को एक राजनीतिक आयाम प्राप्त हुआ। डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने भी इसे मुनासिब समझा और अपनी स्वीकृति दी, क्योंकि वे 1934 में लाखों हिन्दुओं के साथ बौद्धधर्म स्वीकार कर इसके लिए पहले ही पृष्ठभूमि तैयार कर चुके थे। इस तरह बौद्ध अध्ययन को इस देश में सरकारी तौर पर बढ़ावा मिला और बौद्धधर्म से सम्बन्धित इस देश के कुछ ऐतिहासिक स्थलों जैसे, सारनाथ, नालंदा और बोधगया को एक नया महत्त्व प्राप्त हुआ। तिब्बत से भोटियों के व्यापक निर्वासन के पश्चात् केन्द्र सरकार ने सारनाथ में केन्द्रीय तिब्बती उच्च अध्ययन संस्थान स्थापित किया। करमापा सामदोंग रिनपोछे उसके प्रथम निदेशक बने जो बाद में निर्वासित तिब्बती सरकार के प्रधानमंत्री भी हुए। उनके नेतृत्व में देश-विदेश के बौद्ध विद्वान् उस संस्थान से जुड़े और वहाँ से महायान बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। बीते हुए कल और कतिपय आज भी सक्रिय बौद्ध विद्वानों में डॉ. हरीसिंह गौर (स्प्रिट ऑफ बुद्धिज़्म), भदन्त आनन्द कौशल्यायन, राहुल सांकृत्यायन, शान्ति भिक्षु शास्त्री (महायान), विश्वनाथ चटर्जी, आचार्य नरेन्द्रदेव (बौद्ध धर्म दर्शन), सत्कड़ी मुखर्जी (फिलॉसफी ऑफ यूनीवर्सल फ्लक्स), जी.सी. पाण्डे (बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास), आर.सी. पाण्डेय, के. वेंकटरमण, हर्षनारायण, ए.के. चटर्जी (योगाचार आईडियलिज़्म), जगन्नाथ उपाध्याय, महेश तिवारी, काशीनाथ उपाध्याय, रामशंकर त्रिपाठी (सौत्रान्तिक दर्शन), एन.एच. साम्तानी, (बुद्धिस्ट एपिस्टेमोलॉजी) इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

इस पहल के तत्काल बाद इस देश में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और अहिंसा के मूल्यबोध के साथ गाँधी-अध्ययन को बहुत बढ़ावा मिला। अहमदाबाद स्थित गुजरात विद्यापीठ इसका प्रमुख अकादमिक केन्द्र बना। भारतीय विश्वविद्यालयों में गाँधी अध्ययन संस्थान, विभाग और केन्द्र खोले गये। सस्ता साहित्य मण्डल की दिल्ली में स्थापना हुई ताकि गाँधी-साहित्य का व्यापक प्रचार-प्रसार हो सके। डॉ. रामजी सिंह (भागलपुर) और आर.सी. प्रधान (दिल्ली) जैसे लोगों ने गाँधी-दर्शन के उन्नयन हेतु अपना जीवन ही समर्पित किया।

द्रष्टव्य है कि प्रो. डी.एम. दत्त ने 1950 में समकालीन भारतीय दर्शन के स्वरूप पर एक दृष्टिविदारक टिप्पणी की थी कि तथाकथित समकालीन भारतीय दर्शन या तो पाश्चात्य प्रभाव में की गई दार्शनिक पुनर्रचना है अथवा यह यूरोपीय दर्शन का एक विशिष्ट प्रकार से विस्तार है—*चीफ करेन्ट्स ऑफ कॉन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी*। हमारी दृष्टि में प्रो. दत्त की यह टिप्पणी सम्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि अर्द्धसत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और इसीलिए स्वातन्त्र्योत्तर युग के दार्शनिक अध्ययवसाय में इसे अक्सर खारिज ही किया जाता रहा है।

1925 में 'इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस' की स्थापना हुई थी। यह दार्शनिकों का एक ऐसा संगठन है जो औपनिवेशिक युग से लेकर अब तक अंग्रेजी माध्यम से भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विकास के लिए सक्रिय रहा है। 1950 में इस संस्था के रजत जयन्ती वर्ष में 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी' (अमलनेर) के तत्त्वावधान में एक संगोष्ठी आयोजित हुई। विषय था—*हैज श्री अरविन्द रेफ्यूटेड मायावाद ?* इस परिचर्चा में उस समय के चार मूर्धन्य अध्येताओं ने भाग लिया (इन्द्रसेन, एन.ए. निकम, हरिदास चौधरी और जी.आर. मलकानी)। भारतीय दर्शन के भावी विकास की दृष्टि से इस परिचर्चा को एक 'पाथ ब्रेकिंग इवेन्ट' और इसमें प्रस्तुत किये गये शोध-पत्रों को स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के लिए 'न्यू टेस्टामेंट' कहा जा सकता है। इस परिचर्चा के सभी पत्रों को *इण्डियन फिलॉसफी इन इंगलिश - फ्रॉम रेनांसां टू इण्डिपेन्डेन्स* में संगृहीत किया गया है।

इन्द्रसेन (1903-1994), जो श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी से स्थायी रूप में सम्बद्ध रहे, ने अपने 'सिम्पोजियम पेपर' में यह दिखाया है कि श्री अरविन्द के लीलावाद में प्राचीन वेदान्त का मायावाद स्वतः सत्तावाद में रूपान्तरित हो जाता है, और इस तरह मायावाद श्री अरविन्द के दर्शन में अपने आप आपाततः खण्डित हो जाता है। श्री अरविन्द ने अपने *लाईफ डिवाइन* (1949) में एक समग्र और मूर्त्त अद्वैत को उपस्थापित किया है जिसमें जड़ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) का एकान्वयन घटित होता है। 'अनन्त के तर्क' को आधार में रखते हुए उन्होंने स्पष्ट ही प्रतिपादित किया है कि अतिमानस की विकासावस्था में सगुण और निर्गुण की एकता स्वयं अनुभूति के धरातल से प्रमाणित होती है।

मैसूर के प्रो. एन.ए. निकम (1903-1974) शंकर के विवर्त्तवाद और श्री अरविन्द के आविर्भाववाद में अन्तर करते हैं। उन्होंने श्री अरविन्द को उद्धृत किया है जहाँ वे 'मा' धातु से निष्पन्न माया का अर्थ मापन, परिच्छेदन और भ्रम अथवा धोखा के अर्थ में लेते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार वस्तुतः मायावाद में 'माया' शब्द दूसरे अर्थ अर्थात् भ्रम या धोखा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रो. निकम अन्ततः इस बात को उद्घाटित करते हैं कि श्री अरविन्द के दिव्य-जीवन दर्शन में और अद्वैत वेदान्त के मायावाद में मूलाविद्या की भूमिका एक ही जैसी है अर्थात् वह जागतिक नानात्व का हेतु है। इस तरह वास्तव में श्री अरविन्द के दर्शन में दो प्रकार के तर्क का ऐसा द्वैधीकरण है कि अन्ततः उनके दर्शन में मायावाद अनिराकृत ही रह जाता है।

हरिदास चौधरी (1913-1975, कलकत्ता) यह स्वीकार करते हैं कि परमतत्त्व का स्वरूप ऐसा है कि उसमें एक गहन आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के साथ मायावाद के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए अवकाश रहता ही है। अतः उसे अन्तिम रूप से निरस्त नहीं किया जा सकता। श्री अरविन्द का दर्शन वस्तुतः मायावाद के अतिक्रमण का, अज्ञान-प्रहाण, का दर्शन है।

जी.आर. मलकानी (1892-1977), जो कि इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलासफ़ी, अमलनेर के स्थायी निदेशक थे और तर्कसम्मत अद्वैत वेदान्त के प्रबल समर्थक भी रहे, ने बेबाक शब्दों में प्रतिपादित किया है कि श्री अरविन्द मायावाद का खण्डन नहीं करते हैं। उनके अनुसार एकात्मक अनुभव में सगुण और निर्गुण का समन्वय नहीं किया जा सकता। स्वयं शंकर के लिए और मलकानी के लिए भी सत्ता एक और अद्वैत ही है। तथाकथित अनन्त का तर्क अविरोध के नियम को निरस्त नहीं कर सकता। वस्तुतः मायावाद ही अद्वैतवाद के सर्वथा निर्दुष्ट और सुसंगत स्वरूप को प्रस्तुत करता है जहाँ किसी भी प्रकार के तत्त्वमीमांसीय द्वैत के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। देखा जाय तो मलकानी का यह बेबाक विरोध शंकर के अद्वैतवाद के प्रति उनकी गहरी निष्ठा का परिचायक है। *फिलासफ़ी ऑफ सेल्फ* (1939) और *मेटाफिजिक्स ऑफ अद्वैत* (1961) जैसी कृतियों से उनकी यह निष्ठा प्रमाणित भी होती है।

यहाँ 1950 में आयोजित परिचर्चा को उद्धृत करने का प्रयोजन इतना ही दिखाना है कि भारतीय परम्परा में दर्शन का विकास 'वाद' प्रक्रिया के द्वारा होता रहा है और उसकी निरन्तरता आज भी आधुनिक पदावली और आधुनिक प्रभावों को आत्मसात् करते हुए कायम है। जिस तरह श्री अरविन्द के दर्शन को सन्दर्भ बना कर स्वातन्त्र्योत्तर युग के इन चार दार्शनिकों ने अपने-अपने पक्षों को रखा है उसे देखकर वेदान्त देशिक (1268-1369) कृत *शत दूषणी* और अनन्तकृष्ण शास्त्री (अव. 1946) कृत 'शत भूषणी' के बीच के वाद-प्रतिवाद का स्मरण में आना स्वाभाविक ही है। सम्प्रति श्री अरविन्द के दर्शन में न्यूनाधिक दखल रखनेवाले विद्वानों में रामशंकर मिश्र, मधुसूदन रेड्डी, उमेशचन्द्र दुबे, अंजनी कुमार सिंह, विजयकान्त दुबे इत्यादि प्रमुख हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन (1893-1963), जिनका पूर्व नाम केदार पाण्डेय था, स्वातन्त्र्योत्तर भारत के ऐसे बहुविज्ञ और बहुआयामी प्रतिभा के धनी रहे कि उनके योगदानों को ज्ञान की किसी एक विधा में बाँधा नहीं जा सकता। वे जितने बड़े इतिहासज्ञ थे उतने ही बड़े भाषाविद् और पुरातववेत्ता भी थे। दर्शन, साहित्य और संस्कृति विषयक उनके ज्ञान का तो कोई पारावार ही नहीं था। प्रतीकात्मक रूप से *दर्शन-दिग्दर्शन* (1961) नामक उनकी एक कृति से उनके दार्शनिक अध्यवसाय का अन्दाजा लगाया जा सकता है। मध्य एशिया और तिब्बत की गुफाओं में जाकर उन्होंने बौद्ध दर्शन की पाण्डुलिपियों का जिस प्रतिबद्धता के अन्वेषण किया और के. पी. जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना का सहयोग पाकर उनका पुनरुद्धार किया, उसी के परिणामस्वरूप स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बौद्ध दर्शन और बौद्ध न्याय को प्रगत अध्ययन की एक आधारभूमि प्राप्त हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवेन्द्रनाथ राय (1887-1954), जिनका पूर्व नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था, भी राहुल सांकृत्यायन के समकालीन मौलिक मानववादी विचारक थे। मनुष्य की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता और गरिमा के पोषक के रूप में एम.एन. राय ने *रैडिकल ह्यूमेनिस्ट* नामक पत्रिका का सम्पादन करते हुए मानववादी चिन्तन का देशव्यापी प्रचार-प्रसार किया। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि कोई भी सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जब उसके मूल में एक सांस्कृतिक आन्दोलन की सक्रिय भूमिका हो। उनकी दृष्टि में नैतिकता पर आधारित प्रजातंत्र को ही सही अर्थों में लोकतंत्र कहा जा सकता है। 'रीजन, रोमान्टिसिज़्म एण्ड रिवोल्यूशन' (1952) एवं *न्यू ह्यूमनिज़्म* (1961) उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ हैं जिनमें उनके मौलिक विचार प्रखरता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं।

भारतीय दर्शन का औपनिवेशिक युग किस तरह स्वातन्त्र्योत्तर युग में रूपान्तरित होता है और इस नये युग में वह किस प्रकार का स्वरूप ग्रहण करता है, इसकी एक झलक हमें 'कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी' नामक ग्रन्थ के दूसरे परिवर्द्धित संस्करण में देखने को मिलती है। राधाकृष्णन् और म्योरहेड ने इनका सम्पादन किया था। यह ग्रन्थ स्वातन्त्र्यपूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की दशा-दिशा को प्रस्तुत करनेवाला एक पहलकारी प्राथमिक और प्रामाणिक प्रयास था। इसके प्रथम संस्करण में (1936) गांधी, टैगोर, स्वामी अभेदानन्द, के.सी. भट्टाचार्य, जी.सी. चटर्जी, आनन्द कुमारस्वामी, भगवानदास, एस.एन. दासगुप्ता, हीरालाल हलधर, एम. हिरियन्ना, एस. राधाकृष्णन्, आर.डी. राणाडे, बी. सुब्रह्मन्यम् अय्यर और ए.आर. वाडिया जैसे दार्शनिकों के आलेख सम्मिलित किये गये थे। इसका जब दूसरा परिवर्द्धित संस्करण (1952) निकला तो उसमें ग्यारह दार्शनिकों के और आलेख सम्मिलित किये गये। वे हैं–हरिदास भट्टाचार्य, एन.जी. डाम्ले, रासबिहारी दास, डी.एम. दत्त, हुमायूँ कबीर, एस.के. मैत्र, जी.आर. मलकानी, ए.सी. मुखर्जी, टी.आर.वी. मूर्ति, पी.टी. राजू और एम.एम. शेरीफ। द्रष्टव्य है कि इस ग्रन्थ के दोनों भागों में जिन दार्शनिकों के आलेखों को तत्कालीन दार्शनिक अध्यवसाय के नमूने के तौर पर प्रस्तुत करने के लिए सम्मिलित किया गया, उन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में वैसे आलेख आते हैं जिन्हें उन दार्शनिकों नें वैदिक परम्परा के दर्शनों की अपने आजीवन अध्यवसाय के आधार पर तद्विषयक अपनी समझ को प्रस्तुत किया है। दूसरे वर्ग के आलेखों में अन्तर्वस्तु तो परम्परागत भारतीय दर्शनों से ही ली गई है लेकिन उनकी व्याख्या, विश्लेषण और तुलना पाश्चात्य दर्शन और उसकी आधुनिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में की गई है। यहाँ यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि एक समय भारतीय विद्वानों के दार्शनिक अध्यवसाय में तुलनात्मक दर्शन को चरितार्थ करने की प्रवृत्ति इस तरह हावी हो गई थी कि ऐसा करना दार्शनिक अध्यवसाय का पर्याय बन गया था, लेकिन कुछ ही भारतीय विद्वानों के हाथों यह उचित रूप में क्रियान्वित किया गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उनके प्रयास से भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन के बीच की अन्तःपदीय समझदारी बढ़ी। परन्तु अधिकांश के द्वारा किये गये तुलनात्मक प्रयासों से भारतीय दर्शन उन्मीलित न होकर अन्ततः उन्मूलित ही हुआ है। हमारे देश के दार्शनिकों का पाश्चात्य-दर्शन विषयक समृद्ध ज्ञान यदि भारतीय दर्शन के उन्नयन में फलित न हो कर अपनी ही परम्परा के प्रति हीन भावना पैदा करने में सहायक हो तो ऐसे दार्शनिक अध्यवसाय को विकास नहीं विकार ही कहा जायेगा।

इस प्रसंग में यहाँ हम अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् की स्थापना को भी संज्ञान में लेना आवश्यक समझते हैं। यह परिषद् वास्तव में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन का एक नया और महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसकी स्थापना के पीछे कई एक महत्त्वपूर्ण लोग रहे लेकिन उनमें स्थापकीय महत्त्वपूर्ण भूमिका श्री यशदेव शल्य की रही। द्रष्टव्य है कि 'हिन्दी' एक भाषा के रूप में नहीं बल्कि जातीय-स्मृति और सांस्कृतिक मूल्यबोध के साथ राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की प्राणदा शक्ति भी थी। इसी व्यापक उद्देश्य को स्वातन्त्र्योत्तर भारत में भाषीय राजपथ पर चलते हुए वैचारिक स्वराज और भारत को उसकी आत्मा में प्रतिष्ठित करने के संकल्प के साथ इस परिषद् की स्थापना हुई थी। इस परिषद् के मुखपत्र के रूप में *दार्शनिक त्रैमासिक* पत्रिका का परिषद् की स्थापना के साथ ही 1954 से प्रकाशन प्रारम्भ किया गया और परिषद् का प्रथम वार्षिक अधिवेशन 1956 में इलाहाबाद में हुआ। यह परिषद् आज भी अपने आत्मचेतन संकल्प के साथ अपने उद्देश्य-पथ पर अग्रसरित है। हिन्दी माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर भारत में दार्शनिक अध्यवसाय को प्रतिनिधित्व देते हुए परिषद् ने दो दर्जन से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन किया है जिसमें के. सच्चिदानन्द मूर्त्ति द्वारा *समकालीन भारतीय दर्शन* (1962) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राधाकृष्णन् और म्योरहेड के ही तर्ज पर इस पुस्तक में सम्पूर्णानन्द, एन.एस. द्राविड़, ब्रज गोपाल तिवारी, संगमलाल पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, आर.के. त्रिपाठी, एस.एस. बारलिंगे, जे.आर.एल.एस. नारायण मूर्त्ति, चन्द्रशेखर राय और के.एस. मूर्त्ति के आलेख सम्मिलित किये गये थे।

इसी क्रम में परिषद् के तत्त्वावधान में 'स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण' के अन्तर्गत अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा सम्पादित *समेकित दार्शनिक विमर्श* (2005), *समेकित अद्वैत विमर्श* (2005), *भारतीय दर्शन के 50 वर्ष* (2006) और *समेकित पाश्चात्य दर्शन समीक्षा* (2012) भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये चारों ग्रन्थ वैचारिक स्वराज के भाषीय राजपथ पर हिन्दी माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक अध्यवसाय की यदि सम्पूर्ण प्रतिमा नहीं तो उसकी आवक्ष प्रतिमा अवश्य प्रस्तुत करते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में दर्शनशास्त्र को प्रोन्नत करने के लिए सरकारी तौर पर यद्यपि छोटे-बड़े अनेकों प्रयास किये गये लेकिन 1964 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा दर्शन के तीन उच्चानुशीलन अध्ययन केन्द्रों (वाराणसी, मद्रास और विश्वभारती) की स्थापना महत्त्वपूर्ण कदम था। इन केन्द्रों के द्वारा संचालित अकादमिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपक्रमों एवं प्रकाशनों से इस देश के दार्शनिक वातावरण को एक गति मिली। इसी दौरान केन्द्र सरकार की पहल पर मानविकी और सामाजिक विज्ञानों को बढ़ावा देने के लिए 1965 में राष्ट्रपति निवास, शिमला को 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स्ड स्टडी' (भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान) के रूप में स्थापित किया गया। इस संस्थान ने भी दर्शन के विकास को सदैव बढ़ावा दिया है। यहाँ से प्रकाशित कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उस संस्थान की दार्शनिक ऊष्मा को बखूबी अभिव्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त विवरण में हमने प्रायः स्वतन्त्रता के पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर काल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशित कार्यों को ही सन्दर्भित किये हैं परन्तु इस काल में कुछ ऐसे भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं जो प्रकाशित नहीं हैं। ऐसे कार्यों में अधिकांशतः विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों के स्वत्वाधिकार में हुए पी-एच्.डी. शोध-प्रबन्धों को रखा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि 1974 में मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा *इण्डेक्स टू डिजरटेशन्स इन फिलॉसफी* प्रकाशित किया गया था जिसमें 1135 शोध-प्रबन्धों को सूचीबद्ध किया गया है। पुनः, पुणे विश्वविद्यालय द्वारा प्रो. एस.एस. बारलिंगे के नेतृत्व में *ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ कम्प्लीटेड रिसर्च वर्क इन फिलॉसफी इन इण्डियन यूनीवर्सिटीज़'* प्रकाशित किया गया जिसमें लगभग 50 विश्वविद्यालयों में 1980 तक हुए शोध-कार्यों को सन्दर्भित किया गया है।

इस खण्ड में हम स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक अध्यवसाय को संकेतित करने के लिए वैसे अध्येताओं की पहल और योगदानों को रेखांकित करने का प्रयास करेंगे जिनका चिन्तन बीसवीं शताब्दी के तीसरे चरण के आस-पास तक एक स्वरूप ग्रहण कर चुका था। इस काल-खण्ड का विस्तार 21वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक कर लेना भी उचित ही होगा ताकि साम्प्रतिक रूप से कुछ नवोदित अध्येताओं को भी सन्दर्भित किया जा सके। आइए, हम एक दूरदर्शी शिक्षक (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) प्रो. टी.आर.वी. मूर्त्ति (1902-1986) से ही इस परिच्छेद का आरम्भ करें।

प्रो. टी.आर.वी. मूर्त्ति (1902-1986) अपने समय के सर्वथा प्रामाणिक और परिनिष्ठित अध्येता थे। उनकी अध्येतृता को परम्परा और आधुनिकता, पूरब और पश्चिम का सेतुबन्ध कहा जा सकता है। उनकी विशेष अभिरुचि माध्यमिक दर्शन, काण्ट और भाषा-दर्शन में रही लेकिन अपने दार्शनिक अध्यवसाय को उन्होंने माध्यमिक दर्शन की पुनर्रचना, उसकी सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ, करने में चरितार्थ किया है। 1955 में प्रकाशित उनकी कृति 'दी सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज़्म' के माध्यम से दार्शनिक विचारों के विश्व-इतिहास में नागार्जुन को उसकी सम्पूर्ण प्रभाववत्ता और मूलगामिता के साथ प्रतिष्ठा मिली है। प्रो. मूर्त्ति के लिए माध्यमिक दर्शन का आन्तरिक मूल्य बौद्ध दर्शन के एक सम्प्रदाय के रूप में नहीं बल्कि 'क्रिटिक ऑफ ऑल फिलॉसफीज़' के रूप में है। माध्यमिक दर्शन की ऐसी व्याख्या पर यह आरोप भी लगाया गया कि प्रो. मूर्त्ति ने अद्वैत वेदान्त की छाया में माध्यमिक दर्शन को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चर्चित किया है। यह आरोप यदि सही हो तो भी प्रो. मूर्त्ति की व्याख्या अपने आप में आद्यन्त रूप से सुसंगत और पूरी दुनियाँ में अपने बल पर अकेले खड़ी है। 'दी सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज़्म' के प्रकाशित होने के पश्चात् बौद्ध अध्येतृता का विश्व-समुदाय विरोध या समर्थन में प्रो. मूर्त्ति की अनदेखी नहीं कर सका।

वैसे तो प्रो. मूर्त्ति ने काण्ट के दर्शन को लक्ष्य करके कुछ नहीं लिखा है लेकिन 'अज्ञान' नामक पुस्तक (1933), जो जी.आर. मलकानी और रासबिहारी दास के साथ मिलकर लिखी गयी थी, उसमें अद्वैत वेदान्त सम्मत अविद्या की अवधारणा को उद्घाटित करते हुए उन पर काण्ट के प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रो. मूर्त्ति ने दर्शन की आधुनिक पदावली में अविद्या की अवधारणा को उद्घाटित करते हुए यह दिखाया है कि "अज्ञान विषयक दार्शनिक अन्वीक्षा वास्तव में कुछ नहीं बल्कि ज्ञान के प्रागनुभविक स्थितियों और हेतुओं की खोज है।" (*अज्ञान*, पृ. 122, लुजेक एण्ड कम्पनी, लंदन, 1932)

इसी तरह अद्वैतवादी दर्शनों के अनन्तर्भाव्य वैकल्पिक प्रारूपों की गवेषणा भी प्रो. मूर्त्ति के दार्शनिक अध्यवसाय का महत्त्वपूर्ण बिन्दु रहा है। यद्यपि इसकी शुरुआत के.सी. भट्टाचार्य से होती है लेकिन उनकी इस अन्तर्दृष्टि को अपने में स्वायत्त कर प्रो. मूर्त्ति ने अपने लेख *नोविंग, विलिंग एण्ड फिलिंग एज़ फंक्शन्स ऑफ कॉन्शसनेस* (1934) एवं अन्य प्रकीर्ण लेखनों के माध्यम से जिस तरह आगे बढ़ाया है उसे पाश्चात्य परम्परा की फैकल्टी साइकोलॉजी की आलोचना से उपजा अद्वैतवादी दर्शनों की मूलगामी समझ के प्रति एक मौलिक और सार्वभौमिक दार्शनिक पुनर्रचना से अभिहित किया जा सकता है।

भाषा-दर्शन के क्षेत्र में प्रो. मूर्त्ति ने बहुत कुछ नहीं लिखा है लेकिन उनका एक ही आलेख-जो कि 'इण्डियन फिलॉसफिकल कॉग्रेस' (1963) में दिया गया अध्यक्षीय भाषण था (एस.पी. दुबे, *फेसेट्स ऑफ रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी*, भाग 3) वही उन्हें एक भविष्णु भाषा दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करता है। प्रो. मूर्त्ति के अनुसार भाषा का दर्शन वास्तव में दर्शनशास्त्र की एक शाखा ही नहीं बल्कि अपने आप में सम्पूर्ण दर्शन है और भारतीय चिन्तन में बहुत कुछ ऐसा है जिसके द्वारा वैश्वीय भाषा दार्शनिक चिन्तन को वह अपना मौलिक योगदान कर सकता है। उनका यह व्याख्यान प्रकाशित होने के पश्चात् भारतीय भाषा दार्शनिक अध्यवसाय के लिए नवीन पथ या 'पाथ ब्रेकिंग' सिद्ध हुआ और इसके द्वारा भाषा-दर्शन के क्षेत्र में भारतीय दृष्टि से कार्य करने की एक जबरदस्त उत्प्रेरणा पैदा हुई। इसके अतिरिक्त प्रो. मूर्त्ति के सम्पूर्ण लेखन में *दी फिलॉसफी ऑफ स्पिरिट* (राधाकृष्णन् और म्योरहेड द्वारा सम्पा. *दी कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी* के दूसरे भाग में संगृहीत) एवं *दी कॉन्सेप्ट ऑफ फिलॉसफी* (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय दर्शन-सीरीज़ में प्रकाशित *दी कॉन्सेप्ट ऑफ*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिलॉसफी) को उनकी 'निज दार्शनिक निष्ठा' का परिचायक लेखन कहा जा सक है।

यहाँ के.एम. पणिक्कर (*दी फाउण्डेशन ऑफ न्यू इण्डिया,* 1963) की टिप्पणी का उल्लेख करना प्रासंगिक प्रतीत होता है, जहाँ वे कहते हैं कि भार विश्वविद्यालयों से कोई ऐसा दार्शनिक पैदा नहीं हुआ जिसने परम्परागत चिन्त अथवा आधुनिक चिन्तन-प्रक्रिया में कोई विशिष्ट योगदान किया हो। वास्तव गतानुगतिक रूप से ऐसी टिप्पणी करते हुए यह सम्भव है कि पणिक्कर सामि दार्शनिक अध्येतृता से पूरे तौर से परिचित न रहे हों। प्रो. मूर्त्ति का ऊपर उद्धृत के एक आलेख उनकी टिप्पणी को ख़ारिज करने के लिए पर्याप्त है। इस सन्दर्भ में हु कबीर (1906-1969) के विश्वोन्मुखी चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में परम्परा नवोन्मेषी प्रगतिशीलता के मध्य सामंजस्य की स्थापना के उनके प्रयासों की अन कैसे की जा सकती है? इतना ही नहीं, पणिक्कर अपने ही आस-पास पी.टी. (1903-1993) के दार्शनिक अध्यवसाय का आकलन नहीं कर सके। अपने समय पी.टी. राजू पारम्परिक भारतीय दार्शनिक चिन्तन की आधुनिकोन्मुखी व्याख्या करने में अग्रणी थे। इस प्रकार की व्याख्या का मानक रूप *आइडियलिस्टिक थॉट* *इण्डिया* (1953), *थॉट एण्ड रियलिटी* (1957) और *इण्डियन आइडियलिज़्म* *मॉडर्न चैलेंजेज़* (1961) नामक कृतियों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त टी. राजू को 'तुलनात्मक दर्शन' की स्वतन्त्र विधा के प्रणेता रूप कुछ इने व्यक्तियों में परिगणित किया जा सकता है। उनकी *इन्ट्रोडक्शन टू कम्परेटिव फिलॉ* (1962) इस विधा की प्राथमिक संस्थापक कृतियों में एक है।

इन्हीं दिनों में कालिदास भट्टाचार्य (1911-1984) एक विलक्षण दार्शनि प्रतिभावाले अपने ढंग के बिलकुल अलग प्रकार के अध्येता थे। इनकी दार्शनि चेतना किसी वाद या सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध न होकर इस अर्थ में स्वतन्त्र थी कि उन्हों मनुष्य की चेतना में निहित वैकल्पिक तत्त्वमीमांसीय प्रवृत्तियों की वैकल्पिकता दार्शनिकीकरण करते हुए एक तरह से उसकी ही तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत की है। इस वीज उन्हें अपने पिता कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के *एब्सोल्यूट ऐण्ड इट्स अल्टर* *स्टैंडप्वाइन्ट* में प्राप्त हुआ था लेकिन उसे इन्होंने *अल्टरनेटिव स्टैंडप्वाइन्ट* *फिलॉसफी* के रूप में विकसित किया है। कालिदास भट्टाचार्य के सम्पूर्ण दार्शनि अध्यवसाय को मनुष्य के वैकल्पिक दार्शनिक अभिनिवेश का भाष्य और उनके द को 'वैकल्पिक दार्शनिकता का तर्कशास्त्र' कहा जा सकता है। अपने इस दार्शनि अभिगम को उन्होंने अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र अद्वैत वेदान्त, माध्यमिक दर्शन जैन दर्शन के अनेकान्तवाद पर जिस तरह से लागू किया है उसे एक सर्वथा मौलि और सार्वभौमिक दार्शनिक पुनर्रचना से अभिहित किया जा सकता है। मनुष्य स्वरूप, स्वतन्त्रता और उसकी धार्मिक, वैज्ञानिक चेतना के सम्बन्ध में भी उन्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। भट्टाचार्य की बहुविध रचनाओं में—*अल्टरनेटिव स्टैंडप्वाइन्ट इन फिलॉसफी* (1953), *प्रीसपोजिसन ऑफ साइन्स एण्ड फिलॉसफी एण्ड अदर एस्सेज* (1974), *पॉसिबिलिटी ऑफ डिफरेन्ट टाइप्स ऑफ रेलिजन* (1975), *दी इण्डियन कॉन्सेप्ट ऑफ मैन* (1982) तथा बंगला में *भारतीय संस्कृति ओ अनेकान्त वेदान्त* (1982) प्रमुखतम हैं।

पारम्परिक भारतीय दर्शन के क्षेत्र में के.एम. पणिक्कर की टिप्पणी को झुठलाने के लिए टी.एम.पी. महादेवन् के दार्शनिक अध्यवसाय को सन्दर्भित किया जा सकता है। महादेवन् (1911-1983) वेदान्त दर्शन के पारंगत और निष्ठावान् अध्येता थे। आधुनिक युग में उन्हें 'मद्रास स्कूल ऑफ वेदान्त स्टडीज' के संस्थापक-आचार्य से महिमामण्डित किया जा सकता है। *गौड़पादः ए स्टडी इन अर्ली अद्वैत* (1954) के माध्यम से उन्होंने पं. विधुशेखर भट्टाचार्य सरीखे व्यक्तियों द्वारा फैलाई गई इस भ्रान्ति का भाजन किया है कि शंकराचार्य के दादागुरु गौड़पाद ने मौटे तौर पर सब कुछ नागार्जुन की माध्यमिक कारिका से ले लिया है। उन्होंने हरमेन्युटिक्स और फिलोलॉजी की पद्धति से यह दिखाया है कि गौड़पाद द्वारा प्रयुक्त पदावलियाँ बौद्ध परम्परा की एकल सम्पत्ति नहीं बल्कि परम्परा की सम्पदा हैं जिन पर किसी का एकाधिकार नहीं। *दी फिलॉसफी ऑफ अद्वैत* (1957), *आउट-लाइन्स ऑफ हिन्दूइज्म* (1956) और *टाइम एण्ड टाइमलेस* इत्यादि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त *दी बिल्डर्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी सीरीज* (भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्) के अन्तर्गत टी.एम.पी. महादेवन् पर केन्द्रित आर. बालसुब्रह्मण्यम् की पुस्तक उनके पारम्परिक दार्शनिक अध्यवसाय को बखूबी उद्घाटित करती है।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में नन्दकिशोर देवराज (1917-1999) एक ऐसे सशक्त चिन्तक रहे हैं जिन्होंने अपने दार्शनिक अध्यवसाय को आजीवन मानववादी चिन्तन को समर्पित किया था। मनुष्य के आत्मचेतन उत्पाद होने में निहित उसकी स्वतन्त्रता, तर-तम-भाव और मूल्यान्वेषी प्रकृति को आधारभूत मानकर उन्होंने जिस प्रकार के मानववादी चिन्तन को उद्घाटित किया है उसे 'सर्जनात्मक मानववाद' से अभिहित किया जाता है। देवराज का सर्जनात्मक मानववाद एक ओर मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन के तत्त्वमीमांसीय लंगर से कटा हुआ है तो दूसरी ओर मूल्य-सर्जक और मूल्यसेवी रूप में महज मानवकेन्द्रित नहीं, जहाँ संघर्ष और विरोध उसके प्रकृतिजयी स्वरूप में ही निहित होता है। *दी फिलॉसफी ऑफ कल्चर : ऐन इन्ट्रोडक्शन टू क्रियेटिव ह्यूमनिज्म; ह्यूमनिज्म इन इण्डियन थॉट; फ्रीडम, क्रियेटिविटी एण्ड वैल्यू : दी लिमिट्स ऑफ डिसएग्रीमेन्ट* इत्यादि रचनाओं में देवराज के सर्जनात्मक मानववाद का विकसित रूप एक स्वतन्त्र प्रस्थान के रूप में सामने आया है।

इस काल में भारतीय विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध और भी अनेकों अध्येताओं के नाम गिनाये जा सकते हैं जिन्होंने वैयक्तिक और संस्थागत स्तर पर स्वातन्त्र्योत्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में दर्शन के विकास को प्रभावित किया है। वस्तुतः किसी चिन्तन-परम्परा को पुरोगामी विकासोन्मुख आयाम प्रदान करना ही सही अर्थों में विकास होता है। लेकिन परम्परागत चिन्तन को अपने अध्यवसाय से गतिशील और जीवन्त बनाये रखना भी उसके प्रति कम महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं होता। स्वातन्त्र्योत्तर युग के ऐसे अध्येताओं में निम्नलिखित का उल्लेख प्रमुखता से लिया जा सकता है।

भुवनेश्वर के गणेश्वर मिश्र (1917-1985) अपने समय के जाने-माने अध्येता थे। ए.जे. एयर के शिष्य के रूप में इन्होंने *सोर्स ऑफ मोनिज्म इन शंकर एण्ड ब्रैडले* विषय पर लंदन से पी-एच्.डी. की उपाधि (1955) में प्राप्त की थी। पाश्चात्य विश्लेषणात्मक दर्शन की पद्धति का भरपूर उपयोग करते हुए *स्टडीज इन अद्वैत वेदान्त* (1976) उनकी प्रसिद्ध कृति है।

रमाकान्त त्रिपाठी (1918-81) जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में टी.आर.वी. मूर्त्ति के शिष्य रहे, उनका झुकाव वेदान्त दर्शन और उसमें भी शांकर वेदान्त की ओर अधिक था। दर्शन की आधुनिक समस्याओं पर अद्वैत वेदान्त के पक्ष को मजबूती से रखने की क्षमता उनमें अद्भुत थी। उनके लिए अद्वैत वेदान्त की विचार-प्रक्रिया *दर्शन की अवधारणा* का पर्याय जैसी थी। *प्रॉब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रिलीजन* (1971) नामक संकलन में यह सब कुछ प्रांजल सम्प्रत्ययात्मक स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। त्रिपाठी का पहला महत्त्वपूर्ण कार्य *स्पिनोजा इन दी लाइट ऑफ वेदान्त* 1958 में ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ था।

सुरेन्द्र सदाशिव बारलिंगे (1919-1997) ने पुणे विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहते हुए अंग्रेजी, हिन्दी और मराठी तीनों ही भाषाओं में आधुनिकोन्मुख दार्शनिक लेखन के द्वारा भारतीय दर्शन को बढ़ावा दिया है। *ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन लॉजिक* (1965) नामक पुस्तक में उन्होंने भारतीय तर्कविद्या को आकारिक तर्कशास्त्र की पदावली और तौर-तरीके से प्रस्तुत किया है। इसी तरह भारतीय नीतिशास्त्र और भारतीय दर्शन को आधुनिक पदावली में प्रस्तुत करनेवाले उनके ग्रन्थ *ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन एथिक्स* (1997) और *री-अण्डरस्टैंडिंग इण्डियन फिलॉसफी* (1998) हैं। बारलिंगे का एक विशिष्ट योगदान 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र' के क्षेत्र में भी रहा है। वे उन प्राथमिक व्यक्तियों में रहे हैं जिन्होंने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की पहले-पहल रूपरेखा प्रस्तुत की है।

चन्द्रधर शर्मा (1920-2004), जो पहले काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और बाद में जबलपुर से सम्बद्ध रहे, एक ख्यातनामा शिक्षक और भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों के सिद्धस्थ व्याख्याकार थे। उनके द्वारा लिखी गई पहले अंग्रेजी में *ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी* (1952) और बाद में उसका परिवर्द्धित हिन्दी संस्करण (1990) आज भी भारत के विद्यार्थियों के द्वारा सर्वाधिक पढ़ा जानेवाला ग्रन्थ है। *डायलेक्टिक ऑफ बुद्धिज़्म एण्ड वेदान्त* तथा *दी अद्वैतिक ट्रेडीशन इन इण्डियन*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिलॉसफी (1996) नामक ये दोनों ग्रन्थ उनके अद्वैतवादी अध्यवसाय के प्रांजल पक्ष को प्रस्तुत करते हैं।

नागपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध नारायण शास्त्री द्रविड़ (1923-2010), जो अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में न्यूजीलैण्ड में बस-से गये थे, अपने समय के भारतीय प्रमाणशास्त्र, नव्यन्याय और अद्वैत वेदान्त के परिष्कर्त्ता विद्वान् थे। भारतीय तर्कशास्त्र और प्रमाणशास्त्र की समस्याओं की विशिष्टता को पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र के समक्ष उपस्थापित करनेवालों में उनका तो कोई शानी नहीं था। उन्होंने भारतीय प्रमाणशास्त्र के प्रगत स्वरूप को मराठी भाषा में प्रस्तुत किया है (2009)। इसके अतिरिक्त नव्यन्याय की 'पक्षता' पर आई.सी.पी.आर. से 2007 में प्रकाशित उनकी एक विशिष्ट कृति है। उन्होंने *न्यायकुसुमांजलि* और *आत्मतत्त्वविवेक* का अंग्रेजी में मानक अनुवाद भी किया है। *भारतीय दर्शन की मूलगामी समस्यायें* (2009) शीर्षक से अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् ने उनके प्रकीर्ण हिन्दी लेखन को प्रकाशित किया है।

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय (1923-2011) स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सर्वाधिक मान्य और प्रतिष्ठित अध्येता रहे हैं। उन्होंने आजीवन इतिहास, दर्शन और संस्कृति जैसे विषयों पर अपनी लेखनी से महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप किया है। उनकी सम्पूर्ण विचार-साधना समवेत रूप से *संस्कृति-दर्शन* के रूप में फलित हुई है। पाण्डेजी के संस्कृति-दर्शन पर हीगेल के इतिहास-दर्शन, बौद्ध-दर्शन के विज्ञानवाद और श्री अरविन्द के मानवचक्र-सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव दिखता है। लेकिन उसकी अन्तिम परिणति भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आत्मानुसंधानपरक विराट मूल्यबोध में होती है। उनकी बहुविध रचनाओं में मुख्य रूप से *फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन; दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर; कॉन्सियसनेश वैल्यू कल्चर* और *मूल्य-मीमांसा, भारतीय परम्परा के मूल स्वर* तथा *शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ* जैसी कृतियाँ उन्हें 20वीं सदी के विश्वस्तरीय संस्कृति-दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं। इसके अतिरिक्त *भक्ति दर्शन विमर्श; सौन्दर्य दर्शन विमर्श* तथा *दर्शन विमर्श* (अप्रकाशित) उनके जीवन के उत्तरार्द्ध में लिखी गई मौलिक कृतियाँ हैं। कुल मिलाकर वे अपने वाङ्मयी व्यक्तित्व में भारत-भारती के असाधारण प्रतिसंस्कर्त्ता कहे जा सकते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के लिए भारतीय परम्परा की यह उक्ति कि "मुनीनां उत्तरोत्तर प्रामाण्यम्" चरितार्थ होती है।

के. सच्चिदानन्द मूर्त्ति (1924-2011) अपने सौम्य व्यक्तित्व, गवेषणात्मक प्रतिभा और प्रगल्भ वाग्मिता के चलते अपने समय के बहुत सम्मानित दार्शनिक रहे। पद्मविभूषण पट्टाभिराम शास्त्री ने 1980 में उन्हें 'नानाशास्त्रप्रक्षालितमतिवैभव' से अभिहित किया था। दार्शनिक समुदाय में उन्हें 'द्वितीय राधाकृष्णन्' माना जाता था। सच्चिदानन्द मूर्त्ति ने अपने दार्शनिक अध्यवसाय के द्वारा वेदान्त की मूल भावना 'सर्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खलु इदं ब्रह्म' की धार्मिक चेतना का दार्शनिकीकरण लोक-जीवन के यथार्थ धरातल पर किया है। *रेवेलेशन एण्ड रीजन इन अद्वैत वेदान्त* (1959), *दी रेल्म ऑफ विटविन* (1974), *अद्वैतिक नोशन* (1985), *फिलॉसफी इन इण्डिया* (1991) और *वैदिक हरमैन्यूटिक्स* (1993) इत्यादि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत के एक राजनयिक दार्शनिक के रूप में उन्होंने 'शान्ति का दर्शन' पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत के पक्ष को उसकी सम्पूर्ण महिमा के साथ उपस्थापित किया है। 1960 में प्रकाशित उनकी कृति *स्टडीज़ इन दी प्रॉब्लेम्स ऑफ पीस* दार्शनिक चिन्तन के एक नये क्षेत्र की उद्भावक कृति है। 'एफ्रो-एशियन फिलॉसफी' नामक संस्था भी उन्होंने 'प्रगति और शान्ति' के दर्शन को बढ़ावा देने के लिए ही किया था। प्रो. अशोक बोहरा, जिन्होंने राधाकृष्णन् के दर्शन पर सच्चिदानन्द मूर्त्ति के साथ मिलकर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और स्वयं भी विट्गेन्स्टाइन के दर्शन के ज्ञाता और उसकी कृतियों के एकमात्र हिन्दी अनुवादक हैं, सम्प्रति सच्चिदानन्द मूर्त्ति के दार्शनिक योगदानों को प्रकाश में लाने के लिए एक ग्रन्थ सम्पादित कर रहे हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युग की अर्द्धशताब्दी में दयाकृष्ण (1924-2007) एक ऐसे व्यक्ति रहे जिनकी उत्तेजक दार्शनिक प्रतिभा ने इस देश के दार्शनिक वातावरण को सर्वाधिक प्रभावित किया है। उनके लिए एक दार्शनिक वास्तव में विमर्शात्मक चेतना के धरातल पर जीवन और जगत् की अवधारणात्मक समझ का शिल्पी होता है। यह बात अलग है कि दयाकृष्ण का दार्शनिक शिल्प किसी वाद, सम्प्रदाय और विचारधारा से कभी बँध नहीं पाया। यदि बँधता तो उनकी प्रतिभा और अधिक उत्पादक अथवा पुनरुत्पादक रूप में आकार ग्रहण कर सकती थी। इसलिए उनके प्रति यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि दयाकृष्ण की दार्शनिकता नवोन्मेषी होते हुए भी आस्वादक अधिक और निर्मायक कम थी। तब भी अपनी आस्वादक दार्शनिक वृत्ति के साथ उन्होंने जिस किसी क्षेत्र में हस्तक्षेप किया वह स्थापित विचार की आत्ममुग्धता का भाजन करनेवाला, उसकी नई परतों को उकेरनेवाला और गतानुगतिक विचार-पद्धति की तन्द्रा को तोड़ने वाला सिद्ध हुआ है। प्रारम्भ में वे पाश्चात्य दर्शन के बड़े हिमायती थे लेकिन बाद में उनकी रुचि भारतीय दर्शन की ओर हुई और भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को 'प्रॉपर वर्क ऑफ रीजन' की दृष्टि से समझने के प्रयास में उन्होंने भारतीय दर्शन की स्थापित मान्यताओं के संदर्भ में आधारभूत प्रश्न उठाये जो वास्तव में उन पर एक नये ढंग से सोचने और विचार करने की एक नई दृष्टि देता है। 1955 में प्रकाशित उनकी कृति *दी नेचर ऑफ फिलॉसफी* और *दी आर्ट ऑफ कॉन्सेप्चुअल* से उनके दार्शनिक गोत्र का पता चलता है। *सोशल फिलॉसफी : पास्ट एण्ड फ्यूचर* तथा *डेव्हलपमेंट डिबेट : फ्रीड. डब्ल्यू. रीग्स एण्ड दयाकृष्ण* नामक कृतियाँ उनके सामाजिक-आर्थिक दर्शन से सम्बन्धित हैं। *प्रोलेगोमेना टू एनी फ्यूचर हिस्ट्रीयोग्राफी ऑफ कल्चर एण्ड सिविलायजेशन* में दयाकृष्ण एक सभ्यता-विज्ञानी के रूप में दिखाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ते हैं। दयाकृष्ण की ऐसी कृतियाँ जिनमें भारतीय दर्शन को पुनःसंगठित और पुनर्जीवित करने की प्रश्नाकुलता दिखाई पड़ती है उनमें—*इण्डियन फिलॉसफी : ए न्यू पर्सपेक्टिव; इण्डियन फिलॉसफी : ए काउण्टर पर्सपेक्टिव; इण्डियाज इनटेलेक्चुअल ट्रेडीशन; भारतीय दर्शन : एक नई दृष्टि : डिस्कशन एण्ड डिबेट इन इण्डियन फिलॉसफी* (2005) तथा *डेव्हलपमेंट ऑफ इण्डियन फिलॉसफी फ्रॉम 18 सेन्चुरी ऑनवर्ड* (2002) प्रमुख हैं। उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति *ए थ्योरी टूवर्ड्स स्ट्रक्चरल एण्ड ट्रान्सेन्डेन्टल इल्यूजन* अभी अप्रकाशित ही है। वास्तव में देखा जाय तो पश्चिमी दार्शनिक परम्पराओं का मंथन कर चुकने के बाद दयाकृष्ण का भारतीय दर्शन में प्रवेश एक 'प्राश्निक' के रूप में मानो वैसे ही होता है जैसे वेदों का 'कौत्स' फिर लौट आया हो।

पाश्चात्य दर्शन की भाषा-विश्लेषणवादी परम्परा से अभिभूत और उस पद्धति को अपने में स्वायत्त कर उसे भारतीय परम्परा के धर्मनीति विषयक स्थापनाओं पर लागू करते हुए उनकी पुनर्रचना का दावा करनेवालों में राजेन्द्र प्रसाद (ज. 1926 - पटना एवं आई.आई.टी. कानपुर से सम्बद्ध) अग्रणी रहे हैं। उनके दार्शनिक अध्यवसाय को *रेगुलरिटी नोरमेटिविटी एण्ड रूल्स ऑफ लैंग्वेज* तथा *कर्म, काजेशन ऐण्ड रिट्रीब्यूटिव मॉरलिटी* (2004) जैसी कृतियाँ पूरे तौर से प्रदर्शित करती हैं। भाषा और तार्किक विश्लेषण को दर्शन का धर्म समझनेवाले राजेन्द्र प्रसाद की इस प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष उनके आलेख *अन-एण्डिंग डायलॉग विथ गॉड* और *डायलॉग बिटविन फर्स्ट परसन एण्ड थर्ड परसन (इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली)* में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

यशदेव शल्य (ज. 1928) स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सच्चे अर्थों में एक स्वतन्त्र चिन्तक और 'सम्पूर्ण दार्शनिक' हैं। श्री अरविन्द के बाद इस देश में बहुतेरे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को 'भारत का दार्शनिक' तो कहा जा सकता है लेकिन एक 'संस्थापक भारतीय दार्शनिक' से केवल यशदेव शल्य को ही अभिहित किया जा सकता है। विश्वविद्यालयीय व्यवस्था से बाहर रहते हुए अपने चिन्तन को भारत के वैचारिक स्वराज और राष्ट्रभाषीय राजपथ पर अग्रसारित करते हुए उन्होंने दर्शन की जो सेवा की है, वह उऋण्य नहीं है। मानवी स्तर पर आत्मचेतन हुई चेतना को अपने दर्शन का प्रस्थान विन्दु बनाकर 'मानवीय सर्जना' की तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत करनेवाले यशदेव शल्य 1950 से ही अपने दार्शनिक अध्यवसाय को आकार देने में अद्यतन संलग्न रहे हैं। यह बात अलग है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत का दार्शनिक मानस उनके दार्शनिक अध्यवसाय से अभी भी अपरिचित जैसा ही है। उन्होंने भारत में संस्थागत दार्शनिक उन्नयन के लिए अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् (1954) की स्थापना किया और दार्शनिक त्रैमासिक (1954), *तत्त्वचिन्तन* (1968), *दर्शन समीक्षा* (1971) और उन्मीलन (1985 से अद्यतन) जैसी दार्शनिक पत्रिकाओं की अकेले दम पर स्थापना और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादन भी किया है। यदि किसी पाश्चात्य दार्शनिक से उनकी तुलना की जा सकती है तो वे हुस्सर्ल और हायडेगर के समकक्ष ही ठहरते हैं। अतः हम यहाँ जरूरी समझते हैं कि उनके दार्शनिक चिन्तन की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जाय।

यशदेव शल्य के अर्द्धशताब्दीय अविचल चिन्तन ने अपने आप में एक सम्पूर्ण तन्त्र का रूप ले लिया है। यद्यपि उनका चिन्तन सर्वथा मौलिक है तथापि एक प्रकार से वे अद्वैत वेदान्त की परम्परा में आते हैं, किन्तु यह परम्परा उनके चिन्तन में आधारभूत रूप से नवीनीकृत हुई है। यशदेव शल्य ने स्वयं ही अपने दार्शनिक प्रस्थान को 'चिद्द्वैतवाद' कह कर अपना आत्मप्रकाशन किया है ('सत् की चिन्मयता' नामक आलेख, उन्मीलन, वर्ष 15, अंक 1, 2001)। उनकी इस दार्शनिक अनुसन्धान यात्रा का आरम्भ आधुनिक पाश्चात्य अनुभववादी-तार्किक प्रत्यक्षवादी परम्परा के अन्तर्गत-चिन्तन के साथ हुआ और उन्होंने इसमें *दार्शनिक विश्लेषण* (1961) नामक पुस्तक लिखी। किन्तु उन्हें अनुभववादियों की अनुभव की अवधारणा में कोई युक्तियुक्तता दिखाई नहीं दी। इसके अनन्तर वे इस विचार-परम्परा को छोड़कर 'अवधारणात्मक सापेक्षतावाद' की ओर आये जिसका प्रतिपादन उन्होंने *ज्ञान और सत्* (1967) पुस्तक में किया। परन्तु यह दृष्टि भी उनके लिए अधिक समय तक सन्तोषप्रद नहीं बनी रह सकी। स्वयं उन्होंने यह स्वीकार किया है कि बाह्य विषय के सम्बन्ध में अवधारणा-सापेक्षता की बात फिर भी किसी तरह चल सकती है, किन्तु कर्त्तव्य, आत्मा आदि विषयों के सन्दर्भ में कैसे चल सकती है। इस तरह यशदेव शल्य अपने ही अवधारणा-सापेक्षतावाद से उत्तीर्ण होकर अपने चिन्तन के दूसरे महत्त्वपूर्ण सोपान पर पहुँचते हैं जिसे चैत-सापेक्षतावाद से निरपेक्ष चैतन्य में उत्क्रमण के रूप में समझा जा सकता है। इन दोनों ध्रुवों के मध्य दोलायमान उनके चिन्तन को *विषय एवं आत्म* (1972) नामक पुस्तक में देखा जा सकता है। इस पुस्तक में उन्होंने एक ओर बाह्य विषय को सापेक्षता से मुक्त कर उसे उसका वस्तुगत आधार लौटाने का प्रयत्न किया है तो दूसरी ओर आत्मा को सापेक्ष विषयता से मुक्त कर आत्मसत्ता में प्रतिष्ठित करने का एक प्रत्ययवादी प्रयत्न किया है। अपने दार्शनिक अध्यवसाय में लगभग डेढ़ दशक तक इस सोपान पर स्थित यशदेव शल्य को बाद में यह भान होता है कि वे अपने प्रयत्न में पूर्णतः सफल नहीं हो सके थे। उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है कि विषय की बाह्यता के चिद्गत स्रोतों एवं आत्मा की ऐसी तात्त्विकता की खोज में थे जो वस्तुरूप न होकर भाव्यात्मक हो। उनके ही शब्दों में "अब 'विषय और आत्म' में जबकि मैं विषय के चिद्गत स्रोतों को देख पाया, स्वयं चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप को नहीं देख पाया जिससे ये स्रोत उद्गत होते हैं" (चिद्विमर्श—प्राक्कथन, पृ. 2)। इस प्रकार चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप का सन्धान, जिससे अनन्त विषयों के स्रोत उद्गत होते हैं, शल्य के दार्शनिक चिन्तन का तृतीय और अन्तिम प्रस्थान है। उनकी इस दार्शनिक दृष्टि का विकास *चिद्विमर्श* (1978) नामक ग्रन्थ में हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ वे विषय-जगत् की चिद्गत संरचनाओं की प्रतिष्ठा चेतना की आत्मगत प्राकृतिकता से आत्मोन्मुख निवृत्ति में देखते हैं। इसी प्रत्यङ्मुख चेतना का महाभाष्य करते हुए उन्होंने आत्मचेतन चेतना के ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावनात्मक तीनों अभिवृत्तियों एवं मानवीय सर्जना के समस्त पक्षों, यथा भाषा, संस्कृति, समाज और सौन्दर्य तथा मनुष्य के समस्त मूल्यात्मक अभिनिवेशों की मौलिक व्याख्या की है। यही शल्य के दर्शन का चरम चिद्द्वैती प्रस्थान है जिसका बहुआयामी पल्लवन उनके ग्रन्थों जैसे *संस्कृति : मानव कर्त्तव्य की व्याख्या* (1969), *सत्ताविषयक अन्वीक्षा* (1987), *समाज : दार्शनिक परिशीलन* (1992), *मूल्यतत्त्वमीमांसा* (1994), *तत्त्वचिन्तन* (2003) और *चित् की आत्मगवेषणा* (2009) में हुआ है। भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् द्वारा प्रकाशित *यशदेव शल्य का दर्शन* नामक पुस्तक में जी.सी. पाण्डे, मुकुन्द लाठ इत्यादि के आलेखों से शल्य के दार्शनिक चिन्तन में निहित मौलिकता और व्यापकता की झलक मिलती है। सम्प्रति मुकुन्द लाठ, जो स्वयं भी एक स्वतन्त्र विचारक हैं, यशदेव शल्य के धर्म, कर्म और नीति विषयक चिन्तन को अपने अध्यवसाय का विषय बनाकर उसे अपनी तरह से आगे बढ़ा रहे हैं। इस सम्बन्ध में उनकी पुस्तक *धर्म संकट और कर्म चेतना के आयाम* द्रष्टव्य हैं।

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् की स्थापना में यशदेव शल्य के सहयोगी रहे संगमलाल पाण्डेय (1929-2002) भी वेदान्त दर्शन के अपने समय के कट्टर अध्येता थे। उन्होंने अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा की समीक्षा कर डेथ्थ एपिस्टेमोलॉजी की पुनर्रचना *फिलॉसफी ऑफ प्रयाग स्कूल* के रूप में की है। *प्री-शंकर अद्वैतिक फिलॉसफी* (1974) एवं *व्हीदर इण्डियन फिलॉसफी* (1968) उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। डॉ. रामलाल सिंह द्वारा सम्पादित *फिलासफिकल कॉन्ट्रीब्यूशन ऑफ प्रो. एस.एल. पाण्डेय* (2004) संगमलाल पाण्डेय के दार्शनिक अध्यवसाय के ओर-छोर को समझने के लिए उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत के कतिपय विशिष्ट चिन्तकों में महात्मा गाँधी के पौत्र रामचन्द्र गाँधी (1937-2007) का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से व्हाइटहेड की ज्ञानमीमांसा पर शोध-कार्य किया था और बाद में विश्वभारती, राजस्थान एवं हैदराबाद विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध रहे। अपनी वाग्मिता और विश्लेषण के लिए विख्यात् रामचन्द्र गाँधी की कृतियों में *आई ऐम दाऊ* (1923, पुणे), जो रमण महर्षि पर केन्द्रित है, महत्त्वपूर्ण है। साथ ही साथ *लैंग्वेज, ट्रेडीशन एण्ड माडर्न सिविलायजेशन* (सम्पा.), *एवेलेबिलिटी ऑफ रेलिजियस आइडियाज; प्रीसपोजिशन ऑफ ह्यूमन कम्युनिकेशन; स्वराज* और *सीताज किचेन* जैसे छोटे-बड़े ग्रन्थ उनकी दार्शनिक परिकल्पनाओं को मूर्त्त रूप प्रदान करते हैं। रामचन्द्र गाँधी के ही समकालीन प्रतापचन्द्र (1938-1991), जो सागर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे, भी बौद्ध दर्शन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भावनावान् अध्येता रहे। *मेटाफिजिक्स ऑफ परपेचुअल चेंज* (1978) और *दी हिन्दू माइण्ड* (1977) उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

टी.एम.पी. महादेवन् के पश्चात् 'मद्रास स्कूल ऑफ वेदान्त' के दूसरे महत्त्वपूर्ण अध्येता आर. बालसुब्रह्मण्यम् (ज. 1929) हैं। स्वातन्त्र्योत्तर युग में अद्वैत वेदान्त की उत्तरभारतीय अध्येतृता मुख्य रूप से 'भामती प्रस्थान' से सम्बन्धित रही है। सुरेश्वर के विवरण प्रस्थान को दक्षिण भारतीय अध्येताओं ने आधुनिक युग में आगे बढ़ाया है। बालसुब्रह्मण्यम् भी 'विवरण प्रस्थान' के जाने-माने अध्येता हैं। मण्डन मिश्र की *ब्रह्मसिद्धि* पर आधारित उनकी कृति *अद्वैत वेदान्त* और सुरेश्वर के *भाष्य-वार्तिक* संवलित *तैत्तिरीयोपनिषद्* तथा *नैष्कर्म्यसिद्धि* इत्यादि अंग्रेजी में किये गये अध्ययन बहुत ही प्रसादक हैं।

कुछ ऐसे चिन्तक इस युग में उल्लेखनीय हैं जो अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए। ओशो उर्फ रजनीश मोहन जैन (1931-90) ऐसे ही लोगों में गिने जा सकते हैं। विश्व-उपदेशक होने के पूर्व रजनीश जबलपुर में छात्र तथा शासकीय महाविद्यालय में दर्शन के अध्यापक थे। *संभोग से समाधि की ओर* (1069) के उनके संकलित लेखों के प्रकाशन से उन्हें ख्याति प्राप्त होने लगी। *शिक्षा में क्रान्ति* (1968) उनकी दर्शन से जुड़ी पुस्तक है। परम्परा का निषेध कर चिंतन को वैश्विक बनाने में वे बुद्ध, कबीर तथा जे. कृष्णमूर्ति की श्रेणी में आते हैं। मुजफ्फरपुर के सरोज कुमार वर्मा, जबलपुर के ज्योतिस्वरूप दुबे तथा हिमाचल के वसन्त जोशी (सत्य वेदान्त) उनके दर्शन में रुचि लेनेवाले नाम हैं।

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के दर्शन-विभाग से सम्बन्धित धर्मेन्द्र गोयल (ज. 1934) का आधुनिकोन्मुख चिन्तन भी यहाँ उल्लेखनीय है। इनके दार्शनिक अध्यवसाय के प्रमुख उत्पाद *फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री* (1967), *फिलॉसफी ऑफ सोशल चेंज* (1989) और *भाषा दर्शन* (1991) हैं। अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् द्वारा प्रकाशित (2012) इनकी कृति *स्वतन्त्रता, मूल्य और परम्परा* स्वातन्त्रयोत्तर भारत की समसामयिक चिन्ताओं पर महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विमर्श प्रस्तुत करती है।

इस काल के एक महत्त्वपूर्ण और प्रतिबद्ध अध्येताओं में भुवनेश्वर के जी.सी. नायक (ज. 1935) का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। इनके दार्शनिक अध्यवसाय में शंकर और नागार्जुन तथा कालिदास की कृतियों में अन्तर्विष्ट दार्शनिक दृष्टियों का विश्लेषणात्मक विवेचन विशेष रूप से परिलक्षित होता है। नायक मूल रूप से शांकर वेदान्त के पारम्परिक अध्यवसायी हैं लेकिन शांकर वेदान्त की गहरी समझ को नागार्जुन के शून्यवाद को व्यावर्त्तक रूप में समझने के लिए उन्होंने जिस तरह उपयोग किया है, वह अपने आप में टी.आर.वी. मूर्त्ति की व्याख्या के समानान्तर खड़ा होता है। इनकी *ईविल, कर्म एण्ड रीइन्कार्नेशन* (1973), *ऐसेज इन एनालिटिकल फिलॉसफी* (1978), *फिलासफिकल रिफ्लेक्शन्स* (1987), *फिलॉसफिकल*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्टरप्राईज एण्ड द साइंटिफिक स्पिरिट (1994), एवं *माध्यमिक शून्यता* (2001) इत्यादि कृतियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अद्वैत वेदान्त के अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में *वेदार्थ पारिजात* जैसे महाग्रन्थ के रचयिता, और आधुनिक शंकर कहे जानेवाले स्वामी करपात्री जी एवं टी.आर.वी. मूर्त्ति की शिष्य परम्परा में अधीत रेवतीरमण पाण्डेय (1942-2004) का नाम भी वैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों में लिया जाता है जिन्होंने प्रतिबद्ध युवा अध्येताओं की एक टोली का निर्माण किया है। *मैन एण्ड द यूनीवर्स; साइंटिफिक टेम्पर एण्ड अद्वैत वेदान्त; अमृतस्य पुत्राः (एन अद्वैतिक एनकाउण्टर विथ ग्लोबलिज्म एण्ड पोस्ट माडर्निज्म)* तथा *समग्र योग* इत्यादि कृतियाँ रेवतीरमण पाण्डेय के दार्शनिक अध्यवसाय के बहुविध आयामों को प्रस्तुत करती हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन भारतीय दर्शन का इतिवृत्त लिखते हुए अब हमलोग इस पड़ाव पर पहुँच रहे हैं जहाँ हममें से किसी एक (एस.पी. दुबे, ज. 1944) को इस इतिहास का द्रष्टा और उसका दृश्य भी बनना पड़ रहा है। "सचमुच यह मेरे लिए धर्म-संकट से कम नहीं कि मैं स्वयं ही इस इतिवृत्त में अपनी प्रस्थिति और भूमिका को रेखांकित करूँ। मुझे मेरे मित्र और सहचर धर्मदर्शन का विशेषज्ञ मानते हैं। मैं नहीं जानता कि यह मेरे ऊपर कितना लागू होता है लेकिन मैक्मास्टर विश्वविद्यालय, कनाडा में उच्च अध्ययन के दौरान मैंने धर्मविज्ञान पद्धति से अध्ययन (1966-1968) किया था जो *रूडोल्फ आटो एण्ड हिन्दूइज्म* शीर्षक से 1969 में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त धर्मविज्ञान सम्बन्धी अपने अध्यवसाय को मैंने *ऑन रिलिजन* (1998) नामक पुस्तक में सँजोया है। मेरी अन्य पुस्तकें *ग्रीक फिलॉसफी* (1973; बर्नेट की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद), *आइडियलिज्म ईस्ट ऐण्ड वेस्ट* (1987) तथा चार भागों में भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् से (1994-96-98) प्रकाशित *फेसेट्स ऑफ रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी* (सम्पा.) हैं।

महज इसे एक संयोग ही कहिए कि इस इतिवृत्त में 20वीं शताब्दी की अर्द्धशती के जन्मांकवाले दार्शनिकों, अध्येताओं का एक युग एस.पी. दुबे के ही सन्दर्भन से पूरा हो रहा है और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने उन्हें सम्मानित करने के लिए *दर्शन के आयाम* (2012) और *डायमेन्शन्स ऑफ फिलॉसफी* (2012) प्रकाशित किया है। इन दोनों ग्रन्थों में इस देश के सम्प्रति सक्रिय लगभग 100 से अधिक अध्येताओं के ने अपनी विशेषज्ञता और रुचि-अनुरूप लेखन किया है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के इतिवृत्त में ये दोनों ग्रन्थ इसलिए उल्लेखनीय हो जाते हैं कि इनसे 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दार्शनिक अध्यवसाय की एक झलक मिल जाती है।

इतिहास वैसे ही व्यक्तियों को सन्दर्भित करता है जो या तो पूरी परम्परा को या फिर किसी सम्प्रदाय विशेष को अपने अध्यवसाय से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित करते हैं। ऊपर हमने अपने अनुभव के आधार पर कुछ ऐसे ही प्रयासों का यथासम्भव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लेख किया है। अब हम यहाँ कुछ दूसरे प्रकार के प्रयासों को सन्दर्भित करना चाहेंगे जो किसी न किसी रूप में इस देश में दार्शनिक चिन्तन की निरन्तरता और समृद्धि को बनाये रखने और उनके संरक्षण में सहयोगी रहे हैं।

इस देश में देशभाषा अर्थात् क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से दर्शनशास्त्र के पठन-पाठन की प्राचीन परम्परा रही है। यह समझ लेना सर्वथा एक भूल है कि अंग्रेजी ही दार्शनिक चिन्तन-मनन के लिए एकमात्र सशक्त भाषा है। परदेशी भाषा में स्वदेशी चिन्तन करने से उसके स्वारस्य में जो अवचेतन विकार उत्पन्न होता है, उसे तत्काल समझना कठिन होता है। यह तो बहुत बाद में समझ में आता है कि दूसरी भाषा ने विचारों की निजता को ही अपहृत कर लिया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का यह वचन इस बात का प्रमाण है कि यहाँ प्राचीनकाल में भी क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन-मनन होता रहा है—संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः। देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरूः स्मृतः।। इस दृष्टि से वी.एम. वेडेकर (पुणे) की *फिलॉसफी इन फिफ्टीन मॉडर्न इण्डियन लैंग्वेजेज* (1979) नामक पुस्तक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में उन्होंने, संक्षेप में ही सही, असमिया, बांग्ला, अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी, कन्नड, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, ओड़िया, पंजाबी, सिन्धी, तमिल और तेलुगु इत्यादि भाषाओं के माध्यम से हुए दार्शनिक लेखन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में भारतीय दर्शन पर विश्वकोशीय लेखन को लेकर चार महत्त्वपूर्ण प्रयास सामने आये हैं। इसमें पहला प्रयास अमेरिका निवासी कार्ल एच. पॉट्टर का है। इन्होंने 23 भागों में *इनसाईक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फिलॉसफी* प्रकाशित करने की महत्त्वाकांक्षी योजना 1968 में बनाई थी। इस विश्वकोश के प्रथम तीन भाग भारतीय दार्शनिक साहित्य (प्राचीन, अर्वाचीन एवं आधुनिक पीरियोडीकल लेखन) पर आधारित अत्यन्त व्यापक बिब्लियोग्राफी हैं जिसे उन्होंने स्वयं ही बनाई है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के सहयोग से इस विश्वकोश के कई खण्ड मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली से प्रकाशित हो चुके हैं और शेष प्रकाशनाधीन है। इस विश्वकोश का निर्माण कर पॉट्टर ने भारतीय दर्शन की ऐतिहासिक सेवा की है। ये स्वयं भी भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ और परिष्कर्त्ता विद्वान् हैं।

इस क्षेत्र में दूसरा प्रयास 'इण्डिया हैरिटेज फाउण्डेशन' के द्वारा 1980 के दशक में किया गया और पूर्वी-पश्चिमी विद्वानों के सहयोग से ग्यारह भागों में *इनसाईक्लोपीडिया ऑफ हिन्दूइज्म* तैयार किया गया है। कैलिफोर्निया के के.एल. शेषगिरि राव इसके प्रधान सम्पादक हैं और दिल्ली के प्रो. कपिल कपूर इसके सम्पादक हैं। इसका प्रकाशन 2011 में ही 'रूपा एण्ड कम्पनी' से हुआ है।

इन दोनों प्रयासों से भिन्न अपने ढंग का एक अनोखा *भारतीय दर्शन बृहत्कोश* का निर्माण 1980 के दशक में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन-विभाग, सागर विश्वविद्यालय, के द्वारा कराया गया था। अर्जुन मिश्र, जो स्वयं ही व्याकरण दर्शन के अच्छे ज्ञाता रहे, इसके निदेशक थे और शास्त्रपुरुष पं. बच्चूलाल अवस्थी इसके शोध-कर्त्ता और लेखक थे। इस बृहत्कोश के कई भाग शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हो चुके हैं और शेष प्रकाशनाधीन हैं। भारतीय दर्शनों के आकर (मूल संस्कृत) सन्दर्भों के आधार पर हिन्दी में यह मूलानुगत कोश अपनी प्रामाणिकता और विस्तार में विश्वकोशीय आकार का है।

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन विश्वकोशीय लेखन के क्षेत्र में सबसे बड़ा और सर्वाधिक प्रामाणिक प्रयास डी.पी. चट्टोपाध्याय (ज. 1931) के नेतृत्व में *प्रोजेक्ट ऑफ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन साइन्स, फिलॉसफी एण्ड कल्चर* के तहत किया गया है। समस्त भारतीय बौद्धिक सम्पदाओं को एक व्यापक अवधारणात्मक योजना में समाहित करने वाले इस महान् परियोजना की शुरुआत भारत सरकार के सौजन्य से भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के तत्त्वावधान में 1980 के दशक में की गई थी। बाद में 'सभ्यता अध्ययन केन्द्र' नामक एक स्वतन्त्र निकाय के द्वारा शताधिक खण्डों में प्रकाश्य यह परियोजना पूर्ण होने को है। इसके 90 खण्डों का प्रकाशन हो चुका है और शेष प्रक्रियाधीन हैं। आंग्ल भाषा में भारतमूलीय ज्ञान के समस्त विधाओं के ओर-छोर को अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करनेवाला ऐसा कोई दूसरा प्रयास स्वातन्त्र्योत्तर भारत में नहीं हुआ है। विशुद्ध भारतीय विद्वानों के सहयोग और उनकी प्रतिभा का एतदर्थ क्रियान्वयन करते हुए भारतीय वाङ्मय का इतना विशालकाय वाग्विग्रह बनाने में डी.पी. चट्टोपाध्याय ने समन्वयक (योजकस्तत्र दुलर्भः) की जो भूमिका निभाई है, उसके लिए वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी याद किये जायेंगे। यह कालजयी प्रयास औपनिवेशिक मनोवृत्ति के उस दुराग्रह को सिरे से खारिज करता है कि ज्ञान की सारी जड़ें पश्चिम में हैं और यह कि भारतीय सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है कि उसका विश्व-सभ्यता को कोई योगदान नहीं है। वास्तव में हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान पश्चिम के समानान्तर ही उन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर चुके हैं और उनसे गुजर कर ही यहाँ पहुँचे हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास भी उनसे प्रतिबद्ध अध्येताओं द्वारा हुआ है। यहाँ मेरा अभिप्राय वैसे दार्शनिक सम्प्रदायों के विकास को रेखांकित करने से है जो किन्हीं कारणों से भारतीय परम्परा के अंगभूत होते हुए भी नवजागरण काल और स्वातन्त्र्योत्तर युग में भी मुख्य धारा से अलग-थलग पड़ गये थे। द्रष्टव्य है कि भारत में मुगलकाल से लेकर ब्रिटिश राज तक भारत की प्राचीनकालीन और अद्यतन जीवन्त बौद्धिक परम्पराओं को अवरुद्ध करने के अनेकों प्रयास किये गये। फिर भी जान-बूझ कर किये गये इस अवरोध के विरुद्ध यहाँ वेदान्त दर्शन की परम्परा स्वराज के दर्शन के रूप में समय-समय पर अनेक रूपों को अवाप्त कर जीवन्त बनी रही और भारत की सांस्कृतिक चेतना तथा बाद में राजनीतिक स्वाधीनता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के संघर्ष को उसने वैचारिक आधार प्रदान किया। फलस्वरूप आधुनिक युग में वेदान्त इस देश में दर्शन की मुख्य धारा बन गया और अन्य कुछ प्राचीन दर्शन-धाराएँ अलग-थलक पड़ गईं। उदाहरण के तौर पर श्रमण परम्परा की दो मुख्य धाराओं में बौद्ध दर्शन तो गतिशील रहा लेकिन जैन दर्शन के क्षेत्र में वैसी गतिशीलता नहीं दिखाई पड़ी। स्वातन्त्र्योत्तर काल में एक ओर जैन धर्म के अनुयायियों में अपनी धार्मिक पहचान को लेकर जागरूकता बढ़ी तो दूसरी ओर उसके दार्शनिक पक्ष को भी मुख्य धारा में लाने हेतु कुछ संस्थागत और वैयक्तिक प्रयास हुए। जैन दर्शन के आधुनिक उन्नयन में एल.डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद; पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी; जैन विश्वभारती, लाडनूं और भोगीलाल जैन इन्स्टीट्यूट, दिल्ली ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन संस्थानों से जुड़े महत्त्वपूर्ण जैन अध्येताओं में नाथमल टाटिया, दलसुख भाई मलवाणियां, नगिन जे. शाह और सम्प्रति सागरमल जैन, एम.आर. गैलडा, सोहनराज तातेड़, रज्जन कुमार, राजवीर सिंह शेखावत इत्यादि प्रमुख रहे हैं।

इसी तरह आगमिक परम्परा के शैव दर्शन एवं काश्मीर शैव दर्शन भी भारत की समृद्ध दर्शन धाराएँ रही हैं। लेकिन इनका भी विकास और सांस्कृतिक स्वीकरण उस तरह से नहीं हुआ प्रतीत होता है जैसा कि वेदान्त के अन्य अद्वैतवादी दर्शनों का हुआ। परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर युग में कुछ अत्यन्त मेधावी और साधक प्रकृति के प्रतिबद्ध अध्येताओं के द्वारा इन दर्शनों का अच्छा प्रचार-प्रसार हुआ है। ऐसे साधक प्रकृति के अध्येताओं में प्रथम दृष्ट्या महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज एवं पण्डित रामेश्वर झा तथा लक्षमण जू का नाम आता है। स्वतन्त्रता-पूर्व इन तीनों आचार्यों को उपस्थापक आचार्य कहा जा सकता है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही महाराजा हरिसिंह (काश्मीर दरबार) द्वारा 'काशमीर सीरीज ऑफ टेक्स्ट एण्ड स्टडीज' की स्थापना और दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन भी शैव परम्परा के उन्नयन के प्रति एक महत्त्वपूर्ण संस्थागत पहल थी। शैव एवं काशमीर शैव दर्शन के आधुनिक अध्येताओं में के.सी. पाण्डेय, आर.के. काव, वी.एन. पण्डित और वर्तमान में सर्वाधिक सक्रिय नवजीवन रस्तोगी, कमलेशदत्त त्रिपाठी, लक्ष्मीनिधि शर्मा, कमलाकर मिश्र एवं ब्रजवल्लभ द्विवेदी इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इस प्रसंग में एक विशेष तथ्य का उल्लेख करना हम आवश्यक समझते हैं कि काशमीर शैव दर्शन की छाया में भरतमुनि, अभिनवगुप्त एवं रसशास्त्र को लेकर स्वातन्त्र्योत्तर युग में 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र' को स्वायत्त स्वरूप प्रदान करने का एक पुरोगामी प्रयास हुआ है। भारत में सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, के.सी. पाण्डेय, सुरेन्द्र बारलिंगे, पद्मविभूषण एस.के. सक्सेना, आर.एन. मुखर्जी एवं गोविन्दचन्द्र पाण्डे इत्यादि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के संस्थापक अध्येता रहे हैं। नये लोगों में राधावल्लभ त्रिपाठी (सागर), रंजन घोष (दिल्ली), रेखा झाँझी (चण्डीगढ़), विष्णुदत्त पाण्डेय (वाराणसी) और रजनीश कुमार शुक्ल (वाराणसी) को भारत के उदीयमान सौन्दर्यशास्त्रियों में परिगणित किया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य-योग दर्शन, जो भारत की प्राचीनतम दर्शन परम्परा रही है, का भी विकास स्वातन्त्र्योत्तर युग में विभिन्न अध्येताओं द्वारा हुआ। 'मुंगेर स्कूल ऑफ योग' द्वारा तो इस विद्या का आधुनिक पुनराविष्कार किया जा रहा है। सांख्य-योग दर्शन के आधुनिक अध्येताओं में रामशंकर भट्टाचार्य (वाराणसी), हरिहरानन्द आरण्य (कलकत्ता) और सम्प्रति बी. कामेश्वर राव (रायपुर), कृपाशंकर (वाराणसी), विमला कर्णाटक (वाराणसी), एस.पी. सिंह (अलीगढ़) और योगी मुकेश (दिल्ली) तथा राजेश्वर सिंह (मुजफ्फरपुर) इत्यादि उल्लेखनीय नाम हैं।

भारत में पहली शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी पर्यन्त न्यायदर्शन का विकास एकरेखीय और अविच्छिन्न रूप में हुआ है। बौद्ध पूर्वपक्ष की शिथिलता के कारण इस दर्शन के विकास की गति भी धीमी पड़ी। लेकिन स्वतंत्रता से पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर काल में विशेषकर मिथिला और बंगाल में इस दर्शन के स्वाध्याय और अध्यवसाय की जीवन्त परम्परा बनी रही। बंगाल मूल के अध्येताओं में फणिभूषण तर्कवागीश, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, सितांशु शेखर वागची, अनन्तलाल ठाकुर, बी.के. मतिलाल, जे.एन. मोहन्ती, शिवजीवन भट्टाचार्य तथा 'यद बुद्ध्या यदुत्पन्नं तन्न्यायमतम्' को अपने अध्यवसाय से सर्वथा चरितार्थ करनेवाले पी.के. मुखेपाध्याय इत्यादि बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हैं। मिथिला-मूल के अध्येताओं में बालकृष्ण मिश्र, महाप्रभुलाल गोस्वामी, शशिनाथ झा, कविशेखर, बद्रीनाथ झा, खड्गनाथ मिश्र, दुर्गाधर झा, आनन्द झा एवं किशोरनाथ झा प्रमुखता से सन्दर्भित किए जा सकते हैं। न्याय दर्शन के कुछ अन्य वरिष्ठ-कनिष्ठ अध्येताओं में बदरीनाथ शुक्ल, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, बलिराम शुक्ल, विश्वम्भर पाही, वी.एन. झा, रघुनाथ घोष एवं सम्प्रति उदीयमान नैयायिक के रूप में सच्चिदानन्द मिश्र (वाराणसी), अरुण मिश्र (मिथिला) तथा राजाराम शुक्ल (वाराणसी) का उल्लेख किया जाना उचित प्रतीत होता है।

अब जहाँ तक 'मीमांसा दर्शन' का प्रश्न है तो आज इसकी स्थिति संग्रहालय में पड़ी किसी प्राचीन धरोहर की तरह हो गई है। इसका साहित्य अपने आप में एक वाङ्मय की तरह है। लेकिन उसके अधिकांश भाग कर्मकाण्ड और यज्ञ-याजन से सम्बन्धित हैं। आधुनिक जीवन-शैली में न तो उनका अनुप्रयोग सम्भव है और न ही वे प्रयोजनीय ही रह गये हैं। इसके बावजूद भी इस शास्त्र के शासन को धर्म की तरह अंगीकार करनेवाले कुछ एक दाक्षिणात्य विद्वान् हैं जो इसके आजीवन अध्यवसाय को निष्ठा का विषय समझते हैं। पूर्वमीमांसा के दार्शनिक पक्षों को भारतीय दर्शन की मुख्य धारा में लाने के भगीरथ प्रयास गंगानाथ झा (1871-1941) और युधिष्ठिर मीमांसक के द्वारा किया गया और दोनों ने इससे सम्बन्धित अनेकों दार्शनिक महत्त्व के ग्रन्थों को अंग्रेजी एवं हिन्दी में अनूदित किया। लेकिन बाद में उनके प्रयासों को कोई योग्य उत्तराधिकारी प्राप्त नहीं हुए। आज मीमांसा दर्शन की यदि कहीं चर्चा भी होती है तो केवल भारतीय भाषा-दर्शन के क्षेत्र में और वह भी अन्विताभिधानवाद और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिहितान्वयवाद तक सीमित है। भारतीय ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में भी मीमांसा दर्शन की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है लेकिन गोवर्धन भट्ट कृत द *बेसिक वेज ऑफ नोविंग* (1962), के अतिरिक्त इधर कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में नहीं हुआ है। 20वीं शताब्दी में के.एल. सरकार (*लेक्चर्स ऑन मीमांसा थ्योरी ऑफ इन्टरप्रेटेशन* - 1913) और काशी प्रसाद सक्सेना (*मीमांसा रूल्स ऑफ इन्टरप्रेटेशन,* 1941) ने 'मीमांसा सम्मत निर्णय पद्धति' को विधिक निर्णय हेतु उपयोगी दिखाया है लेकिन उसे भी अन्ततः विधिक मान्यता नहीं प्राप्त हुई।

इतिहास की कालगति में जब कोई विचारधारा बहुत प्रभावी हो जाती है तो उसके समानान्तर अन्य और आनुषंगी विचार हाशिये पर चले जाते हैं। इस देश में अद्वैत वेदान्त की चूड़ान्त दार्शनिक प्रतिष्ठा और व्यापक सांस्कृतिक स्वीकरण के चलते वैष्णव वेदान्त के विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती और माध्वीय सम्प्रदायों के साथ ऐसा ही हुआ, जबकि भक्ति आन्दोलन के काल में इन दर्शनों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए जबरदस्त प्रतिरोधी भूमिका निभाई थी। परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर काल में कुछ एक अत्यन्त निष्ठावान विद्वानों द्वारा इन दार्शनिक सम्प्रदायों को उज्जीवन प्राप्त हुआ है।

शुद्धाद्वैती वाल्लभ वेदान्त को आधुनिक युग में पुनर्जीवित करने का इतिहास मुम्बई निवासी एम.पी. तेलीवाला से प्रारम्भ होता है। ये पेशे से वकील थे और अपने जीवन के मात्र 36 वर्षों में उन्होंने अकेले दम पर शुद्धाद्वैती दार्शनिक साहित्यों का विपुल सम्पादन-प्रकाशन किया था। उसके पश्चात् वल्लभाचार्य की 16वीं पीढ़ी के उत्तराधिकारी श्याम मनोहर गोस्वामी (ज. 1940) का प्रयास ऐतिहासिक और युगान्तकारी रहा है। 20वीं-21वीं शताब्दी में शुद्धाद्वैती दार्शनिक वाङ्मय और पुष्टिभक्ति साधना प्रणाली से सम्बन्धित आकर ग्रन्थों और परवर्ती प्रकरणात्मक लेखों का विपुल सम्पादन एवं प्रकाशन कर उन्होंने वाल्लभ वेदान्त को उज्जीवन प्रदान करने में उपष्टम्भक की भूमिका निभाई है। सम्प्रति गोस्वामी श्याम मनोहर समस्त भारतीय दर्शनों के आर-पार के निष्णात् विद्वान् हैं और पाश्चात्य दर्शनों एवं विज्ञान दर्शन में भी इनकी अच्छी पकड़ है। इनके प्रभूत लेखन और व्याख्यान से शुद्धाद्वैत की उस आधारिक संरचना का उद्घाटन होता है जो सर्ववादानवसर और नानावादानुरोधी है तथा श्रुति, स्मृति एवं पुराणों के माध्यम से विकसित हुई 'एकमेवाद्वितीयम्' की ब्रह्मवादी विचार-परम्परा की अभिधा है। गोस्वामी श्याम मनोहर के केवल दो ग्रन्थों यथा *वाल्लभ वेदान्त निबन्धावली* और *साकार ब्रह्मवाद* (अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से चिन्तन-सृजन-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित, 2010) में उनकी शुद्धाद्वैती प्रतिभा का प्राकट्य देखा जा सकता है। वाल्लभ वेदान्त के अन्य आधुनिक अध्येताओं में काशी के केदारनाथ मिश्र (1935-1999) का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। *तत्त्वार्थ दीप निबन्ध : स्नेह प्रपूरणी हिन्दी टीका* (1971), *विद्वत्मण्डन समीक्षा* (1996) तथा *अणुभाष्य समीक्षा* (1986) इत्यादि उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी तरह दक्षिण भारत में रामानुज वेदान्त और माध्व वेदान्त के अध्ययन-अध्यापन की आज भी एक जीवन्त परम्परा है। बंगलोर स्थित 'उत्तरादिमठ' के प्रयासों से माध्व वेदान्त को उज्जीवन प्रदान करने के हर सम्भव प्रयास प्रतिबद्ध रूप से किये गये हैं। इस परम्परा के कतिपय वरिष्ठ-कनिष्ठ प्रतिनिधि अध्येताओं में माध्व वेदान्त से सम्बन्धित—सत्यप्रमोद तीर्थ, प्रह्लादाचार्य, के.टी. पाण्डुरंगी तथा युवा अध्येताओं में श्रीनिवास बरखेड़ी एवं वीरनारायण पाण्डुरंगी उल्लेखनीय हैं। रामानुज वेदान्त के सम्प्रति सक्रिय अध्येताओं में रामानुज ताताचार्य, एस.एम. श्रीनिवासाचारी, एस.आर. भट्ट और के.ई. देवनाथन का नाम प्रमुखता के साथ लिया जा सकता है। इस प्रसंग में रामानुज सम्प्रदाय के दो अधिष्ठातृ प्रतिभा के अध्येताओं का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। ये हैं, उत्तमुर वीरराघवाचार्य और परकाल मठाधीश। मैसूर के परकाल मठाधीश ने तो केवल दो हजार पृष्ठों में श्रीभाष्य की भूमिका लिखी है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में वेदान्त की विचारधारा से ही सम्बन्धित कुछ नवीन आनुषंगिक प्रवृत्तियों का भी न्यूनाधिक रूप में विकास हुआ है। उदाहरण के तौर पर स्वामिनारायण सम्प्रदाय ने अपने को वेदान्त का एक स्वतन्त्र-प्रस्थान सिद्ध करने के लिए 21वीं सदी में *ब्रह्मसूत्र स्वामिनारायणभाष्यम्* (2009) और *उपनिषद् स्वामिनारायणभाष्यम्* का प्रणयन किया है। ये दोनों नवीन भाष्य डॉ. साधु भद्रेश दास (ज. 1966) द्वारा प्रणीत हुए हैं। डॉ. साधु श्रुतिप्रकाश इस सम्प्रदाय के नवोदित अध्येता हैं जिनके लेखन से स्वामिनारायण वेदान्त अपनी स्वायत्तता में प्रतिष्ठित हो रहा है। इसके अतिरिक्त वेदान्त की भावधारा से सम्बन्धित कतिपय एकदेशीय देशज प्रवृत्तियों का भी स्वतन्त्रता के बाद के दिनों में खूब प्रचार-प्रसार हुआ है। इनमें महामति प्राणनाथ का जागनी सम्प्रदाय, श्रीराम शर्मा आचार्य का वैदिक-विज्ञान सम्बन्धी चिन्तन, उड़ीसा में विकसित हो रहे 'महिमाद्वैत सम्प्रदाय' और पारनेर, महाराष्ट्र में विकासमान रामचन्द्र प्रह्लाद पारनेकर (1916-1980) प्रणीत 'पूर्णवाद' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ तो क्षेत्रीय सामाजिक आन्दोलन का रूप ले चुके हैं।

उपर्युक्त हाशिये पर चले गये कतिपय भारतीय दर्शनों के सम्प्रदाय-केन्द्रित विकास के अतिरिक्त स्वातन्त्र्योत्तर युग में भारतीय भाषा दर्शन को विकसित करने में एक विशेष प्रकार की अकादमिक जागरूकता दिखाई पड़ती है। पश्चिम के लिए भाषा-दर्शन भले ही एक अर्वाचीन दार्शनिक अध्यवसाय का विषय बना हो लेकिन भारत के लिए यह बहुत पुरातन दार्शनिक-विमर्श का विषय रहा है। तब भी इसमें कोई दो राय नहीं कि पश्चिम की भाषा-विश्लेषणवादी दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण ही भारतीय अध्येताओं को भारतीय भाषा-दर्शन के क्षेत्र में पहल करने की प्रेरणा मिली। इसके परिणामस्वरूप स्वातन्त्र्योत्तर काल में व्याकरण-दर्शन का बहुत विकास हुआ और भर्तृहरि, दिङ्नाग इत्यादि को इस क्षेत्र में विश्वस्तरीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इस क्षेत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में महत्त्वपूर्ण योगदान करनेवाले नए-पुराने अध्येताओं में के.ए.एस. अय्यर (*भर्तृहरि*), गौरीनाथ शास्त्री (*फिलॉसफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग*, 1959), के.के. राजा (*इण्डियन थ्योरीज ऑफ मीनिंग*, 1963), आर.सी. पाण्डेय (*प्रॉब्लेम्स ऑफ मीनिंग इन इण्डियन फिलॉसफी*, 1969), विमलकृष्ण मतिलाल (*दी वर्ड एण्ड दी वल्र्ड*), पी.के. मुखोपाध्याय (*न्याय थ्योरी ऑफ लिंग्विस्टिक परफॉरमेन्स*) एवं डी.एन. तिवारी (*सेन्ट्रल प्रॉब्लम ऑफ भर्तृहरि फिलॉसफी*, 2008) इत्यादि प्रमुख हैं। व्याकरण दर्शन की प्रमाणमीमांसा पर एकमात्र इदंप्रथमतया जो मानक कार्य हुआ है वह है रामप्रसाद त्रिपाठी कृत *व्याकरणदर्शने प्रमाणसमीक्षा* (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित)।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन का आसन्न वर्तमान वस्तुतः दार्शनिक क्रिया-कलापों से सरोकार रखनेवाले इस युग के अध्येताओं की तीसरी एवं चौथी पीढ़ी का मिला-जुला रूप है। इस वर्तमान पर आरूढ़ तीसरी पीढ़ी अपने वय और स्वाध्याय की दृष्टि से प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो रही है और चौथी पीढ़ी जो उदीयमान है, उसका दार्शनिक अध्यवसाय अभी स्वरूप ग्रहण करने की प्रक्रिया में है। ऐसी स्थिति में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के इस युग की कोई स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत करना भँवर से होकर गुजरनेवाली ज्ञान के विकास की रेखा की ऋजुता और वक्रता को नापने जैसा ही हो सकता है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस युग में दर्शन का क्षैतिज-विस्तार पहले की अपेक्षा अधिक हुआ है और गुणात्मक विस्तार की दृष्टि से अभी कुछ कहना जल्दीबाजी होगी।

आधुनिक भारत में, विशेषकर दर्शन के क्षेत्र में, स्वाध्याय की प्रवृत्ति प्रमुख रही है। लेकिन आलोचनात्मक हस्तक्षेप की वैसी प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती जैसी कि पहली शताब्दी से लगभग बारहवीं शताब्दी तक न्याय और बौद्ध परम्परा के मध्य दिखाई देती है। इस कारण आधुनिक भारत में किसी व्यक्ति के दार्शनिक योगदानों को व्यावर्त्तक रूप में निर्धारित करना कठिन होता है। फिर भी कुछ एक पत्र-पत्रिकाओं को सन्दर्भ बनाकर स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के वर्तमान मुखौटे को पहचाना जा सकता है, क्योंकि किसी युग-विशेष में ज्ञान के सामूहिक विकास का मुखपत्र उस युग की पत्र-पत्रिकाएँ ही होती हैं। इस देश में अंग्रेजी माध्यम से निकलनेवाली पत्रिकाओं में *जे.आई.सी.पी.आर.* (भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्) और *इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली* (दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय) प्रमुख हैं। *जे.आई.सी.पी.आर.* के नये सम्पादक प्रो. अशोक वोहरा (दिल्ली) हैं जो पाश्चात्य दर्शन के जाने-माने विशेषज्ञ और दर्शन की युवा पीढ़ी को प्रोन्नत करने में रुचि रखनेवाले सूझ-बूझ सम्पन्न व्यक्ति हैं। *इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली* के नये सम्पादक प्रो. सदानन्द मोरे (पुणे) भारतीय नीतिशास्त्र एवं संत-दर्शन के सुहृद विद्वान् हैं।

हिन्दी में निकलनेवाली पत्रिकाओं में *दार्शनिक त्रैमासिक* (अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्), *उन्मीलन* (दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर), *परामर्श* (दर्शन विभाग, पुणे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वविद्यालय) और *समाज धर्म दर्शन* (भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान, इलाहाबाद) प्रमुख हैं। इनमें *दार्शनिक त्रैमासिक* के सम्पादक प्रो. आर.सी. सिन्हा (ज. 1944, पटना) हैं। इनके अध्यवसाय का क्षेत्र आधुनिक भारतीय चिन्तन के साथ-साथ 'सबाल्टर्न फिलॉसफी एण्ड एथिक्स' है। 'बुद्धि' की आधुनिक और उत्तर-आधुनिक भूमिकाओं को पुंखानुपुंख समझते हुए इनका *सीमान्त दर्शन* भारत में दलित दर्शन की सत्तामीमांसा को उद्‌घाटित करने के प्रति एक महत्त्वपूर्ण पहल है। 'परामर्श' के सम्पादक प्रो. एस. भेलके (पुणे) हैं। इनके पास सम्पादन का लम्बा अनुभव है और इस कारण बहुविज्ञता इनकी विशेषज्ञता पर भारी पड़ती है। उन्मीलन के सम्पादक प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा और डॉ. प्रदीप कुमार खरे (भोपाल) हैं। 'समाज धर्म दर्शन' के सम्पादक प्रो. जटाशंकर (जन्म-1953), संगमलाल पाण्डेय के वरिष्ठ शिष्यों में 'वेदान्ती समाजवाद' के उपस्थापक दार्शनिक कहे जा सकते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में नव-वेदान्त की लोकायनी समाजवादी व्याख्या और उसके दार्शनिक गुण-सूत्रों को उद्‌घाटित करनेवाली उनकी महत्त्वपूर्ण कृति *वेदान्ती समाजवाद* (1999) है।

उपर्युक्त सभी पत्रिकाओं के पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित अंकों (जे.आई.सी. पी.आर. तथा *दार्शनिक त्रैमासिक* का इण्डेक्स उपलब्ध है) को देखने से स्पष्ट ही विदित होता है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के वर्तमानारूढ़ युग में किसी विशेष दार्शनिक प्रवृत्ति का प्राधान्य नहीं बल्कि एक प्रकार से बहुलवादी दार्शनिक संस्कृति के पनपने के संकेत मिलते हैं। इसे केवल भौगोलिक अर्थ में ही भारतीय कहा जा सकता है, दार्शनिक गोत्र में तो यह कुछ और ही है। ऐसा दार्शनिक लेखन जो अपने दार्शनिक गोत्र में भारतीय हो, उसे निरपवाद रूप से 1985 से अद्यतन प्रकाशित केवल *उन्मीलन* में ही देखा जा सकता है। लेकिन विडम्बना यह है कि *उन्मीलन* हिन्दी माध्यम की पत्रिका है और उससे जुड़े लेखकों की संख्या बहुत कम है। उनमें भी अधिकांश स्वातन्त्र्योत्तर युग की वर्तमान पीढ़ी से सम्बन्धित न होकर वास्तव में उसकी दूसरी पीढ़ी के विद्वान् रहे हैं। *जे.आई.सी.पी.आर.* और *इण्डियन फिलॉसफिकल क्वाटर्ली* में प्रकाशित वैसे लेख और लेखक जिन्हें स्वातन्त्र्योत्तर युग की तीसरी और चौथी पीढ़ी के अन्तर्गत रखा जा सकता है, उनका दार्शनिक गोत्र सामान्य तौर पर पाश्चात्य परम्परा के एंग्लो-सेक्सन फिलॉसफी, फेनोमेनोलॉजी एवं अस्तित्ववाद तथा उत्तर-आधुनिकता से सम्बन्धित है। यहाँ यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अध्येताओं की यह टोली उपर्युक्त दार्शनिक प्रवृत्तियों के क्षेत्र में अपना कोई महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप दर्ज नहीं कर पायी है जैसा कि स्वातन्त्र्योत्तर युगीन अध्येतृता की दूसरी पीढ़ी के चन्द लोगों ने किया था और उन्हें मान्यता भी मिली थी। ऐसे मान्यताप्राप्त अध्येताओं में जे.एल. मेहता, जे.एन. मोहन्ती, रिचर्ड सोराबजी और अकील बिलग्रामी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। अंग्रेजी माध्यम से लिखने-पढ़नेवाले स्वातन्त्र्योत्तर युगीन उदीयमान अध्येताओं का एक ऐसा वर्ग भी है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो सभ्यता के वर्तमान दौर में जन्म लिए उन अनुप्रयुक्त समस्याओं पर लिखता-पढ़ता है जो व्यापक परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारवादी दर्शन और तकनीकी हेजेमोनी से सम्बन्धित हैं। इस वर्ग में आनेवाले नवोदित अध्येता अवश्य ही प्रतिभावान् हैं लेकिन दर्शन के क्षेत्र में उनका प्रवेश आत्मचेतन निर्णय पूर्वक न होकर औचक तरीके से हुआ है। भारत के प्रोद्योगिकी संस्थानों से जुड़े दर्शन के अधिकांश अध्येता इसी प्रकृति के हैं। उनके चिन्तन में कोई अन्तर्निहित धारा नहीं दिखाई पड़ती है।

पुनः, हिन्दी माध्यम से हो रहे स्वतन्त्र लेखन तथा *दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श* और *समाज-धर्म-दर्शन* इत्यादि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से स्वातन्त्र्योत्तर अध्येतृता का वर्तमान स्वरूप जिस रूप में परिलक्षित हो रहा है उसे केवल क्षैतिज विस्तार की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। सृजनात्मक दार्शनिक लेखन की कसौटी पर उसे खरा कहा जाना कठिन है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी माध्यम से जो कुछ लिखा जा रहा है वह अधिकांश में द्वैतीयक स्रोतों पर आधारित प्रतीत होता है। इसलिए ऐसे लेखनों में इस विवेक की नितान्त कमी दिखाई पड़ती है कि वह क्या है जिस पर लिखा जाना चाहिए और यह भी कि कैसे लिखा जाना चाहिए। परम्परा की अन्तरंग पहचान के बिना यह विवेक सम्भव ही नहीं होता। स्वातन्त्र्योत्तर युगीन वर्तमान अध्येतृता की इस कमी का एक दुष्परिणाम यह भी है कि हम अपने से पूर्व की पीढ़ी के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अध्यवसाय और हस्तक्षेपों से भी अवगत नहीं हो पाते। उसे आगे बढ़ाना तो दूर की कौड़ी है। इस सर्वेक्षणात्मक आलेख से ही इस बात पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता, है कि स्वातन्त्र्योत्तर युगीन पहली और दूसरी पीढ़ी के अध्येताओं ने अपने दार्शनिक अध्यवसाय से हमें आगे बढ़ने के लिए कितना महत्त्वपूर्ण सोपान प्रदान किया है। स्वातन्त्र्योत्तर युगीन वर्तमान अध्येतृता यदि पाश्चात्य दर्शन को उसके मौलिक स्रोतों से नहीं जानती तो वह उतना हानिकारक नहीं, जितना यह कि वह अपने को भारतीय दर्शन के मौलिक और आकर स्रोतों से काट ले। दर्शन की वर्तमान पीढ़ी के लिए यह एक गम्भीर समस्या है और इससे निजात पाने के लिए एक विशेष प्रकार का सामूहिक संकल्प और संस्थागत पहल की जरूरत है। भारतीय दर्शन के मूलानुगत अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् ने समय-समय पर विभिन्न कार्यशालाओं का आयोजन कर इस दिशा में बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है।

सम्प्रति भारत में दार्शनिक अध्यवसाय का एक नवीन क्षेत्र पर्यावरणीय नीतिशास्त्र के रूप में सामने आया है। पारिस्थितिकीय असन्तुलन एक भूमण्डलीय समस्या होने के कारण इस विषय को लेकर पूरी दुनिया में बहुत कुछ लिखा जा रहा है और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच सम्बन्ध और केवल मनुष्य के हितार्थ प्रकृति के अविचारित दोहन पर फिर से विचार किया जा रहा है। वर्तमान पीढ़ी के भारतीय अध्येताओं ने भी इस क्षेत्र में पर्याप्त रुचि दिखाई है। यद्यपि इस क्षेत्र में ज्यादातर लोगों ने छिटपुट लेखन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही किया है लेकिन बहुतेरे लोगों के द्वारा यदा-कदा ही सही, ऐसे प्रयासों से भारतीय वाङ्मय में यत्र-तत्र उपलब्ध उन सन्दर्भों का व्यापक सर्वेक्षण सामने आया है जो किसी-न-किसी रूप में पर्यावरणीय नीतिशास्त्र से सम्बन्धित कहे जा सकते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि भारतीय दर्शन के अनुप्रयुक्त पक्ष को लेकर यह एक नया अध्याय है और इस भूमण्डलीय समस्या के प्रति मूल्यवान् भारतीय दृष्टि को अवश्य ही दुनिया के सामने मजबूती से रखा जाना चाहिए। परन्तु हमने जहाँ तक इस क्षेत्र से सम्बन्धित लेखनों का अवलोकन किया है उससे यही प्रतीत होता है कि प्रकृत समस्या का भारतीय दृष्टि से दार्शनिकीकरण यथोचित रूप से नहीं किया जा रहा है। अभी तक के अधिकांश प्रयासों से वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, धर्मशास्त्र और भारतीय परम्परा के महाकाव्यों में गहन-पारिस्थिकी के उन आकर-स्थलों को चिह्नित किया जाना जरूर सम्भव हुआ है जिन्हें समग्रतावादी भारतीय विश्वदृष्टि के तहत व्याख्यायित किया जाय तो पर्यावरणीय नैतिकता के भारतीय पक्ष को मूलगामी रूप में उभारा जा सकता है।

सम्प्रति स्वातन्त्र्योत्तर भारत में पाश्चात्य दर्शन की विभिन्न विधाओं को अपने अध्यवसाय का विषय बनानेवालों में गोरखपुर के सभाजीत मिश्र *(अस्तित्त्ववाद)*, हैदाराबाद के आर.सी. प्रधान *(विश्लेषणात्मक दर्शन)*, दिल्ली के सत्यपाल गौतम *(सामाजिक-राजनीतिक दर्शन)* एवं आर.पी. सिंह *(पोस्टमॉडर्निज्म, हरमेन्युटिक्स, डिकन्स्ट्रक्शन)*, शिलांग के बी.के. अग्रवाल *(हरमेन्युटिक्स, सामाजिक-राजनीतिक दर्शन)*, मुम्बई के पी.आर. भट्ट *(तर्कशास्त्र एवं विश्लेषणात्मक दर्शन)*, लखनऊ के राकेश चन्द्र *(विश्लेषणात्मक दर्शन और ज्ञानमीमांसा)*, इलाहाबाद के संजय कुमार शुक्ल *(काण्ट और हुस्सर्लीय फेनोमेनोलॉजी)*, हैदाराबाद के प्रसेनजित विश्वास *(ज्ञानमीमांसा एवं भाषा दर्शन)*, लखनऊ के के.सी. पाण्डेय *(विट्गेन्स्टाइन)* एवं हजारीबाग के रवीन्द्र के.एस. चौधरी *(विट्गेन्स्टाइन)* का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

अवधेय है कि प्रो. एन.एस. रमण, जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक वरिष्ठ दार्शनिक तथा पूरब और पश्चिम के दार्शनिक निहितार्थों का अच्छा-खासा अनुभव रखते हैं, ने अपने एक प्रसिद्ध आलेख 'दी फ्यूचर ऑफ इण्डियन-फिलॉसफी' (एस.एस. रामा राव पप्पू एवं आर. पुलिगेन्डला-सम्पा. *इण्डियन फिलॉसफी पास्ट एण्ड फ्यूचर*, पृ. 371-81) में एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए कहा है कि "ब्रिटिश दर्शन के प्रति आसक्ति रखने में भारतीय दर्शन का कोई रचनात्मक भविष्य दिखाई नहीं पड़ता और जहाँ तक विश्लेषणात्मक दर्शन का सम्बन्ध है तो यह भारतीय दर्शन की अस्मिता को ही पूरे तौर से नकार देता है। ऐसे में भारतीय दर्शन का मूल्यवान भविष्य इस बात में निहित है कि वह अपने गहन दार्शनिक प्रतीकों को फिर से एक नये प्रकाश में उद्घाटित करे ताकि मनुष्य के आत्मिक अनुभवों को प्रामाणिकता के साथ सामने लाया जा सके। आज की वैश्वीय दार्शनिक परिस्थिति में भारतीय दर्शन को इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका के साथ अपने पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए पहले की अपेक्षा बेहतर अवकाश है।"

प्रो. एन.एस. रमण की उपर्युक्त चिन्ता स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की वर्तमान पीढ़ी के लिए एक महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश है। सम्प्रति पाश्चात्य दर्शन के भारतीय अध्येताओं को भी अपने पश्चिमी अनुभव और अध्यवसाय के प्रतिबल से भारतीय दर्शन की इस भावी भूमिका को अपना योगदान देने के लिए सामने आना चाहिए। इस सन्दर्भ में हम यहाँ स्वातन्त्र्योत्तर भारत के सर्वाधिक सृजनधर्मी दार्शनिक के अनुभव को सप्रसंग उपस्थापित करना चाहते हैं ताकि उसे उसकी सम्पूर्ण प्रभावमत्ता के साथ आत्मसात् किया जा सके। प्रो. जड़ावलाल मेहता, जो प्रारम्भ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे और बाद में मार्टिन हाइडेगर के विश्वप्रसिद्ध ज्ञाता के रूप में प्रख्यात् हुए, उन्हें 1985 में अज्ञेय जी ने 'हीरानन्द शास्त्री व्याख्यानमाला' के लिए आमंत्रित किया और उन्होंने इसके अन्तर्गत पाँच व्याख्यान दिये जो बाद में *कविकर्म और चिन्तन : सर्जना के दो आयाम* शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। अपने पाँच व्याख्यानों में प्रो. मेहता ने अपने पूर्वी और पश्चिमी अनुभव का निचोड़ प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने ही घर 'भारत' में अपने व्याख्यान को प्रस्तावित करते हुए अपने सम्पूर्ण अनुभवों के साथ एक हृदय-विदारक टिप्पणी की थी। वह यह कि "ऋतगोप वरुण के सहस्र-द्वार घर तक पहुँचने के उतने ही वाग्पथ हैं, पर उनमें भी अपने ही सांस्कृतिक अतीत और जीवित परम्परा द्वारा निर्मित और निर्दिष्ट पथ ही ऋजु मार्ग है, अपने भूत से वर्तमान को जोड़ने का कठिन, पर सीधा रास्ता है। वैसे तो टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर, राजमार्ग छोड़कर, भटकने का भी अपना अलग सुख है, अपनी अलग उपलब्धियाँ हैं। पर लौटकर सीधा रास्ता पकड़ सकने में आत्म-लाभ का आनन्द है।"

यदि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की इस वर्तमान पीढ़ी के सन्दर्भ में प्रो. रमण के भविष्य-बोध और प्रो. मेहता की वापस घर लौटने की स्वीकृति को जाँचें-परखें तो आज यह न्यूनाधिक रूप में चरितार्थ होता हुआ प्रतीत होता है। भारतीय दार्शनिक अध्यवसाय की साम्प्रतिक स्थिति में भारतीय और पाश्चात्य दर्शन की स्थिति एक-दूसरे से मुँह मोड़ने की नहीं रह गयी है। भारत में पाश्चात्य दर्शन के अध्यवसायी अब भारतीय दर्शन के इस स्वरूप को समझने लगे हैं कि यह भी एक मनुष्य की सार्वभौमिक ज्ञानात्मक उपलब्धि है और इस तरह वे सभी अपने-अपने पश्चिमी अनुभव के नजदीक पड़नेवाले भारतीय दर्शन के पक्ष को तराशने लगे हैं। दूसरी ओर भारतीय दर्शन के पारम्परिक एवं आधुनिक अध्येता भी पाश्चात्य दर्शन को इस तरह नहीं देखते कि मानो वह ज्ञान की कोई निषिद्ध म्लेच्छ परम्परा हो। भारतीय दर्शन का आधुनिक अध्येता यदि अपनी विशेषज्ञता के समीप पड़नेवाले पाश्चात्य दार्शनिक पक्ष से परिचित नहीं होता तो वह उसे अपनी कमी स्वीकार करने लगा है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की ऐसी अन्तर-दार्शनिक संवेदनशीलता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और यह भारतीय दर्शन के सार्वभौमिक चरित्र की प्रतिष्ठा (आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः) के प्रति महत्त्वपूर्ण संकेत भी है। भारतीय दर्शन की मुख्य धारा में इस प्रकार की अकादमिक संवेदनशीलता के साथ सम्प्रति जो लोग सक्रिय हैं उनमें से बहुतों के अध्यवसाय का संकेत पहले ही किन्हीं प्रसंगों में किया जा चुका है और शेष लोगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का संकेतन यहाँ द्रष्टव्य है।

सम्प्रति अद्वैत वेदान्त के स्वाध्यायी विद्वान् देश भर में अनेकों मिल जाएँगे लेकिन पारम्परिक पाण्डित्य और साधक प्रकृति के विद्वानों में सुधांशुशेखर शास्त्री (वाराणसी) और मणि द्राविड़ (पूर्व में वाराणसी और सम्प्रति मद्रास) का नाम यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये दोनों नव्य-वेदान्त अर्थात् श्रीहर्ष, चित्सुखाचार्य एवं मधुसूदन सरस्वती की परम्परा के उद्भट अध्येता हैं। श्रीहर्षोत्तर अद्वैत वेदान्त की तर्कणा पद्धति, जो अनिर्वचनीयता के तर्कशास्त्र से होकर निर्विशेषाद्वैत में फलित होती है, उसके एक अछूते क्षेत्र में सुधांशु शेखर शास्त्री ने शंकर चैतन्य भारती (1915-1958) के *दर्शनसर्वस्वम्* तथा *खण्डनखण्डखाद्य* की शारदाटीका पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसी तरह अद्वैत वेदान्त के आधुनिक विद्वानों में हैदराबाद के ए. राममूर्त्ति *(अद्वैत : ए कॉन्सेप्चुअल एनालिसिस)*, बंगलोर के श्रीनिवास राव *(अद्वैत : ए क्रिटिकल इन्वेस्टिगेशन)*, मद्रास के गोदावरीश मिश्र जो अद्वैत वेदान्त के विद्यारण्य सम्प्रदाय के आधिकारिक अध्येता हैं तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक अत्यन्त सम्भावनावान् अध्येता आनन्द मिश्र (संवित् प्रकाशवाद) का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। आनन्द मिश्र के 'संवित् प्रकाशवाद' ग्रन्थ को चेतना के समकालीन अध्ययन के क्षेत्र में 'यूनिटी थेसिस' के पक्ष में भारतीय दृष्टि से लिखा गया एक मौलिक प्रबन्ध कहा जा सकता है। इसी को आधार बनाकर उन्होंने गहन ज्ञानमीमांसा से तत्त्वविद्या और मोक्षशास्त्र की अद्वैतयात्रा को सफलतापूर्वक उद्घाटित किया है।

भारतीय दर्शन परम्परा में बौद्ध दर्शन की जड़ें बहुत गहरी हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बौद्ध विद्या के विकास को यथासम्भव राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ। परन्तु इस देश के बौद्ध अध्ययन केन्द्रों से जुड़े विद्वानों की भूमिका बड़ी निराशाजनक है। इन्हें अधिक से अधिक बौद्ध विद्या की विरदावली गान करने वाला ही कहा जा सकता है। इस अप्रिय सत्य के प्रमाणस्वरूप शिशिर कुमार पाण्डेय द्वारा सम्पादित और श्रीयुत् दलाई लामा को समर्पित *ज्ञानायनी* (वर्ष-3, अंक-1-2, 2005) नामक पत्रिका के बौद्ध-संस्कृति विशेषांक को देखा जा सकता है। इसमें सम्प्रति भारत के तथाकथित 64 विद्वान् एक साथ अपनी चौंसठों मुद्राओं में उपस्थित हुए हैं। इसके बावजूद भी भारतीय विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध बौद्ध दर्शन के कुछ एक ऐसे अध्येता हैं जो अपने अध्यवसाय से बौद्ध दर्शन को उसकी सम्पूर्ण गरिमा के साथ प्रस्तुत करते हैं। ऐसे सक्रिय विद्वानों में दिल्ली के एच.एस. प्रसाद *(सेन्ट्रलिटी ऑफ एथिक्स इन बुद्धिज्म)*, पुणे के प्रदीप पी. गोखले *(इनफेरेन्स एण्ड फैलेसिज डिस्कस्ड इन एन्सिएण्ट इण्डियन*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लॉजिक), पुणे की ही मंगला आर. चिंचोरे *(धर्मकीर्तिज थ्योरी ऑफ हेतु सेन्ट्रीसिटी तथा बुद्धिस्ट कॉन्सेप्ट ऑफ मैन एण्ड ह्यूमन इमैंसिपेशन)*, भारतीय संशयवाद और नागार्जुन के विशिष्ट ज्ञाता डी.के. मोहन्ता (कोलकाता) तथा अम्बिकादत्त शर्मा *(बौद्ध प्रमाण दर्शन)* प्रमुख हैं। द्रष्टव्य है कि एच.एस. प्रसाद ने मानव एकता के बौद्ध सूत्र को 'दुखियारों के सम्प्रदाय' के रूप में और मानव समानता के सूत्र को सद्धर्मोन्मुख होने के रूप में बिलकुल अभिनव तरीके से उद्‌घाटित किया है तथा बुद्ध की निदानपरक दृष्टि को मानवीय चेतना और सम्पूर्ण मानवता के अ-तत्त्वमीमांसीय नैतिकीकरण की एक महान् कार्ययोजना की तरह देखा है। अब जहाँ तक अम्बिकादत्त शर्मा के अध्यवसाय का प्रश्न है तो नारायण शास्त्री द्रविड़ (न्यूजीलैंड) ने उनके बौद्ध *प्रमाण दर्शन* की समीक्षा (उन्मीलन, वर्ष-21, अंक-2, जुलाई 2007) करते हुए कहा था कि "यह पुस्तक प्रौढ़ प्रमाण दार्शनिक दृष्टि से लिखी गई एक अनूठी कृति है। बौद्ध पुरस्कृत प्रमाण-सिद्धान्त से सम्बद्ध समस्याओं पर विस्तृत और मूलग्राही विवेचन इसमें प्राप्त होता है। इन समस्याओं पर अंग्रेजी में भी, जिसमें बौद्ध दर्शन पर अनेकों निबन्ध-प्रबन्ध लिखे गये हैं, कोई शोध-प्रबन्ध नहीं लिखा गया है।" प्रदीप पी. गोखले ने (जे.आई.सी.पी.आर. - XXV, जुलाई-सितम्बर, 2008, पृ. 168) अम्बिकादत्त शर्मा के *अभिनव ज्ञानमीमांसीय अभिगम* पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "बौद्ध प्रमाण दर्शन के लेखक के अकादमिक योगदानों को दो तरीके से मान्य किया जा सकता है। पहला यह कि लेखक ने ऐतिहासिक न्याय-बौद्ध-विवाद को बिलकुल एक नया जीवन प्रदान किया है और दूसरा यह कि भारतीय प्रमाण मीमांसा में पहली बार 'मेटा एपिस्टेमोलॉजिकल एप्रोच' को चौंका देनेवाली स्पष्टता के साथ विकसित किया गया है।" ऐसे ही हैदराबाद के ए. रघुराम राजू *(इन्ड्‌योरिंग कोलोनियलिज़्म : क्लासिकल प्रजेन्सेज एण्ड मॉडर्न एब्सेन्सेज इन इण्डियन फिलॉसफी)* जो मूलरूप से 'कॉगनिटिव साइन्स' के अध्येता हैं लेकिन इस समय समकालीन भारतीय दर्शन पर बहुविध रूप से सनसनीखेज लेखन कर रहे हैं। इसमें दो राय नहीं कि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की वर्तमान पीढ़ी में कई अन्य अध्येता अपनी-अपनी तरह से सक्रिय हैं और निकट भविष्य में अपनी विशिष्ट पहचान के साथ उभर कर सामने आएँगे। उन सबकी जानकारी हमें उपलब्ध हो, यह सम्भव नहीं, फिर भी चलते-चलते यहाँ वरुण कुमार त्रिपाठी एवं अनिल कुमार तिवारी (वैष्णो देवी विश्वविद्यालय, जम्मू), अमित मिश्र (इलाहाबाद) और सुधांशु शेखर (भागलपुर) की ओर आशा भरी निगाहों के साथ देखा जा सकता है।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन की दशा-दिशा और उपलब्धियों के यथासम्भव उपर्युक्त सर्वेक्षण का उपसंहार करते हुए हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन का अतीत, वर्तमान और भविष्य अपनी प्रकृति में तत्त्वमीमांसीय रहा है। के.सी.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भट्टाचार्य ने 'स्वराज इन आईडियाज' नामक अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में उचित ही कहा था कि "आधुनिक समय में भारत की आत्मा को यदि कहीं खोजा जाना अपेक्षित हो तो उसे दर्शन के क्षेत्र में ही पाया जा सकता है।" इस निर्विवाद सत्य में हम यह जोड़ना चाहेंगे कि यदि भारत की आत्मा उसकी समृद्ध दर्शन परम्परा में बसती है तो भारतीय दर्शन की आत्मा का स्थायी निवास उसके तत्त्वचिन्तन में है। थोड़े समय के लिए आये तर्कीय प्रत्यक्षवाद के चक्रवात से लगा कि मनुष्य को उसके तत्त्वमीमांसीय लंगर से काट दिया जायेगा। लेकिन यह बवण्डर जल्द ही शान्त हो गया। तत्त्वमीमांसा ही अतिक्रामी मानवीय जिज्ञासा का विश्रान्ति-स्थल है। अम्बिकादत्त शर्मा (ज. 1960) और संजय कुमार शुक्ल (ज. 1964) ने मिलकर भारतीय दर्शन की दृष्टि से इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन किया है, जिसका शीर्षक है—*इन डिफेन्स ऑफ मेटाफिजिक्स : ऐन इण्डियन एनकाउण्टर विथ लॉजिकल पॉजिटिविज्म*—(2008)। इसमें सम्पादकद्वय ने सशक्त तरीके से यह दिखाया है कि पाश्चात्य परम्परा में स्ट्रॉशन, डेविडसन और पुत्नाम इत्यादि ने जिस तरह तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान को प्रत्युत्तरित किया है वह तत्त्वमीमांसा के बचाव का उचित मार्ग नहीं। यह मार्ग हमें तत्त्वमीमांसा के उस स्वरूप तक नहीं ले जाता जो मानवमात्र की नितान्त आन्तरिक अभीप्साओं के सर्वथा अनुरूप हो। सम्पादक द्वय ने तत्त्वमीमांसा के अर्थ, प्रयोजन और औचित्य पर प्रकाश डालते हुए भारतीय परिप्रेक्ष्य में तत्त्वमीमांसा के पुनरोद्धार की उच्चतर सम्भावनाओं को कई एक समकालीन भारतीय दार्शनिकों के मौलिक लेखन के माध्यम से उद्घाटित किया है। इस ग्रन्थ में इस विषय पर टी.आर.वी. मूर्त्ति, कालिदास भट्टाचार्य, यशदेव शल्य, याकूब मसीह, जी.सी. पाण्डे, आर.एस. मिश्र, एस.एस. राय, ए.के. चटर्जी एवं डी.एन. द्विवेदी के मौलिक लेखन स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के भावी स्वरूप को लेकर सम्भावनाओं का एक द्वार खोलते हैं।

सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थः

- *कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी*, प्रथम संस्करण (1936) एवं द्वितीय संस्करण(1952), सम्पा. राधाकृष्णन् एवं जे.एच. म्योरहेड.
- *रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी*, कालिदास भट्टाचार्य, प्रोग्रेसिव पब्लिकेशन, कलकत्ता.
- *समकालीन भारतीय दर्शन*, के. सच्चिदानन्द मूर्त्ति, 1962.
- *कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी*, आर.एस. श्रीवास्तव, 1965.
- *कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी*, नागराज राव, 1970.
- *रीसेण्ट ट्रेण्ड्स इन इण्डियन फिलॉसफी*, के.एस. मूर्त्ति एवं के.रामकृष्ण राव, 1972.
- *कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी*, बी.के. लाल, 1973.
- *कॉन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी*, मागरिट चटर्जी, 1974.
- *इण्डियन फिलॉसफी टुडे*, एन.के. देवराज, 1975.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- *इण्डियन फिलॉसफी सिन्स इण्डिपेन्डेंस*, रीप डेले, 1978.
- *इण्डियन फिलॉसफी—पास्ट एण्ड फ्यूचर*, एस.एस. रामाराव पप्पू एवं आर. पुलिगेन्द्रा, 1982.
- *फेसेट्स ऑफ रीसेण्ट इण्डियन फिलॉसफी—चार भाग*, सम्पा. ए.पी. दुबे, 1954, 98, 99.
- *स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण-1-* समेकित दार्शनिक विमर्श, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, 2005.
- *स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक विमर्श-2-* समेकित अद्वैत विमर्श, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, 2005.
- *स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण-3-* भारतीय दर्शन के 50 वर्ष, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा, 2006.
- *इन डिफेन्स ऑफ मेटाफिजिक्स : ऐन इण्डियन एनकाउण्टर विथ लॉजिकल पॉजिटिविज्म*, सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा एवं संजय कुमार शुक्ल, 2008.
- भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के द्वारा *दी बिल्डर्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी* सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित सभी पुस्तकें।
- *इण्डियन फिलॉसफी इन इंग्लिश : फ्राम रेनेसां टू इण्डिपेन्डेन्स*, सम्पा. नलिनी भूषण एवं जे.आर. गारफिल्ड, 2011.
- *समसामयिक चिन्ताएँ*, यशदेव शल्य.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की ओर

दिनेश मणि*

आर्थिक विकास के लिए ऊर्जा एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। विकास की प्रत्येक स्थिति में किसी भी तरह से ऊर्जा पर निर्भरता रहती है। प्रत्येक क्षेत्र–चाहे कृषि उत्पादन में सुधार हेतु उद्योगों को चलाने अथवा दैनिक जीवन स्तर में सुधार के लिए बड़ी मात्रा में ऊर्जा की आवश्यकता है। चूँकि ऊर्जा को आजकल दो भागों में विभाजित करके देखा जाने लगा है यथा परम्परागत ऊर्जा तथा अपरम्परागत ऊर्जा (वैकल्पिक)। परम्परागत ऊर्जा पर हमारी निर्भरता सदियों से रही है लेकिन आजकल सिमटते संसाधनों को देखते हुए परम्परागत क्षेत्र की बजाय अपरम्परागत ऊर्जा पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है। वर्तमान में सरकार इस क्षेत्र पर सभी तरह से प्रोत्साहन देने का प्रयास कर रही है।

आज सम्पूर्ण देश में पारम्परिक ऊर्जा साधनों (तेल) की कमी, बढ़ती कीमतों एवं उनकी अनिश्चित उपलब्धता की वजह से बड़ी समस्या उत्पन्न हो गई है। दूसरी तरफ हमारे तेल स्रोत कम होते जा रहे हैं। जंगल बेरहमी से काटे जा रहे हैं, एवं जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। परम्परागत ऊर्जा साधनों की उपलब्धता के बारे में अनिश्चितता भी बढ़ती जा रही है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए अब हमारे लिए यह जरूरी हो गया है कि हम सौर, वायु और जल जैसे फिर से प्रयोग किए जा सकने वाले साधनों को ज्यादा से ज्यादा काम में लाएँ ताकि परम्परागत ऊर्जा स्रोतों (पेट्रोल, तेल आदि) पर हमारी निर्भरता कम हो सके। ग्रामीण क्षेत्रों में विकेंद्रीकृत ऊर्जा आवश्यकता को पूरा करने के लिए फिर से प्रयोग किए जा सकने वाले ऊर्जा साधनों का विशेष महत्त्व है जिससे कि परम्परागत ईंधनों की खपत को कम किया जा सके। हमें देश में प्राकृतिक साधनों एवं बहुमूल्य गैस पदार्थों की विशाल धरोहर मिली है। इसका विज्ञान एवं तकनीक की सहायता से बेहतर उपयोग करके ऊर्जा के फिर से

* डॉ. दिनेश मणि, सम्पर्क : डी.एस-सी., पूर्व सम्पादक, "विज्ञान" पत्रिका; संपर्क : 35/3, जवाहर लाल नेहरू रोड जार्ज टाउन, इलाहाबाद-2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग किए जा सकने वाले साधनों के इष्टतम उपयोग से ऊर्जा क्षेत्र में तीव्र गति प्राप्त की जा सकती है और इससे राष्ट्र के सामूहिक सामाजिक और आर्थिक विकास में सहायता मिल सकती है। अतः योजना की वैज्ञानिकता और इसके क्रियान्वयन की दृढ़ इच्छाशक्ति के बाद ग्रामीण विकास की विभिन्न प्रविधियों की सफलता के लिए जो चीज सर्वाधिक और बहुत हद तक मूलभत रूप से आवश्यक है वह है—ऊर्जा। भारत में ग्रामीण विकास एक सतत प्रक्रिया है जिसे अनन्त काल तक चलाए रखना भारतवासियों के हक में है। अतएव इसके लिए वांछित ऊर्जा भी सतत उपलब्ध और निरन्तर विद्यमान होनी चाहिए। यह गुण सिर्फ अपरम्परागत स्रोतों से प्राप्त होने वाली ऊर्जा में ही है। यही वजह है कि ग्रामीण विकास में अपारंपरिक ऊर्जा का उपयोग दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है।

ग्रामीण विकास से सम्बन्धित कार्यों के प्रकार और उनका दायरा इतना बढ़ गया है कि उन सबको सुचारु रूप से संचालित करने के लिए अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक ऊर्जा की आवश्यकता है। परन्तु विडम्बना यह है कि ऊर्जा के आधिक्य की जरूरत वाले ऐसे दौर में ऊर्जा निरन्तर अपर्याप्त पड़ती जा रही है। ऐसे में अन्य स्रोतों से ऊर्जा प्राप्त करना जरूरी समझा जाने लगा है—क्योंकि न केवल ग्रामीण विकास के कार्य बल्कि गाँवों के रोजमर्रा के कामकाज भी रोके अथवा विलंबित नहीं किए जा सकते। वर्तमान परम्परागत स्रोत से मिलने वाली ऊर्जा काफी न पड़ रही हो तो स्पष्ट है कि अपारंपरिक स्रोत ही इस सम्बन्ध में आशा की किरणें हैं। हाल ही में प्रधानमन्त्री ने घोषणा की है कि वर्ष 2012 तक अपरम्परागत ऊर्जा स्रोतों का योगदान भारत के कुल ऊर्जा उत्पादन में 10 प्रतिशत तक किया जाएगा।

भारत जैसे विकासशील देशों के आर्थिक तथा सामाजिक स्तर को सुधारने के तरीकों में से प्रमुख है—सौर ऊर्जा का सीधे कार्य में परिवर्तन। अभी तक हमने सौर ऊर्जा का उचित उपयोग नहीं किया है। सूर्य की विकिरित ऊष्मा से यांत्रिक तथा वैद्युत शक्ति प्राप्त करना तथा वाष्प इंजन चलाना तकनीकी दृष्टि से संभव है किन्तु ये सारी विधियाँ सिर्फ भविष्य की आशाएँ हैं, वर्तमान की या भूतकाल की उपलब्धियाँ नहीं। एक प्रभावी यान्त्रिक निकाय विकसित करने में धन से भी अधिक बड़ी बाधा ऊर्जा भण्डारण की समस्या है। जब तक ऊर्जा का उपयोग न करना हो, तब तक इसे पृथ्वी, पानी या अन्य किसी माध्यम से गर्म करके संचित रखना अति आवश्यक है। इस प्रकार भण्डारण की युक्तियाँ अति विशाल तथा कष्टसाध्य हैं, साथ ही इनसे निर्दोष उष्मा-रोधन की समस्याएँ आ खड़ी होती हैं। वैसे भी, उष्मा-रोधन की अति उत्तम स्थितियों में भी उष्मीय ऊर्जा का क्षय हो जाता है।

दूसरी ओर रासायनिक निकायों का यह अन्तर्निहित लाभ है कि अभिक्रिया उत्पादों का अनिश्चित काल तक भण्डारण किया जा सकता है। अवशोषित ऊर्जा की पुनर्प्राप्ति अभी तक उष्माशोषी अभिक्रिया के प्रतीपन से की जा सकती है। लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परागत सपाट पट्टिका संग्रहकों में ऐसा नहीं होता है। पट्टिका के कार्यरत माध्यम को बढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है तथा साथ ही भण्डारण ताप को बढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है, जिनके कारण संग्राहक पट्टिका तथा भण्डारण की क्षमता में कमी आ जाती है। सम्भवतः सौर ऊर्जा के उपयोग में गम्भीरतम समस्याएँ निम्नांकित पर आधारित हैं–

1. निरन्तर ऊर्जा आपूर्ति की आवश्यकता,
2. सौर ऊर्जा की अनुपस्थिति में, सम्पूरक ऊर्जा की उपलब्धि,
3. सौर-ऊर्जा भण्डारण के किसी उपाय की उपलब्धि।

इनमें तृतीय तथा अन्तिम पहलू विस्तृत है तथा इसके अन्तर्गत सिर्फ वे प्रकाश रासायनिक अभिक्रियाएँ आती हैं जिनमें सूर्य के प्रकाश का उपयोग होता है। सुदूर भविष्य के लिए सौर-ऊर्जा का उपयोग प्रकाश के रूप में अधिक आशाजनक लगता है, उष्मा के रूप में नहीं।

कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार प्रकाश रसायन और ऊर्जा के सदुपयोग की कुंजी है। प्रकाश-रसायन में शोध का उद्देश्य ऐसी अभिक्रियाओं की तलाश है जो सूर्य के प्रकाश से उत्प्रेरित की जा सकें। प्रकाश संश्लेषण में, जिससे हमें सारा भोजन तथा ईंधन प्राप्त होता है, सूर्य प्रकाश का ही सदुपयोग होता है। ऐसी ही अन्य प्रकाश-रासायनिक अभिक्रियाएँ ढूँढ़ना हमारे लिए चुनौती हैं। ये अभिक्रियाएँ बिना उपजाऊ जमीन और हरे पौधों के सूर्य के प्रकाश को ऊर्जा में रूपान्तरित करेंगी।

ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों में बायोमास ऊर्जा का प्रयोग नया नहीं है, किन्तु इस ओर वैज्ञानिकों के नए सिरे से आकर्षित होने का कारण यह है कि इस स्रोत की निरन्तरता बनी रहती है तथा इसका पुनर्नवीकरण भी सम्भव है। ऊर्जा की पूर्ति की दृष्टि से लगाई जाने वाली फसलों के लिए दो प्रमुख निर्णायक शर्तें हैं। उनकी शीघ्र वृद्धि क्षमता और अधिकतम उत्पादन। बायोमास की अनेकानेक संभावनाओं को पहचान कर उनके लिए नई तकनीकें और उपयोग की विधियाँ ढूँढ़ी जा चुकी हैं। बायोमास में अन्तर्निहित सम्पूर्ण ऊर्जा शक्ति यदि व्यवस्थित साधनों से सफलतापूर्वक प्रयोग में लाई जा सके तो वह निकट भविष्य में हमारी ऊर्जा सम्बन्धी माँगों के एक भारी प्रतिशत (57%) की पूर्ति करने में समर्थ सिद्ध होगी।

पौधो में ऊर्जा प्राप्त करने के अपने प्रयासों के दौरान वैज्ञानिकों को बहुत से ऐसे पौधों का पता चला है जो सौर ऊर्जा का कुछ भाग हाइड्रोकार्बनों के रूप में संचित करने की क्षमता से युक्त होते हैं। यह खोज इस दृष्टिकोण से भी उपयोगी है कि पेट्रोलियम भी विभिन्न हाइड्रोकार्बनों का जटिल मिश्रण होता है, जिसमें ऊर्जा उत्पादन का सर्वाधिक अंश हाइड्रोकार्बनों का ही है। पिछले दो दशकों से ऊर्जा-संकट की विश्वव्यापी समस्या से निपटने के लिए मनुष्य उन सभी स्रोतों की खोजबीन में लग गया है जिनसे ऊर्जा प्राप्ति की तनिक भी संभावना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पशुओं के गोबर, कृषि तथा उद्योगों के अपशिष्ट एवं घरेलू कूड़े-कचरे से बायोगैस बनाकर ऊर्जा प्राप्त की जाती है। आज के विकसित संयंत्रों में जलकुम्भी, समुद्री शैवाल, सुअरबाड़ों और मुर्गीखानों का कचरा और यहाँ तक कि मानव मल तक का इस्तेमाल भी बायोगैस बनाने में किया जा रहा है। बायोगैस जहाँ एक ओर हमारी ऊर्जा की समस्या का हल प्रस्तुत करती है वहीं व्यर्थ तथा अनुपयोगी अपशिष्ट पदार्थों को इस्तेमाल करके प्रदूषण कम करने में भी सहायक होती है।

ऊर्जा संकट के इस दौर में ऊर्जा के जिन संभावित विकल्पों ने वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया है उनमें पवन ऊर्जा, समुद्र ऊर्जा, ज्वारीय ऊर्जा, भू-तापीय ऊर्जा, हाइड्रोजन ऊर्जा, परमाणु ऊर्जा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बहते पवन वेग में अत्यधिक ऊर्जा समाई होती है। पवन चक्कियों द्वारा इसी ऊर्जा को प्राप्त करके अन्य प्रकार की ऊर्जाओं में परिवर्तित कर लिया जाता है। पवन ऊर्जा के पक्ष में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऊर्जा का यह साधन सबसे सस्ता, सुलभ और प्रदूषण-रहित है। हमारे देश में कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल, राजस्थान और हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों में पवन ऊर्जा का प्रयोग असीमित संभावनाओं से युक्त है।

समुद्र स्वयं में ऊर्जा का विशाल भण्डार सँजोए हुए है। विकसित तकनीकों द्वारा इस ऊर्जा का उपयोग किया जा रहा है। समुद्र उष्मा ऊर्जा रूपान्तरण 'ओटेक' द्वारा समुद्र की विभिन्न परतों के बीच के प्राकृतिक तापान्तर का उपयोग कर विद्युत उत्पादन किया जा रहा है। हमारे देश में राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान द्वारा इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी जैसे कुछ क्षेत्र ओटेक संयंत्रों की स्थापना के लिए बहुत ही उपयुक्त है। ज्वार भाटा से विद्युत ऊर्जा के उत्पादन हेतु विशेष रूप से निर्मित संयंत्रों का उपयोग किया जाता है क्योंकि ज्वार-भाटा में वेग की दिशा तथा क्षेत्र आदि का ध्यान रखना अति आवश्यक है।

ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों में भू-तापीय ऊर्जा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साधारणतया भूतापीय ऊर्जा से आशय पृथ्वी के गर्भ में छिपी उस ऊर्जा से है जो सूखी गर्म चट्टानों, ज्वालामुखियों, गर्म जल स्रोतों और तापकुण्डों में संचित है। हमारे देश में भूतापीय ऊर्जा के भण्डार उत्तर पश्चिम हिमालय, पश्चिम घाट, नर्मदा, सोनघाटी और दामोदर घाटी के क्षेत्रों में स्थित हैं। भूतापीय ऊर्जा वर्तमान ऊर्जा संकट का सम्पूर्ण निदान तो नहीं बन सकता किन्तु किसी सीमा तक समस्या को कम अवश्य कर सकता है।

आजकल परमाणु ऊर्जा पर आधारित विद्युत गृह स्थापित किए जा रहे हैं जो ऊर्जा के विकल्प के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं। परमाणु ऊर्जा यूरेनियम, थोरियम, प्लूटोनियम आदि रेडियोधर्मी तत्त्वों के नाभिकीय विघटन से प्राप्त होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाइड्रोजन एक बहुत अच्छा ऊर्जा स्रोत हो सकता है क्योंकि यह पृथ्वी पर जल रूप में अनन्त मात्रा में उपलब्ध है। इस जल से असीमित मात्रा में हाइड्रोजन त्पादित की जा सकती है। हाइड्रोजन को यदि भविष्य की ऊर्जा कहा जाए तो तिशयोक्ति न होगी। निकट भविष्य में जल से हाइड्रोजन बनाने के लिए कुछ सरल कनीकें खोजी जाएँगी और तब हाइड्रोजन एक सस्ती एवं प्रदूषणरहित ऊर्जा-स्रोत के प में प्रचलित हो जाएगी।

बढ़ती जनसंख्या, कृषि गहनता से बढ़ती तीव्रता तथा इसके साथ-साथ पारम्परिक र्जा का दिनोंदिन घटता भण्डार जैसे कारण गैर-परम्परागत ऊर्जा के अधिक से धिक उत्पादन के लिए प्रेरित करते हैं। यहीं हमें दीर्घकालिक टिकाऊ विकास तथा र्जा सुरक्षा प्रदान कर सकता है। अभी कुल ऊर्जा उत्पादन का 3 प्रतिशत (3,400 गावाट) नवीकरणीय स्रोतों से प्राप्त हो रहा है। 2012 तक इसे 10 प्रतिशत तक ढ़ाए जाने की योजना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनुसंधान और विकास कार्यों में तेजी लानी होगी। साथ ही अनुसंधान कार्यों को लयबद्ध करना भी एक उचित तथा र्थक कदम होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग निर्माता बाबा साहब डॉ. भीमरावजी अम्बेडकर और हिन्दी दलित साहित्य

तुकाराम दौड*

युग प्रवर्तक बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकरजी के दलित साहित्य ने मराठी और हिन्दी दलित साहित्य में मानवी चेतना जागृत करने का प्रभावी कार्य किया और दलित समाज की मुक्ति एवं विकास चिन्तन पत्रकारिता और साहित्य के माध्यम से सामाजिक क्रान्ति की विचारधारा को आगे बढ़ाया। उनकी कलम, देशभक्ति, राष्ट्रवाद और दलित मुक्ति की थी। दलित साहित्य की संवेदनाएँ बाबा साहब अम्बेडकरजी ने प्रस्तुत कीं। पूरे भारतवर्ष में उनके साहित्य का प्रभाव पड़ा। आधुनिक युग में दलित साहित्य परिवर्तन वाले आन्दोलन के लिए महत्त्वपूर्ण है। सारी दुनिया के समाज चिन्तक एवं समाज सुधारक, पत्रकार, संविधान निर्माता के रूप में उनकी पहचान है।

हिन्दी दलित साहित्य की मानवी चेतना : बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने पत्रकारिता के माध्यम से दलित साहित्य को स्वर देने का प्रयास किया है। हिन्दी साहित्य में दलित लेखन परम्परा को भक्तिकाल तथा उससे भी पूर्ण सिद्ध-नाथ साहित्य तक खोजा उप संकल्प है। महाकवि तुकारामजी के काल में दलित साहित्य की रचना भी की गई। महाकवि संत तुकारामजी ने कहा है कि नव्हे जगी मुकीयाचा कोणजाण। पूरा जगत गूँगों का है। उनकी समझने वाला कौन है। ऐसा तुकारामजी ने अभंग में कहा है। मराठी साहित्य में दलित साहित्य का उद्‌गम तुकारामजी के काल में हुआ। दलित साहित्य के उद्‌गाता जगतगुरु संत तुकाराम हैं।

"भक्ति आन्दोलन ने जात पात कुछ पुछे न कोई हरि को भजे सो हरि का होई" कहकर एक क्षेत्र में तो समानता का निर्माण किया किन्तु अन्ततः यह आन्दोलन भिन्न मतों और सम्प्रदायों में बिखर गया। 18वीं शताब्दी से फिर धार्मिक सामाजिक क्षेत्र में कट्टरता बढ़ने लगी और परम्परा खण्डित हो गई है।"[1] भक्तियुग में यदि झाँकें, तो कई

*प्रा. डॉ. तुकाराम दौड, मु.पो. पानवढोद, ता. सिल्लोड, जि. औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महापुरुष, महाकवि सन्त हुए जैसे कबीर, रैदास (रोहीदास), सन्त तुकाराम, सन्त व, सन्त सावता माळी, सन्त चोखोबा, सन्त जनाबाई, सन्त बहिणाबाई, सन्त बाई आदि जिन्होंने न सिर्फ विचारों बल्कि आचार-व्यवहार में भी जातीय भेदभाव, नीच और मानवीय शोषण का प्रतिकार किया। कबीर ने "जाति न पूछो साधु की लीजिए ज्ञान। मोल करो तलवार का पड़ा रहे दो म्यान।"[2] कहकर मनुष्य के सद्गुणों उनकी जाति से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। "उनकी अभिव्यक्ति में जात-पाँत जुड़े व्यंग्यवाणों का प्रयोग बहुतायत में था।"[3] जो भक्ति आन्दोलन से आया था। ऐसा ही आन्दोलन महाराष्ट्र से मराठी में आया और मराठी से हिन्दी में आता दिखाई है। अभी तक हिन्दी भाषा में सामाजिक अन्याय के विरोध में जो दलित संवेदन लेखन मिलता है, वह प्रायः उदारवादी, प्रतिबद्ध मानवीय तथा प्रगतिशील सवर्ण लेखन है। हिन्दी भाषा में दलित बुद्धिजीवी द्वारा लिखा गया साहित्य लगभग न के बराबर दलित पत्रकारिता का बड़े मीडिया कारोबार में स्थान नगण्य है। साहित्य तो दूर बात है। कोई गैर दलित व्यक्ति दलित समाज की संवेदनाओं को चित्रित करता तो उसको वह न्याय नहीं दे सकता। अनुभवों के आधार पर उतना सटीक चित्रण सकता है। जितना की स्वयं एक दलित लेखक ऐसा समझ जाता है कि दलित रचनाकार के साथ उसके अनुभव एवं उसका परिवेश भी साहित्य में चला जाता है। लेखन की वैधता अधिक युक्तिसंगत होती है। हालाँकि जिस जन्म आधारित व्यवस्था विशेष विरोध में दलित लेखन को खड़ा करने का प्रयास किया जा रहा है। प्रस्थापित व्यवस्था के ऊपर प्रहार किया जा रहा है।

आज मूल निवासी साहित्य के एकमात्र प्रवर्तक डॉ. भीमरावजी अम्बेडकर एक स्तम्भ के रूप में सामने आए हैं। भारत में तेजी से उभरते मराठी और हिन्दी साहित्य में अम्बेडकरजी के विचार प्रेरणादायक रहे हैं। यदि हम पिछले सौ डेढ़ वर्ष के इतिहास पर दृष्टि डाले तो महात्मा फुले, प्रेमचन्द, महात्मा गाँधी, भीमराव अम्बेडकर आदि कई प्रमुख व्यक्तियों को दलित संवेदनाओं का स्वर देने में प्रयासरत रहे। "दलित आन्दोलन के जन्म स्थल में महात्मा ज्योतिबा फुले ने दलितों की व्यथा अपने विचारों, ग्रन्थों, लेखों के माध्यम से सशक्त ढंग से उठाई।"[4] उनकी पुस्तक 'गुलामगिरी' विशेष उल्लेखनीय है। "हिन्दी भाषा में यदि देखा जाए तो प्रेमचन्द निर्विवाद रूप से ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने साहित्य में दलित प्रश्न पर गहनता से विचार किया।"[5] प्रेमचंद का जैसा महत्त्व हम आज के जमाने में देखते हैं वह दलित चेतना के उभार से सम्भव हुआ। "उनकी अनेक कहानियों जैसे 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति', 'कफन' या फिर कालजयी उपन्यास 'गोदान' सभी ने दलित समाज की पीड़ा को सशक्त ढंग से उकेरा। प्रेमचंद दलित समस्या को बृहत्तर सन्दर्भ में ले रहे वह समझते थे कि दलितों की पक्षधरता के साथ-साथ वर्णव्यवस्था के मूल ब्राह्मणवाद पर प्रहार किए बिना काम नहीं चलेगा। इसलिए वह कई बार ब्राह्मणवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को नियन्त्रण जैसी रचनाओं के जरिए हास्यास्पद बनाते हैं। तो कई बार आगे बढ़कर उसी पर सीधा हमला कर देते हैं।"[6] प्रेमचन्द के अतिरिक्त निराला, नागार्जुन, कमलेश्वर आदि रचनाकारों ने ही दलित वेदना का विषय बनाकर रचनाएँ बनाईं और हिन्दी दलित साहित्य में नई मानवी चेतना पैदा की। मराठी ने दलित साहित्य को दबाने का प्रयास किया। कमलेश्वरजी ने दलित साहित्य को प्राथमिकता दी। 'सारिका', 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं में दलितों की समस्याओं पर प्रकाश डाला। सारिका आँसू है। वेश्याओं के दलितों का दर्द है। कमलेश्वरजी का मानना था कि "समान्तर लेखन और आन्दोलन मात्र हिन्दी या भारतीय भाषाओं का आन्दोलन नहीं, बल्कि यह रचनात्मक साहित्य के जरिए तीसरी दुनिया की मुक्ति चेतना के आन्दोलन का हिस्सा था।"[7] प्रेमचंद के बाद फिर से किसी प्रदेश का सामान्य व्यक्ति समूचे भारतवर्ष का सामान्य व्यक्ति बना था। समूचे भारतवर्ष को जोड़ने का प्रयास कमलेश्वरजी ने साहित्य सृजन द्वारा किया और दलित साहित्य के प्रति मानवी चेतनाओं को जागृत किया। दलित साहित्य में प्रेमचन्द के बाद मानवी चेतना निर्माण में कमलेश्वरजी का पक्षधर के रूप में उल्लेखनीय योगदान है। उनके द्वारा दलित विमर्श पर निकाले गए विशेषांक तो आज मील का पत्थर माने जाते हैं।

बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर की पत्रकारिता और साहित्य : महाराष्ट्र में महात्मा फुले, सावित्रीबाई फुले और राजे छत्रपती शाहू महाराज के विचारों को आगे बढ़ाने का कार्य डॉ. अम्बेडकरजी ने किया है। दलित वर्ग के उत्थान के लिए 1920 में डॉ. भीमराव अम्बेडरकजी ने 'मूकनायक' समाचार पत्र प्रकाशित किया। अम्बेडकर के भारतीय राजनीति में उदय ने पूरी दलित समस्याओं को बहुआयामी गतिशीलता प्रदान की। दलित आन्दोलन पूरी ताकत के साथ भारतीय समाज व्यवस्था में गरिमापूर्ण स्थान प्राप्त करने के लक्ष्य से परिचलित हुआ। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी द्वारा "दलित पीड़ित समाज के अधिकारों की लड़ाई में पूरा सहयोग किया जाने से यह आन्दोलन एक बहुत सामाजिक न्याय आन्दोलन के रूप में खड़ा हुआ।"[8] पत्रकारिता एवं साहित्य के स्वाभाविक सहकार से दलित विचारों को प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति मिलना प्रारम्भ हुआ। दलित समाज अब अपने राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक अधिकारों के मुख्य रूप से सामने आया। ऐसे में पत्रकारिता एवं साहित्य पर भी इनका स्पष्ट प्रभाव पड़ा। "1933 और 1940 के बीच भारत की जनता के लिए 'हरिजन' (अंग्रेजी), 'हरिजन बंधु' (गुजराती) और 'हरिजन सेवक' (हिन्दी) महात्मा की वाणी बन गए। इन अखबारों ने पाया कि, महात्मा गाँधी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित कर रहे है।"[9] भारत के कमजोर लोगों ने अपना सन्देश पहुँचाने के लिए पत्रकारिता को सशक्त माध्यम बनाया। "गाँधीजी ने 'हरिजन' नामक पत्र निकाला जिसमें दलित समाज की समस्याओं को उठाया गया तथा साथ ही इनके निवारण में समूचे हिन्दू समाज से सहयोग की गुहार भी लगाई गई।"[10] छुआछूत,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ाव व सामाजिक साहचर्य के सम्बन्ध में गाँधीजी का लेखन दलित आन्दोलन के ...क्ष्य में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर ने भी ...ोर वर्गों की कठिनाइयों को केन्द्र बनाकर कुछ एक अखबार निकाले जैसे "1920 ...म्बेडकर जी ने 'मूकनायक' का श्री गणेश किया। अछूतों की स्थिति में परिवर्तन ...े के लिए उन्होंने 'बहिष्कृत भारत' का प्रकाशन अप्रैल 1927 से शुरू किया। ...ता' साप्ताहिक नवम्बर 1920 में तथा मार्च 1924 में समता समाज की स्थापना ...लिए समता पत्रिका का प्रकाशन किया।"[11] पत्रकारिता के माध्यम से बहुजन ...ज को दिशा देने का कार्य डॉ. अम्बेडकरजी ने किया और अम्बेडकरी विचारधारा ...प्रेरणा से दलित साहित्य का उदय हुआ। बाबासाहब ने कई ग्रन्थ लिखे, जिसकी ...य वस्तु के केन्द्र में दलित प्रश्न था तथा जिसमें समस्याओं की स्थिति पर प्रकाश ...ा गया है। जैसे *द बुद्धा एंड हिज धम्मा; जाति प्रथा का उन्मूलन; गाँधी और ...तों का उत्थान; अच्छूत कौन, कैसे; शूद्र कौन* एवं *हिन्दुत्व की पहेलियाँ*; आदि ...[12] इन ग्रन्थों का भारतीय अन्य भाषाओं में अनुवाद किया गया। हिन्दी, तेलुगु, ...ल, पंजाबी भाषाओं में डॉ. भीमरावजी अम्बेडकर का साहित्य और विचारधारा को ...ुत किया गया और पूरे देश में बुद्ध धर्म और अम्बेडकरी साहित्य ने मानवी चेतना ...की। देश के किसी भी महापुरुषों पर अम्बेडकर जैसी साहित्य सम्पदा मौजूद नहीं ...देश के सभी भाषाई पत्रकारिता में दलित साहित्य को प्राथमिकता मिलने लगी है। ...्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय समाचार पत्रों में दलित साहित्य को महत्त्व दिया जा रहा है और ...की सभी भाषाओं में दलित साहित्य का निर्माण हुआ है। इसके पीछे डॉ. ...म्बेडकर की प्रेरणा और दीपस्तंभ के रूप में उनकी विचारधारा कारण हैं। नई ...ढ़ियाँ दलित साहित्य का निर्माण कर रही हैं। आज भी कई पत्रिकाएँ सामाजिक ...य की लड़ाई में बढ़-चढ़कर योगदान कर रही हैं तथा मनुष्य की समानता के ...ारों को प्रचारित-प्रसारित करने का काम कर रही हैं। मराठी पत्रकारिता के साथ ...दी पत्रकारिता में दलित साहित्य के अनुरूप मानवी चेतना पैदा करने का कार्य ...तीय पत्रकारिता और मराठी पत्रकारिता कर रही है।

हिन्दी दलित साहित्यिक पत्रकारिता : भारतीय पत्रकारिता विशेषकर हिन्दी ...कारिता में दलित साहित्य का उद्‌गम एवं विकास संघर्ष एक लम्बी कहानी है ...के पीछे डॉ. भीमराव अम्बेडकर तेजस्वी पत्रकारिता एवं दलित पत्रकारों की ...ना तथा त्याग तपस्या है। "पत्रकारिता के क्षेत्र में दयाल बिरागी उरई निवासी थे। ...ने 'मूल भारतीय जागरण' नामक पत्रिका का सम्पादन एवं प्रकाशन किया।"[13] ...एल.आर. बाली ने जालंधर से 'भीम पत्रिका' मासिक हिन्दी भाषा में शुरू किया। ...पुर से आर.एल. कमलजी ने 'निर्णायक भीम' पत्रिका का प्रारम्भ किया। अलीगढ़ ...रिपब्लिकन सन्देश' और 'निर्णायक भीम' नाम की पत्रिका प्रकाशित की और ...नऊ से 'बहुजन' साप्ताहिक और 'दलित चेतना' साप्ताहिक का प्रकाशन किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गरिमा भारती' साप्ताहिक लखनऊ, 'नागटाईम्स' सीतापुर से डॉ.टी.पी. आजाद प्रकाशित करते हैं। कुशीनगर से श्री दयानाथ निगम ने 'अम्बेडकर इन इंडिया' मासिक पत्रिका का सम्पादन किया। भूतपूर्व सांसद श्री सी.पी. सैलानी ने दिल्ली से 'प्रबुद्ध जगत' और श्री के.पी. बन्धु ने 'युग उद्बोधन' पत्रिका का सम्पादन किया। बिहार राज्य के पटना से भिक्षु डॉ. करुणाकर 'बौद्धबिहार' और श्री बुद्ध शरण हंस 'अम्बेडकर मिशन' पत्रिका का सम्पादन करते हैं। यहाँ से 'शम्बूक' और 'अख लाख' पत्रिका प्रकाशित होती है। "गाजियाबाद से श्री महीपाल सिंहजी द्वारा 'दलित टुडे' नामक हिन्दी साहित्य की पत्रिका प्रकाशित की जाती है। हिन्दी के शोध-पत्रिकाओं में उज्जैन से त्रैमासिक 'पूर्वदेवा' मुख्य रूप से प्रकाशित होती है। इसके अलावा 'माझी जनता' (मेरी जनता), सम्पादक श्री शालीग्राम ढोरे (नागपुर), 'अनार्य भारत', सम्पादक, 'श्री एस.एल. सागर (मैनपुरी), 'अप्पदीपो भव सन्देश', सम्पादक, आदर्श (रायबरेली) 'वीर मुल' सम्पादक श्रीमती सन्तोष लाल (लखनऊ) आदि पत्र-पत्रिकाओं का यशस्विता से प्रकाशन किया जाता है।"[14] हिन्दी साहित्य में दलित साहित्यकारों का नाम आदर से लिया जाता है। बीसवीं शताब्दी के हिन्दी दलित साहित्यिक और पत्रकारों और सम्पादकों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। दलित साहित्य ने गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। कवि और साहित्यकार भी दलित साहित्य से जुड़े रहे। नई पीढ़ियों को डॉ. भीमराव अम्बेडकर आदर्श पत्रकार के रूप में हमें सदैव प्रेरणा देते रहेंगे।

दलित साहित्य की रचनाएँ : हिन्दी पत्रकारिता में आज कई पत्र-पत्रिकाएँ सामाजिक न्याय की लड़ाई करने के लिए डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों को आगे बढ़ाती रही। 'दिनमान', साप्ताहिक 'धर्मयुग' में समाज में घटित होनेवाली घटनाओं को केन्द्र में रखकर असमतावादी विचारों की पोल खोलने का प्रयास किया जाता रहा। हाल फिलहाल 'हंस' जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं में दलित विमर्श को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता रहा है। 'माधुरी', 'सारिका' पत्रिकाओं में भी दलित साहित्य को प्राथमिकता दी जाती रही है। कमलेश्वर जी ने दलित विमर्श पर 'सारिका' का विशेषांक प्रकाशित किया था। जिससे हिन्दी दलित साहित्य के बारे में लोगों में जागरूकता पैदा हुई। कवियों, रचनाकारों, उपन्यासकारों ने हिन्दी दलित साहित्य पर प्रकाश डाला। इस समय हिन्दी में कुछ अच्छे दलित रचनाकारों की सुखद मौजूदगी ने दलित विमर्श को न सिर्फ अपेक्षित गम्भीरता प्रदान की है, बल्कि इसे नई धार भी दी है। हिन्दी भाषा में दलित साहित्य की सुव्यवस्थित शुरुआत करने का श्रेय काफी हद तक मराठी भाषा के दलित लेखकों की कृतियों/रचनाओं के हिन्दी अनुवाद को है।

इधर हिन्दी में कई अच्छी किताबें-ग्रन्थ आये हैं, जिनमें दलित समस्या को अधिक सूझबूझ और विचारणीय ढंग से उठाया गया है और जो साहित्यिक अभिव्यक्ति में दलितों की भागीदारी बढ़ाने का प्रमाण भी हैं। "दूसरी दुनिया का यथार्थ" नामक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नी-संग्रह में 29 कहानियाँ संगृहीत हैं, जिसमें 18 दलित साहित्यकार हैं, 8 पिछड़ा के हैं तथा 3 सवर्ण हैं।"[15] कई नामी दलितवर्गी साहित्यकारों, उपन्यासकारों, वादक पत्रकारों ने आत्मकथात्मक शैली में रचना करके दलित संवेदना को न्तता के साथ ही आक्रामकता के तेवर प्रदान किए हैं। विख्यात जर्मन प्रोटेस्टटर टिन लूथर ने 'पाप विमोचन पत्र' को जलाकर यूरोप में धर्मक्रान्ति का आरम्भ किया । अमेरिका में भी दलित साहित्य का श्वेत गुलामों के ऊपर साहित्य रचनाएँ की गई सारी दुनिया में अम्बेडकर विचारधारा का प्रचार-प्रसार साहित्य के माध्यम से होने ा है, इसलिए अम्बेडकर को भारत का मार्टिन लूथर भी कहा जाता है। दलित हित्य की नई पीढ़ियाँ सारे संसार को नया आयाम देने लगी हैं और दलित वेदनाओं को जागरूक करने का प्रयास कर रही हैं। वर्तमान में जिन दलित हित्यकारों का नाम लिया जा सकता है, उनमें प्रमुख हैं मराठी साहित्य में डॉ. गंगाधर पानतावणे, डॉ. हरी नरके, डॉ. भाऊ लोखडे, नामदेव ढसाळ, लक्ष्मण माने, दया पवार, गुत, शरणकुमार लिंबाले, डॉ. नंदा मेश्राम, प्रा. डॉ. ऋषीकेष कांबळे, डॉ. केशव ाम, डॉ. यशवंत मनोहर, अण्णाभाऊ साठे, मा.मा. देशमुख, प्र.ई. सोनकांबळे, क्ष्मण गायकवाड, माधव कोंडीलकर, डॉ. त्रिलोक हजारे, उत्तम कांबले, प्रा. डॉ. अ. सालूके, भालचंद्र मुणगेकर, लक्ष्मण थोरात, सिद्धार्थ रामटेके, नरेंद्र जाधव आदि न्होंने दलित साहित्य लिखकर मराठी भाषा में समृद्धता लाने के लिए योगदान दिया ।

1918 में 'आदि हिन्दू' नामक पत्रिका प्रकाशित हुई। उत्तरप्रदेश के हिन्दी भाषा दलित साहित्य रचनाकार अछूतानन्द हरिहर प्रथम दलित हिन्दी साहित्यकार एवं कार थे।"[16] उन्होंने 'रामराज्य न्यायनाटक शम्बूक देहान्त' लिखा था। दूसरे पीढ़ी के दलित साहित्यकार "स्वामी रामचरण कुरील कानपुर के निवासी थे। 'भगवान विदास सत्यकथा सत्यनारायण कथा' इस कथा से दलितों को कोई लाभ नहीं है। इससे किसी से भी ज्ञान नहीं मिलेगा।"[17] दलितों को इस कथा का सन्देश एवं गायन ने का कार्य स्वामी जी ने किया। "शंकरानन्द शास्त्री जी ने कर्नाटक राज्य में दलित साहित्य को बढ़ावा दिया; 'पूना पैक्ट बनाम गाँधी', 'सम्मान के लिए धर्म परिवर्तन करें', 'ईश्वर चक्र, धर्मचक्र और चुनाव चक्र', 'बौद्ध धर्म से जय मंगल (विवाह) पद्धति', 'बौद्धधर्म में पुनर्जन्म, मंगल और अमंगल कर्म', 'पंचशील क्यों और किस लिए', 'युग पुरुष बाबा साहब डॉ. अंबेडकर' आदि ग्रन्थों की रचनाएँ की।"[18] बाबासाहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन में दलितों की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। सोहनलाल शास्त्रीजी ने दलित साहित्य की नई रचनाएँ कीं। "बाबासाहब के सम्पर्क में पचास वर्ष", 'भारत में बोधिवृक्ष कैसे सूखा'? 'हिन्दू समाज रचना, दलित की कसौटी पर', 'दलित रोग विनाशक औषधि, बुद्ध धर्म, दीक्षा' आदि ग्रन्थों का निर्माण सोहनलाल शास्त्रीजी ने किया।"[19] ललई सिंह यादवजी ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्ची रामायण के ऊपर प्रकाश डाला; इसमें दलित साहित्य के प्रतिबिम्ब पर प्रकाश डाला। दूसरे पीढ़ी के दलित लेखकों एवं साहित्यकारों ने शोध अध्ययन कर ग्रन्थों का निर्माण किया है। ये डॉ. भीमराव अम्बेडकर के ग्रन्थों से सम्बन्धित रहे हैं। डॉ. डी. आर. जाटवजी ने 'डॉ.बी.आर. अम्बेडकर का सामाजिक दर्शन', 'डॉ. अम्बेडकर का राजनैतिक दर्शन', 'डॉ. अम्बेडकर के आलोचक', 'डॉ. अम्बेडकर का जीवन चरित्र' आदि ग्रन्थों का समावेश किया। डॉ. अंगने लाल जी भारतीय संविधान निर्माता बाबासाहब अम्बेडकर की बौद्ध दीक्षा अभियान से प्रभावित हुए; उन्होंने बौद्ध धर्म के ऊपर हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लिखे है।"[20] हिन्दी भाषा में दलित साहित्य का विकास हो रहा है। उसमें अश्वघोष कालीन भारत, संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन, बौद्ध संस्कृति, अम्बेडकरी बौद्ध आन्दोलन के पंचवर्गीय भिक्षु, बौद्ध दीक्षा विधि, बुद्ध शासन के रत्न डॉ. बी.आर. अम्बेडकर की जीवनी आदि ग्रन्थों का निर्माण किया गया और इस कथा में रामायण कालीन शम्बूक मुनि के तपस्चर्या का अध्याय प्रस्तुत किया गया है। दूसरे चरण में सुपा ऋषि और एकलव्य की कथाएँ हैं। तीसरे अध्याय में मध्ययुगीन दलित समाज के संत शिरोमणि रैदास की कथा है। चौथे चरण में आधुनिक युग के बोधिसत्व डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जीवन परिचय सम्मिलित है। डॉ. गया प्रसाद प्रशान्त और माता प्रसाद ये हिन्दी के दलित साहित्यकार हैं। डॉ. प्रशान्त जी ने 'वोट की कीमत समझो', 'भीम चेतावनी', 'भीम गीतावली', 'बुद्ध ने कहा था', 'पंचायती समाज', 'शोषण-शोषित संवाद', 'बौद्ध की साकेत अयोध्या', 'अम्बेडकर इन्कलाब', 'दलित और पिछड़े इतिहास के आइने में', 'धर्म की आड़ में' आदि ग्रन्थों का लेखन किया है। माता प्रसादजी अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल थे। इस दौरान उन्होंने 'अछूत का बेटा', 'धर्म के नाम पर धोखा', 'झलकारी बाई', 'धर्म परिवर्तन', 'एकलव्य' (खण्डकाव्य), 'भीमदशक', 'उत्तर प्रदेश में दलित जातियों का दस्तावेज', 'एकान्त हीन बेडिया', 'तड़प मुक्ति की', 'दलित काव्यधारा' आदि रचनाएँ एवं कृतियाँ हिन्दी भाषा में प्रकाशित हैं। मोतीराम शास्त्री जी ने 'बौद्ध शिविर सहारा' ग्रन्थ लिखा और 'दलित चेतना' पत्रिका का सम्पादन किया। मंगलदेव विशारद जी ने 'कमाने वाला', 'चेतना और संघर्ष', 'सर्वहारा न्यायपथ' और 'भूलो मत' आदि ग्रन्थों का लेखन किया। तीसरे पीढ़ी के दलित साहित्यकारों ने विद्रोही साहित्य का निर्माण किया। दलित कथा, काव्य, आत्मकथाएँ, उपन्यास, गीत, आदि कृतियों पर आधारित ग्रन्थों की रचना की है। उनमें रामनिहोर विमल, बुद्धशरण हंस, सूरजपाल चौहान, प्रसाद राही, जियालाल आर्य प्रमुख हैं। दलित नारी की समस्याओं पर दलित महिला साहित्यकारों श्रीमती मीना कुमारी बोधी, डॉ. डी. एस. अशोक, कँवल भारती, सुशीला टाकभौरे वंचित और उपेक्षित नारी समाज पर प्रकाश डाला। काव्य रचनाओं के क्षेत्र में हिन्दी के दलित साहित्यकारों ने दलित साहित्य सम्पदा की रचनाएँ की हैं। उनमें रामभरोसे लाल, सुरेश उजाला, कालीचरण, गुरुप्रसाद मदन, एम.ए. प्रेमी, होरीलाल सहस्रबुद्धे, बलवन्तराय,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिरंजीव लाल चंचल, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, श्योराज सिंह, भागीरथ मेघावाल, रजत रानी 'मीनू', डॉ. दयानन्द बटरोही, लक्ष्मीचन्द्र आदि हैं। इन लेखकों के साहित्य कर्म से दलित साहित्य की मौलिकता को लेकर वाले आरोपों को भी काफी हद तक दूर किया जा सकता है। हम यह आशा कर रहे हैं कि इस शताब्दी में हिन्दी भाषा में दलित लेखन और आन्दोलन अधिक प्रौढ़ होकर अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने में सफल होगा। देश की हिन्दी पत्रकारिता में राष्ट्रीय, भाषाई समाचार पत्र, पत्र-पत्रिकाएँ, दलित साहित्य/रचनाओं प्रकाशित करने लगी हैं और महिला दलित साहित्यकारों की रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। दलित समाज की चर्चा करते समय उनकी समस्याओं, प्रश्नों की चर्चा की जा रही है। "दलित महिलाओं के कष्टों व उनकी समस्याओं के साथ एकत्व में देखा गया। ऐसे समय में जब भारत की संसद महिलाओं को विधायिका में 33 टक्के आरक्षण दे पाने में कठिनाई महसूस कर रही है। तब दूसरे अखिल भारतीय दलित लेखिका सम्मेलन के विचार विमर्श से उठे उपयुक्त प्रश्न प्रासंगिक हैं।"[21] हिन्दी समाचार पत्रों में इन जनहित और सार्वजनिक मुद्दों पर पत्रकारों से लिखाना चाहिए। समय की आवश्यकता है। तभी दलित लेखन और आन्दोलन सक्षम होगा और दलितों का विकास होगा। आज अधिक बेबाकी से लिखने की आवश्यकता है।

हिन्दी दलित साहित्य एवं पत्रकारिता में डॉ. भीमराव अम्बेडकरजी के लेखन का प्रभाव पड़ा है।

सन्दर्भ

1. निशिकांत ठकार—*दलित कथा : व्यथा की कथा*, हंस, मार्च 1994, पृ. 62
2. आशा गुप्ता—*हिन्दी पत्रकारिता की विकास यात्रा*, पृ. 133
3. *कबीर की छहसौवीं जयन्ती पर अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी*—दिसम्बर, 4-6-1999, स्वतन्त्रता भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी; रपट साभार
4. मोहनदास नैमिशराय—*दलित पत्रकारिता सामाजिक व राजनैतिक चिन्तन*, श्रीनटराज प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005
5. प्रो. रमेश जैन—*जनसंचार एवं पत्रकारिता*, पृ. 100
6. अखिलेश—*ध्वस्त महानताएँ और प्रेमचन्द*, राष्ट्रीय सहारा, लखनऊ, 29 जुलाई, 1998
7. कमलेश्वर—*जो मैंने जिया*, मुख्य पृष्ठ से
8. आशा गुप्ता—*हिन्दी पत्रकारिता का विकास*, पृ. 137
9. वी.एन.नारायन—*महात्मा 20वीं सदी के सबसे प्रभावी जनमाध्यम*, समागम पत्रिका, जनवरी 2011, पृ. 7
10. आशा गुप्ता—*हिन्दी पत्रकारिता का विकास*, पृ. 135
11. सम्पादक—*प्रेमचन्द पातंजली—मीडिया के पचास वर्ष*, पृ. 144

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12. भगवानदास—*वंचितांचा मुक्तिदाता डॉ. अम्बेडकर,* लोकराज्य विशेशांक, अक्तूबर, 2006, पृ. 29-30
13. डॉ. अंगनेवाल—*डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर प्रेरित हिन्दी साहित्य,* लोकराज्य विशेपांक अक्टूबर 2006, पृ. 38
14. वही, पृ. 38
15. *श्योराज सिंह बेचैन का लेख,* राष्ट्रीय सहारा, 25 जुलाई, 1997
16. डॉ. अंगनेवाल—*डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर प्रेरित हिन्दी साहित्य,* लोकराज्य विशेपांक अक्टूबर 2006, पृ. 38
17. वही, पृ. 37
18. वही, पृ. 37
19. वही, पृ. 37
20. वही, पृ. 37
21. दूसरा अखिल *भारतीय दलित सम्मेलन और चेतन-क्रान्ति,* समकालीन जनमत, 23 फरवरी, 1996, पृ. 33

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्त रस सन्दर्भ : संगीत कला

योगेश शर्मा*

भरतमुनि ने *नाट्यशास्त्र* में कला एवं कलानुभव के सभी पक्षों पर विस्तार से विचार किया है। काव्य, मूर्त्ति एवं संगीत कला को उनके द्वारा रसानुभव के प्रमुख साधन के रूप में उल्लिखित किया गया है। *नाट्यशास्त्र* के 28-32 अध्यायों में संगीत कला का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। सप्त स्वर विधान एवं उनसे सम्बद्ध रसादि का विशिष्ट उल्लेख भी इस शास्त्र में किया गया है।

वैसे संगीत का ऐतिहासिक क्रम ऋग्वेदादि से आरम्भ हो जाता है। वेदों के मन्त्र का स्वरबद्ध पाठ एवं विभिन्न शाखाओं की उपस्थिति (आश्वालायनादि) इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि साहित्य एवं संगीत का सम्बन्ध वेदादि से ही है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में 'सामन्' शब्द का उल्लेख है।[1] *यजुर्वेद* में वैराज[2] वृहत रथन्तर[3] एवं अन्य बहुत से[4] सामनों का उल्लेख मिलता है। *ऋग्वेद* में विविध वाद्य यन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे दुन्दुभि, वीणा, कर्करी, क्षोणी आदि[5] अतः स्पष्ट होता है कि संगीत का आरम्भ ऋग्वेदादि से ही है। सामवेद तो पृथक् रूप से संगीतशास्त्र की व्याख्या करने वाला स्वतन्त्र ग्रन्थ है। सामवेद के उपवेद को गान्धर्ववेद के रूप में जाना जाता है। ऋग्वेद में गान के लिए तीन स्वरों का विधान है जिसे सामवेद में सात स्वरों में निबद्ध किया गया। तीन स्वरों में उदात्त, अनुदात्त स्वरित हैं। पाणिनीय-शिक्षा के अनुसार सात स्वरों का विकास हुआ। उनके मतानुसार निषाद और गान्धार उदात्त पर ऋषभ और धैवत अनुदात्त पर एवं षड्ज मध्यम तथा पंचम स्वरित पर आधारित है।[6] (उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवतौ। स्वरितप्रभवा होते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥) ब्राह्मणोपनिषद् आदि ग्रन्थों में संगीतादि शास्त्रों का पर्याप्त विवरण है। पाणिनिकालीन आचार्य नन्दिकेश्वर ने भी संगीत का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आचार्य नन्दिकेश्वर ने संगीत के सात स्वरों[7] के अतिरिक्त शुद्ध स्वर एवं विकृत स्वर के भेद का भी अपने ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है। उन्होंने स्वरों का प्रतिपादन श्रुति व्यवस्था के आधार पर

---

*विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है। नन्दिकेश्वर ने माहेश्वर सूत्रों में प्रथम चार सूत्रों की व्याख्या स्वर एवं ताल के दृष्टिकोण के आधार पर की ही है। प्रथम सूत्र (अ इ उ ण्) में अ, इ, उ में तीन लघु स्वर हैं। इनका उच्चारण काल सांगीतिक समय की एक इकाई है। इन्हीं को क्रमशः षड्ज, ऋषभ एवं गान्धार कहते हैं।[8] इसी प्रकार तृतीय सूत्र (ए ओ ङ) में ए, ओ, ये दो दीर्घ स्वर हैं, इनका उच्चारण काल सांगीतिक समय की दो इकाईयाँ हैं। इन्हें ही क्रमशः मध्यम एवं पंचम कहते हैं।[9] इसी प्रकार चतुर्थ सूत्र (ऐ औ च्) में ऐ, औ ये दोनों अतिदीर्घ स्वर हैं। इनका उच्चारण-काल सांगीतिक समय की तीन इकाइयाँ। इन्हें क्रमशः धैवत एवं निषाद कहा जाता है।[10]

इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने माहेश्वर सूत्रों के आधार पर सांगीतिक स्वरों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार मूलतः तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित। इनमें उच्चत्व के कारण चतुःश्रुति स्वर को उदात्त, नीचैस्त्व के कारण द्विश्रुति स्वर अनुदात्त तथा मध्यवर्ती होने के कारण त्रिश्रुति स्वरित कहलाते हैं।[11] आचार्य भरतमुनि एवं *नाट्यशास्त्र* के टीकाकार अभिनवगुप्त ने संगीत के अन्य कई संगीताचार्यों का उल्लेख किया है उनमें नारद, दत्तिल, कश्यप, शार्दुल आदि हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने *अभिनवभारती* में शैव दार्शनिक उत्पलाचार्य का भी उल्लेख किया है[12] जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि उत्पलाचार्य ने *नाट्यशास्त्र* के कुछ अध्यायों पर टीका अवश्य लिखी होगी। संगीताचार्यों की इस परम्परा में अभिनवगुप्त पादाचार्य बहुत बड़े संगीतकार माने गए हैं। अभिनव गुप्त पादाचार्य बहुत बड़े संगीतज्ञ माने गए हैं। अभिनव गुप्त ने सांगीतिक तत्त्वों का वर्णन ही नहीं किया अपितु संगीत के दार्शनिक एवं रसात्मक स्वरूप का भी विशदता से विश्लेषण किया है। तन्त्रालोक के दसवें आह्निक में 16 कलाओं को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने स्वरों का व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से विवेचन किया है एवं संगीत का भावों एवं रसों से स्पष्टतः सम्बन्ध व्यक्त किया है। स्वर के सम्बन्धों में उनका मत इस प्रकार है—

> कलाओं की जब अनुत्तरीय अकार इत्यादि परामर्श द्वारा केवल आनन्दमयी चित्तवृत्ति को अभिव्यक्त करने की भूमिका होती है तब वे स्वर कहलाती हैं। अर्थात् अकार इत्यादि परामर्श जब तक बाहरी ध्वनि रूप पर न पहुँच आन्तरिक परामर्श के रूप में वर्तमान हों तब तक कला कहलाते हैं। जब बाहरी ध्वनियों का रूप धारण करके मन की आनन्दात्मिका वृत्ति को अभिव्यक्त करने लगते हैं तब स्वर कहलाते हैं।[13]

यह मत कला के आध्यात्मिक स्वरूप को व्यक्त करता है। साथ ही संगीत के दार्शनिक महत्त्व एवं उसकी सृष्टि का प्रकाशन करता है। कला से स्वर का क्रम परमशिव की विमर्शशक्ति का परिचायक है। जिसका सम्बन्ध कलाकार/परमशिव आदि से है। दूसरा क्रम स्वर से कला का है जो निमेष, लय, विश्रान्ति को व्यक्त करता है जिसका सम्बन्ध सहृदय प्रमाता से है। स्वर संधान से वह परमशिवमयता को प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ता है। अतः इससे कला एवं संगीत का स्वरूप तो स्पष्ट रूप से परमानन्दमय एवं शान्त रूप में परिलक्षित होता है। *परात्रिंशिका*[14] में स्वर की व्युत्पत्ति इस प्रकार गई है।

1. स्वरयन्ति–शब्दयन्ति सूचयन्ति चित्तम्
2. स्वं च स्वरूपम्–आत्मानं, रान्ति–एवं पर प्रमातरि सङ्क्रामयन्तो ददति
3. स्वं च–आत्मीयं कादियोनिरूपमं, रान्ति–बहिः प्रकाशयन्तो ददति इति रा:।

अर्थात्–स्वर स्वरता या शब्दन का आचरण करते हैं अर्थात् आह्लादमयी वृत्ति परिपूर्ण चित्त को सूचित करते हैं। संहारदशा में अपने स्वरूप का पर प्रमाता में क्रान्त करते हुए, अपना सर्वस्व उसी को देते हैं अर्थात् पूर्णरूप से अनुत्तर पद में लीन हो जाते हैं। प्रसार दशा में अपने स्वरूप से बिलकुल अभिन्न 'ककार' इत्यादि वर्णों (व्यंजनों) के रूप को प्रकाशित करते हुए देते हैं अर्थात् जगत् को अर्पित ते हैं।

सांगीतिक प्रक्रिया से ही रसों का प्रकाशन होता है ऐसा अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः लेख किया है।

> "मन की आनन्दमयी वृत्ति को सूचित करने वाले नादमय, पशु-पक्षियों और एक दो दिन में जन्मे शिशुओं में भी उनके संवित् भाव के निकटवर्ती होने के कारण साङ्केतिकता जैसी बाधाओं की अपेक्षा के बिना मौलिक अनुत्तर पद से ही सीधा अवतरित होते हुए और काकु इत्यादि रूपों को धारण करने वाले ये स्वर ही अपने विशुद्ध स्वर रूप में या व्यंजनों में अनुप्रविष्ट होकर, करुण, शृंगार और शान्त इत्यादि रसों के रूप वाली चित्तवृत्ति को क्रमशः रोने-कलपने, चाटुकारिता और स्तुति इत्यादि रूपों में प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार के प्रयोजन को सिद्ध करने के गणवाले होने से इनको उदात्त इत्यादि नाम दिए गए हैं क्योंकि ये उदात्त अनुदात्त और स्वरित ही चित्तवृत्तियों का अनुभव कराने वाले षड्ज आदि स्वरों का मौलिक स्वरूप हैं।[15]

इसी प्रकार टिप्पणी करते हुए *परात्रिंशिका* के व्याख्याकार नीलकंठ गुरूटू द्वारा कहा गया है कि

> "प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने वाले विवेकी व्यक्तियों ने मानवेतर प्राणियों की विभिन्न बोलियों में भी षड्ज इत्यादि स्वरों की वर्तमानता का पता लगाया है। ये प्राणी भी इन्हीं षड्ज स्वरों के रूप वाली बोलिय़ों में अपने मन की आह्लादमयी वृत्ति को अभिव्यक्त करते हैं।[16]

उपर्युक्त विवरण से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का प्रकटन होता है।

1. संगीत आनन्दात्मक होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. संगीत परासंवित् का आभासन एवं अनुत्तरस्वरूप है।
3. संगीत शृंगार, करुण एवं शान्त रस को प्रकाशित करता है।
4. षड्जादि स्वरों का आधार उदात्तानुदात्त स्वरित है।

इन सबके अतिरिक्त अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने अन्य सभी ग्रन्थों में संगीत विषयक वर्णन प्रस्तुत किया है। नाट्यशास्त्र के 29, 30, 31 एवं 32वें अध्यायों (संगीताध्याय) पर विस्तृत टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त *तन्त्रालोक* में भी स्थान-स्थान पर संगीत विषयक चर्चा की गई है।

अभिनवगुप्त से एक ऐसा काल शुरू हो गया जिसमें संगीत को केन्द्र में रखकर ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इनमें *संगीतरत्नाकर, संगीतसुधाकर, संगीतदामोदर* का प्रमुख स्थान है। *संगीतरत्नाकर* को संगीतशास्त्र का प्रधान सैद्धान्तिक ग्रन्थ माना जाता है। इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर संगीतशास्त्र में समस्त नियमों का निर्धारण किया गया। इस ग्रन्थ पर कई टीका ग्रन्थ भी लिखे गए। इसमें संगीत एवं रसों के सम्बन्ध पर विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसके लेखक आचार्य शार्ङ्गदेव ने इसमें शान्त रस सहित नौ रसों[17] का उल्लेख किया है। इसमें शृंगार हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत एवं शान्त रस हैं। शार्ङ्गदेव ने रसोपादानभूत नौ स्थायिभावों का भी उल्लेख किया है।[18] *संगीतरत्नाकर* में विभिन्न रसों की व्याख्या के साथ विशिष्ट रसोद्भावन हेतु रागविशेष का विधान भी किया गया है। इसे संगीत का वृहद कोश कहा जा सकता है।

संगीतरत्नाकर पर लगभग सात टीका ग्रन्थ भी लिखे गए जिनमें चार उपलब्ध हैं इनमें 1. सिंहभूपालकृत *संगीतसुधाकर* 2. कल्लिनाथ कृत *कलानिधि,* केशव विरचित *कौस्तुभ* टीका एवं गंगाराम की *सेतु नामक टीका* प्रमुख हैं। इसका उल्लेख कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने स्वतन्त्रकलाशास्त्र भाग-1[19] में किया है।

उपर्युक्त इन सभी ग्रन्थों में भी संगीत के सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त राग एवं शृंगारादि रसों के साथ उनके सम्बन्ध पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। सभी ग्रन्थों में रसों की संख्या, रसानुभव की प्रक्रिया एवं रसांगों का विशदता से विवेचन किया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि काव्यादि कलाओं की ही भाँति संगीत का भी प्रमुख उद्देश्य सहृदय सामाजिक को रसानुभूति कराना है। इस प्रक्रिया में स्वर-विशेष एवं राग-विशेष शृंगारादि विशिष्ट रस का बोध कराने वाले आधार हैं।

प्रसंगानुकूल शान्त रस का भी संगीतशास्त्रीय ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। शान्त रस का सम्बन्ध पूर्णतः अध्यात्म से है और "संगीत कला के आध्यात्मिक महत्त्व को स्वीकृति प्रारम्भिक ग्रन्थों से मिलती रही है। छान्दोग्योपनिषद् में उद्गीथोपासना की विधि[20] का उल्लेख किया गया है। इस विधि के अनुसार उद्गीथ अर्थात् ओम् अथवा सामवेद के दूसरे भाग का वीणावादन[21] के साथ गान करते हुए ब्रह्म के चिन्तन करने का उपदेश है। *रत्नप्रभा* जैसे प्रामाणिक भाष्य में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिपादित किया गया कि उद्गीथ परब्रह्म के साक्षात्कार का साधन है। याज्ञवल्क्य तो स्पष्टतः उल्लेख किया है कि संगीतकला परममोक्ष की साधिका है। उनके अनुसार–

"वह व्यक्ति जो वीणा बजाने का रहस्य जानता है वह बिना कठिन साधना के मोक्ष पथ को पा लेता है। और वह व्यक्ति जो संगीतकला में अपने ध्यान को केन्द्रित करता है यदि चरम मोक्ष पाने में असफल हो जाय तो वह रुद्र का अनुगामी होकर उनके साथ अनेक सुखों का भोग करता है।"[22]

वीणावादनतत्त्वश्रः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्ग नियच्छति ॥[23]

आचार्य शारदातनय ने *भावप्रकाशन* में संगीत का उल्लेख करते हुए नाटक में गीत एवं वाद्य की अनिवार्यता को उपस्थापित किया है।[24] नृत्तादि के वर्णन में भावप्रकाशनकार द्वारा गेय (संगीत) को अभिनय का प्राण बताया है एवं धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का साध्य स्वीकार किया है[25] *'संगीतचूड़ामणि'* में कहा गया है कि तप, ध्यान आदि समस्त साधनों की अपेक्षा गीत ही अनन्त फल देने वाला है। और मुक्ति दायक है।[26]

संगीतरनात्कर में भी शार्ङ्गदेव ने गीत के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उसे मोक्ष का साधक माना है।[27]

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने भी *परात्रिंशिका, विज्ञानभैरव, तन्त्रालोक* आदि में संगीत के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप का प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पृष्ठभूमि में अच्छी तरह से वर्णन किया है।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि लोक से ही शास्त्र का निर्माण होता है। इस परम्परा से जितने भी कलागत एवं शास्त्रगत सिद्धान्त हैं सबका उद्देश्य लोक हित है। भरतमुनि ने *नाट्यशास्त्र* में नाट्यादि का उद्देश्य भी लोकरंजन ही बताया है।

दुखार्तानां श्रमार्तानाम् शाकार्तानां तपस्विनाम्
विश्रान्ति जननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥[28]

उपर्युक्त श्लोक में स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि नाट्यादि कलाओं का उद्देश्य लोक हित है। अतः संगीतशास्त्र में स्वर एवं स्वर सम्बद्ध रागों का विवेचन भी लोकानुसार परिस्थिति सापेक्ष होता है। अर्थात् स्वर का विधान अनुकूल परिस्थिति हेतु होता है। न कि परिस्थितियाँ स्वरानुकूल होती हैं। इसी आधार पर रसविशेष हेतु विशिष्ट स्वर संयोजन का विधान है जिसे राग की संज्ञा दी जाती है। सामान्यतः यह मान्यता है कि राग में भाव प्रकाशन की शक्ति सीमित होती है इसलिए उसे शब्दों का सहयोग अपेक्षित होता है। यह स्थिति साधारण प्रमातृ दशा में आवश्यक होती है। साधारण प्रमाताओं के लिए लौकिक अर्थ व घटना की समाप्ति के उपरान्त एक प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छूटता है। वही संगीत की अनुभूति है। किन्तु अलौकिक भावदशा में किसी प्रकार के अर्थ एवं शब्द की पूर्णतः भावहीनता रहती है। इस दशा में एकमात्र नादरूप ध्वनि का भाव होता है, जिसका सम्बन्ध परमानन्द स्वरूपावस्थिति से ही होता है। प्रमाता का स्वरूप शून्यतायुक्त अनाहतनादमय हो जाता है। यही अवस्था शान्त स्वरूपा है।

संगीत में नाद का बड़ा महत्त्व होता है। नाद दो प्रकार का माना गया है। 1. अनाहत नाद, 2. आहत नाद। अनाहत नाद अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसकी साधना अत्यन्त कठिन होती है और इसके लिए गहन अवधान अपेक्षित होता है। आहत नाद का सम्बन्ध संगीत से है। यह लोकरंजन एवं भवभंजन दोनों ही गुणों में सम्पन्न है। आहत नाद की सिद्धि भी सम्भव है।

नाद के द्वारा शास्त्रों में परमावस्था एवं ब्रह्म की सिद्धि का उल्लेख किया गया है।[29] नाद की साधना से सत्, चित् एवं आनन्द की प्राप्ति सम्भव है क्योंकि सच्चिदानन्द का स्वयं का स्वरूप भी नादरूप है। इसीलिए नाद को नादब्रह्म भी कहा जाता है। इस प्रकार नाद के द्वारा आत्मानुसंधान एवं आत्म तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है जिसे मोक्ष कहा जाता है। अतः संगीत के द्वारा यदि मोक्ष प्राप्ति सम्भव है तो संगीत द्वारा प्राप्त अनुभूति भी शान्त रस ही होगी क्योंकि कलानुभव में शान्त रस को ही मोक्ष साधक रस कहा गया है।

सामान्य श्रोता प्रायः आनन्दानुभूति के काल में किसी घटना का स्वयं पर आरोपण कर घटना से प्राप्त सुख एवं दुःख को देखकर रस की अनुभूति करते हैं यह अनुभूति सुख दुःखात्मक होती है। किन्तु अनुभूति काल की चरम अवस्था में किंचित् मात्र सुख-दुःख का अभाव होता है एवं आत्मपरामर्शयुक्ता परमानन्दमय सर्वविकारशून्या होती है। अतः कलानुभव द्वारा पूर्णानन्द की प्राप्ति हेतु यह भी आवश्यक है कि उपयुक्त अधिकारी हो जिसका उल्लेख अभिनवगुप्तपादाचार्य ने *ध्वन्यालोकलोचन* एवं *अभिनवभारती* में विस्तार से किया है। कलानुभव के लिए कलाकार/कवि/संगीतकार के लिए भी भावों को सम्यक् प्रकार से व्यक्त करने की सामर्थ्य का होना अनिवार्य है, जिसे वे कविता, मूर्त्ति एवं रागाधारित संगीत द्वारा सहृदय प्रमाता तक पहुँचाता है।

जो सहृदय प्रमाता के चित्त को आनन्द से भर दे ऐसे स्वर समूह को एक साथ गाने बजाने पर जो स्वर व्यवस्था प्रस्तुत होती हो उसे राग की संज्ञा दी गई है। राग प्रभाव राग में प्रयुक्त स्वर व्यवस्था के निश्चित सन्तुलन पर निर्भर करता है। संगीत का उद्देश्य जीवन की विश्रृंखलताओं की पुनरावृत्ति करना नहीं है वरन् शरीर और आत्मा के कुछ विशिष्ट मनोरागों का प्रकट करना और उन्हें प्रकृति और पुरुष में जागृत करना है। रागों के इस आकर्षक, चमत्कारी एवं ऋतुचक्र तथा दैनन्दिन जीव के लयात्मक संस्कार से उनका सम्बन्ध होने के कारण ही उनकी स्पष्ट रूपरेखा किसी स्वर परिवर्तन के द्वारा धूमिल नहीं की जानी चाहिए। स्वरों के माध्यम से की गई सृष्टि को इंगित करते हुए *राग रस एवं बहाने* नामक पुस्तक में उल्लेख किया गया है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ह मुख्यतः अवैयक्तिक है। यह एक ऐसे भावजगत् और अनुभव को अभिव्यक्त ...ता है, जो व्यक्तिगत मनोभाव अथवा बुद्धिगम्यता से कहीं अधिक गूढ़, विस्तृत ...र पुरातन है। इसकी व्यथाअश्रुरहित है और इसका उल्लास भी हर्षोन्मत्तताविहीन ...। रागात्मक होते हुए भी प्रशान्तता का अभाव नहीं है। गूढ़तम अर्थ में यह पूर्णतया ...नवीय है। राग का अन्तिम लक्ष्य परमानन्द की प्राप्ति या निःश्रेयस हो जाना ही है। ...र कलानुभूति में इसी को शान्त रस कहा गया है।

...दर्भ

1. *ऋग्वेद* 10/90/9
2. *यजुर्वेद* 18/29
3. वही, 15/13
4. वही, 13/54-58
5. *ऋग्वेद* 6/47 29/31
6. *स्वतन्त्र कलाशास्त्र* (भाग-1) पृ. 536, *सिद्धान्तकौमुदी*, 643
7. सप्तैव ते स्वराः प्रोक्तास्तेषु ऋतु नपुंसकौ। *रूद्रडमरूद्भवसत विवरण*, 24
8. अ इ उ ण् सरिगाः स्मृताः। रुद्रडमरूद्भव विवरण, 26
9. ए ओ ड, म पौ... वही, 26
10. धनी ऐ औ च्, वही, 27
11. उदात्ते निषाद् गान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
    स्वरित प्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥ *रुद्रडमरूद्भवसूत्र विवरण*, 28-29
12. अभिनवभारती, 32/6-7
13. तदेवम एताः कला एव ह्लादतामात्र—चित्तवृत्ति-अनुभावकाः स्वराः इत्युक्ताः *श्री श्री परात्रिंशिका*, पृ. 32
14. *श्री श्री परात्रिंशिका*, पृ. 321
15. एव एव हि चित्तवृत्तिसूचकाः नादात्मकाः करुण-शृंगार शान्तादिकां चित्तवृत्तिम् आक्रन्दन चाटुक-स्तुत्यादौ केवला वा योनिवर्ण निविष्टा वा, तिर्यक्तदहसर्जातादिष्वपि प्रथमत एवापतन्तः संकेत विघ्नादिनरपेक्ष्येणैव· संविदा सन्नवर्त्तित्वात् स्वर-काक्वादिरूपाताम् अश्नुवानाः प्रकाायन्ति इत्यर्थ धर्मा उदात्तादय उपदिष्टाः तेषामे व चित्त वृत्यनुभावक षड्जादिस्वरूपत्वात्। *श्री श्री परात्रिशिंका*, पृ. 322
16. षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नन्दन्ति चर्षभम्।
    आजीविकौ तु गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम् ॥
    पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्।
    अश्वस्तु धैवत इति निषादं रौति कुञ्जरः। *श्री श्री परात्रिंशिका*, पृ. 322
17. शृंगारहास्यौ करुणो रौद्रो, वीरो भयानकः।
    वीभत्साश्चाद्भुतः शान्तो नवधेति रसो मतः ॥ *संगीत रत्नाकर*, 7/358-59

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

18. रतिहासशुचः क्रोधौत्साहौ भयजुगुप्सते।
विस्मयश्चाथ निर्वेदः स्थायिभावं नवेत्यमी। *संगीत रत्नाकर 7/1362, 63*
19. *स्वतन्त्रकलाशास्त्र* (भाग-1), पृ. 561
20. *छान्दोग्योपनिषद्,* 1/1/1
21. वही, 1/7/6
22. *स्वतन्त्रकलाशास्त्र* (भाग-1) पृ. 573
23. *याज्ञवल्क्य स्मृति,* 3/115
24. नृतं गीतञ्च वाद्यञ्च नाटकाद्युपकारकम्। *भावप्रकाशन 7/15*
25. गेयं प्राणाः प्रयोगस्य सर्वं वा गेयमुच्यते ॥
गेयसाध्यं हि धर्मार्थकाममोक्षचतुष्टयम् ॥ 7/16-17
26. योगध्यानादिकं यस्मात् सर्वलोकानुरञ्जनम्।
तस्मादनन्दफलदं गीतं स्याद् भुक्ति मुक्तिदम् ॥ *भारतीय संगीत का सौन्दर्य विधान,* पृ. 66
27. तस्य गीतस्य महात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
धर्मार्थकाममोक्षाणादिमेवैक साधनम्। *संगीतरत्नाकर,* 1/130
28. *नाट्यशास्त्र* (भाग-1), पृ. 573
29. परावाक् पर्यायस्य ब्रह्मशक्तेर्नादस्यब्राह्मणोऽत्यन्त प्रत्यासन्नत्वात्तदु पासनायां कृतायां ब्रह्मप्राप्तिमणिप्रभा प्रवृत्तस्य मणिलाभद्भवेदिति। तथा चोक्तम्।
अतोगीतप्रपञ्चस्य श्रुत्यादेस्तत्वदर्शनात्। अपि स्यात्सच्चिदानन्दरुपिणः परमात्मनः ॥
प्राप्तिः प्रभा प्रवृत्तस्य मणि लाभो यथा भवेत्। प्रत्यासन्नतयाऽत्यन्तम्। *संगीतरत्नाकर,* (भाग-1) स्वरगताध्याय, तृतीय प्रकरण, पृ. 63

संदर्भ-ग्रंथ

अभिनवगुप्त, *परित्रिंशिका,* व्या. आचार्य श्रीकृष्णानन्दसागर, बंस फाटक, 1987

अभिनवगुप्त, *तन्त्रालोक (विवेक टीका)* तृतीय भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1996

अभिनवगुप्त, *तन्त्रालोक (विवेक टीका)* चतुर्थ भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1996

अभिनवगुप्त, *तन्त्रालोक (विवेक टीका)* पंचम भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1998

अभिनवगुप्त, *तन्त्रालोक (विवेक टीका)* षष्ठ भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1998

अभिनवगुप्त, *तन्त्रालोक (विवेक टीका)* सप्तम व अष्टम भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1999

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिनवगुप्त, *हिन्दी अभिनव भारती,* सं. नगेन्द्र, व्या. आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1973

अभिनवगुप्त, *श्री श्री परात्रिंशिका,* व्या. नीलकण्ठ गुरुटू, दिल्ली, मोतीलाल व बनारसीदास, 1985

अभिनवगुप्त, *विज्ञानभैरव,* व्या. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 2004

पाण्डेय, कान्तिचन्द्र, *स्वतन्त्र कलाशास्त्र,* वाराणसी, चौखम्बा प्रकाशन, 1967

भटनागर, मधुलता, *भारतीय संगीत का सौन्दर्य विधान,* नई दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 1995

भरत, *नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती टीका, चार भाग)* सं. पारसनाथ द्विवेदी, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द द्विवेदी विश्वविद्यालय

वामन, *काव्यालंकारसूत्रवृत्ति,* वाराणसी, चौखम्भा अमर भारती, प्रकाशन, 1977

शुभङ्कर, *संगीतदामोदर,* अनु. हरिराम आचार्य, जयपुर पब्लिकेशन, स्कीम, जयपुर 1998

Masson and Patwardhan, *Santa rasa : Abhinava's Philosophy and Aesthetics,* Poona, Bhandarkar oriental Research Institute, 1975.

Pandey, K.C., *Abhinavagupta: An Historical and Philosophical Study,* Varanasi, Chaukhambha, 1963.

Pandey, K.C., *Comparative Aesthetics,* Varanasi, Chaukhambha Sanskrit Series, 1968.

Raghavan, V. *Number of Rasas,* Madras, The Adyar library and Research centre, 1975

Raghavan, *V. Studies on Some Concepts of the Alamkarashastra,* Madras, The Adyar library and Research center, 2009

कलातत्त्व कोश, सं. कपिला वात्स्यायन, नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास

नाट्यशास्त्रा विश्वकोश, राधावल्लभ त्रिपाठी, दिल्ली, प्रतिभा प्रकाशन, 1999

साहित्यदर्पण कोश, रमणकुमार शर्मा, दिल्ली, विधनिधि प्रकाशन, 2001

साहित्याशास्त्रा कोश, राजवंश सहाय 'हीरा' पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 2003

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता के स्वप्न और संघर्ष की पहचान*

मृत्युंजय उपाध्याय**

कल्पना का व्योम अनन्त है। व्यापक और विस्तृत। वहाँ हमारी कामनाओं, ऐषणाओं को अभिव्यक्ति का फलक मिलना है। टी. एस. इलियट ने 'द स्काई लार्क' में कहा है कि पक्षी उड़ता रहे अनन्त में, नापता रहे आकाश का ओर-छोर पर उसे जमीन पर आना ही पड़ता है। उस कठोर और कुरूप धरती पर उतरना पड़ता है। जहाँ से उसने उड़ना सीखा है। कल्पनाकाश तभी तक महफूज है जब तक यथार्थ की कटुता का बोध नहीं होता। कविता का प्रारम्भ स्वप्न से ही होता है। स्वप्न ही उसकी सम्भावनाओं को जगाता है। क्रियान्वित करता है और स्वप्न का सीधा सम्बन्ध यथार्थ से होता है। दिन-प्रति-दिन का नाता समस्याओं से होता है। यथार्थ कठोर, कुरूप और असह्य लगता है, तो स्वप्न कुछ क्षण के लिए सुखद और प्रेरक लगता है। अतएव यह कहना सही है कि स्वप्न हमारे यथार्थ की ही उपज है और उसे सहेजा, सहलाया जाए तो हमारा अभीष्ट सिद्ध हो सकता है।

लेखकानुसार प्रत्येक कविता का जो प्रयोजन, लक्ष्य और ध्येय है वही कविता का स्वप्न है और इसी की सिद्धि के लिए कवि और कविता को संघर्ष करना पड़ता है। कविता मनुष्य के स्वप्नों को जमीन पर उतारती है और मनुष्य की अप्रतिहत शक्ति को धार देती है। मनुष्य को मनुष्य बनाती है। कविता के इस स्वप्न और संघर्ष को हर युग में देखा जा सकता है। इस अर्थ में लेखक ने विद्यापति, सूर, तुलसी, कबीर, सन्तकविगण, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नरेश मेहता, हजारी

*. हिन्दी कविता स्वप्न और संघर्ष, लेखक डॉ. रामसजन पांडेय, प्रथम संस्करण 2011, गौरव बुक्स, के- 4/19, गली न. 5, वैस्ट घौंडा, विश्वास नगर, दिल्ली 110053, डिमाई, पृष्ठ 200, मूल्य अस्सी रुपये (सजिल्द)

** प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, वृन्दावन, मनोरम नगर, एल. सी. रोड, धनबाद 826001, झारखंड मो. 09334088307

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाद द्विवेदी, उदयभानु हंस, राधेश्याम शुक्ल, स्वतन्त्रयोत्तर आख्यान-मूलक काव्य में
त विमर्श आदि पर विचार किया है।

लेखक विद्यापति को 'सामाजिक यथार्थ का कवि' मानते हैं। उनकी मान्यता
:

"सामाजिक अवस्था का, सामाजिक सम्बन्धों का, नारी की दशा का, माँ की
ता का, सब मिलकर स्त्री-विमर्श का कैसा अद्भुत दृश्य-दशा हंस में वर्तमान
" (पृष्ठ 9)

इतना ही नहीं साम्प्रदायिकता, राजनीतिक संरक्षण के उन्माद, मनुष्य के
ानवीय व्यवहार पर भी उन्होंने विचार किया है। बेमेल विवाह का दारुण स्थिति
प्रहार है :

पिया मोर बालक हम तरुणी गे।
कौन तप चुकलौंऽ भैलौंऽ जननी गे।

इतना ही नहीं लड़की बाप का शोषण करने से बाज नहीं आती। वह जमाई से
खाने के लिए गाय भिजवाने का आग्रह करती है। यहाँ बालक जमाय पर
याघात है :

कहिहुन बबा के किनए धेनू गाइ।
दुधवा पिवाइके पोसता जमाइ ॥ (यहाँ पृ. 53)

लेखकानुसार विद्यापति विराट जीवन की देशव्यापी और कालव्यापी चेतनाओं
का अंकन कर अपने सामाजिक सरोकारों का सम्यक् चित्रण करते हैं।

सन्त साहित्य (कबीर, रैदास, दादू, दरिया, धन्ना, पीपा, सहजो, पलटू, सुन्दर)
आत्मोत्थान द्वारा-बह्मैक्य चाहता है पर जिस समाज में वह रहता है, उसके आस-पास
जो लोग हैं, उसके उत्थान का भी प्रयासी है। जिस प्रकार घर के कलश की उपेक्षा कर
मन्दिर में कलश स्थापना नहीं हो सकती, उसी प्रकार अपने समाज के एक-एक व्यक्ति
के जगे, सहृदय हुए बिना—ब्रह्मोपासना नहीं हो सकती। इसके लिए कबीर ने एक ही
मन्त्र दिया :

कबिरा सोई पीर है, जो जानइ पर पीर।
जो पर पीर न जानइ, सो काफिर बेपीर।

नरसी, मेहता, तुलसीदास आदि सन्तों ने इसी पर बल दिया :
वैष्णव जन तो ते ने कहिए जो पीर पराई जानी रे। सभी सन्तों ने 'प्रेम' को
करुणा, सद्भाव मनुष्यता का नियामक और अनिवार्य तत्त्व माना जाता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरहा विरहा मन कहौ, विरहा है सुलतान।
जा घट विरह न संचरै, ता घट जान मसान॥

—कबीरदास

रामहिं केवल प्रेम पियारा।
जानि लेहू जेहि जान निहारा॥

—गोस्वामी तुलसीदास

इसी प्रेम के व्यापक सरोकार को व्यक्त करने के लिए जाति-पाँति का विरोध हुआ, धर्म के बाह्याडम्बर (पूजा-नमाज, राम-रहीम, केशव-करीमा का खण्डन हुआ और ध्यान दिया गया कि मनुष्य की खोज हो। पहले वह मनुष्य बने, मानवता के गुणों से पूर्ण। तभी कोई संकल्प पूरा हो सकता है। नर के नरत्व का जयघोष और नर के नारायण की खोज ही सच्चा सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठान है। सामाजिकता का उन्मेष भी। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' सामाजिक चेतना के प्रखर कवि हैं जो भारत की दीनहीन सामाजिक व्यवस्था का अनावरण करते हैं और जनजागरण अभियान चलाते है :

अपने को कर लिया मनुष्य ने
निगड-अन्ध-विश्वास-बद्धपग,
तो फिर, मगनशील होकर भी
कहो, क्यों न बन जाए यह अग। (यहाँ पृ. 49)

शोषण, अत्याचार, गरीबी, भूखमरी, कुरीति आदि के विरुद्ध इन्होंने आवाज उठाई और मनुष्य की सामाजिक-सांस्कृतिक राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रतिबद्ध रहे। लेखक का मानना है :

"मनुष्य या समाज का संस्कार या विस्तार उनके जीवन और उनके कृतित्व का संकल्प था।" (पृ. 65)

उनकी पंक्तियाँ उनका प्रबल साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं :

करो सृजन अभिनव जगती का
नव-नव सामाजिक संहति का
मानव हो विमुक्त, ऐसा हो
शुद्ध प्रयोग तुम्हारी मति का। *(यहाँ पृ. 65)*

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कविताओं की अन्तर्यात्रा करते हुए लेखक उनके अखण्ड देश-प्रेम, सामाजिक प्रतिबद्धता, भाषा के प्रति समर्पणशीलता आदि का व्यापक वितान तानते हैं :

"आचार्य शुक्ल के मन में देश की एकता, अखण्डता, सुख-समृद्धि तथा प्रकृति के प्रति ही अतुलित प्रेम नहीं था वरन् वे भाषा के भी अनन्य प्रेमी साधक थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रभाषा हिन्दी के तो वे सिद्ध-समर्पित सर्जक थे। उसी के उत्कर्ष प्रचार तथा प्रसार से अपने को गौरवान्वित करने की भी वे बात करते हैं।'' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की काव्य-यात्रा, पृ. 84)

आचार्य शुक्ल ने हृदय की जिस मुक्तावस्था को 'रसदशा' कहा है, उसके लिए हृदय, सामाजिक परदुःखकातर होना नितान्त आवश्यक है तभी रंगमंच के रस का उसमें संचार हो पाएगा। आचार्य भरत नाट्यशास्त्र में 'सामाजिक' का अर्थ इसी संदर्भ में व्यक्त करते हैं।

उत्तर आधुनिकता, बाजारवाद, विखंडनवाद, वैश्वीकरण की चर्चा आज हो रही परन्तु हजारी प्रसाद द्विवेदी विज्ञापनी संस्कृति पर पहले ही प्रहार कर चुके हैं :

सारी उमर लेखक ने की ज्योतिष की पढ़ाई,
पर बम्बई वाले ने फतह कर ली लड़ाई।
शुभलाभ, मेष, वृष-मिथुन-फल सब का हाँकता,
साहित्य का सेवक भी मगर है धूल फाँकता। (पृ.93)

नरेश मेहता 'संशय की एक रात', 'महाप्रस्थान', 'प्रवादपर्व', 'शबरी', 'प्रार्थना-पुरुष' आदि में राजनीति के स्वरूप, दायित्व, यथार्थ आदि पर विरमते हैं। उनके मतानुसार 'Every thing is fair in love and war ' कहावत भले ही प्रचलित हो परन्तु राजनीति का सरोकार सदा नकारात्मक और स्वार्थ प्रेरित नहीं है उसका सकारात्मक और सुन्दर पक्ष होता है लोक में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की प्रतिष्ठा करना यह तभी सम्भव है जब राज्य, न्याय, और राष्ट्र व्यक्तियों और सम्बन्धों से ऊपर हो। न्याय राष्ट्र के अधीन न हो :

राज्य न्याय और राष्ट्र
व्यक्तियों तथा सम्बन्धों से ऊपर होना चाहिए। (यहाँ पृ. 114)

नरेश मेहता इन बाह्य युद्धों को जीतने के बाद भीतरी युद्ध (विवेक-अविवेक, पुण्य-पाप, करणीय-अकरणीय) जीतने का आह्वान करते हैं। जो होना चाहिए जो वांछनीय, करणीय है, वही स्वप्न है जिसे कभी यथार्थता की कठोरता से जन्मना पड़ता है तो कभी उच्च संस्कार और आदर्श कल्पना में उतारना पड़ता है। वश में जो वस्तु आ गई, जिसे भोग लिया, जीत लिया वह यथार्थ है, जिससे विकर्षण सहज स्वाभाविक है। पर यहीं से प्रारम्भ होती है स्वप्न की यात्रा—

कर स्पर्श से दूर स्वप्न, झलमल नर को भाता है,
छककर जिसको पी न सका, वह जल नर को भाता है।

—उर्वशी : रामधारी सिंह दिनकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक ने स्वतन्त्रता के बाद रचित आख्यान मूलक प्रबन्ध-काव्य में दलित विमर्श की प्राणवन्त अभिव्यक्ति पाई है। कृतियाँ उल्लेखनीय हैं—कर्ण : केदार नाथ प्रभात, शबरी : मायादेवी शर्मा, रश्मिरथी : दिनकर, सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, प्रवाह पर्व और शबरी : नरेश मेहता, भूमिजा : रघुवीर शरण मित्र आदि ऐसी कृतियों में दलितों को उनका सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य मिले उनकी अस्मिता की सही पहचान और कद्र हो—इस पर पूरा ध्यान दिया गया है।

चर्चित कवियों के स्वप्नों, आदर्शों और प्रतिबद्धताओं को किस प्रकार अभिव्यक्ति का आयाम मिला है उन्हें कैसे संघर्षों, यन्त्रणाओं से गुजरना पड़ा है, लेखक ने इसे व्यापक आकाश दिया है। हिन्दी कविता की विकास यात्रा और उसकी उपलब्धियों पर भी प्रकाश पड़ा है। लेखक अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं। भाषा में प्रवाह और आलोचना टर्मिनोलॉजी का सही उपयोग हुआ है। साज-सज्जा, मुद्रण नयनाभिराम है लेखक को साधुवाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरते हुए पत्तों का बयान : आम आदमी का दर्द*

डॉ. कामेश्वर पंकज**

ते हुए पत्तों का बयान' वरिष्ट कवि भोला पंडित 'प्रणयी' का पाँचवाँ काव्य-संग्रह । एक सौ बारह पृष्ठों के इस संग्रह में कुल उनसठ कविताएँ संगृहीत हैं। विभिन्न ों एवं भाव रूपों में ये कविताएँ आम आदमी की पीड़ा, तड़प और कसक को त करती हैं।

कवि पंडित ने अपने संग्रह के शीर्षक में ही अपनी कविताओं के तेवर को हिर कर दिया है। 'पत्ते' आम आदमी की जो परेशानियाँ हैं—यह कविता-संग्रह नका बयान है। जब कवि यह कहता है कि—

बहुत बार
कृत्रिम रोशनियों ने
कुचला है—
मेरी झोंपड़ियों के अंधेरे को।
यह जानते हुए भी कि—
ये आती-जाती चहकती रोशनियाँ
मेरे पास ठहरेंगी नहीं।
इस स्याह रात में।
मुझे तो करना ही होगा इंतज़ार।

(परछाइयाँ, पृ.25)

ये रोशनियाँ जीवन की उम्मीद हैं—व्यक्ति की जिजीविषा। आमआदमी इसी के हारे जीवन बिता देता है। यह उम्मीद ही उसे कभी अकर्मण्य तो कभी संघर्षशील नाती है।

* कृति : कुहरे की वजह से : अरुण कुमार : अभिधा प्रकाशन; रामदयालु नगर, मुज़फ़्फ़रपुर।
** डॉ. कामेश्वर पंकज, दर्शन शाह महाविद्यालय, कटिहार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पत्ते' यदि आम आदमी का प्रतीक है तो 'गिरते हुए' विशेषण उसकी परिपक्वता का संकेत है। वह व्यक्ति जिसने भारत की आज़ादी का संघर्ष देखा है, आज वह किसी टूटे हुए पत्ते की तरह ही है। उसने अपने बचपन की आँखों में विदेशी अत्याचार देखा है, जवानी के दिनों में आज़ाद भारत के सुनहरे सपनों को संजोया है, वह व्यक्ति आज अपने चौथेपन में जब विकसित भारत में 'आम-आदमी' की जगह तलाशता है, तो उसे निराशा मिलती है और 15 अगस्त के दिन वह कह उठता है–

इस बासठ वर्षीय लोक तंत्र में
फटी हुई चादर सीने में चौथापन है आया
लेकिन चादर सीने वाला
खुद भी है बौराया।

(क्या देख रहे ..... अगस्त, पृ.86)

लोकतंत्र के पैरोकार इसमें पैबंद लगाकर थक गए लगते हैं। कवि उसके बयान को कुछ इस तरह दर्ज करता है–

फिर क्यों कट रहे
ये बरगद के पेड़
क्यों गिर रहे ये पत्ते
क्यों लिपट गया
इस बड़े लोकतंत्र के गले में
एक मरा हुआ साँप।

यहाँ 'मरा हुआ साँप' मुहावरा की व्यंजना ढेर सारे अर्थों को खोलती है–भ्रष्ट नेता से लेकर क्षेत्रीय अलगाववादी प्रवृत्ति के तत्त्वों के बीच सारे उपादानों को और कवि का संकेत है।

संग्रह की ऐसी अनेक कविताएँ हैं, जैसे–अस्मिता, अभिधायक, परिवर्तन, ऊपर-ऊपर बहती धार, ख़ून नहीं बनता है, शीर्षक की तरह, पंद्रह अगस्त आदि। इन कविताओं में कवि व्यवस्था के विरुद्ध आम आदमी के पक्ष में खड़ा है। 'ऊपर-ऊपर बहती धार' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

देश की आधी आबादी
दो जून की रोटी को लेकर
आश्वस्त नहीं है।
वास्तव में–
इस देश में सुव्यवस्था की कसौटी
यह न रह गई कि–
यहाँ कितने लोग करोड़पति हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्कि
यहाँ की आम जनता में
भुखमरी कितनी है।

'प्रणयी' जी का रचना संसार बहुत बड़ा है। चार उपन्यास, एक कहानी-संग्रह, कविता-संग्रह, दो खंड काव्य एवं अन्य। इतनी रचनाओं के बाद कोई रचनाकार संप्रेषण एवं शिल्प संयोजन के स्तर पर परिवक्व हो जाता है–प्रणयी जी के साथ भी यही है। 'प्रणयी' जी की प्रायः कविताएँ भाव के स्तर पर जितनी गंभीर है, शिल्प के स्तर पर भी उतनी ही उन्नत है। एक उदाहरण है–'शिवजी का सैलून'। शिव नाम का एक नाई है। इस नाई का चरित्र लेख काव्यात्मक ढंग से इस कविता में है। मेरी नज़र में इस संग्रह की यह सबसे बेहतरीन कविता है। 140 पंक्तियों की यह कविता संकुल और प्रवाह में बेजोड़ है। इतिवृत्तात्मक ढंग से अंत होती हुई अंत में कुछ शिथिल हो गई है–शायद इसलिए कि कविता पर विज़न हावी हो गया है।

संग्रह की अन्य कई कविताओं के अतिरिक्त दो कविताएँ अधिक धारदार हैं। वे कविताएँ हैं–'गिरते हुए पत्तों का बयान' और 'गिरते हुए पत्तों का आख़िरी बयान'। ये दोनों ही कविताएँ आज की व्यवस्था के सीधे सवाल करती हैं। पहली कविता पूछती है–

और आज
न्याय की तुला पर
उँगलियाँ क्यों उठ रहीं?
क्यों बच जाते हैं
आपकी पारदर्शी दृष्टि से
बड़ा-बड़ा शेर, अजगर।

(गिरते हुए पत्ते का बयान, पृ. 15)

दूसरी कविता में यह बयान दर्ज है–

श्रीमान्
हमारा काल-खंड दरक रहा है।
भूमि अधिकार का मुद्दा
यद्यपि युगों से यथावत् है।
संत विनोबा भावे के सपने
और लोक नायक की संपूर्ण क्रांति
कहाँ साकार हुए...
कालू का हल-बैल
कहाँ चला इस भूदान की भूमि पर..

(गिरते हुए पत्तों का आख़िरी बयान, पृ. 109)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः इस संग्रह में इन दो कविताओं के बीच संग्रह की शेष कविताएँ साँस ले रही हैं। यद्यपि संग्रह में कुछ कमज़ोर कविताएँ हैं—उनकी शिथिलता विषयगत है। इस संग्रह में सबसे अच्छी बात यह है कि कवि जो कुछ कहना चाहता है—वह समझ में आ जाता है।

कवि दो टूक कहता है—

आपने कौन-सा ऐसा
तोहफ़ा दिया मुल्क को
जिससे आपको 'भारत रत्न' की उपाधि से
अलंकृत किया जाए।
× × ×
सिर्फ़ गाल बजाने
और मीडिया के पृष्ठ पोषण से कोई
रत्न नहीं बन जाता।

(आख़िरी बयान, पृ. 108)

श्रीमान्
आप तो मर्यादा की सर्वोच्च कुर्सी पर
आसीन हैं।
इन गिर रहे पत्तों करे बचाइए!
और बचाइए इन्हें गोदराई हवा से
मुल्क में बन रहे 'सेजों' से
नंदीग्राम से और नव साम्राज्यवाद से।

हैं। पर ईमानदारी और नैतिकता के भी कुछ तक़ाजे होते हैं। ईमान की कहें तो सभी कृतियाँ अपनी अभिव्यक्ति में पाठक को आश्वस्त नहीं करती हैं, लेकिन समय की सीढ़ी चढ़ रही कोई कृति यदि अपनी तात्कालिकता में हिस्सेदारी करती है तो वाकई वह सृजन का नया परिदृश्य रचती है। इस तरह, मनुष्य की अदम्य जिजीविषा उसके तप्त-दग्ध संघर्षों तथा उसकी स्मृतियों से छनकर निकली कविता के शब्दों से गुज़रना सृजन-संवेदन के श्रेष्ठ क्षणों से भी गुज़रना है। क्योंकि इन्हीं ख़ास क्षणों में रची जा रही कविता अँधेरे की गल्प बनती है। 'कुहरे की वजह से' अपनी भाषा में अपने समय के सच के आख्यान की नई इमारते हैं, जो अँधेरे में भी आश्वस्त करती है। ऐसे में कैसे न कहूँ कि अरुण कुमार की कविता दर्द में घुली संवेदना की स्वच्छ एवं समर्थ कविता है।

कवि ने जीवन के गहरे दुःख, अपनी उदासी, अपनी पीड़ा, वेदना और अवसाद जो कि कुहरे की वजह से है, के प्रकटीकरण के लिए उसी अनुरूप भाषा की तलाश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस काव्य यात्रा में बड़े सुघड़-सघन बिंब उभरे हैं—भंग हुए हैं। लेकिन कवि दुःख पृथ्वी जैसा दुःख बना रहता है। कविता में विन्यस्त स्त्री एक और दुःखी ती है 'रात रचती है एक स्त्री जो होती है पृथ्वी'। इतना ही नहीं, कविता में चलते कवि पूरी धरती का विलाप भी सुनता है और इसीलिए वह पृथ्वी पर बची थोड़ी और हवा ढूँढ़ लेना चाहता है। दरअसल, यह कवि का एकांत है जो शब्द में बजता ता है। एक अव्यक्त कोलाहल है, जिसे वह कविता के एकांत में ग्रहण करता है। सब कुछ कवि अपनी दुर्द्धर्ष बौद्धिकता से दूहता चलता है।

'कुहरे की वजह से' शब्द की अनेकार्थक उपस्थिति में समकालीन कविता का ना दृश्य रचती है जहाँ भाषा का एक मोहक जादुई यथार्थ है जो इन कविताओं को हाल लिखी जा रही कविताओं से एकदम अलग पहचान देता है। कवि का यह न कि "अकसर/कुहरे में कविता का/शब्द में लौटना थोड़ा कठिन होता है" कवि यह कठिन कर्म अपने सृजन-संदर्भ में बड़े क़ायदे से साध लिया है। सच, अरुण मार अपनी अनुभूति और संवेदना का रूपांतरण जिस बौद्धिकता के साथ सहज ढंग करते हैं, वह पाठक को काफ़ी गहरे स्तरों तक स्पर्श कर जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकीय प्रतिक्रिया

जुलाई-सितम्बर 2012 का चिन्तन-सृजन संज्ञक त्रैमासिक पत्रिका का अंक प्राप्त हुआ। वस्तुतः उक्त पत्रिका के प्रत्येक अंक की आकुलता के साथ प्रतीक्षा अनवरत बनी रहती है। हस्तगत होते ही इसे आद्यन्त पढ़ने के पश्चात ही कोई अन्य पाठ्य सामग्री हाथ में लेता हूँ, क्योंकि उक्त पत्रिका के संपादकीय से लेकर समस्त आलेख चिन्तन-मनन योग्य होने के कारण मस्तिष्क को स्वस्थ खुराक देते हैं।

पत्रिका का मेरुदण्ड संपादकत्व होता है। एक तरफ वह स्तरीय आलेखों का चयन करता है, तो दूसरी तरफ अपने संपादकीय से पाठकों के मन-मस्तिष्क को झकझोर देता है। प्रस्तुत अंक के सम्पादकीय में यह स्वीकार किया गया है कि "भारतीय राजनीति में चाटुकार कभी भी इतने सशक्त नहीं हुए थे, जितने आज हैं। इस देश की राजनीति करोड़ों विदेशियों को देशी तथा लाखों देशियों को विदेशी बना सकती है। दंगे कराना उसके बाँये हाथ का खेल है। चाचा -भतीजा लड़ पड़ें तो देश के किसी हिस्से के लोगों को खदेड़ने का अभियान शुरू करा दो, उन्हें परमिट देने का प्रस्ताव कर दो।" ऐसे यथार्थ-परक तटस्थ मन्तव्य सेपत्रिका की निष्पक्षता के साथ-साथ गरिमा भी संबर्द्धित होती है। इसके साथ ही रामेश्वर मिश्र पंकज द्वारा प्रस्तुत ग़ोरा की विश्लेषणात्मक व्याख्या, राजीव रंजन उपाध्याय, नरेश कुमार अम्बष्ट के आलेखों ने भी समझको धनात्मक किया है।

प्रस्तुत पत्रिका दीर्घजीवी हो- यही हार्दिक कामना है।

- प्रो. धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री', ग्राम चकिया,
पोस्ट-पूर, जिला-बलिया-277124

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूफी संत की याद डॉ. बीनज जी ने जुलाई-सितंबर अंक में मार्मिक ढंग से
ाई है। हिन्दी वर्तनी की समसयाएं - श्री धर्मदेव तिवारी, हिन्दी के वर्तनी ...
ार–श्री रवीन्द्र पाठक जी के लेखों का साधारण जन के लिए हृदयंगम करना
िन है। फिर भी आपके लेखकों और संपादक मंडल को कोटिशः धन्यवाद। हमारी
ुकता है कि हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास और इसमें प्रयुक्त भाषाओं का
ारण भी प्रकाशित करें। ...

- डॉ. भोला प्रसाद, मनिहारी, जिला-कटिहार-854113

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

असबाब-ए-वीरानी, रमेशचंद्र शाह; प्रकाशकः वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002;प्रथम संस्करणः 2011; पृष्ठः 152; मूल्यः 250/ रुपये।

मेरी प्रिय कहानियाँ, रमेशचंद्र शाह; प्रकाशकः राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006; संस्करणः 2012; पृष्ठः 128; मूल्यः 95/ रुपये।

शब्द तो कुली हैं, सरोजकुमार; प्रकाशकः शिल्पायन, 10295, लेन. न.1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032; संस्करणः 2012; पृष्ठः 96; मूल्यः 150/ रुपये।

पत्रिकाएँ :

प्राणालोक, ईमानदार अभिव्यक्ति का चातुर्मासिक पत्र, वर्ष 36, अंक 16 (अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर 2012); सम्पादकः दर्शन राही; प्रकाशकः 'प्राणालोक' संस्था के लिए राम दर्शन मिश्र 'राही', एम 60, हाउसिंग बोर्ड कालोनी बोदाबाग, रीवा-486001(म.प्र.); पृष्ठः 32; मूल्यः 20/ रुपये।

शोध पत्रिका, वर्ष 61, अंक 1-4 (जनवरी-दिसम्बर 2010); पूर्णांक 242-245; सम्पादकः जीवनसिंह खरकवाल; प्रकाशकः साहित्य संस्थान (इंस्टिट्यूट ऑफ राजस्थान स्टडीज) जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ (डीम्ड) विश्वविद्यालय, उदयपुर-313001 (राजस्थान); पृष्ठः 176; वार्षिक मूल्यः 60/ रुपये।

उद्योग नगर प्रकाशन, साहित्य, कला, प्रकाशन और संस्कृति को समर्पित साप्ताहिक, वर्ष 9 : अंक 15

गाजियाबाद 20 नवम्बर 2012; सम्पादकः विकास मिश्र, 695, न्यू कोट गाँव, (तेजाब मिल), जी.टी. रोड़, गाजियाबाद-201009; पृष्ठः 4; मूल्यः 1/ रुपये।

MAgzAV, # 6 – January 2012; printed at Mother Grace Offset, Pondicherry. Page: 64, Price: Rs. 100/-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

10 अंक 3 जनवरी-मार्च 2013

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

आवश्यकता है जड़ता तोड़ने के बहुमुखी प्रयास की

पिछले दिनों इस देश में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जो आश्वस्त नहीं करतीं। सामूहिक बलात्कार के बाद एक लड़की तथा उसके साथी को चलती बस से नीचे ढकेल दिया गया। सप्ताह भर के जीवन-संघर्ष के बाद लड़की ने अस्पताल में दम तोड़ दिया। इस बर्बर घटना के पूर्व उन्हीं अपराधियों ने एक बस यात्री से आठ हजार रुपये लूटकर उसे भी चलती गाड़ी से नीचे फेंक दिया था। इस घटना के बाद सारे देश में तूफानी आक्रोश की लहर उठी; संसद एवं उसके बाहर जमकर बहस चली। दिल्ली, मुम्बई तथा अन्य स्थानों पर प्रदर्शन हुए। विरोध-प्रदर्शन में नागरिक समाज, विधायिका—सांसदों, विधायकों – पत्रकारों, अधिवक्ताओं, लेखकों, स्वयंसेवी तथा मानवाधिकार संगठनों, आदि सबकी सहभागिता रही। इसके अच्छे परिणाम भी सामने आये। बलात्कार की रोक-थाम की दिशा में कुछ सार्थक पहल भी दिखी। यहाँ आक्रोश-प्रदर्शन एवं आन्दोलनों के दौरान हमारे देश एवं समाज के कुछ दुर्बल पक्ष भी खुलकर सामने आये। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि ऐसा पहली बार नहीं हो रहा है। बलात्कार की खबरें लगातार समाचार-पत्रों में आती रही हैं, जो समाज में क्षोभ, क्रोध, ग्लानि तथा चिन्ता फैलाती रही हैं। संसद, दूसरे मंचों, समाचार-माध्यमों में क्षोभ व्यक्त किए जाते रहे हैं, बलात्कारी को फाँसी तक देने की बात होती है; यौनाचार को प्रोत्साहित करनेवाली फिल्मों, पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, विज्ञापनों, पोस्टरों, आदि पर रोक की बात उठती है। पर यथा-स्थिति बनी रहती है, जड़ता टूटती नहीं।

उल्लिखित घटना कुछ अपराधियों द्वारा एक महिला पर किये गये आपराधिक आक्रमण की थी, जिसे कई रैलियों में, पुरुषों एवं महिलाओं के बीच के टकराव के रूप के प्रस्तुत किया गया मानो इस घृणित कार्य में समस्त पुरुषवर्ग की सहभागिता रही हो, जैसे कि महिला का शील-हरण करने वाले महिला-वर्ग के विरुद्ध पुरुष वर्ग के संघर्ष के योद्धा हों; और वैसे ही वह स्त्री जिसने उसी दिन अपने पति के शरीर के ग्यारह टुकड़े कर के फेंक दिया था, वह स्त्रीवर्ग की योद्धा हो। माहौल ऐसा था जिसमें समस्या-निदान के लिए सघन विमर्श की संभावना नहीं बनती थी। स्पष्टतः समस्या के निदान के लिए चौतरफा पहल आवश्यक है। शील-हरण या अन्य किसी अपराध की रोक-थाम में ढिलाई के लिए प्रशासन-तंत्र से कड़ाई से निपटा जाना चाहिए। फिर, जैसा कि ऊपर कहा गया है, शील-हरण की यह पहली घटना नहीं थी। दिल्ली में ही पिछले दस वर्षों में जनसंख्या दो-गुनी बढ़ी है तो ऐसे अपराध दस-गुने। खैर, देर से ही सही, इस अपराध के बाद का जनाक्रोश अच्छे परिणाम लायेगा, इसकी हम आशा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं। आवश्यक है किसी भी तरह के अपराधों — जिसमें शील-हरण भी सम्मिलित है—की रोकथाम एवं अन्य राष्ट्रीय समस्याओं के निदान के प्रयास किए जायँ। अपराधों की रोकथाम के लिए प्रशासन तथा पुलिस तंत्र एवं न्याय व्यवस्था को न केवल चुस्त-दुरुस्त किया जाना चाहिए, बल्कि कानूनों में संशोधन एवं नीतिगत बदलाव भी आवश्यक हैं। इसके लिए व्यवस्था में व्याप्त जड़ता को तोड़ना आवश्यक है।

कानून और व्यवस्था से जुड़ी एक समस्या, जिससे यह देश निजात नहीं पा रहा है, वह है अपराधी का अपने बचाव संबंधी कानूनी प्रावधानों का अपेक्षाकृत अधिक ज्ञान होना। दिल्ली के सामूहिक दुष्कर्म का एक अपराधी, बस का कण्डक्टर, यह जानता था कि वह 18 वर्ष से कम उम्र का किशोर है और कानून ही उसे इस जघन्य अपराध से बचाएगा। अपराध छिपाने के लिए पीड़िता के गुप्तांग में छड़ घुसेड़ कर आँत आदि निकालने की सलाह भी उसी ने दी थी। आज जघन्य अपराधों में किशोरों की संलिप्तता बढ़ी है; अपराधी गिरोह धड़ल्ले से किशोरों को अपने साथ जोड़कर जघन्य अपराध करा रहे हैं। बिडम्बना है कि आज अपराधी आगे आगे चल रहे हैं, पुलिस तंत्र एवं प्रशासन उनसे काफी पीछे और कानून बनानेवाले ऊँघ रहे हैं। हमारे देश में आज भी डेढ़ सौ वर्ष पुराने अंग्रेजी राज के कानून चल रहे हैं।

कानून-व्यवस्था बनाए रखना राज्य सरकारों के अधिकार-क्षेत्र में आता है। ऐसे में कानून-व्यवस्था बनाए रखने के नाम पर कई राज्य सरकारें नागरिकों के संविधान-प्रदत्त मौलिक अधिकारों के हनन से नहीं हिचकिचातीं। कमल हासन की फिल्म 'विश्वरूपम' पर प्रतिबन्ध एवं रुश्दी के कोलकाता नहीं आने देने को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा-समझा जाना चाहिए। वैसे इस देश में असहिष्णुता लगातार बढ़ी है जो हमारे लोकतंत्र के लिए शुभ नहीं है। विमर्श का क्षेत्र सिकुड़ा है, कारक चाहे वैचारिक असहिष्णुता हो, क्षुद्र स्वार्थों की राजनीति हो, अज्ञान हो या अन्य कारण। ध्यातव्य है कि अपराध एवं सामाजिक विचलन को केवल कानून से रोकना संभव नहीं; उसके लिए स्वस्थ सामाजिक वातावरण एवं मूल्यों की पुनर्स्थापना भी आवश्यक है। स्त्री, जाति, आदि से संबंधित समस्याएँ सामाजिक हैं, उनका केवल प्रशसानिक निदान नहीं हो सकता। इनका मुख्य निराकरण शैक्षिक, सामाजिक आन्दोलनों एवं कार्यों द्वारा ही संभव है। उदाहरण के लिए नारीगत स्वस्थ सोच की स्थापना परिवार एवं स्कूल में होना चाहिए। कानूनी एवं प्रशासनिक कार्य केवल भय द्वारा रोकथाम ही कर सकते हैं; वे deterent ही हो सकते हैं, पूर्णतः रोक नहीं सकते हैं। ऐसा नहीं कि यह आवश्यक नहीं। यह तो आवश्यक है ही। प्रशासनिक एवं न्याय-प्रक्रिया की मुश्तैदी तो आवश्यक है ही, जैसा कि ऊपर कहा गया है। लेकिन इसके साथ ही अन्य उपाय भी आवश्यक हैं। इसके लिए समाज संगठन—को स्थायित्व प्रदान करनेवाली मूल्य व्यवस्था की आवश्यकता तो है ही। लेकिन परिस्थिति ऐसी बनती जा रही है, ऐसी प्रवृत्ति विकसित हो रही है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस मूल्य-व्यवस्था को तेजी से उखाड़ फेंकना चाहती है। दुर्भाग्यवश, जैसा कि य ने कहा था : "लगभग यह स्थिति हो गयी है कि अगर आप में किसी तरह का कोई मूल्यबोध बाकी है तो न आप आधुनिक हैं, न वैज्ञानिक हैं, न सभ्य हैं - केवल पुराने खूसट हैं जिसे अवज्ञापूर्वक जितनी जल्दी रास्ते से हटा दिया जाय उतना अच्छा।" ऐसे में मूल्यों की बात करनेवाले बौद्धिकों, धर्म-गुरुओं एवं इक्के दुक्के नीतिकों को मूर्खतापूर्ण आक्षेपों का सामना तो करना ही पड़ता है। वैसे इस देश "अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता" की यह स्थिति तो बन ही पड़ी है कि एक बड़ा लेखक विचारक क्या बोले यह भी पुलिस और अदालतें ही तय करें, जैसा आशीष नन्दी साथ हुआ।

अज्ञेय ने बलात्कार की बढ़ती प्रवृत्ति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए ठीक ही लिखा "क्या ऐसे समाज में बलात्कार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने का कोई उपाय प्रश्न का आशय यह नहीं है कि कोई उपाय नहीं है; आशय यही है कि जब तक मूल्यहीनता के साथ बँधे हुए हिंसा भाव को नहीं देखते, जब तक विद्रोह के विकृत का सुधार नहीं करते, तब तक क्या पुलिस, क्या सरकार या सेना या संसद कोई ज कर सकता है? क्या कोई भी संगठन या संस्थान, जो खुद इसी समाजव्यापी हीनता की परिस्थिति की उपज है, बिना उस मूल समस्या का सामना किये हुए ई उपाय कर सकता है? नहीं कर सकता।" यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक कि न केवल बलात्कार, बल्कि अन्य अनेक राष्ट्रीय समस्याओं की जड़ भी मूल्य नता में खोजी जा सकती है। भ्रष्टाचार, बढ़ती अराजकता, हिंसा, संवेदनहीनता के भी उसी से जा जुड़ते हैं।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि आज हमारा देश तथा समाज विषम स्याओं से ग्रस्त है। लेकिन हमें निराश नहीं होना चाहिए। आवश्यक है कि हम मर्श को ऊँचाई पर ले जायें; नागरिक समाज को जगाएँ, बौद्धिक उलझन से पार एँ। अपेक्षित बदलाव के लिए शिक्षा में बदलाव अत्यन्त आवश्यक है। हमें य-दृष्टियों के प्रति हीनतापूर्ण अवज्ञा-भाव, परंपरा के प्रति अज्ञानपूर्ण द्वेषभाव, ण्डित इतिहास दृष्टि, संस्कृति-बोध का अभाव, पहचान के संकट, आदि से बचने का य करना होगा; स्वस्थ जीवन दृष्टि लानी होगी। विज्ञान एवं तकनीक, आधुनिकीकरण या पश्चिमीकरण एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं और न अंग्रेजी शिक्षा हमारी समस्याओं का हल। फिर समस्याओं का हल समग्रता में खोजा जाना चाहिए, और उनके हल की र्थक ईमानदार पहल। राजनीति, प्रशासन तथा बौद्धिक जगत की जड़ता तोड़ने का ही एक मात्र रास्ता है।

—ब्रज बिहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंडन मिश्र और आदिशंकराचार्य संवाद : समकालीन समाज के लिए कुछ नैतिक निष्कर्ष

अशोक वोहरा*

अपने इस लघु शोघ-पत्र में मेरा उद्देश्य मंडन मिश्र और आदिशंकराचार्य में हुए संवाद में निहित नैतिक मूल्यों और समकालीन समाज, विशेषतः बौद्धिक समाज, के लिए उनकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डालना है। ऐसा करने के लिए इस वृत्तान्त का मैं व्याख्यात्मक (हरमॅन्यूयटिकल) वर्णन करूँगा मैं आपके समक्ष इस सुविदित कथा (नैरेटिव) को फिर से दोहराऊँगा। इस क्रम में जहाँ-जहाँ मुझे प्रतीत होता है कि इससे कोई नैतिक निष्कर्ष निकल सकता हैं, वहाँ-वहाँ मैं कथा को रोककर उस मूल्य की व्याख्या करूँगा।

जैसा कि सर्वविदित है, आदिशंकराचार्य अपने द्वारा प्रतिपादित अद्वैत दर्शन को सम्पूर्ण भारत में स्थापित करने के लिए अपने विरोधी मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ, वार्तालाप, वाद-विवाद एवं विशद चर्चाएँ करते थे। माधव विद्यारण्य विरचित शंकर-दिग्विजय के अनुसार स्मृति-प्रस्थानों एवं प्रस्थानत्रयी पर अपने भाष्यों की व्यास द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा के बाद शंकर ने सोचा कि "मैंने भाष्यों को पूरा कर लिया है, उनकी व्याख्या कर दी है और इन भाष्यों और व्याख्याओं पर इनमें प्रस्थापित सिद्धांतों का विरोध करने वाले अपने प्रतिद्वंद्वियों को हरा दिया है। अब मुझे क्या करना है? अव मेरे करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहा है। अतः अब जब मेरी आयु शोलह वर्ष हो चुकी है इस शरीर का त्याग कर देना चाहिए।" उन्होंने अपने इस विचार से व्यास को अवगत कराया। किन्तु व्यास ने उन्हें समझाया कि अभी उनके करने को बहुत कुछ बचा है, क्योंकि उनके मत को न मानने वाले अनेक जाने-माने विद्वान अभी जीवित हैं। वाद-विवाद करके उन्हें हराने और अपने सिद्धांत को मनवाने का कार्य अभी शंकर के लिए बाकी है। यह सुनकर शंकर ने प्राण-त्याग के अपने संकल्प को टाल दिया और वे अपने विरोधियों से वाद-विवाद करने के लिए चल दिए।

---

* अशोक वोहरा, पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी चर्चा क्रम में वे अपने समकालीन सुविख्यात एवं महान मीमांसक कुमारिल भटट् से मिलने एवं उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए धुर दक्षिण से प्रयागराज पहुँचे। किन्तु जब वे कुमारिल भटट् से मिले तो कुमारिल भटट् अपने बौद्ध गुरु को दिए गए धोखे के पश्चाताप में स्वयं को धीमी चिता पर जला रहे थे। कुमारिल द्वैतवादी थे। वे ईस्वर को नहीं मानते थे। वे कर्मकांड को ही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य मानते थे। फिर भी जब शंकर ने उन्हें अपने द्वारा लिखित ग्रन्थ दिखाए तो उन्हें पढ़ने के बाद कुमारिल ने कहा कि इन भाष्यों पर लगभग 800 पृष्ठों की वार्तिक लिखी जा सकती है। किन्तु उनकी वर्तमान स्थिति में ऐसा करना सम्भव नहीं है। शंकर ने उनसे अपने भाष्यों पर चर्चा करने के बारे में अपनी मंशा जताई। जब उन्हें शंकराचार्य के मन्तव्य का पता चला तो उन्होंने शंकराचार्य को अपने सबसे तीव्रबुद्धि शिष्य मीमांसक मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने की सलाह दी। उन्होंने मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी उभय भारती का परिचय भी शंकराचार्य को दिया।

प्रकरण के इस भाग से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अपनी किसी भी प्राक्कल्पना/प्रस्थापना को स्थापित करने के लिए, हमें अपने धुर विरोधियों के साथ उस पर निष्पक्ष चर्चा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। किसी भी प्रस्थापना का आधार हठधर्मिता या कटट्र मताग्रह नहीं हो सकता। उसका आधार तर्क की कसोटी पर खरा उतरना और उसके धुर विरोधियों द्वारा उसका आधार खंडन न कर पाना है। अपने मत को, अपनी स्थापना को, तर्क से, अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है, न कि बाहुबल और हठधर्मिता से। बाहुबल की जीत स्थायी नहीं हो सकती, तर्क के बल पर सिद्ध की गई प्रस्थापनाएँ ही स्थायी होती हैं और चिरकाल तक उनको माना जाता है। ऐसी प्रस्थापनाओं को प्रतिपादित करने वाले आचार्यों के अनुयायियों की संख्या बढ़ती रहती है और वे प्रस्थापनाएँ कालातीत हो जाती हैं।

शंकराचार्य ने मंडन मिश्र के गाँव माहिष्मती (आज का महिषि) पहुँचकर जब उनके घर का रास्ता पूछा तो गाँव की महिलाओं ने उन्हें बताया की जिस घर के बाहर पिंजरों में बँधे अथवा उसके आँगन के पेड़ों पर रहने वाले तोते भी बार-बार, रटन्त भाषा में ऐसे कठिन एवं दुरूह दार्शनिक प्रश्नों को दोहरा रहे हों कि 'क्या वेदों की वैधता स्वतः है, अथवा परतः?' ' क्या कर्मों में अपने फल उत्पन्न करने की अपरोक्ष क्षमता है, अथवा कर्मफल की उत्पत्ति के लिए ईस्वर आवश्यक है?' 'क्या जगत शाश्वत है अथवा वह प्रतीति-मात्र है?' जिस घर का ऐसा परिवेश हो वही मंडन मिश्र का घर है।''

प्रसंग के इस भाग के विश्लेषण एवं सूक्ष्म निरीक्षण से हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि मंडन मिश्र के घर का परिवेश दार्शनिक समस्याओं के चिन्तन से पूर्णतः सराबोर था। किन्तु क्या वहाँ दार्शनिक समस्याओं एवं उनकी सम्भावित व्याख्याओं पर मनन भी होता था? तोते तो वही शब्द एवं वाक्य बोलते हैं जो वे बारम्बार सुनते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो वाक्य उनके सामने बारम्बार दोहराए जाते हैं उन बातों को, उन वाक्यों को, शब्दों को वे बिना समझे, बिना सोचे, बिना उन पर मनन किए दोहराते रहते हैं। म्बार सुनने के कारण वे वाक्य, वे शब्द वे रट जाते हैं, और वे एक मशीन या एक रिकार्डर की भाँति उन्हें दोहराते रहते हैं। उन्हें शब्दार्थ के प्रयोग-सिद्धान्त, उसके दर्भ-सिद्धान्त (Context Principle) के बारे में कोई ज्ञान न होने के कारण वे ल कुछ ध्वनियाँ निकालते रहते हैं। उन ध्वनियों को हम अपने भाषा-विज्ञान के न के कारण शब्द अथवा वाक्य समझ लेते हैं। तो क्या मंडन मिश्र अपने विद्यार्थियों किसी नई युक्ति, किसी तर्क के बिना, बिना समझे-बूझे और तर्क की कसोटी पर खे बिना, केवल रटन्त विद्या सिखाते थे? यदि ऐसा था तो हमें इस प्रकार की शिक्षा अपने-आपको, अपनी शिक्षण-प्रणाली को बचाना होगा। हमें अपने शिष्यों को तर्क द्या में पारंगत करना होगा। गाँव की महिलाओं द्वारा मंडन मिश्र के निवास-स्थान को तों की उपमा देते हुए लक्ष्य करना मुझे उनकी शिक्षा-पद्धति पर एक कटाक्ष प्रतीत ता है।

अपने अनुभव से ही हम जानते हैं कि रटना और बिना जाँचे-परखे किसी द्धान्त को मानना भारत में, और अन्य देशों में भी, ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के लिए धक रहा है। विदेशों में भी गैलिलियो के समय में यूरोपीय दार्शनिक एवं वैज्ञानिक न्तु तोतों की तरह अरस्तु के सृष्टि-सम्बन्धी विचारों को वेद-वाक्यों के समान सत्य नते थे। गैलिलियो ने अपने प्रयोगों द्वारा, जाँच-परखकर, उचित प्रयोग-विधि द्वारा ह सिद्ध कर दिया कि अरस्तु गलत थे।

रटन्त विद्या, एवं बिना जाँचे-परखे पुनरावृति के कारण ही गीता में मीमांसकों को "वेदवादरताः" (2.42) कहा गया है। गीता में कहा गया है कि मीमांसक वेद-वाक्यों शेषतः आलंकारिक वाक्यों में ही उलझे रहते हैं और बारम्बार बिना किसी सुप्रस्थापित क्ति या किसी नयी युक्ति के यह कहते रहते हैं कि वेदों में कर्मकांड के सिवाय कुछ हीं है। ऐसे लोगों का लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति, भोग-विलास, ऐश्वर्यपूर्ण जीवन-यापन ही है। ते जन्म को भी कर्मकांड का फल मानते हैं। गीता में ऐसे लोगों को 'अविपशचित' यानी अविवेकी, मन्दबुद्धी, अदूरदर्शी कहा गया है। वे अविवेकी हैं क्योंकि वे निःश्रेयस के बजाय प्रेय को चुनते हैं। वे कर्म इसलिए करते हैं कि उन्हें स्वर्ग एवं इहलोक में ऐश्वर्य, धन-धान्य, पशु एवं पुत्र (सन्तान) की प्राप्ति हो। हमारी विद्या ऐसी होनी चाहिए जो श्रेय एवं प्रेय में सामंजस्य करना सिखाए।

शंकराचार्य जब मंडन मिश्र के घर पहुँचे, उस समय मंडन मिश्र अपने पिता का वार्षिक श्राद्ध करने में व्यस्त थे। शंकराचार्य और मंडन मिश्र की यह पहली मुलाकात सौहार्दपूर्ण नहीं थी। मंडन मिश्र श्राद्ध के समय एक संन्यासी को देखकर गुस्से में आ गए। शंकराचार्य का उन्होंने स्वागत नहीं किया क्योंकि श्राद्ध के दिन किसी संन्यासी का आना शुभ नहीं माना जाता। मंडन मिश्र ने उन्हें अनेक कटु बातें कहीं। शंकर ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उन कटु बातों का उत्तर कटु तर्कों द्वारा दिया। अन्ततः मंडन मिश्र ने शंकर को लताड़ते हुए कहा : "यह विश्व-विदित है कि ब्रह्मनिष्ठा (ब्रह्मज्ञान के प्रति निष्ठा) की बात वे ही करते हैं जो पत्नी का पालन-पोषण और उसकी देख-भाल में असमर्थ हैं और उनके शिष्यों के साथ पुस्तकों के ढेर उठाकर भिक्षाटन से जीवन निर्वाह करते हैं।" शंकर ने इसके उत्तर में कहा : " और कर्म निष्ठा (वेदों में वर्णित कर्म-कांड) क्या है? ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने में अक्षम होकर, अपने गुरु की सेवा का त्याग करके एक स्त्री का सेवक बन जाना।" इस पर मंडन मिश्र ने कहा कि, "अरे मूर्ख, तेरा जन्म भी एक स्त्री द्वारा हुआ है, तू उसका दूध पीकर बड़ हुआ है। उसने ही तेरा पालन-पोषण किया है। तिस पर भी तू स्त्री के प्रति घृणा-भाव रखता है। अतः तू अत्यन्त कृतघ्न है।" शंकर ने प्रत्युत्तर में कहा, "स्त्री द्वारा दूध पिलाए जाने के बावजूद तुम उसके प्रति विषयासक्ति रखते हो, कामुक भाव रखते हो।"

संन्यासियों की जीवन शैली पर कटाक्ष करते हुए मंडन मिश्र ने कहा, "जो लोग गार्हपत्य आहवनी और दक्षिण अग्नियों की उपासना नहीं करते वे अपने पुत्र की हत्या का जघन्य अपराध करते हैं, और इसके पाप के भागी भी होते हैं।" इस पर शंकर ने कहा कि "तुमने तो आत्मज्ञान ही प्राप्त नहीं किया है, अतः तुम आत्महत्या के पाप के भागी हो।" अन्ततः मंडन मिश्र ने शंकर को कहा कि "शंकर चोर हैं क्योंकि वे उसके में चौकी दार को धोखा देकर बिना उनकी अनुमति से आए हैं।" प्रत्युत्तर में शंकर ने कहा की, "वास्तविकता में चोर तो आप हैं, क्योंकि आप संन्यासियों और ब्रह्मचारियों को भोजन दिए बिना स्वयं भोजन करते हैं। यह आचरण वेद-विरुद्ध है।"

किन्तु अपने सम्बन्धियों के बीच-बचाव और बलपूर्वक आग्रह देने पर मण्डन मिश्र ने शंकराचार्य से उनके वहाँ आने का कारण पूछा। शंकराचार्य ने कहा कि वे सुदूर दक्षिण से उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए आए हैं। शास्त्रार्थ की उनकी शर्त केवल यह हैकि यदि शास्त्रार्थ में वे जीत जाते हैं तो मंडन मिश्र अपने शिष्यों सहित उनके शिष्य हो जाएँगे, और यदि मंडन मिश्र की विजय होती है तो शंकराचार्य अपने शिष्यों सहित, मंडन मिश्र के सदस्य बन जाएँगे।

मंडन मिश्र जिनकी आयु उस समय लगभग सत्तर वर्ष थी, तीस बर्षीय शंकराचार्य की इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कुछ हिचकिचाए। उन्होंने कहा की एक सत्तर वर्षीय व्यक्ति के लिए जिसने हजारों शास्त्रार्थों में विजय पाई हो, एक तीस वर्षीय नवयुवक से शास्त्रार्थ करना उचित नहीं है। किन्तु शंकराचार्य के निरन्तर आग्रह करने पर वे शास्त्रार्थ के लिए इस शर्त पर तैयार हो गए कि शंकराचार्य ही शास्त्रार्थ के निर्णायक का चुनाव करेंगे। मंडन मिश्र ने यह भी कहा कि वाद-विवाद का प्रयोजन विजसी होना होता है, वह कोई शब्दों का खेल नहीं है जिसका अन्त अधिक बोलने के कारण वादियों और प्रतिवादियों के सूखे गले होते हैं। किसी भी शास्त्रार्थ में दो प्रतियोगी होते हैं, जो इस समय हम दोनों हैं, कोई प्रस्थापना होती है जिसके पक्ष और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्ष में तर्क दिए जाते हैं। किसी भी वाद-विवाद में पहले से ही यह सुनिश्चित होना हिए कि विजयी होने और हारने की क्या कसौटी होगी और विजसी होने या हारने परिणाम क्या होंगे यह भी पहले से ही निर्धारित होगा कि शास्त्रार्थ का निर्णायक न होगा और हारने या जीतने वाले को क्या पुरस्कार मिलेगा। आप संन्यासी हैं और एक गृहस्थ हूँ, अतः प्रारम्भ में ही जीतने वाले का पुरस्कार पूर्णतः निर्धारित करके शास्त्रार्थ के अखाड़े में हँसते हुए प्रसन्न मन से उतरना चाहिए।

मंडन मिश्र की पत्नी उभय भारती के यह कहने के बावजूद कि वे मंडन मिश्र पत्नी हैं, और शास्त्रार्थ में यदि शंकराचार्य हार गए तो वे इसका कारण पत्नी द्वारा ने का पक्षपात करना न समझें, शंकराचार्य ने उन्हीं को शास्त्रार्थ का निर्णायक चुना। कराचार्य ने उभय भारती के संक्ष्य का निराकरण यह कहकर दिया कि योग्य र्णायक केवल निर्णायक होता हैं।

शास्त्रार्थ के आरम्भ में शंकराचार्य ने सभी विविध अस्तित्ववान वस्तुओं में त्व होने के बारे में अपनी प्रस्थापना इन शब्दों में मंडन मिश्र के सम्मुख प्रस्तुत की "सत्+चित+आनन्द ब्रह्म ही परम सत्य है। वही एक संसार के अनेक रूपों में हमे खाई देता है।" छः महीने तक हजारों दर्शकों के समक्ष शास्त्रार्थ चलता रहा। उभय रती दोनों प्रतियोगियों का वाद-विवाद के आरम्भ में ही पानी में भीगी एक माला ी थीं। शर्त यह भी थी कि शास्त्रार्थ के समय वह माला सूखनी नहीं चाहिए। सकी माला सूख जाएगी वह हार जाएगा।

इन छः महिनों में विचारणीय प्रश्न के पक्ष एवं विपक्ष के प्रत्येक पहलू पर इन भट्ट विद्वानों के बीच बिना क्रोधित हुए, बिना किसी गाली-गलौज के, पूर्णतः शान्त न से, सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में शास्त्रार्थ चलता रहा। उन्होंने पक्ष एवं विपक्ष के त्येक बिन्दु पर विवाद किया, तर्क दिए, उद्धरण दिए और उनकी विवेचना की। छः हीने चले शास्त्रार्थ को सुनने के वाद निर्णायक भारती ने निर्णय दिया कि शंकराचार्य ीत गए हैं, और मंडन मिश्र हार गए हैं, क्योंकि यह पूर्णताः सिद्ध हो गया है कि ध्यात्मिक ज्ञान कर्मकांड से कहीं श्रेष्ठ है।'

कथा के इस प्रकरण से हमें यह शिक्षा मिलती है कि विवाद करने वाले दो पक्षों कटुता नहीं अपितु सौहार्द्र होना चाहिए। वयोवृद्ध एवं अनुभवी मंडन मिश्र द्वारा रुक शंकराचार्य को निर्णायक चुनने की छूट देना दर्शाता है कि वाद-विवाद का लक्ष्य ीत या हार न होकर, सत्य की निष्पक्ष, वस्तुनिष्ठ खोज करना होता है। वाद-विवाद ोई वैयक्तिक बात न होकर, एक वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त की एक वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ोज है। शास्त्रार्थ और इसका परिप्रेक्ष्य वैज्ञानिक की प्रयोगशाला के समान है जहाँ ना किसी लाग लपेट के सिद्धान्तों का परीक्षण एवं निरीक्षण किया जाता है। इसमें, ायु-भेद से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं शास्त्रार्थ में उलझे प्रतियोगियों में कोई कटुता तो नहीं आ गई, या फिर अपनी हार या जीत को लेकर कहीं वे क्रुद्ध, उत्सुक, उद्विग्न और चिन्ताग्रस्त तो नहीं हो गए यह जाँचने के लिए ही भारती दोनों प्रतियोगियों को बहस के आरम्भ में ही एक गीली माला दे देती थीं। क्रोधित, उत्सुक, उद्विग्न एवं चिन्ताग्रस्त व्यक्ति की देह का ताप भी बढ़ जाता है, जिससे माला जल्दी सूख जाती है। प्रतियोगियों की मनःस्थिति के जानने के लिए ही भारती उन्हें भीगी हुई माला देती थीं। यह भी सच है कि मंडन मिश्र के तर्क समाप्त होने के साथ-साथ उनकी माला भी सूख गई थी। अपने तर्क-वितर्क में हमें अपनी मनःस्थिति को सामान्य बनाए रखना चाहिए। न तो हमें उत्सुक होना चाहिए, न ही चिन्ताग्रस्त, क्योंकि तर्क वैयक्तिक नहीं होते, और न ही जीत या हार वैयक्तिक होती है। जीत या हार, दोनों कही, तर्कों की श्रेष्ठता की होती है।

इस प्रसंग में उभय-भारती एक आदर्श के रूप में उभरती हैं, क्योंकि अपने निर्णय पर पहुँचने से पहले वे शास्त्रार्थ को पूर्णतः स्वतन्त्र एवं तटस्थ मन से, किसी लाग-लपेट के बिना, वस्तुनिष्ठता एवं शुचितापूर्वक सुनती हैं और निर्णय पर पहुँचती हैं। किसी निर्णायक में इन गुणों का होना आवश्यक है - बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि इन गुणों का निर्णायक में होना निर्णायक बनने की पहली शर्त है। निर्णायक को स्वयं को पूर्णतः विचाराधीन मामले में झोंक देना चाहिए, उसे पक्ष एवं प्रतिपक्ष के प्रत्येक तथ्य एवं तर्क को जाँचना-परखना चाहिए और निर्णय पर पहुँचकर आलंकारिक, गोल-मोल और अस्पष्ट भाषा में नहीं अपितु सीधी-सपाट भाषा में अपना निर्णय सुनाना चाहिए। उभय भारती ने यही किया। उन्होंने निर्णायक भाषा में कहा "मेरा निर्णय है कि शंकराचार्य सही हैं और मंडन मिश्र गलत हैं। शंकराचार्य ने अपने मत को पूर्णतः सिद्ध कर दिया है, और मंडन मिश्र उसका खंडन नहीं कर पाए हैं।" किसी भी निर्णय के रूप का यही प्रतिमान होना चाहिए।

निर्णायक में निर्णायक बनने की क्षमता होनी चाहिए, उसका स्त्री या पुरुष होना कोई मायने नहीं रखता। सम्भवतः यही कारण है कि वही शंकराचार्य जो सामान्यतः अपने दार्शनिक और नैतिक मानस में स्त्रियों के प्रति अरुचि रखने वाले प्रतित होते हैं, इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ में एक स्त्री को, वह भी विरोधी की पत्नी को, निर्णायक की भूमिका में चुनते हैं। निहितार्थ यह है कि तत्त्व निर्णय के लिए व्यक्ति को लिंग, जाती, वय आदि समस्त सीमाओं से ऊपर उठना होता है। उसे अपनी व्यष्टि को त्यागकर समष्टिमय होना होता है। वह निर्वैयक्तिक हो जाता है।

उभय भारती के निर्णय सुनाने के बाद सारी सभा में कुछ क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। इस सन्नाटे को भारती ने ही तोड़ा। उन्होंने भरी सभा में कहा "शंकराचार्य, आपकी जीत अधूरी है क्योंकि मैं मंडन मिश्र की अर्धांगनी हूँ। आपने मंडन मिश्र को तो जीत लिया है किन्तु उनके आधे भाग, यानी मुझे, नहीं जीता है। मुझ पर जीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त करने के बाद ही आपकी जीत पूर्ण होगी।'' शंकराचार्य यह सुनकर स्तब्ध रह गए। वे छः महिने के गहन वाद-विवाद से थक चुके थे। वे और पंडित-सभा शुरू में तो इसके लिए तैयार नहीं हुए क्योंकि उनकी मान्यता थी कि स्त्रियों के साथ यशस्वी लोग शास्त्रार्थ नहीं करते। किन्तु जब उभय भारती ने विद्वत्सभा को यह प्रत्युत्तर दिया कि, ''गार्गी के साथ याज्ञवल्क्य ने, सुलभा के साथ राजा जनक ने शास्त्रचर्चा की तो क्या वे यशस्वी नहीं रहे।'' यह सुनकर शंकराचार्य ने उनसे शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया। वैसे भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दभय भारती की चुनौती को स्वीकार करना ही था। इस बार उन्होंने मंडन मिश्र को ही शास्त्रार्थ का निर्णायक चुना जिन्हें वे शास्त्रार्थ में हरा चुके थे।

अपने पति के साथ हुई शास्त्रार्थ-प्रतियोगिता के दौरान ही उभय भारती यह जान गई थीं कि शास्त्रों में आचार्य शंकर को जीतना असम्भव है। उन्हें यह भी मालूम था कि आचार्य शंकर बाल्यावस्था में ही संन्यासी हो गए थे, इसलिए वे काम-विषयक विषयों से अपरिचित थे। इस जानकारी के आधार पर भारती ने प्रतियोगिता के आरम्भ में ही कहा कि मेरी रुचि ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता इत्यादि में न होकर वात्स्यायन द्वारा रचित कामसूत्र में है। शंकराचार्य यह सुनकर चकित रह गए। वे तो बाल ब्रह्मचारी, बाल संन्यासी थे। जब शंकराचार्य ने भारती को भरी सभा में काम-विषयक अपने अज्ञान के बारे में बताया, तो भारती ने उन्हें काम-बिषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए छः मास का समय देते हुए कहा कि यदि वे इस अवधि में अपने आपको काम-शास्त्र के ज्ञान में पारंगत कर पाएँ तो शास्त्रार्थ के लिए वापिस आ जाएँ, और यदि वे ऐसा न कर पाएँ तो उन्हें हार मानकर वापिस दक्षिण में चला जाना चाहिए और यह मान लेना चाहिए कि उनका ज्ञान अपूर्ण एवं अव्यापक है और इसीलिए उनकी जीत अपूर्ण है।

हम सब जानते है कि शंकराचार्य ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अगले छः मास में न केवल काम-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष को बल्कि व्यावहारिक पक्ष में भी प्रवीणता प्राप्त की। जब वे प्रतियोगिता के लिए वापिस आए तो भारती ने हँसते हुए उन्हें कहा कि शास्त्रार्थ अनावश्यक है, क्योंकि वे तो मंडन मिश्र की अर्धांगिनी हैं और इस रूप में, इस भूमिका में मंडन मिश्र की हार में उनकी भी हार है। ''उनकी जीत में मेरी जीत है, उनकी मृत्यु मेरी मृत्यु है, उनके सुख में मेरा सुख है और उनके दुःख में मेरा दुःख है।'' अतः भारती ने माना कि मंडन मिश्र के हारने से वे भी हार गई हैं, वाद-विवाद प्रतियोगिता की कोई आवश्यकता नहीं है।

कथा के इस प्रसंग से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारती न केवल एक सुविज्ञ निर्णायक थीं, अपितु वे एक समर्पित पत्नी भी थीं। अपने पत्नी-धर्म को उन्होंने बखूबी निभाया। जब वस्तुनिष्ठ कारणों, जैसे कि शंकराचार्य के मत के खंडन में सुदृढ़ तर्क न दे पाने, शंकराचार्य द्वारा अपने प्रतिपादित मतों के खंडन का उत्तर न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दे पाने के कारण मंडन मिश्र हार गए तो एक पत्नी के रूप में भारती ने उनकी हार को जीत में बदलने का निर्णायक प्रयास किया। वे इस तथ्य से सुपरिचित थीं कि शंकराचार्य बाल संन्यासी हैं और उन्हें कामशास्त्र के बारे में कोई ज्ञान नहीं है। न ही उनसे ऐसा ज्ञान अपेक्षित था। वे समझती थीं कि बाल संन्यासी होने के कारण, और संन्यास व्रत लेने के कारण शंकराचार्य सम्भवतः कामशास्त्र का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं करेंगे। यदि वे कामशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष को जानने का प्रयास करें भी, तो भी वे उसका व्यावहारिक पक्ष तो कदापि नहीं जान पाएँगे। और शास्त्रार्थ को अधूरा छोड़कर वापिस दक्षिण चले जाएँगे। किन्तु शंकराचार्य ने ऐसा किया नहीं यह एक अलग बात है।

शंकराचार्य ने ऐसा क्यों नहीं किया? सम्भवतः इसलिए कि वे इस बात को बखूबी जानते थे कि ज्ञान के अनन्त आयाम हैं और ज्ञानी को सभी आयामों का ज्ञान होना आवश्यक है। परन्तु ज्ञान के सभी आयामों पर महारथ हासिल करना लगभग असम्भव है। इसलिए हमारा ज्ञान पूर्ण ज्ञान एक पक्ष ही होता है और हमें अपने ज्ञान पर दम्भ नहीं करना चाहिए। इस प्रकरण से हमें यह भी शिक्षा मिलती है कि यौन या कामशास्त्र पर खुली बातचीत करना वर्जित नहीं है। किन्तु जो बात विशेषतः अवधेय है वह यह है कि किसी भी ज्ञान के दो पक्ष होते हैं—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। सैद्धान्तिक ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान का पूरक है, और ज्ञान बिना सैद्धान्तिक ज्ञान के व्यावहारिक ज्ञान अपूर्ण। यही कारण था कि शंकराचार्य जैसे संन्यास-व्रतधारी को कामशास्त्र के व्यावहारिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए परकाय-प्रवेश करना पड़ा।

किसी भी युक्ति के कम-से-कम दो पक्ष होते हैं। इसी प्रकार युक्ति में प्रयुक्त किसी भी आधार वाक्य के भी सन्दर्भ-सिद्धान्त (Context Principle) के अनुसार अनेक अर्थ हो सकते हैं। उभय भारती ने इन सिद्धान्तों का बखूबी प्रयोग किया। पहले तो उन्होंने शंकराचार्य की जीत को यह कहकर अधूरा कहा कि अर्धांगिनी को हराए बिना मंडन मिश्र पर जीत हासिल नहीं की जा सकती। बाद में उन्होंने शंकराचार्य की जीत को यह कहकर पूर्ण कह दिया कि मंडन मिश्र की हार से उनकी अर्धांगिनी भी हार हो गई। विचित्र ही है कि शंकराचार्य इस द्वन्द्वात्मक युक्ति को समझ नहीं पाए। क्या इससे एक स्त्री का, एक पत्नी का, तर्क-विद्या में पारंगत होना सिद्ध नहीं होता!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान केंद्र के लिए प्रस्तावना

पवन कुमार गुप्त*

ज के युग में साधारण व्यक्ति के लिए जीना लगातार दूभर हो रहा है। पिछली कुछ दियों से दुनिया ने जिस गति से 'तरक्की' की है, 'विकास' हुआ है, उसी अनुपात ाधारण और साधारण व्यक्ति की जगह सिकुड़ती गई है। साधारण व्यक्ति पर ष बनने के लिए चौतरफा दबाव है। विशेष का अर्थ, दूसरों से कुछ अलग, दूसरों कुछ ज्यादा--किसी भी कीमत पर। वैसे तो हर व्यक्ति जन्म से ही हर दूसरे से, बहुत आयामों में, अलग है ही--शरीर की बनावट, ताकत, प्रवृत्ति (वात, पित्त, कफ) से र उसकी चेतना का स्तर, मानसिक प्रवृत्तियाँ, समझने की प्रक्रियाएँ, योग्यता, यता, झुकाव, पसंद-नापसंद, इत्यादि। यह एक सिद्धांत जरूर है कि हर मनुष्य की नाएँ एक जैसी होती हैं और मूल चाहनाओं के स्तर पर मनुष्यों में समानता भी है, जूद इसके, हर व्यक्ति अलग भी है। पर यह सारे आयाम, शारीरिक बनावट को ड़कर, अमूर्त या अस्पृश्य क्षेत्र के हैं; आज जिस अर्थ में विशेषता की बात होने लगी वह इससे अलग है।

आज की आधुनिकता या विकास के युग में, अमूर्त की नहीं, स्पृश्य की तूती ती है और अमूर्त की लगभग अनदेखी की जाती है। विशेष का अर्थ भी आज, र्श रूप से) अलग 'दिखने' और 'लगने' से है। व्यक्ति मूल्यों और गुणों (अस्पृश्य) प्रेरणा और प्रेरित हो कर जीने से अधिक (दूसरों के) प्रभाव में जीने लगा है, जहां तः स्पृश्य की ही नकल होती है। यह चलन बहुत पुराना नहीं है। हमारे यहाँ अमीर र गरीब के रहन सहन में बहुत फर्क नहीं हुआ करता था। धरमपाल जी के शोध र्य से इन बातों के प्रमाण भी मिलते हैं। याद आती है एक योरोपीय यात्री की बात अठारहवीं शताब्दी के अंत में या उन्नीसवीं शताब्दी के शुरुआती दिनों में भारत या था। उसने अपने यात्रा वृत्तांत में हैदराबाद में घूमते हुए आश्चर्य प्रकट किया कि 'दरबारी और सामान्य नागरिक के बीच भेद करना मुश्किल है। ध्यान से देखने

न्द्र, (Society for Integrated Development of Himalaya, SIDH) हेजलवुड, लेन्डर कैंट, री-248179

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर दरबारियों के कपड़े कुछ ज्यादा उजले जान पड़ते हैं', बस। उदयपुर के राजा भी अपने व्यक्तिगत खर्च के लिए, अंग्रेजों के कब्जे से पहले, अपने खजाने से एक हजार रुपये महीने ही ले सकते हैं। अंग्रेजों के आने के बाद उन्हें हजार रुपये दिन के मिलने लगे। आज राजा महाराजाओं के जिन-जिन महलों में पाँच सितारा होटल खुले हैं, उनका मुआयना करने से पता चलेगा कि इनमें से प्रायः सभी बीसवीं शताब्दी के दूसरे या तीसरे दशक में बने। इसके पहले ये लोग भी इस तरह शायद नहीं रहते थे। किलों की जिंदगी और महलों की ज़िंदगी में बड़ा फर्क होता है। यह विशेषता और दिखावे का रोग, योरोप में कुछ सदियों पुराना और हमारे यहाँ लगभग एक शताब्दी पुराना है।

पर इस रोग से भारत का समाज बहुत तीव्र गति से ग्रस्त होते जा रहा है। जो साधारण जीवन जीना चाहते हैं, और अधिकतर लोग ऐसा ही चाहते भी हैं, बिना दूसरे का हक छीने, इस तरह से जी पाना मुश्किल होता जा रहा है। आक्रामकता और होड़, दूसरे को धकेल कर ही, आज ऐसा लगता है व्यक्ति—अपनी साधारण जरूरतें भी—पूरा कर सकता है—स्कूलों में दाखिले से लेकर, राशन कार्ड, खाना पकाने के लिए किरासिन, बिजली, पानी, किसी भी आवश्यकता को लें, इन्हें पाना सहज नहीं रह गया है। जिन चीजों के लिए सोचने की जरूरत भी नहीं हुआ करती थीं; जिन पर समाज और परिवारों का अपना अधिकार होता था, जिन्हें वे खुद या आस-पास पैदा कर पाते थे और आपस में लेन देन करके अपना जीवन चला पाते थे, उनसे आज व्यक्ति महरूम होते जा रहा है। पहले सुविधाओं के नाम पर समाज की आदत बदली जाती है और वे जब इन सुविधाओं पर पूरी तरह से निर्भर हो जाते हैं और पुराने तरीकों को लगभग भूल चुके होते हैं, तो व्यवस्था हावी हो कर उन्हें स्वार्थी और बेईमान बनने पर मजबूर कर देती है। सरकारी व्यवस्थाएँ हर तरफ से हमें जकड़े हुए है। गाँधी जी ने 1916 में कहा था कि किसी भी सभ्य समाज में आवश्यक वस्तुओं की जरूरत पूरा करने की चिंता किसी को भी नहीं होनी चाहिए और याद दिलाया कि सभी धर्मों में भी यही कहा गया है कि 'कल की चिंता मत करो', इसका आधार भी यही है। दान की, वस्तु विनिमय, बचत और तड़क-भड़क से दूर रहने की परम्पराओं के चलते पैसे का महत्व कम और आवश्यक वस्तुओं का महत्व ज्यादा था। आवश्यक वस्तुएँ स्थानीय समाज स्वयं पैदा कर लेता था, या आस-पास से जुगाड़ कर लेता था। स्थानीय समाज सशक्त थे। वस्तुओं को बनाने, उनके वितरण और उनकी कैसे देखभाल होनी है, इन सब पर समाज का अधिकार था और समय-समय पर समाज के सयाने एवं परम्पराएँ 'कैसे करना है' का दिशा निर्धारण करतीं थीं।

'अच्छे' की परिभाषा अलग थी। स्वास्थ्य के लिए जो आहार अनुकूल, वह अच्छा होता था। स्वाद नदारद था—ऐसा नहीं, पर स्वास्थ्य की वरीयता थी; पहले स्वास्थ्य फिर स्वाद। समाज में खाने-पीने और स्वास्थ्य की अच्छी समझ थी, जो आधुनिकता के युग में विलुप्तप्राय हो गई हैं। सामान्य व्यक्ति अपने परिवार के सदस्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की देखभाल करने में सक्षम नहीं रह गया है। आज होड़ के (बाजार के) जमाने में स्वाद, स्वास्थ्य पर हावी है और स्वास्थ्य का पूरा दायित्व आधुनिक स्वास्थ्य प्रणाली को दे दिया गया है, जिसमें अनुभव पर कम और यंत्रों पर अधिक भरोसा है। एक आम परिवार आज अपनी कमाई का लगभग 25% हिस्सा डॉक्टरों, हस्पतालों और बीमा कंपनियों को देने को मजबूर सा हो गया है। जिस प्रकार स्वाद स्वास्थ्य पर हावी है वैसा ही अन्य जरूरत और बे-जरूरत की वस्तुओं के साथ हुआ है। इस विकास के युग में हमारी प्राथमिकताएँ गड़बड़ा गईं हैं।

समझ जब गड़बड़ा जाती है तो उसके परिणाम भी वैसे ही होंगे। होड़ और विशेष बनने की चाहत को आज का अर्थशास्त्र और उससे पोषित बाजार, बढ़ावा देता है। यह अनिवार्य है क्योंकि बाजार की सफलता इसी पर टिकी है। 'अच्छे' की नई नई परिभाषाएँ बनायी जाती हैं। 'स्थिति' पर से नजर हटकर मात्र 'गति' पर टिकाई जा रही हैं। साश्वत सत्य की जगह, तात्कालिक और आनन-फानन में जो चमत्कृत कर दे, वह हावी है। परंपराएँ बनने में सदियाँ लगती हैं, पीढ़ियों का अनुभव होता है, उनके पीछे। बहुधा जो दिखता है, वह होता नहीं। बहुधा जो अभी और तुरंत में ठीक और सही लगता है उसके दूरगामी परिणाम विपरीत होते हैं। आधुनिक दवाइयों के तात्कालिक परिणाम चमत्कृत करनेवाले हो सकते हैं पर दूरगामी परिणाम भयंकर होते हैं। यही बात कृषि में कृत्रिम खाद के परिणामों पर भी लागू होती है। और यही किस्सा बहुत सी आधुनिक तकनीक और यंत्रों पर भी लागू होता है। यहीं परम्पराओं का सही दिशा दिखाने में बड़ा योगदान होता है/था। परम्पराएँ समाज के लम्बे अनुभव से जनित होती रहती हैं, सहज गति से उनमें संशोधन भी होते हैं; परम्पराएँ जड़ नहीं होतीं। उन पर किसी एक का आधिपत्य नहीं होता, न ही कोई व्यक्ति विशेष उन्हें बनाने का दावा करता है, कर भी नहीं सकता। परम्पराओं के जन्म का रिश्ता समाज से होता है, किसी व्यक्ति विशेष से नहीं। परम्पराओं को समाज का हर व्यक्ति समझे, यह न तो मुमकिन है, न ही जरूरी। पर समाज, इस बात पर आस्था रखते हुए कि, इसने पहले भी रास्ता दिखाया है, आगे भी दिखाएगा, उस पर चलता है।

पर आधुनिकता (आधुनिक विज्ञान और शिक्षा) ने हर पुराने ज्ञान और परम्पराओं पर टिकी हुई आस्थाओं को तोड़ा है। शाश्वत सत्य को अनदेखा कर तात्कालिक पर ही नजर रहे, ऐसा आधुनिकता ने कर दिया है, जिससे आस्थाएँ टूटी। गलत रूढ़ियों को बढ़ा-चढ़ा कर या तोड़ मरोड़कर, उन्हें परम्परा का नाम दे कर, भी ऐसा किया गया। साथ ही आधुनिक विज्ञान और तकनीक के त्वरित परिणामों को बढ़ा चढ़ा कर, महिमामंडित करके लोगों को चमत्कृत किया गया; उसके उन पक्षों को आम जनता से छुपाया जाता है जो व्यक्ति से फिजूलखर्च करवाती हैं, उसे अधिक पर-निर्भर और मजबूर बनाती है। उसे तीव्र से तीव्रतर गति में रहने को प्रेरित करके उसके विवेक से उसे दूर कर देती है। वह बदहवासी में जीने लगता है इसी प्रकार जीने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का आदी हो जाता है। उससे 'खाली' नहीं बैठा जाता, अशांत रहता है, सहज नहीं हो पाता और इस अशांति को दूर करने के लिए हर समय बदलाव, त्वरित बदलाव से ही, किसी तरह अपना संतुलन रख पाता है।

व्यापार को हमारे यहाँ उद्योग/उत्पादन से छोटा माना गया है। पर अब इन दोनों से अलग 'सर्विस इंडस्ट्री' के नाम से ऐसी व्यवस्था पैदा हो गई है, जिसमें बिना उत्पादन किए, भयंकर लूट का इंतजाम हो गया है। और जिसे लूटा जा रहा है, वही इस व्यवस्था का हिमायती हो चला है।

जब समझ भटकती है, परम्पराएँ टूटती हैं तो समाज टूटता है। समाज की सौंदर्य दृष्टि और अपने विगत की स्मृति लगभग नष्ट हो जाती है। व्यक्ति व्यक्ति से अलग हो कर प्रतिद्वंद्वी हो जाता है। सगे अपनों से होड़ करने लगते हैं, सहयोग और प्रेम की जगह, ईर्ष्या और द्वेष पनपने लगता है। व्यवहार में ईमानदारी की जगह दिखावा और औपचारिकता ले लेती है। इस विकास के युग में यही हो रहा है। इस युग की मान्यताओं में विरोधाभास भरा है। और अब ये विरोधाभास बड़ी समस्याओं के रूप में दिखाई भी पड़ने लगे हैं।

युद्ध और आतंकवाद इनमें से एक है—हथियारों का उत्पादन और व्यापार लगातार बढ़ता जा रहा है। दुनिया की आबादी के एक बड़े हिस्से की रोटी, कपड़ा और मकान जैसी बुनियादी आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो रहीं। गरीबी और अमीरी का फासला बढ़ता जा रहा है पर हथियारों पर खर्च लगातार बढ़ते जा रहे हैं। और यह सब युद्ध और आतंकवाद को रोकने के नाम पर हो रहा है। युद्ध, आतंकवाद और हिंसा का कोई समाधान दुनिया जिस रास्ते पर चल रही है उस रास्ते दिखाई नहीं पड़ता। साधारण की अवमानना और होड़, आक्रामकता, इस राह पर हिंसा—व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रों के बीच अवश्यम्भावी है।

स्पृश्य जगत में प्रतिस्पर्धा बढ़ा कर ही फिजूल वस्तुओं की खपत बढ़ सकती है, जिसका सीधा संबंध आज के बाजार और अर्थतन्त्र से है। फिजूल खपत का संबंध प्रकृति के बढ़ते दोहन से है। इस दोहन का असर फिर अनिश्चित मौसम, बढ़ते तापमान, समुद्र स्तर के बढ़ने पर तो होता ही है, साधारण मनुष्य का शोषण भी होता है। जिस प्रकार के विकास पर आज का अर्थतन्त्र चल रहा है वहाँ छोटे और स्थानीय की जगह नहीं है। बड़ी परियोजनाएँ, बड़े, कल-कारखाने, बड़े बाँध, छोटी दुकानों की जगह बड़े मॉल; विकेंद्रीकृत और स्वायत्त प्रणालियों और व्यवस्थाओं की जगह केंद्रीकृत व्यवस्थाएँ—इस अर्थतन्त्र और उससे निकली नीतियों का अहम हिस्सा हैं। इस तंत्र में जिस प्रकार साधारण व्यक्ति की जगह नहीं, उसी प्रकार छोटे कारखानों, उद्योगों, छोटी मशीनों, कारीगर समाज, छोटे बाजारों की जगह सिकुड़ती चली जाती है। आज की तथाकथित लोकशाही में साधारण व्यक्ति की दुहाई तो दी जाती है, पर अमल में उसकी कोई जगह नहीं। उन्हें विकास और लोक कल्याण के नाम पर सदियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से जिस भूमि पर वे बसे हैं, वहाँ से, उनसे बिना पूछे, चुटकी में बेदखल किया जा सकता है। 'या तो आज के तंत्र का हिस्सा/पुर्जा बनो वरना कोई जगह नहीं'—असलियत यही है। हमारे यहाँ नौकरी करने को ओछा माना जाता था, अब सब नौकरी करने में अपनी शान समझने लगे हैं। नौकरी की मानसिकता से सब ग्रसित हैं; और बात स्वतन्त्रता की होती है। नौकरी करनेवाला हमेशा असुरक्षित रहता है। यह वर्तमान तंत्र के हित में है।

शिक्षा का अर्थ स्कूल और कालेजों की पढ़ाई हो गया है—क्या पढ़ाया जाय, क्यों पढ़ाया जाय इस पर चर्चा नहीं के बराबर है। स्कूल और कॉलेजों में जो शिक्षा दी जा रही है वह व्यक्ति को इसी तंत्र का हिस्सा बनने के लिए, नौकर बनाने के लिए और खपत को बढ़ाने के लिए दी जा रही है। पढ़ा-लिखा उत्पादन से हट कर नौकरी करने में अपनी शान भी समझता है और ऐसा करना उसकी बाध्यता भी बनती जा रही है।

दुनिया के बड़े अफसर, राजनीतिक, उद्योगपति, व्यापारी और नीति निर्णायक-इन सब में एक मोटी सहमति दिखाई पड़ती है कि व्यवस्था ऐसे ही चले—उसमें बीच-बीच में थोड़ा बहुत परिवर्तन करते रहना, कुछ छोटे-मोटे आंदोलन भी होते रहे, जिससे लोग भुलावे में रहें की उन्हें इस तंत्र में छूट है—अपने अधिकार की लड़ाई लड़ने की, भी इस सोच और तंत्र का हिस्सा है। पिछली एक सदी में दुनिया के बड़े और नामी लोगों में महात्मा गाँधी एकमात्र ऐसे व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं जिन्होंने इस तंत्र को ठीक से समझा और लोगों को समझाने का प्रयास भी किया। "हिन्द स्वराज" एक ठोस उदाहरण है। जिन्होंने इस तंत्र के विभिन्न आयामों की, शिक्षा, स्वास्थ्य प्रणाली, लोकशाही, आधुनिक तकनीक और आधुनिक न्याय प्रणाली के बीच जो ताल-मेल है, उसे समझा। यह तंत्र समाज को तोड़ कर व्यक्तिवाद और परिवारवाद को बढ़ावा देता है, सहयोग की जगह प्रतिस्पर्धा को बढ़ाता है और अंततः समाज को तोड़ देता है। यह जरूरी भी है क्योंकि ऐसी व्यवस्था चलती रहे इसके लिए जरूरी है कि लोग संगठित न हो सकें, क्योंकि कमजोर समाजों में संगठित नहीं हो पाते—सब अपना-अपना फायदा और अपनी ज़िंदगी चलाने में खप जाते हैं। आज की व्यवस्थाएँ पर-निर्भरता बढ़ा कर, समाज के अपने को बनाए रखने के, अपने को सुरक्षित रखने के तरीके, उनके 'सपोर्ट सिस्टम' को खत्म कर रही हैं। और जब समाज टूटता है तो अमीर व्यक्ति भी असुरक्षित हो जाता है। समाज सशक्त रहता है तो गरीब भी सुरक्षित महसूस करता है। गाँव की हमारे यहाँ परिभाषा भी, बकौल श्री रवींद्र शर्मा 'गुरुजी' के "गाँव वह है जहाँ हर एक के लिए भोजन की सुरक्षा और सम्मान की व्यवस्था हो", रही है।

हर देश और समाज की अपनी-अपनी जीवन दृष्टि रहती है। इसी जीवन दृष्टि से व्यक्ति का आपसी व्यवहार और प्रकृति के साथ कैसा रिश्ता हो—इसके तरीके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकलते हैं। हमारे यहाँ चराचर में जीवन, उसके प्रति कृतज्ञता और सम्मान का भाव और परस्परता की समझ रही है। कम में जीना, बचत, दिखावे को ओछी नजर में देखना, विविधता का सम्मान और साथ ही विविधता में समता—इन सब की समझ हमारे यहाँ रही है। अब समानता के नाम पर, जो अपने में एक दिखावा और धोखा ज्यादा है, एकरूपता का चलन हो गया है। हमारे यहाँ व्यापक स्तर पर स्पृश्य-सत्ता, पैसे इत्यादि को उतना महत्व कभी नहीं दिया गया, जितना मूल्यों—सादगी, त्याग, कृतज्ञता, सहजता, शांति, विश्राम इत्यादि को।

एक वाकया याद आता है। महात्मा गाँधी एक बार दक्षिण में तंजौर की यात्रा करते वक्त एक किसान से पूछते हैं, "तुम्हारा राजा कौन है?" किसान आसमान की तरफ हाथ उठाकर जवाब देता है, "होगा कोई, असली राजा तो वो है।" आज का कोई बड़ा आदमी होता तो किसान की अनभिज्ञता पर मायूस होता और उसे 'शिक्षित' करने के उपाय ढूँढ़ता। पर महात्मा गाँधी को किसान के जवाब में शक्ति दिखी कि वह लौकिक की जगह पारलौकिक में अधिक विश्वास रखता है और अगर उसकी इस समझ को आधार बना कर, उसे अधिक पुष्ट करके काम हो तो देश के साधारण लोगों में शक्ति का संचार हो सकता है।

महात्मा गाँधी की लड़ाई सभ्यागत थी। उन्हें हमारे आम आदमी, जो आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से बचा था, के सोचने, काम और व्यवहार करने के तरीकों में एक गहरी समझ दिखती थी, जो हम पढ़े-लिखों को प्रयास करने पर भी नहीं दिखती। पढ़े-लिखों का तो साधारण व्यक्ति से सहज संवाद ही बंद-सा हो गया है। उनकी भाषा, मुहावरे और सोचने समझने के तरीकों में इतना फासला आधुनिक शिक्षा और अन्य प्रभावों में, जिसमें वह जीता है, ने पैदा कर दिया है, कि दो अलग-अलग दुनियाएँ हो गई हैं।

आधुनिक विज्ञान की बुनियाद, आधुनिक शिक्षा एवं तमाम आधुनिक व्यवस्थाओं की बुनियाद एक ही है। इसने ऐसा कर दिया है कि जो अभी दिखता है उसी में विश्वास होने लगा है, अर्थ के बजाय शब्द भारी हो गए हैं, 'होने' के बजाय 'दिखने' पर ध्यान लगने लगा है, शाश्वत की जगह तत्कालीन ने ले ली है। परम्पराओं और अनुभव जनित ज्ञान, लोक विद्याओं को अंध-विश्वास कह कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया है। शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रयोग हो रहे हैं उनमें से अधिकांश इसी व्यवस्था के अंतर्गत हो रहे हैं, आधुनिकता के बनाए कठघरों के भीतर। इसलिए इन प्रयोगों को व्यवस्था लील लेती है, बुनियादी बदलाव हो नहीं पाता। यही बात देश में हो रहे विभिन्न आंदोलनों पर लागू होती है। ईमानदारी से किए गए प्रयास भी इसलिए भटक जाते हैं।

इस आधुनिकता को गहराई से समझने की जरूरत आज पहले से कहीं ज्यादा महसूस हो रही है। आधुनिक व्यवस्थाओं के मकड़-जाल को समझे बिना हम किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धान पर नहीं पहुँच सकते। बहुत से लोग यह मानते हैं कि सिर्फ शाश्वत सत्य को ने से ही बात पूरी हो जाएगी पर ऐसा नहीं है। ठीक वैसे ही जैसे आधुनिक सोच वाले तत्कालीन को महत्त्व देते हैं। पर हमारी समझ इन दोनों धाराओं को साथ कर, महत्व दे कर ही बनी है। मनुष्य स्पृश्य/मूर्त और तत्कालीन में जीने को बाध्य और साथ ही शाश्वत सत्य से इंकार करने पर बरबादी के अलावा कहीं नहीं पहुँच ता, क्योंकि वह तो नित्य वर्तमान है। मनुष्य का जीवन इन दोनों—शाश्वत और कालीन—से संचालित है। मनुष्य जानते हुए भी वह सब करने को बहुधा बाध्य हो ता है जो सही नहीं है। ऐसा पहले भी होता रहा है। पहले यह स्वयं की कमजोरियों वजह से ज्यादा होता था, पर आज तो इसमें आधुनिक तंत्र और व्यवस्था एक बड़ी का अदा कर रही है। 'विकास', 'लोकशाही', 'प्रगतिशीलता', 'शिक्षा' इत्यादि द इन्हीं कठघरों के कुछ उदाहरण हैं, जिनके अर्थ सिमट गए हैं और इन सिमटे हुए र्थों से दुनिया हाँकी जा रही है। इसी तरह हमारी पढ़ाई-लिखाई का हाल है। विद्यालयों और कालेजों में हर विषय अपने-अपने कठघरों में फँसे पड़े हैं। हमारा त-सा ज्ञान इसलिए इनके अंतर्गत आता ही नहीं। अंग्रेजी इतनी हावी है कि -लिखा सिर्फ पश्चिम से प्रभावित साहित्य और पाठ्यपुस्तकों को पढ़कर, उसे ही र्ण ज्ञान मान लेता है। उन्होंने शिक्षा और विज्ञान के मार्फत ऐसे कठघरे बना दिये जिनकी वजह से आम पढ़े-लिखे के सोचने-समझने के दायरे भी बाँध दिये गए हैं। लिए यह भी जरूरी हो गया है कि शाश्वत नियमों के साथ-साथ हम इन कठघरों टेग्रीज) को भी समझें, व्यवस्थाओं को समझें।

जिन व्यवस्थाओं में हम जी रहे हैं, वे अन्य प्रकार के मूल्यों पर आधारित है, हाँ सत्ता, समाज पर हावी रहती है, जहाँ समाज को तोड़कर व्यक्तिवाद और िवारवाद को बढ़ाया जाता है, जहाँ 'पर्याप्त' और 'संतोष' जैसे शब्द, शब्दावली में हीं हैं, जहाँ ज्ञान की नहीं, जानकारी की, सामरिक और पैसे की शक्ति की पूजा होती , जहाँ होने पर नहीं दिखावे पर ध्यान भटकाया जाता है, जहाँ स्थिति की अनदेखी र के गति पर ध्यान दिया जाता है, जहाँ धीमे और सहजता का उपहास होता है और ता को ही विकास का प्रतीक माना जाता है। इस तरह की मान्यताएँ और उससे जी संस्थाओं और व्यवस्थाओं से दो बड़ी मुश्किलें हमारे लिए हैं। एक मुश्किल सका जिक्र इस पर्चे में पहले भी हुआ है वह तो सार्वभौम है—पूरी दुनिया उससे ग्रस्त । पर हमारे लिए एक और संकट है। हम कितना ही आधुनिक हो जाएँ, हमारी परागत मान्यताएँ भी कहीं अंदर, गहरे में दबी पड़ी होती हैं। हमने पश्चिम के प्रभाव , उनकी नकल पर, अपने कानून, संस्थाएँ और व्यवस्थाएँ तो बना ली, पर वे हमसे क से चलती नहीं क्योंकि हमारा स्वभाव, अंदर दबी पड़ी मान्यताओं, से उनका न-मेल बैठ नहीं पाता, बावजूद कम-से-कम सौ साल के 'शिक्षित' होने के अथक ास के। इसलिए आज की दुनिया में भी हम मौलिक रूप से कुछ कर नहीं पाते,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अच्छे नकलची बनाने के अलावा। हर क्षेत्र में 'अच्छे' की परिभाषा कहीं और से ही आती हैं और हम उनका अनुसरण या नकल करते रहते हैं।

दुनिया में विचार का संकट है, और विचार जो इस समय दुनिया को चला रहे हैं, उनका संबंध वहाँ की सभ्यतागत जीवन दृष्टि से है। इस प्रकार से वर्तमान संकट, सभ्यतागत है। इसलिए हमें ऐसे प्रयास करने होंगे जिससे कम-से-कम हम अपनी नजरों से स्वयं को, हमारे समाज को, परंपरा को, पश्चिम को, हमारे पड़ोसियों को, शाश्वत नियमों को यानि विधान को, आज की व्यवस्थाओं को, प्रणालियों को देखें और समझें। प्रयोग भी करने होंगे। हम अपनी जड़ों से, अपनी सभ्यतागत मान्यताओं से कट गए हैं। स्मृति को जगा कर, सही समझ और नजरिया पैदा करके संस्थाओं और व्यवस्थाओं को अपने सभ्यागत स्वभाव के अनुरूप ढालना होगा। अपनी जीवन दृष्टि को समझकर उसका मूल्यसांकन और फिर उस बैठक पर हमें अपनी विद्याओं, संस्थाओं और व्यवस्थाओं को खड़ा करने के प्रयोग करने होंगे, जिससे एक मानवीय परंपरा, मानवीय समाज और मानवीय व्यवस्था की नींव पड़े।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य वल्लभ और भक्ति

त्रिभुवननाथ शुक्ल*

आयार्य वल्लभ वेदात परंपरा के उन दैदिप्यमान नक्षत्रों में से हैं, जिन्होंने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत की समरसता को अपने चिंतन में समावेशित किया है। वाद या भाव की दृष्टि से यदि हम विचार करें तो वल्लभ का दार्शनिक मत शुद्धाद्वैत के संज्ञा से संज्ञित किया जाएगा, किंतु यदि हम इसके समग्र विचारों पर दृष्टिपात करें तो यह बात हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देगी कि वे ज्ञान, भक्ति एवं कर्म को मात्र साधन के रूप में स्वीकार कर पूर्णतत्त्व को प्राप्त करने या वैसा ही हो जाने का विचार, उनके समग्र साहित्य में देखने को मिलेगा।

वेदांत शब्द का निर्वचन करते हुए कहा जाता है, 'वेदान्तो नाम उपनिषदो प्रमाणः' अर्थात् उपनिषद् जिसके प्रमाणस्वरूप हैं, वह वेदान्त है। कारण यह कि वेदान्त को वेद का शिर भाग कहा गया है—'वेदस्य शिरोभागः वेदान्तः' और यह शिर भाग उपनिषद् है, जो उसकी प्रामाणिकता को प्रमाणित करता है। इस क्रम में यदि हम वल्लभ के चिंतन का अवगाहन करते हैं तो उनका यह चिंतन एक नई शैली या भाव का संकेत करता है, जिसे हम शुद्धाद्वैत के नाम से जानते हैं। इस शुद्धाद्वैत की व्याख्या वल्लभ ने पुष्टि मार्ग से किया है, जो ज्ञान को भक्ति के माध्यम से पुष्ट करता है।

पुष्टि का अर्थ है—ईश्वर की भक्ति के द्वारा कृपा, अनुग्रह या अनुकंपा आदि प्राप्त करना। ब्रह्म या ईश्वर द्वारा भक्त को प्रदान की जाने वाली भक्ति ही पुष्टि है। वल्लभ की विचारधारा में जाति विशेष का कोई स्थान नहीं है, कारण यह कि जिसके द्वारा हम अनुग्रहीत होते हैं, वह स्वतः लिंग भेद, जाति भेद और नाम भेद से रहित है। इनके शिष्य परंपरा में सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इस परंपरा के भक्तों ने अशिक्षितों, शूद्रों, स्त्रियों आदि सभी को ईश्वर भक्ति के सहज मार्ग तक पहुँचाने का भागीरथ प्रयास किया है। यदि

* निदेशक, साहित्य अकादेमी, भोपाल एवं सम्पादक, साक्षात्कार, भोपाल, पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, मो. 9425044685

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम वल्लभ के भक्ति मार्ग का आज के उपभोगवादी संस्कृति के संदर्भ में विचार करें तो यह हमारे जीवन में वैभव, विलास, लोभ, मोह आदि से निवृत्त एवं मानवीय प्रेम में प्रवृत्त करते हुए दिखाई देगा, जो आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

भक्ति का अर्थ है—भक्त द्वारा भगवान को श्रद्धापूर्वक भजना। जो प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु जगत के पार यानि कि परोक्ष सत्ता के होने में विश्वास करते हैं, वे भक्त कहलाते हैं। अतः भक्ति भगवान के प्रति एक आत्मिक श्रद्धाभाव है। इसके जागरण से मनुष्य का चित्त सम और शीतल हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे हर्ष शोक, शुभ अशुभ, शत्रु मित्र, मान अपमान समभाव लगते हैं। 'भक्ति' मानवीय मूल्यों का गोमुख है। आज के वैज्ञानिक युग में भक्ति से रहित भौतिकता के तीव्र बयार में जो उपभोक्ता संस्कृति पनप रही है, वह मानव को आत्मिक सुख और मानसिक शांति प्रदान करने में अक्षम है। ऐसी स्थिति में यह विचार स्वाभाविक रूप से हमारे मनस्तल में आता है कि वास्तव में मनुष्य की क्या यही अंतिम स्थिति है? इस दिशा में विचार करने पर इसका निषेधात्मक उत्तर प्राप्त होगा। कारण यह कि आधुनिक विश्व मानव के हार्दिक सुख और आध्यात्मिक आनंद की तृप्ति इसी व्यक्ति-भावना, भक्ति, साहित्य और विषयातीत रस के रहने में हो सकेगी।

वल्लभाचार्य भक्ति से मुक्ति प्राप्ति का विधान करते हैं। वे मुक्ति प्राप्ति को भक्ति प्राप्ति का फल नहीं मानते। भक्ति स्वयं फल रूपा है। आगमशास्त्रों में तो ज्ञानी जनों की मुक्ति अंतःकरण का अत्यंत विलय होने के बाद आत्मा की केवल रूप में स्थिति का 'नाम' है। किंतु भक्तों की मुक्ति इष्ट देवता की नित्य लीला में प्रवेश होना है—इसी को वल्लभाचार्य परममुक्ति कहते हैं। संभवतः भक्ति निरूपक शास्त्रों को यही मुक्ति अभिप्रेत है।

भगवद्-भक्ति में अनुरक्त होने पर भक्त को वस्तुओं की चाह नहीं रह जाती, उसकी समस्त कामनाएँ शांत हो जाती हैं, सभी प्रपंच असत् प्रतीत होने लगते हैं। वल्लभाचार्य इस संदर्भ में भक्त-हृदय वृत्तासुर को भक्ति प्राप्त होने पर उसकी स्थिति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठमं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षैः।
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् यह कि हे समञ्जस! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य, रसातल का एकक्षत्र राज्य, योग की सिद्धियों—यहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे पक्षियों के पंखहीन बच्चे अपने माँ की बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ का दूध पीने के लिए आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतम से मिलने के लिए उत्कंठित रहती है—वैसे ही कमल नयन! मेरा मन आपके दर्शन के लिए छटपटा रहा है।

भक्ति संपूर्ण समर्पण की दशा है। वहाँ किसी विषय सुख का ध्यान नहीं होता। अतः सब प्रकार से निरपेक्ष होने से काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि का उसके हृदय में उद्भव ही नहीं होता। यह मन की ऐसी दशा है जिसमें सभी विषय-सुख उस अनिर्वचनीय सुख के सामने तुच्छ प्रतीत होते हैं। गीता में कहा गया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यद्यपि देह और प्राण से बढ़कर और कुछ भी प्रिय नहीं है तथापि भक्त भगवान के लिए उसका भी त्याग आनंदपूर्वक कर सकता है। भक्त जब भक्ति का रस ग्रहण कर लेता है, तब उसकी समस्त चेष्टाएँ दिव्य हो जाती हैं। श्रीमद्भागवत में स्वयं भगवान सात्त्विकी भक्ति करने वाले अपने भक्त की महत्ता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि गदगद् वाणी के साथ जिसका चित्त द्रवित हुआ करता है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वर से गाता है और नाचने लगता है—ऐसा मेरा भक्त त्रिभुवन को पवित्र कर देता है—

वाग्गदगदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद् भक्तियुक्तो भुवनो पुनाति।।

यहाँ प्रश्न उठता है कि भक्ति में ऐसी क्या विशेषता है जो मुक्ति में नहीं है? इसका समाधान वल्लभ के भक्ति चिंतन में स्पष्टतः देखने को मिलता है। उनके अनुसार मुक्ति में आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। दुख से आत्यंतिक निवृत्ति ही उसका सुख है किंतु भक्ति में आनन्द की आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। ऐसा आनंद जिसके समक्ष मोक्षानंद भी हेय जान पड़ता है।

भजनं भक्तिः, भज्यते अनया इति भक्तिः, भजन्ति अनया इति भक्तिः इत्यादि 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियाँ कही जा सकती हैं। गरुड़ पुराण में कहा गया है—

तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी।

जिसमें किसी भी प्रकार की भक्ति है, उसे भक्त कहते हैं। भक्ति तथा भक्त के अनेक भेदोपभेद शास्त्रों में कहे गए हैं। भक्ति के बिना किसी भी मनोरथ की सिद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हो सकती, यह सर्वानुभव-सिद्ध है। भगवत-प्राप्ति जैसा विषय भक्ति के बिना संभव है ही नहीं। वैदिक वाङ्मय में भक्ति शब्द का अर्थ 'भाग' अर्थ में दिखाई देता है। स्वामीनारायण ने 'सत्संगी जीवन' ग्रंथ में भक्ति को उपासना का पर्याय माना है–

'भगवत्सेवा भक्तिरित्युच्यते।' अद्वैत संप्रदाय में उपासना का अर्थ है–सगुण ब्रह्म में मन लगाना। चित्त की एकाग्रता ही इसका परम प्रयोजन कहा गया है और सत्य लोक की प्राप्ति इसका अवान्तर फल है। मधुसूदन सरस्वती ने भगवद्भक्ति रसायन में भक्ति का लक्षण करते हुए कहा है–

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारा वाहिताङ्गता।
सर्वेसे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।

अर्थात् सर्वेश्वर भगवान में भगवत धर्मों के अनुष्ठान से द्रवित हुए मन की धारा वाहिकता को प्राप्त वृत्ति 'भक्ति' कहलाती है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि भगवत धर्म से पवित्र हुआ मन जब अखण्ड धारा के रूप से सर्वेश्वर परमात्मा में स्थिर होकर तन्मय हो जाता है, तब उस वृत्ति को 'भक्ति' नाम से पुकारते हैं।

मधुसूदन सरस्वती भक्ति को अंतिम प्राप्य कहते हैं। वे मुक्ति प्राप्ति को भक्ति का फल नहीं मानते। भक्ति स्वयं फलरूपा है। वल्लभाचार्य ने जो भक्ति से मुक्ति कही है, उसका भी अभिप्राय यही है कि यदि मुक्ति होनी होगी तो भक्ति से ही हो सकती है और किसी मार्ग से नहीं। नारदसूत्र में नारद ने परम अनुराग को भक्ति कहा है। आचार्य शंकर ने 'स्वरूपानुसंधान' को भक्ति कहा है–'स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।' वास्तव में स्वरूपावगति ही अंततोगत्वा भक्ति का चरमफल है। इसलिए वेद में 'नान्यः पंथा विद्यतेऽपनाय' कहा गया है।

भक्ति का लक्षण कहते हुए रामानुज करते हैं कि–स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते वुधैः। अर्थात् प्रेमपूर्वक अनुध्यान चिंतन ही विद्वानों द्वारा भक्ति कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रियतम का अत्यंत प्रिय लगने वाला ध्यान या सतत् स्मरण ही भक्ति है। आचार्य निम्बार्क की सम्मति में प्रेम विशेष ही भक्ति का लक्षण है। यह दो प्रकार की है–पहली साधन भक्ति और दूसरी साध्य भक्ति। साधन भक्ति का दूसरा नाम है अपरा और साध्य भक्ति का दूसरा नाम है परा।

वल्लभाचार्य श्रीकृष्ण की सेवा को भक्ति शास्त्र का प्रथम अंग मानते हैं। श्रीकृष्ण के पोषण अर्थात् अनुग्रह से जिस भक्ति का उदय होता है, उसे पुष्टि भक्ति कहते हैं। वल्लभ दो प्रकार की भक्ति मानते हैं–मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति। उनके अनुसार केवल भजन ही भक्ति नहीं है, वरन् जिसमें प्रियत्व ही प्रयोजन होता है, वही भक्ति है। 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः' आदि श्रीमद्भागवत के वचनों में प्रयुक्त 'भाव' शब्द का अर्थ भक्ति ही है। भाव का अर्थ है– देहादिविषयक रति। रति शब्द का अर्थ होता है–स्नेह। इसी कारण पुष्टि भक्ति में स्नेह का ही प्राधान्य है। यह रति आठ प्रकार की मानी गई है–रति, स्नेह, मान, प्रणय, राग,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुराग, भाव और महाभाव। सृष्टि में भक्ति को स्वभाव के प्रेम में डुबोकर, अलौकिक तत्व स्मरण कराकर, अहंता ममता को भुलाकर, दीनतापूर्वक प्रभु की सेवा कराने वाली भक्ति पुष्टि भक्ति कहलाती है। यह भक्ति प्रभु या गुरु कृपा के बिना नहीं होती। इसीलिए पुष्टि मार्ग को अनुग्रह मार्ग भी कहते हैं। श्रीकृष्ण के लीलारस के आनंद में से निकले हुए आनंदात्मक रसात्मक भावों ने जो भक्ति का स्वरूप ग्रहण किया, वही पुष्टि मार्ग है।

भक्ति स्वतः ही पूर्ण है। वह कर्म, ज्ञान या किसी प्रकार के साधन की अपेक्षा नहीं रखती। कर्म का उद्देश्य वैयक्तिक सुख है और ज्ञान का लक्ष्य है उस निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति, जो द्वैत भावना से रहित है। अर्थात जहाँ उपास्य-उपासक का भेद नहीं। अतः भक्ति उन दोनों से भिन्न है। वल्लभ इस विषय में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जब तक साधक के हृदय में कर्म से प्राप्य भोगों के प्रति और ज्ञान से प्राप्त मोक्ष के प्रति अंशतः भी रुचि बनी रहेगी, तब तक उसमें भक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हो सकेगा—

भक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्।।

वास्तव में देखा जाए तो सभी शास्त्र एक मतेन इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि भक्ति का मूलाधार प्रभु की कृपा ही है। भक्ति सिद्धांत के प्रसंग में कठोपनिषद् का यह मंतव्य—'तमः क्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मनः'—वल्लभ चिंतन को बहुत प्रभावित किया है, जिससे वे यह स्थापित करते हैं कि भगवान के अनुग्रह से ही भक्त की कामना पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होती है। इसी को वे पोषण का सिद्धांत कहते हैं।

भक्ति विकास को रसाचार्यों ने नौ मनोवैज्ञानिक क्रमों में प्ररोचित किया है—श्रद्धा, साधुसंग, भजन-क्रिया, अनिष्ट-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और प्रेम। नारद उसके आद्याचार्य हैं। इनके भक्ति सूत्र (82) में इसके स्वरूप लक्षण एवं विकास के चरणों पर विस्तार से प्रकाश पड़ता है। उनके अनुसार भक्ति परानुरक्ति है। उन्होंने आसक्तियों के कुल ग्यारह सूक्ष्म चरणों को निरूपित किया है। ये हैं—गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति।

भारत भक्ति का गोमुख है। यहाँ भक्ति दैन्य, अथवा दौरवल्य का प्रतीक नहीं अपितु शक्ति का द्योतक है। कारण कि भक्ति शक्ति की ही की जाती है। आखिर वह शक्तिसंपन्न नहीं होगा तो अपने भक्त का संरक्षण क्या करेगा। इसी अर्थ में भक्ति की पूरी विकास-यात्रा का एक सुदृढ़ सोपान है। इसका बीज भाव हमें नारद भक्तिसूत्र में प्राप्त होता है।

वल्लभ संप्रदाय में भक्ति का वास्तविक लक्ष्य परमात्मा की उपलब्धि है। इसी की संप्राप्ति के लिए सर्ग-विसर्गादि लक्षणों का निरूपण किया गया है। ये लक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीमद्भागवद् की ज्ञान-कुक्षि से निःश्रित हैं, जिसका विवेच्य तत्त्व है—भगवत् स्वरूप। इसके साथ उपन्यस्थ शेष नौ लक्षण ईश्वर के उसी स्वरूप के परिज्ञान के साधन हैं। इसीलिए भागवतकार ने स्पष्टतः उद्बाहु घोषणा की है—

दशमस्य विशुद्‌यर्थः नवानामिह लक्षणम् (2/12)

परमात्मा तथा जीव का पारस्परिक संबंध ही इन तत्त्वों का मुख्य विवेच्य-पक्ष है। सर्ग, स्थिति, विरोध, विसर्ग तथा पोषण—ये भगवत् कृत्य हैं। इसी के साथ उत्पत्ति, स्थिति, लय, निग्रह तथा अनुग्रह—ये भागवत में प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। यद्यपि परमेश्वर का स्वरूप अभेद्य तथा अविभाज्य है तथापि व्यावहारिक जगत के परिज्ञान हेतु इसके दो रूप स्वीकार किए गए हैं—पहला भक्त के निमित्त ग्राह्य अनुग्राहक रूप, जिसका अधिधान 'आश्रय' है; दूसरा जगत के परिचालन के निमित्त कालरूप, जिसका उल्लेख 'मन्वन्तर' शब्द से किया गया है। यहाँ उल्लेख्य है कि मन्वन्तर शब्द भारतीय धर्म, अध्यात्म और संस्कृति का बीज शब्द है। इस प्रपंचात्मक जगत में जो कुछ भी है, वह सब किसी न किसी रूप में भक्ति से अनुस्यूत है। परमात्मा इसकी धारक शक्ति है और जीव उसका परिणामी तत्त्व है। यह कारण है और जीवन कार्य। वह गुण है और जीव उसका विस्तार। वह प्रकाशक है और जीव उसका प्रकाश्य। वह जल तत्त्व है और जीव उसकी तरंगें। वह पवन तत्त्व है और जीव उसका शैत्य है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह सब किससे विस्तारित है? और किससे व्यक्त है? उत्तर सहज है, यह भक्ति से ही विस्तारित है और उसी से व्यक्त भी। यह पंचमहाभूत शब्दादि तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, अहंकार और महत तत्त्व की उत्पत्ति उस परमात्मा के बिना असंभव है। यह उसी 'एकोऽहम् बहुष्यामः'—का अनुलक्षण है। इसका परिसमाधान 'सर्ग' नाम के लक्षण में उपलब्ध है, जिसमें नेति-नेति पद्धति से जान पाते हैं। इसी प्रकार विसर्ग, स्थान तथा पोषण आदि लक्षणों से ईश्वर के क्रमशः स्वरूप, महात्म्य और कृ के भाव रूपों को जान पाते हैं। यह.सब जान पाना अनुग्रह सापेक्ष है। यह श्रीमद्भागवत की अनेक कथाओं में उपलब्ध है। जहाँ तक वल्लभाचार्य और उनके शुद्धाद्वैत के साक्ष्य पर भक्ति के स्वरूप एवं उसके विकास की बात है वह सब का सब श्रीकृष्ण के बाल रूप पर आधारित है। सूरदास और उनकी परंपरा के कवियों ने ही वात्सल्यरूप वत्सल रस के माध्यम से व्यक्त किया है। यहाँ एक तत्त्व का निरसन जिज्ञासुओं के पक्ष में किया जाना आवश्यक है कि रसों के गणना के प्रसंग में वात्सल्य रस का उल्लेख मिलता है जो कि सर्वथा त्रुटिपूर्ण है। क्योंकि वात्सल्य तो भाव है और उसका रस वत्सल है। इसीलिए सूर आदि कवियों के प्रसंग में वात्सल्यभाव की बात की गई है न कि वात्सल रस की। इस परंपरा का विकास राम भक्त कवियों का भी मिलता है। जहाँ तक वल्लभ के शुद्धाद्वैत की बात है वह श्रीकृष्ण के इसी वात्सल्य भाव में अनुस्यूत है। इसकी पुष्टि भागवत के उस कथन से हो जाती है, जिसमें गुणानुवाद को भव रोग की महौषधि माना गया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवृत्ततर्षैरूपगीतमानद्
भवौषधाच्छोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुबादात्
पुमानविरज्येत विना पशुध्नात्। (भाग. 10/1/4)

भगवत् कथा के अमृत पान से ही जागतिक प्रपंचों का विरोध होता है। इसी के आगे अपने उत्तरोत्तर क्रम में जीव अपने आत्मरूप से जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से विरहित तुरीय परमात्मा में अपनी आत्मसंसिद्धि प्राप्त करता है। वह भगवत् नाम-रूप, लीला और धाम आदि चतुर्विधि रूप से भक्तजनों के कल्याण के लिए अवतरित होता है। प्रकरान्तर से हमारे अवतारवाद की यही पीठिका बनती है। इसी भगवत तत्त्व की लीला कथन का अवलंबन जीव की मुक्ति का साधन भी बनता है। इसी को लीला-विरोध पद से अभिज्ञापित किया गया है। यथा–

नैमित्तिको विरोधोऽन्यो धर्मग्लानिनिमित्तम् (भाग. 10/10/2)

उपर्युक्त श्लोक में महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान के भूमि भार का हरण करने वाले कर्मों को विरोध पद से व्यक्त किया है। इसके आगे की सरणि है–मुक्ति। मुक्ति से तात्पर्य है अभेद्य रूप से नानात्व का परित्याग करके जीव का अपने स्वरूप में आत्मस्थ हो जाना। इसीलिए भागवतकार ने मुक्ति का उपाय भक्ति से ही खोज निकाला है। इसका अंतिम एवं दशम् लक्षण आश्रय है। यह आश्रय वही परब्रह्म परमात्मा है। उसी की सम्प्राप्ति हेतु उपुर्यक्त नौ लक्षणों की प्रोरचना की गई है। यहाँ आश्रय का सामान्य अथवा सहज अर्थ है– क्षरण अथवा रक्षक। इसके अभाव में कल्याण का होना कथमपि संभव है ही नहीं। श्रीकृष्ण की संप्राप्ति में ही भक्ति रस समुत्भूत होता है। कारण कि श्रीकृष्ण रस स्वरूप हैं। इस रस स्वरूप की संप्राप्ति के लिए जीव को महाराग के भाव से उस परमात्म में आध्यापित हो जाने की आवश्यकता होती है, जिसके लिए सच्चा साधक बार-बार चेष्टा करता हुआ, उसमें अपने को विसर्जित कर उससे अभेदात्मक संबंध स्थापित कर लेता है। यही है भक्ति से मुक्ति का सात्विक उपाय, जो कि सारे उपायों से एकदम भिन्न भी है और निराला भी। इसी को शब्द देते हुए भागवतकार लिखते हैं–

स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्दते। (भाग. 2/10/7)

वस्तुतः परमात्मा का आश्रय मानना केवल भावना का विषय नहीं है। अपितु यह आश्रयत्व के बोध का विषय है। सच्चा शरणागत अपने को कभी अशरणागत मानता ही नहीं। वह यह मानकर चलता है कि वही परमतत्त्व हमारा आश्रय है और रक्षक भी। इस कथन की पुष्टि श्रीमद्भागवत् से होती है–

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भहेतुराद्यः। (भाग. 3/16/37)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घट का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार जल है, जल का तेज है, तेज का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है, आकाश का आधार महाकाश है। यह महाकाश जड़ नहीं चेतन है, नीरस नहीं आनंदमय है अनित्य नहीं, नित्य एवं सत् है। भगवान् व्यास ने इसकी पुष्टि 'आनंदमयो अध्यासात्'—इस सूत्र से की है। श्रुति भी इसकी पुष्टि करती हैं—

को ह्येवान्यात्कः प्रण्याद् यदेष आकाश आनंदो न स्यात्। एव ह्येवानंदयति।

—तैत्तिरीयोपनिषद्

इससे स्वतः सिद्ध है कि परमात्मा ही सबका सर्वाधार है। जैसे—मिट्टी से उत्पन्न उसके विकार का संबंध पृथक् नहीं है, उसी तरह जीव का परमात्मा से अपृथक् तादात्म्य संबंध है। वल्लभाचार्य ने भागवत के सुबोधिनी टीका में कहा है कि परमसत्ता पर पूर्ण विश्वास कर उस पर निर्भर हो जाना ही जीवन का परम एवं चरम लक्ष्य होना चाहिए। क्योंकि शरणागत हुए बिना भगवत कृपा सुलभ हो ही नहीं सकती और जब यह सुलभ हो जाती है, तब सांसारिक विषयों से आसक्ति स्वयमेव निरसित होकर भक्तिरस में संगमित हो जाती है। उपर्युक्त विवेचित व्यक्ति के दस लक्षणों में व्यक्तिरस की अन्विति का यही मूलार्थ है।

विवेच्य विषय की चूड़ान्त स्थिति के लिए सगुण लीला और भक्तिरस की चर्चा आवश्यक है। इसके कुछ उपलक्षणों का संकेत वल्लभाचार्य जी ने यथास्थान अपनी सुबोधिनी टीका में किया है। इसकी महानीय उद्भावना 'प्रेमापुमर्थो महान' इसमें भक्त में अनुरक्त मन की आतुरता, उसके निःसीम आनंदमय उदधि में निमग्न होकर प्राप्त की जाती है। इसके लिए उन्होंने उसकी लीला माधुरी का बड़ा मनोहरी वर्णन किया है।

श्री वल्लभाचार्य ने सुबोधिनी टीका में भगवान के विलास की इच्छा को ही लीला नाम दिया है। लीलानंद का मुख्य प्रयोजन लीला ही है। वह रसारूप की है और उसका पिपासु भी। जैसा कि उन्होंने सुबोधिनी (भाग—3) में लिखा है—

लीला नाम विलासोच्छा कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तथा कृत्वा वहिः कार्य जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्त्वन्तः करणे पूर्णे आनंदे तदुल्लासेन कार्य जननि सदृशी क्रिया क्वचिदुत्पद्यते। तत्र नहि किंचित प्रयोजनमस्ति। लीला एव प्रयोजनत्वात्।

वल्लभ संप्रदाय की मूल मान्यता वात्सल्य भक्ति ही है। इसकी अत्यंत सुंदर व्यवस्था पुष्टि मार्ग में बालकृष्ण की यथार्थ सेवा के रूप में की गई है। इसे अष्टयामी सेवा कहा जाता है। अर्थात् जागरण से लेकर शयन तक की सेवा। इसमें मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थायन, भोग, संध्या तथा शयन के रूप में मान्य किया गया है। वस्तुतः भक्ति और लीला में अन्योन्याश्रित संबंध है। भगवान श्रीकृष्ण की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुखतः तीन अवस्थाएँ *भक्तिरसामृत सिंधु* (दक्षिण विभाग 1/119) में मानी ग़ई हैं। चौथी अवस्था यौवन को भी मान लेने पर हमें इसकी चार अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं।

श्रीवल्लभाचार्य द्वारा निरूपित शुद्धाद्वैत अंश अंशी के अभेदात्मक संबंध की भीतिका श्रीकृष्ण के बालरूप पर आधारित है। इन्होंने इसकी समग्र मीमांसा श्रीमद्‌भागवत र लिखी गई अपनी सुबोधिनी टीका में व्यक्त किया है। वस्तुतः इनकी यह ऐसी तिपत्ति है जो सहज भी है और साध्य भी। चिंत्य भी है और उपास्य भी। जागतिक तिमान इसके आधार हैं और भक्ति उसका गंतव्य। वे अपने इस गंतव्य से श्रीकृष्ण ; बाल भाव रूप की ओर प्रेरित करते हैं। यह बहुत कुछ वैसा ही है जैसे तुलसी के ट राम। यथा—इष्ट देव मम बालक राम। इसके मूल में एक गहरी व्यंजना है—वह ह कि बाल रूप निच्छल, सहज, सौम्य एवं स्पष्ट होता है। आज का विज्ञान भी यही तलाता है कि चार वर्ष तक का बालक अपने भावों को अक्षरशः सत्य रूप में भिव्यक्त करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्त कबीर और गुरु नानक : अन्तरसम्बन्ध और अन्तरसंवाद

महीप सिंह*

सन्त कबीर और गुरु नानक के विचारों और अभिव्यक्तियों में अद्‌भुत साम्य है। इस साम्य को देखकर कुछ विद्वानों ने यह मत भी व्यक्त किया है कि गुरु नानक के विचारों का स्रोत सन्त कबीर की रचनाओं में प्राप्त होता है।

मध्य युग के ये दोनों सन्त कभी आपस में मिले थे इसका भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं प्राप्त होता। सन्त कबीर का समय सन् 1398 से 1494 तक माना जाता है। गुरु नानक का जन्म 1469 में हुआ था और 1539 में उनका देहावसान हुआ। इसका अर्थ यह है कि जिस समय गुरु नानक देव का जन्म हुआ कबीर जी की आयु उस समय 71 वर्ष की थी।

इस देश में भक्ति की उत्पत्ति और उसके विस्तार के सन्दर्भ में प्रायः इस दोहे का उल्लेख किया जाता है कि भक्ति का जन्म द्रविड़ प्रदेश में हुआ, स्वामी रामानन्द उसे उत्तर में लाए और सन्त कबीर ने उसे सभी ओर फैला दिया—

भगती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सात दीप नव खंड।

द्रविड़ प्रदेश में जन्मे अलवार सन्तों की गिनती 12 कही जाती है। ये सभी समकालीन नहीं थे। इनका समय ईसा की सातवीं शती से बारहवीं शती तक फैला हुआ है। इन सन्तों में एक-दो के अतिरिक्त सभी नीची समझी जाने वाली जातियों में से आए थे। तमिल भाषा में इन भक्तों के पदों का संग्रह बारहवीं शती में किया गया था। इसे 'प्रबन्धम' कहते हैं। इस ग्रन्थ को तमिल वेद कहा जाता है।

अलवार सन्तों के पश्चात् दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की व्याख्या करने वाले अनेक आचार्यों की एक परम्परा विकसित हुई। रघुनाथाचार्य (दसवीं शती), यामुनाचार्य

*डॉ. महीप सिंह, डी, 2068, पालम विहार, गुड़गाँव-122017; मो. 9313932888

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग्यारहवीं शती), रामानुजाचार्य (बारहवीं शती), निम्बार्काचार्य (तेरहवीं शती), मध्वाचार्य (चौदहवीं शती) और वल्लभाचार्य (पन्द्रहवीं शती) में हुए। इन आचार्यों ने आद्य शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त की विविध ढंग से व्याख्या की। परवर्ती सन्तों-भक्तों की रचनाओं पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा।

श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति ने अपने मुख से अपने विकास-क्रम की चर्चा की है–"मैं द्रविड़ प्रदेश में जन्मी, कर्नाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में मुझे सम्मान मिला, किन्तु गुजरात में मुझे बुढ़ापे ने आ घेरा। वहाँ घोर कलियुग के प्रभाव के कारण पाखण्डियों ने मेरा अंग-भंग कर दिया। इस स्थिति में मैं अपने दोनों पुत्रों (ज्ञान और वैराग्य) सहित दुर्बल और निस्तेज हो गई। अब जब मैं वृन्दावन में आई हूँ, पुनः बड़ी सुन्दर और रूपवान हो गई हूँ।"

जार्ज ग्रियर्सन के शब्दों में उत्तर भारत में भक्ति का आना बिजली की चमक की भाँति था। इस देश में भक्ति आन्दोलन किस प्रकार बढ़ा, इस सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किए हैं। किन्तु एक बात पर व्यापक सहमति है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों के निरन्तर आक्रमण और उनकी विजयों ने इस देश की जनता में व्यापक निराशा उत्पन्न कर दी थी। धीरे-धीरे यह सारा देश इन आक्रमणकारियों के अधीन हो गया। स्वामी वल्लभाचार्य (पन्द्रहवीं शती) ने अपने ग्रन्थ 'कृष्णाश्रय' में लिखा है–सम्पूर्ण देश म्लेच्छों से आक्रान्त है। गंगा जैसे तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट कर दिए गए हैं। अविद्या और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है। सत्पुरुष दुःखी और ज्ञानविहीन हो गए हैं। इस स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।

इसलिए इस तर्क में बड़ा बल है कि भक्ति आन्दोलन के इतने व्यापक प्रचार में उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। एक पराजित और पग-पग पर अपमानित जाति का अन्तरमुखी होकर प्रभु की शरण में जाना और उसकी भक्ति में जीवन की सार्थकता की खोज करना बड़ा सन्तोषप्रद विकल्प था।

पंजाब की स्थिति देश के अन्य भागों से कुछ भिन्न थी। ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में महमूद गजनवी के आक्रमणों, उत्तर-पश्चिम प्रदेश के अन्तिम हिन्दू राजा जयपाल और आनन्दपाल के पतन और गुरु नानक देव के जन्म, फिर मुगल आक्रान्ता बाबर के अनेक आक्रमणों (1518 से 1526) तक लगभग 500 वर्ष पंजाब को गुलामी, अशान्ति और अत्याचार का अन्धकाल कहा जा सकता है। ये पाँच शक्तियाँ मंगोलों, तुर्कों, अफग़ानों और मुगलों के निरन्तर आक्रमण और अराजकता की शक्तियाँ हैं। इस प्रदेश के सभी छोटे-बड़े हिन्दू राजा या तो समाप्त हो चुके थे या दिल्ली की सत्ता के अधीन हो गए थे। आम लोगों का मनोबल पूरी तरह टूट चुका था। प्रत्येक बाहरी आक्रमण के समय लोगों का व्यापक नरसंहार होता था। मंगोल आक्रान्ता तैमूर लंग के हमले (सन् 1398) के समय पंजाब के एक लाख से अधिक सामान्य लोग मौत के घाट उतार दिए गए थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षिण भारत से होती हुई भक्ति की जो लहर उत्त भारत में आई थी, उसमें भक्तों की व्यथा व्यक्त हुई थी। समकालीन स्थितियों के प्रति, प्रकट की गई इस व्यथा में रोष अथवा आक्रोश अधिक नहीं था। इसमें दीनता, हताशा और कातरता ही अधिक प्रकट हुई थी।

भारत के किसी अन्य भाग को विदेशी आक्रमणों और अत्याचारों का इतना लम्बा त्रास नहीं झेलना पड़ा था जितना पंजाब और उसके आस-पास के क्षेत्रों को। उस समय की राजनीतिक-सामाजिक दुर्दशा के प्रति असन्तोष और आक्रोश का पहला स्वर गुरु नानक की रचना में सुनाई दिया।

इस दृष्टि से एक और बात द्रष्टव्य है। भक्ति का प्रवाह दक्षिण भारत से महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य भारत, राजस्थान और बंगाल-असम तक पहुँचा, फिर वह उत्तर प्रदेश के अवध और ब्रज क्षेत्रों में स्थिर हो गया। यह प्रवाह पंजाब की ओर अधिक नहीं बढ़ा। इस प्रदेश में न स्वामी रामानन्द वाली राम-भक्ति परम्परा विकसित हुई, न स्वामी वल्लभाचार्य वाली कृष्ण-भक्ति की परम्परा। सन्त नामदेव एक अपवाद हैं जो महाराष्ट्र से देशाटन करते हुए पंजाब में आए थे और यहाँ कुछ समय तक रहे थे।

गुरु नानक ने कई बार पूरे देश का भ्रमण किया। इस भ्रमण में वे अनेक स्थानों पर गए। अपने समय के सन्तों, भक्तों, पण्डितों, सूफियों, योगियों के साथ संवाद किया। उन्होंने इन यात्राओं में जयदेव (बंगाल), नामदेव (महाराष्ट्र), त्रिलोचन (महाराष्ट्र), परमानन्द (महाराष्ट्र), सैण (मध्य भारत), धन्ना (राजस्थान) तथा आज के उत्तर प्रदेश के स्वामी रामानन्द, कबीर, रविदास और मुलतान (पश्चिमी पंजाब) से सूफी सन्त शेख फरीद आदि अनेक सन्तों की रचनाओं का संग्रह किया, जिसे बाद में गुरु अर्जुन देव ने 'आदिग्रन्थ' में सम्मिलित किया।

इस प्रकार अन्तरसंवाद की जिस परिपाटी को गुरु नानक ने प्रारम्भ किया वह 'आदिग्रन्थ' के सम्पादन में पूरी तरह रूपायित हुई।

मैं इस अन्तरसंवाद को सन्त कबीर और गुरु नानक के विशेष सन्दर्भ में रखकर देखना चाहता हूँ। दोनों की समकालीनता में चाहे सात दशकों का अन्तर हो, किन्तु दोनों के विचारों का साम्य बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

सन्त कबीर काशी में पैदा हुए। यह नगर उस समय कट्टर, पुराणपन्थी, संस्कृत प्रेमी, परम्परावादी ब्राह्मणों का गढ़ था। बड़ी हद तक आज भी है। मान्यता यह है कि इस नगर में जिसकी मृत्यु होती है, उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। इसीलिए भारत के अनेक भागों, विशेषरूप से पूर्वी भारत के बहुत से लोग विधवाओं को इस नगर में छोड़ जाते हैं। कबीर जी का व्यक्तित्व अनोखा था। कहा जाता है कि वे एक विधवा ब्राह्मणी की सन्तान थे। लोक-लाज के भय से उनकी माँ ने उनका त्याग कर दिया। एक मुसलमान जुलाहा परिवार में उनका पालन-पोषण हुआ। मुसलमान परिवार में पोषित होने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण वे मुसलमान ही माने गए। कबीर शब्द भी अरबी भाषा का है। जुलाहा जाति भी नीची जाति मानी जाती है, मुसलमानों में भी। कबीर बहुश्रुत थे। उन पर नाथपन्थी योगियों का प्रभाव भी दिखता है और सूफियों का भी। किन्तु उनकी सम्पूर्ण मानसिक बनावट हिन्दू (वैष्णव) भक्तों वाली है। इसलिए वे मुसलमानों और हिन्दुओं दोनों के लिए अजूबा भी थे और तिरस्कृत भी थे।

ऐसे घोर विरोधी वातावरण में सन्त कबीर ने भक्ति का मार्ग अपनाया, राम-नाम को उसका आधार बनाया। स्वामी रामानन्द को गुरु रूप में स्वीकार कर लिया और अत्यन्त निर्भय होकर अपने मार्ग पर चल पड़े, यह घोषणा करते हुए—

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाटी हाथ।
जो घर जालै आपना सो चले हमारे साथ॥

उन्होंने अनेक परम्परागत हिन्दू मान्यताओं की कटु आलोचा की और मुसलमान रीतियों की भी। उन्होंने पण्डितों-पुरोहितों को उनके आडम्बर और कर्मकाण्ड के लिए आड़े हाथों लिया और मुल्ला-मौलवियों को भी नहीं बख्शा। दोनों समुदायों के अगुवा उनके शत्रु हो गए और राज-दरबारों में जाकर उनकी शिकायत करने लगे।

सन्त कबीर ने राम-नाम को अपना आधार बनाया था, किन्तु उस राम को नहीं जो दशरथ-पुत्र है। कबीर का राम वह निर्गुण राम है जो घट-घट वासी है—

दसरथ सुत चहुँ ओर बखाना।
राम नाम का मरम न आना॥

इसी भाव को सन्त कबीर के समकालीन सन्त रविदास ने भी प्रकट किया था—

रविदास हमारो राम जी दसरथ करि सुत नाहिं।
राम हमउ महि रमि रहयो बिसब कटुंबह माहिं॥
घट घट विआपक राम है रामहि बूझे कोइ।
रविदास बूझे सोइ राम कू जउ राम सनेही होइ॥

भक्तों की जो वाणी गुरु नानक ने अपनी यात्राओं के समय एकत्र की थी वह सदा उनके सम्मुख थी। विचारों की साँझ के कारण उस युग के सन्त अपने पूर्ववर्ती और समकालीन सन्तों की वाणी में अभिव्यक्त भावों की पुष्टि करते थे, उसका विस्तार करते थे, उसे अपना रूप-रंग देते थे। कुछ पदों में सन्त कबीर और गुरु नानक में ऐसी साँझ बहुत स्पष्ट दिखाई देती है। जीवात्मा और परमात्मा के मिलन और विवाह के दृष्टान्त के माध्यम से सन्त कबीर ने एक पद में कहा है—

तनु रैणी मनु पुन रवि करि हउ पाचउ तत बराती॥
राम राइ सिउ भावरि लै हउ, आतम तिह रंग राती॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाउ गाउ री दुलहनी मंगलचारा ॥
मेरे गृह आए राजा राम भतारा ॥1॥ रहाउ॥
नाभि कमल महि बेदी रचिले ब्रह्म गिआन उचारा ॥
राम राइ सो दुलहु पायो, अस बड़ भाग हमारा ॥2॥
सुरि नर मुनि जन कउतक आए, कोटि तेतीस उजाना ॥
कहि कबीर मोहि बिआहि चले है, पुरख एक भगवाना ॥3॥

इस पद में एक पंक्ति में 'ब्रह्म ज्ञान उचारा' और 'अस बड़ भाग हमारा' द्वारा सन्त कबीर ने इस बात की ओर संकेत किया है कि यह मिलन सद्गुरु के शब्द के कारण परमात्मा की कृपा से हुआ है। गुरु नानक ने इन्हीं भावों को अधिक विस्तार देकर अपने एक पद में लिखा है–

करि किरपा अपने घरि आइआ ॥
ता मिलि सखीआ काजु रचाइआ ॥
खेल देखि मनि अनदु भइआ,
सहु विआहण आइआ ॥1॥
गावहु गावहु कामणी बिबेक बीचारु ॥1॥ रहाउ॥
गुरु दुआरे हमरा विआहु जि होआ ॥
जा सहु मिलिआ ता जानिआ ॥
तिह लोका महि सबदु रविआ है,
आपु गइया मन मानिआ ॥2॥
अपना कारजु आपि सवारे, होरनि कारज न होई ॥
जितु कारजि सतु सन्तोखु दइया धरमु है,
गुरमुखि बूझै कोई ॥3॥
भनति नानकु सभना का पिरु ऐको सोइ ॥
जिस नो पदरि करे सा सोहागणि होई ॥4॥

एक और पद में सन्त कबीर कहते हैं–

गुड़ करि गिआनु धिआनु करि महुआ भउ माठी मन धारा ॥
सुखमन नारी सहज समानी, पीवै पीवन हारा ॥1॥
अवधू मेरा मनु मतवारा ॥
उनमद चढ़ा मदनु रसु चाखिआ ॥
त्रिभवन भया उजिआरा ॥1॥रहाउ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विचार-साम्य का पद गुरु नानक ने रचा—

गुड़ करि गिआनु धिआन करि धावै, करि कारणी कसु पाईए ॥
भाठी भवन प्रेम का पोचा, इतु रसि अमिउ चुआइऐ ॥1॥
बाबा मनु मतवारो नाम रसु पीवै सहज रंग रचि रहिआ ॥
अहिनिस इनी प्रेम लिव लागी सबदु अनाहद गहिआ ॥2॥

गुरु नानक ने अनेक सन्तों-भक्तों की वाणी का संग्रह किया था। उनके ब्रह्मलीन होने के पश्चात् यह सम्पूर्ण संकलन दूसरे गुरु, गुरु अंगद देव के पास आया और उन्होंने यह थाती अपने उत्तराधिकारी गुरु अमरदास को दी। गुरु अतरदास जी की वाणी में भी सन्त कबीर से भाव-साम्य प्रकट करते हुए कुछ पद है। कबीर का एक श्लोक है—

कबीरा मरता मरता जगु मुआ, मरि भि न जाने कोई।
ऐसी मरनी जो मरै बहुरि न मरना होई ॥

गुरु अमरदास जी का एक पद है—

किआ जाणा किव मरहगे कैसा मरणा होइ।
जेकर साहिबु मन्हु न वीसरै ता सहला मरणा होइ ॥
मरणे ते जगतु डरै, जीविआ लोड़ै सभु कोइ ॥
गुर परसादी जीवतु मरै, हुकमी बूझै सोइ ॥
नानक ऐसी मरनी जो मरे तां सद जीवणु होइ ॥

सन्त कबीर और गुरु नानक की वाणी में कुछ समान तत्त्व उभरते हैं—परमात्मा एक है। वह असंख्य देवी-देवताओं में बँटा हुआ नहीं है। सभी अवतार परमात्मा की आज्ञा में ही विचरते हैं। मनुष्य मात्र समान है। जात-पात, ऊँच-नीच का परमात्मा के सम्मुख कोई महत्त्व नहीं है, इसलिए इनका त्याग करना चाहिए। परमात्मा की प्राप्ति के लिए किसी विशेष वर्ण, भाषा, वस्त्र, तीर्थ, धर्म-स्थान की अनिवार्यता नहीं है। यह सर्वव्यापी है, अनन्त है और घट-घट वासी है।

'आदिग्रन्थ' में संगृहीत एक पद में सन्त कबीर जी ने परमात्मा की सर्वव्यापकता और अनन्तता की चर्चा करते हुए कहा है—

कोटि सूरज कै परगासा ॥ कोटि महादेव अरु कबिलासा ॥
दुरगा कोटि जा कै मरदनु करै ॥ ब्रह्मा कोटि बेद उचरै ॥1॥
जउ जाचउ तउ केवल राम ॥ आन देव सिउ नाहीं काम ॥
कोटि चन्द्रमे करहि चराक ॥ सुर तेतीस उजेवहि पाक ॥
नव ग्रह कोटि ठाढे दरबार ॥ परम कोटि जा कै प्रतिहार ॥2॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी भाव को व्यक्त करते हुए पाँचवें गुरु, गुरु अर्जुन देव का एक पद है–

कोटि बिसन कीनै अवतार ॥ कोटि ब्रह्मांड जाकै धरम साल ॥
कोटि महेस उपाइ समाए ॥ कोटि ब्रह्मै जगु साजण आए ॥
ऐसो धणी गुबिंद हमारा ॥ बरनि न साकउ गुण बिसधारा ॥
कोटि माइआ जाकै सेवकाई ॥ कोटि जीअ जाकी सिरजाई ॥
कोटि अपार जना तेरे अंगि ॥ कोटि भगत बसत हरि संगि ॥

सन्त कबीर और गुरु नानक ने निर्गुण भक्ति का मार्ग अपनाया था। दोनों ने पण्डितों, पुरोहितों, योगियों, मुल्लाओं जैसे लोगों द्वारा प्रतिपादित पाखण्डों, कर्मकाण्डों और अन्धविश्वासों की आलोचना की थी। दोनों ने जाति-पाँत, ऊँच-नीच का खण्डन करते हुए नीची समझी जाने वाली जातियों को अपने गले से लगाया था। दोनों ने अपने समकालीन जीवन से गहरा तादात्म्य स्थापित किया था। उस समय लोग बड़े कातर भाव से प्रभु-भक्ति में लीन होने में ही जीवन की सार्थकता समझते थे। कबीर और गुरु नानक ने उन्हें जुझारू होने, उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने की प्रेरणा भी दी।

सन्त कबीर का एक पद है–

गगन दमामा बाजिउ परिउ नीसानै घाउ ॥
खेत जु मांडिउ सूरमा, अब जूझन को दाउ ॥
सूरा सो पहचानिएँ, जु लरै दीन के हेत ॥
पुरजा-पुरजा कटि मरै कबहू न छाड़ै खेत ॥

इस पद की शब्दावली तत्कालीन सन्तों-भक्तों वाली नहीं है। यह वीर रस से परिपूर्ण है और रणभूमि में पुरजा-पुरजा कट मरने की बात करती है। कबीर दीन (निर्धन और पीड़ित) व्यक्ति के लिए लड़ने और जूझ मरने के लिए प्रेरित करते हैं।

इसी प्रकार का एक पद गुरु नानक का भी है। यह पद भी सिर को हथेली पर रखकर आगे बढ़ने का आह्वान करता है। मार्ग पर आगे बढ़ने में सिर देने और उफ भी न करने की बात करता है–

जउ तउ प्रेम खेलन का चाउ ॥
सिर धर तली गली मेरी आउ ॥
इतु मारग पैर धरीजै ॥
सिर दीजै काणि न कीजै ॥

अपने सांसारिक कष्टों, अभावों, संकटों, अपमानों और शोषण के प्रति दीनता भरे भाव से परमात्मा की शरण में आना एक दृष्टि है, जो उस युग के अधिकांश सन्तों-भक्तों में दिखाई देती है। उसी के समानान्तर इन व्याधियों का मुकाबला करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए सूरमा बनना, युद्ध भूमि में आना, पुरजा-पुरजा कट मरने का संकल्प लेना, सिर को हथेली पर रखना, किसी महत् उद्देश्य के लिए उसे कटवा देना, पर उफ भी न करना—एक और दृष्टि है।

इस पूरी पृष्ठभूमि पर विचार करते समय एक बात की ओर ध्यान जाता है। शौर्य और आत्मोत्सर्ग की जो बात सन्त कबीर जी ने कही, वह उनकी परम्परा में आगे नहीं बढ़ी। उनके द्वारा प्रवर्तित मार्ग उनके पश्चात् भक्ति मार्ग का एक पन्थ बनकर रह गया।

दूसरी ओर गुरु नानक ने 'सिर दीजै काणि न कीजै' वाले जिस मार्ग का प्रवर्तन किया था वह उनके पश्चात् निरन्तर पुष्ट होता गया। गुरु नानक के सौ वर्ष बाद पाँचवें गुरु—गुरु अर्जुन देव ने महत् उद्देश्य के लिए अपने प्राण दिए थे यह कहते हुए—

सो सूरा तिन ही होई मरणा।
जो भागे तिसु जोनी फिरणा॥

गुरु अर्जुन देव के समय सिर देने के संकल्प ने मूर्त्तरूप ले लिया। फिर इस प्रकार के संघर्ष और बलिदानों की लम्बी परम्परा विकसित हो गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिव-शक्ति, राम-हनुमान

श्रीराम परिहार*

यह सृष्टि बहुत सुन्दर और मोहक है। अवनि-अम्बर के बीच का दृश्यमान जगत सच्चा-सच्चा वास्तविक-सा अनुभव होता है। स्वर्णिम विहान की वेला में आँखों का प्रकाश जहाँ तक फैलता है, अभिलाषाएँ नृत्य करती-सी लगती हैं। कल्पना की आँखें और दूर तक जाती हैं; बहुत दूर तक देखती हैं; सौ-सौ स्वप्न जाग उठते हैं। हमारे देखने की और स्वप्न-बुनने की भी एक सीमा है। उस सीमा के पार भी देखने लायक और जानने लायक बहुत कुछ शेष है। जिसे ब्रह्माण्ड कहा जाता है, वह कितना विराट किन्तु कितना अद्भुत है। सूर्य, चन्द्र, सविता, सोम, ग्रह, नक्षत्र भरा ब्रह्माण्ड बड़ा रहस्यमय है। धरती या धरती के गर्भ की विस्तार-गहराई को ही ठीक-ठाक कहाँ जाना-समझा जा सका है। अग्नि-सोम अहोरात्र जहाँ सृजन-यज्ञ में रत होकर ऋत् को उत्पन्न कर रहे हैं और ऋत् में अवस्थित भी हो रहे हैं। असंख्य जीव-सृष्टि कहाँ से आकर कहाँ चली जा रही है। निखिल सृष्टि में ही स्थित हमारी पृथ्वी भी है। सुन्दर सन्तरे के समान रसभरी हमारी पृथ्वी।

बुद्धि अकुलाहट से भरा प्रश्न करती है—इस दुःखों और संघर्षों से भरी सृष्टि के निर्माण के कारण-कार्य का वास्तव क्या है? जिसमें 'धिक जीवन को जो पाता ही आया विरोध' की स्थिति पैदा होती रहती है। हृदय करुणा-कलित अधीर होकर पूछता है—यह किसकी करुणा कण-कण में पत्र-पत्र पर ज्योतित हो रही है? यह कौन 'मातः दशभुजा, विश्व-ज्योति' दसों दिशाओं में स्थित-उपस्थित हो रही है? बुद्धि और हृदय दोनों सम आसन पर बैठकर संचित त्रिकुटी पर ध्यानस्थ होकर स्मितिहास के साथ प्रश्नाकुल होते हैं—यह किसका आनन्दमय लीलाभाव अखिल सृष्टि में क्षण-क्षण गतिमान हो रहा है? आनन्द का स्रोत कौन है? कौन अपने आनन्द के लिए स्वयं का आनन्दमय विस्तार करता है? प्रज्ञा के पंख नभ की नीलिमा में विलीन हो जाना चाहते

*डॉ. श्रीराम परिहार, प्राचार्य, माखनलाल चतुर्वेदी शासकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, खण्डवा, सम्पर्क : आजाद नगर, खण्डवा-450001 (मध्य प्रदेश)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। वह खोजना चाहती है—नाद से उत्पन्न बिन्दु को। वह जानना चाहती है—अक्षर महेश्वर को। वह समझना चाहती है—तम के पार भास्वर सत्य को। वह पाना चाहती है—'सत्य, सच्चिदानन्द रूप, विश्वास धाम को।'

क्या सम्बोधन दें उसे? ॐ, प्रणव, ब्रह्म, शिव आदि-आदि कह देने से भी मन नहीं भरता। ॐ से शिव तक चिद् शक्ति का विलास है या शिव ही अनादि है। ॐ से भी पहले और परे यह चिद् शक्ति किस रूप-स्वरूप में रहती है; बिनु अनभै के कैसे—कुछ ठोस कहा जा सकता है? 'न सन्न चासच्छिव एव केवलः'। इस वेदवाक्य का अर्थ है कि सृष्टि के पूर्व न सत् ही था और न असत्। केवल शिव था। ब्रह्म का वर्णन करते हुए वेद कहता है—'ये भूत जिससे पैदा होते हैं, जन्म पाकर जिसके कारण जीवित रहते हैं, नष्ट होकर जिसमें प्रविष्ट हो जाते हैं, वही जिज्ञासा के योग्य है और वही ब्रह्म है'—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति;
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म।

श्रुति कहती है कि सृष्टि के पूर्व काल में सत् और असत् दोनों ही नहीं थे, केवल शिव था। सत् चेतन वस्तु को कहते हैं और असत् जड़ को क़हते हैं। इस संसार में दो ही तरह की वस्तुएँ हैं—चेतन और अचेतन। ये दोनों अस्तित्व में नहीं थे, तब शिव ही था। अस्तु सद्-असद् की उत्पत्ति के पूर्व शिव था। तब शिव ही जगत की उत्पत्ति का कारण होना चाहिए। सत् उसको कहते हैं, जो सदा रहता है। असत् उसको कहते हैं, जो परिणाम के कारण नाना कालों में नाना रूप धारण करता है। चेतन अपरिणामी होने से सदा एक रूप है। वह सत् कहलाता है। अचेतन परिणामी होने से नाना रूप है। वह असत् कहा जाता है। जिस समय ये दोनों नहीं होते, वही सृष्टि-पूर्व का काल है। उस समय जो सत्ता रहती है, वही सृष्टि का कारण है। 'सन्न चासत्'। इस काल में केवल शिव की सत्ता ही रहती है। अतः वही सृष्टि का कारण है। वेदान्त ब्रह्म को जगत का कारण बताते हैं। 'शिव' शब्द शुभतम या श्रेयस्कर वस्तु का वाचक है। ब्रह्म सर्व शुभकारी या सर्व श्रेयस्कारी है। अतः 'शिव' शब्द ब्रह्मवाचक भी है। ब्रह्म ही शिव है। इस तरह शिव को सृष्टि की उत्पति का कारक मानने वाली मान्यता की संगति हो जाती है।

अनादि-अज-अक्षर ब्रह्म के तीन रूप माने गए हैं—'एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः'। ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक ही हैं। एक ही अक्षर पुरुष के तीन स्वरूप हैं। एक ही शक्ति के तीन रूपान्तरण हैं। एक ही बिन्दु पर तीनों शक्तियाँ रहती हैं; किन्तु कार्यवश स्वरूप भेद और स्थान भेद होता रहता है। चेतन जगत में इन शक्तियों का स्थान भेद स्पष्ट है। चेतन प्राणियों में प्रतिष्ठा बल मध्य में, गति बल नीचे और अगति बल ऊपर रहते हैं। यथा—मनुष्य शरीर के अन्तर्गत हृदय-कमल में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मा का, नाभि में विष्णु का और मस्तक पर शिव का आसन या वास माना गया है। मनुष्य शरीर पार्थिव है। पृथ्वी से जो प्राण मानव शरीर में आता है, वह शरीर के अधोभाग से ही आता है। अतः आदान शक्ति के अधिष्ठाता विष्णु की स्थिति नाभि में ही कही गई है। उत्क्रमण उससे विपरीत अर्थात् ऊर्ध्व दिशा में होना सिद्ध है। महेश्वर की स्थिति शरीर के शिरोभाग में मानी जाती है। सम्पूर्ण शरीर की प्रतिष्ठा और अस्तित्व हृदय से है। हृदय में ही एक प्रकार की स्फुरणशील तिलमात्र ज्योति अवस्थित रहती है। वहीं से सम्पूर्ण शरीर को चेतना मिलती है। अतः ब्रह्मा का आसन-स्थान हृदय है। सन्ध्योपासना में इन्हीं स्थानों में इन तीनों देवताओं का ध्यान होता है। 'राम की शक्ति पूजा' में युद्ध से लौटकर वानर-भालू वीर 'सन्ध्या-वन्दन विधान' करने सरोवर तट पर जाते हैं। शिव की स्थिति मस्तक पर है—यह श्री दुर्गा की त्वरित उदित छवि में 'निराला' संकेत करते हैं—

हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बाएँ रण-रंग-राग,
मस्तक पर शंकर। पद पद्मों पर श्रद्धाभर
श्रीराघव हुए प्रणत मन्द-स्तर-वन्दन कर।

शतपथब्राह्मण (5,6/3/1/10) में अग्नि को रूद्र कहा गया है—'अग्निर्वै रूद्रः।' अग्नि का रूप रूद्र है। इसके दो रूप हैं—एक घोर, दूसरा शिव। अग्नि का जो रूप उपद्रावक, रोगप्रद, विध्वंसक है, उसे 'घोररूद्र' कहते हैं और जो लाभप्रद, रोगनिवारक, रक्षक है—वह 'शिव' रूप है। 'घोररूद्र' से दूर रहने, बचने की चेष्टा की जाती है। 'शिवरूद्र' की उपासना की जाती है। अग्नि में जितना 'सोम-सम्बन्ध' है, वह सर्जनशक्ति का कल्याणक आधार है। रूद्र ग्यारह माने गए हैं। पार्थिव अग्नि द्युलोक वा स्वर्लोक अर्थात् सूर्यमण्डल तक व्याप्त है। उससे आगे—ऊपर सोममण्डल है। अग्नि की गति ऊपर को और सोम की गति ऊपर से नीचे की ओर रहती है। अग्नि को 'शिव' और सोम को 'शक्ति' कहते हैं। 'सोम' शब्द उमा से ही बना है। 'उमया सहित : सोमः।' इसमें शक्ति 'उमा' है। शक्तिमान 'शिव' हैं। यह तत्त्व वृहद्जाबालोपनिषद्—ब्राह्मण 2 में इस तरह आया है—

अग्निषोमात्मकं विश्वमित्यग्निराचक्षते।
रौद्री घोरा या तैजसी तनूः।
सोमः शक्त्यमृतयमः शक्तिकरी तनूः।

'इस चराचर जगत के आत्मा अग्नि और सोम हैं। घोर या तेजस रूप रूद्र का शरीर है। अमृतमय शक्तिदायक सोम शक्ति रूप है।' अर्थात् 'घोरअग्नि' शिव रूप है। 'सोमअग्नि' शक्ति रूप है। विद्या-कला आदि में अमृतमय सोम रूप शक्ति ही विद्यमान रहती है। स्थूल-सूक्ष्म सर्वत्र सृष्टि में अमृतमय रस (सोम) और तेज (अग्नि)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याप्त है। अग्नि ऊर्ध्वशक्तिमय होकर सोमरूप हो जाती है और सोम अधःशक्तिमय होकर अग्नि रूप बन जाता है। इन दोनों के सम्पुट में यह विश्व अपनी संज्ञा पाता रहता है। ऊपर जाती हुई अग्नि अपनी आधार शक्ति सोम से पाती है और नीचे आता हुआ सोम शिव की ही शक्ति कहाता है। बिना शिव के आधार के वह भी नहीं रह सकता। शिव शक्तिमय हैं और शक्ति शिवमय। शिव और शक्ति जहाँ न हों, सृष्टि का ऐसा कोई कोना नहीं है।

अग्नि से सोम और सोम से अग्नि ऊर्जस्वित होते हैं; अतः दोनों एक ही तत्त्व हैं। शिव और शक्ति अभेद हैं। अर्धनारीश्वर रूप शिव का यह प्रकट करता है कि शिव और पार्वती मिलकर एक अंग हैं। उमा शिव की अर्धांगिनी हैं। अग्नि पुरुष और सोम स्त्री माना गया है। लोकक्रम में सोम ऊपर रहता है, इससे शिव के वक्षस्थल पर खड़ी हुई शक्ति की उपासना होती है। शिव ज्ञान स्वरूप और तेज स्वरूप हैं और शक्ति क्रिया या बल स्वरूप है। यह इच्छा का परिणाम है। क्रिया या बल ज्ञान या तेज के बल पर ही खड़ा रह सकता है। इसलिए भगवती शिव के वक्षस्थल पर चरण धारे हुए है। ज्ञान-इच्छा-कर्म की युति में ज्ञान की इच्छा तब ही सर्जनाकार धारण करती है, जब क्रिया की जाती है। बिना क्रिया के ज्ञान स्फूर्त नहीं हो सकता। वह 'शव' है। शक्ति की क्रियमाणता ही 'शव' को शिव बनाती है। शिव विश्वरूप-विराटस्वरूप है। उस पर चिद्कलारूपा परमाप्रकृति शक्तिरूपा भगवती खड़ी है। शिव का 'विश्व' रूप 'ब्रह्म सत्य' कहलाता है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर का शरीर माना जाता है। मुण्डोपनिषद् (2/1/4) कहती है—'अग्नि जिसका मस्तक है। चन्द्रमा सूर्य दोनों नेत्र हैं। दिशाएँ स्तोत्र हैं। वेद वाणी है। विश्वव्यापी वायु प्राण रूप में हृदय में है। पृथ्वी पादरूप है। यह सब भूतों का अन्तरात्मा है।' 'निराला' कहते है—'अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि—शेखर।'

राम विष्णु के अवतार हैं। वे धर्म रूप हैं। राम का रूप धर्म-विग्रह ही है। धर्म की स्थापना और मर्यादामय लीला के लिए विष्णु का रामावतार त्रेता युग में होता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव एक ही अक्षर—महेश्वर की भिन्न-भिन्न कला-संज्ञाएँ हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों अक्षर कलाओं की सृष्टि 'महेश्वर' ही है। उत्पत्ति, स्थिति और लय की समष्टि-क्रियाएँ एक ही तत्त्व की तीन अलग-अलग नाम-रूप कलाएँ करती हैं। हैं ये तीनों एक और अभेद्य। परमशक्ति जब मायारूप से असीम को ससीम कर देती है, तब अव्यय पुरुष का प्राकट्य होता है। अव्यय पुरुष की पाँच कोष-कलाएँ हैं—वाक्, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द। विष्णु अपनी इच्छाशक्ति से इन पाँचों कोषों के साथ बारह कलाओं से युक्त होकर राम के रूप में प्रकट होते हैं और अपनी मर्यादा गाथा के माध्यम से 'नैसर्गिक ऋत्' को स्थापित करते हैं। अतः राम विष्णु के अंश हैं। विष्णु और शिव एक अखण्ड-अव्यक्त सत्ता की ही पृथक्-पृथक् क्रियात्मक शक्तियाँ हैं। अतः प्रकारान्तर से राम और शिव भी एक ही अक्षर पुरुष के दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लीलावपु हैं। 'हरि' और 'हर' दोनों शब्द एक ही 'हृ' धातु से उत्पन्न हैं। अतः दोनों की मूल धातु (प्रकृति) एक है। केवल प्रत्यय अलग-अलग है। 'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोस्तु हृदयं शिवः।' दोनों एक-दूसरे के पूजक-पूज्य हैं। गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं–

शिव बैरी मम दास कहावा, सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा।

शंकर प्रिय, मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास।
सो नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक महुँ वास॥

x x x x

मंगल भवन अमंगल हारी, उमा सहित जेहि जपत पुरारी।

राम भानुकुल भूषण हैं। वे सूर्य वंश के वंशज हैं। सूर्य 'ऋत्' का देवता है। 'ऋत्' प्रकृति का अनुशासन भी है और धर्म भी है। ऋत् के अधीन जब मनुष्य और मनुष्य समाज आचरण करता है, तब वह 'धर्म' का स्वरूप ले लेता है। इस प्रकार 'राम' एक ओर 'नैसर्गिक ऋत्' से सम्पर्कित हैं और दूसरी ओर मनाव समाज आचरित धर्म के संस्थापक भी हैं। राम एक ओर परात्पर ब्रह्म भी हैं और दशरथ-सुत भी हैं। 'सीता' आदिशक्ति जग-जननी भी हैं और वे जानकी तथा राम की भार्या भी हैं। 'जनक-सुता जग जननि जानकी, अतिशय प्रिय करुणानिधान की।' 'राम की शक्तिपूजा' में राम प्रिया सीता के उद्धार के लिए पुरुषार्थ करते हैं। राम का पुरुषार्थी और प्रिया उद्धारक मन कभी हारा नहीं। कभी थका नहीं। 'जानकी! हाय उद्धार प्रिया का न हो सका! वह एक और मन रहा राम का जो न थका। जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय, कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय।' शक्ति की 'मौलिक कल्पना' और 'आराधन का दृढ़ आराधन से उत्तर' देने का यह पुरुषार्थ का सात्विक रूप है। राम अपने सौन्दर्य और शील से शक्ति का आवाहन कर धर्म की सम्पूर्णता और मानव की मर्यादा की विभूति बन जाते हैं।

अंजनी-सुत हनुमान राम के परम भक्त हैं। पवनपुत्र का सत्संगी रूप बड़ा मनभावन है। वे कनक भूधराकार भी हैं। वे अतुलित बलधामं, हेमशैलाभदेहं, दनुजवनकृशानं ज्ञानिनामं अग्रगण्यम् हैं। वे सकल गुण निधानं, वानरयूथं मुख्यम् हैं। रघुपति के प्रिय भक्त हैं। दो ध्रुवीय वह्नि धक-धक कर प्रकट होती है। परम पराक्रम और प्रशान्त शान्ति एक ही जीवन-वपु में संचारित-समाहित है। राम भक्त हनुमान एकादश रूद्र माने जाते हैं। शिव से ही अग्नि और सोम की उत्पत्ति है। अग्नि ही रूद्र है। अग्नि की तीन अवस्थाएँ होती हैं–अग्नि, वायु और आदित्य। अग्नि के सहचर आठ वसु हैं। वायु के सहचर 'एकादश रूद्र' हैं। आदित्य के सहचर 'द्वादश आदित्य' हैं। अतः अग्नि आठ रूपों में, वायु ग्यारह रूपों में और आदित्य बारह रूपों में सृष्टि में व्याप्त है। 'सोम' की भी तीन अवस्थाएँ हैं–सूक्ष्म दशा में 'सोम', किंचित घन होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर 'वायु' और अधिक घन होने पर 'अप' कहा जाता है। सूर्य से ऊपर का परमेष्ठिमण्डल 'अपलोक' कहलाता है। अग्नि की अवस्था का वायु 'आग्नेय वायु' और सोम की अवस्था का वायु 'सोमवायु' कहा जाता है। पृथ्वी और सूर्य के मध्य में जो अन्तरिक्ष है, उसमें आग्नेय वायु प्रसरणशील रहता है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठि मण्डल तक 'सौम्य वायु' का प्रसार है। यही आग्नेय वायु भौतिक वायु और भौतिक अग्नि को उत्पन्न करता है। श्रुति में कहा गया है—'मरुतो रूद्रपुत्रासः।' मरुत रूद्र के पुत्र हैं।

राम शिव के आराध्य हैं। शिव निरन्तर राम को जपते हैं। हनुमान एकादश रूद्र हैं। शिव से अग्नि, अग्नि से रूद्र, रूद्र से मरुत, मरुत से हनुमान का सम्बन्ध है। आग्नेय वायु या अग्नि रूद्र या घोर रूद्र का निवास अन्तरिक्ष में है। राम के नेत्रों से आँसू टपके और वे आँसू (युग) 'अस्ति-नास्ति' के एक रूप-गुण-गण अनिन्द्य युगल चरणों पर गिरे। उन्हें देख पवनपुत्र का 'आग्नेयवायु' रूप साकार हो उठा। शिव अपने आराध्य को संकट में नहीं पा सकते। मारुतसुत शिव का ही एकादश अंश हैं। वे अपने पिता पक्ष से उनचास पवन का सहचर पाकर रूद्र से रौद्र रूप में दिग्विजय—अर्थ प्रतिपल सक्षम और समर्थ बढ़ते जाते हैं। 'वज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश पहुँचा, एकादश रूद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।' शिव देवी को मन्द्रस्वर में सचेत करते हैं। बात और खुलती है। सत्य और साफ-साफ उजागर होता है कि यह वानर नहीं है, यह अपना ही तेज है। 'सम्वरो देवी, निज तेज, नहीं वानर यह।' देवी भागवती से शिव अद्भुत बात कहते हैं—यह राम की अर्चना ही मूर्तिमान अक्षय-शरीर रूप महाकाश हो गई है। शिव-शक्ति, राम-हनुमान ज्योतिर्मय महानिलय के मध्य शतशीर्षा, सहस्राक्ष, शतेषुधि रूप में स्थित हैं। शिव रघुनन्दन-कूजित महावीर के शत-वायु-वेग-बल को अनुमान कर वास्तविक मूल स्वरूप स्फुरित कर देते हैं—

चिर ब्रह्मचर्य-रत ये एकादश रूद्र, धन्य,
मर्यादा—पुरुषोत्तम के सर्वोत्तम, अनन्य।

इतना कुछ कहने के बाद भी उस अक्षर महेश्वर के चारों रूपों—शिव-शक्ति, राम-हनुमान के रूप-गुण का वर्णन पार्थिव जिह्वा और मोह विजड़ित बुद्धि से कैसे किया जा सकता है। जिसे वेदों में 'नेति-नेति' कहा गया है; उसे 'वह ऐसा ही है', 'वह ऐसा ही है'; यह कैसे कहा जा सकता है। अतः यही विनय है—

आवाहनं न जानामि, नैव जानामि पूजनम्।
विसर्जनं न जानामि, क्षम्यतां परमेश्वर॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामंजस्य और सौमनस्य की साधना विफल क्यों?

शत्रुघ्न प्रसाद*

भारत की त्रिवेणी संगम संस्कृति भारतीय समन्वय-साधन की विश्वचर्चित विशिष्ट देन है। इसकी परिणति है—भारत की सांस्कृतिक एकसूत्रता। त्रिवेणी संगम संस्कृति का अर्थ है—वैदिक + श्रमण + जनजातीय (लोक) संस्कृति की पुराकालीन समन्वित संस्कृति। सामान्य अर्थ में त्रिवेणी सरस्वती + गंगा + यमुना का संगम है। इस समन्वयन ने ही एक ओर आसेतु हिमाचल की विभिन्न स्थानीय संस्कृतियों को वैदिक-पौराणिक संस्कृति से जोड़ दिया तो दूसरी ओर सैकड़ों जातियों-जनजातियों को एक ही समान जीवन में ला दिया। शस्त्र और लोकाचार ने मिलकर सम्पूर्ण जीवन को संस्कारित करते हुए उत्सवमय-आनन्दमय बना दिया। भारत की धरती, पर्वत, नदियाँ, वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी तथा विभिन्न क्षेत्रों के जनसमूहों की मान्यताएँ—एक साथ जुड़कर प्रकृति माँ के प्रांगण में समाज, संस्कृति, राष्ट्रीयता, दर्शन-धर्म, साहित्य एवं कला की रचना में सफल हो गईं। अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त प्रमाण है।

आठवीं-दसवीं सदी ने पश्चिमी एशिया से एक नए मजहब को बड़े जोश के साथ भारत में प्रवेश करते देखा। उसके सूफी फकीरों का भारत ने स्वागत किया, क्योंकि भारत में चिन्तन और उपासना की स्वतन्त्रता रही है। पर नए मजहबी आक्रमणकारियों से भारत निरन्तर जूझता रहा। ईसा की बारहवीं-तेरहवीं सदी से ये आक्रमणकारी—अरब, तुर्क, अफगान और मुगल क्रम से फतह पाकर भारत पर शासन करने लगे। एक ओर विभिन्न क्षेत्रों में इनसे संघर्ष चलता रहा तो दूसरी ओर दर्शन, धर्म, संस्कृति, पर्वोत्सव, समाज-जीवन, भाषा, साहित्य एवं कला-जीवन के सभी क्षेत्रों में अरब + तुर्क + ईरानी—बाहरी तत्त्वों से द्वन्द्व होने लगा। इस विषम स्थिति में भारत ने भारतीय धर्म-संस्कृति तथा अरब + तुर्क + ईरानी की बाहरी तहजीब, दर्शन तथा मजहब से सामंजस्य और सौमनस्य के लिए प्रयास आरम्भ कर दिया। तेरहवीं सदी से

डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद, B-13, Tribhuwan Binayak Residency, In Front Of Shri Ram Aptts, Buddha Colony, Patna-800001, Mo. 09431685504

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकर बीसवीं सदी तक यह प्रयास चलता रहा है। सामंजस्य का यह दीर्घकालीन प्रयास साधना के स्तर पर होता रहा है। कारण स्पष्ट है कि भारत ने 'सर्व धर्म समभाव' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के मानवीय चिन्तन को हृदय से मान्यता दी है। परन्तु प्रश्न है कि भारत की यह साधना कितनी सफल हुई?—यह गम्भीरता से विचारणीय है।

तेरहवीं सदी में भारत में तुर्क शासन स्थापित हो गया था। दिल्ली में तुर्क शासक तख़्तनशीन होकर सम्पूर्ण भारत पर फतह पाने के लिए युद्ध कर रहे थे। इसी स्थिति में एक ओर अजमेर में प्रतिष्ठित सूफी सन्त तुर्क शासक—सुल्तान को आशीर्वाद के साथ मार्गदर्शन दे रहे थे तो दूसरी तरफ ईरान से आए सूफी फकीर सीदी मौला नाथपंथी रावलपीर के साथ मिलकर भारतीय दर्शन एवं धर्म के साथ इस्लाम के सूफी दर्शन, प्रेमपरक उपासना तथा जनसेवा के माध्यम से सामंजस्य बैठाने की कोशिश करने लगे। सीदी मौला तुर्क सुल्तान बलवन के वक्त मन्दिरों के विध्वंस पर असहमति प्रकट करने लगे। डॉ. शिव प्रसाद सिंह के महाकाव्यात्मक उपन्यास 'दिल्ली दूर है' में इस सांस्कृतिक साधना का विस्तार से वर्णन हुआ है। लेकिन सुल्तान बलवन ने सूफी सीदी मौला को दिल्ली स्थित 'कुव्वत-ए-इस्लाम मस्जिद के प्रति असहमति प्रकट करने की वजह से प्राणदंड दे दिया था। उपन्यास का नायक आनन्द बाशेक भी रजिया बेगम की कट्टरता-क्रूरता को देख सामंजस्य-सौमनस्य के प्रति निराश हो गया था।

पन्द्रहवीं सदी में रामभक्ति के आचार्य श्री रामानन्द जी ने एक पीढ़ी पहले धर्मान्तरित जुलाहा कबीर को रामभक्ति की मन्त्रदीक्षा दी थी। कबीर ने काशी में अद्वैत दर्शन को भी समझने का प्रयत्न किया था, आत्मा-परमात्मा और आत्मा-आत्मा (मानव-मानव) के अभेद को आत्मसात् कर लिया था। सन्त कबीर ने निर्गुण राम की भक्ति के द्वारा सम्पूर्ण समाज को भी आस्था एवं अस्मिता का सन्देश दिया। उन्होंने ईश्वर और अल्लाह को दो नहीं माना। इसीलिए उन्होंने हिन्दू और मुसलमान को दो मानने से इनकार किया। दोनों को इस चिन्तन के आधार पर जोड़ने का प्रयत्न किया। साथ ही हिन्दू समाज के अन्दर उच्च वर्ण-निम्न वर्ण के अन्तर-विषमता को भी ठुकरा दिया। इस प्रकार सन्त कबीर ने प्रत्येक स्तर पर समतामूलक समरसता का प्रयत्न किया। और दोनों समाजों की अमानवीय रूढ़ियों की भी आलोचना की। फलतः मुल्लाओं द्वारा कबीर गुनहगार-काफिर घोषित हो गए। सुल्तान सिकन्दरशाह लोदी ने मुल्लाओं को खुश करने के लिए सन्त कबीर को दण्ड देने का ऐलान कर दिया। उन्हें गंगा में फेंक दिया गया। योग-भक्ति साधना तथा जन-सहयोग से वे बच गए। जनाक्रोश के कारण सुल्तान को काशी से हट जाना पड़ा था। इस प्रकार पन्द्रहवीं से अठारहवीं सदी तक के निर्गुण सन्तों ने सामंजस्य तथा सौमनस्य के प्रयत्न किए। 'सुनो भाई साधो' नामक उपन्यास में सन्त कबीर की इस साधना का मार्मिक वर्णन हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में सगुण भक्ति धारा के साथ निर्गुण भक्ति धारा साथ-साथ प्रवाहित होती रही, पर तौहीद-एकेश्वरवाद के अनुयायी अरबोईरानी तहजीब-तमधुन के साथ मुख्यधारा से अलग-थलग रहे। शासन का राजमद था ही।

महाराष्ट्र के निर्गुण भक्तिसाधक नामदेव पंजाब पहुँच गए। वहाँ निर्गुण भक्ति का अलख जगाया। वहीं गुरुनानक देव ने निर्गुण भक्ति के साथ अपना त्याग-तपोमय जीवन को प्रस्तुत किया। उन्होंने भी हिन्दू-मुसलमान—दोनों को अपनाया। उनके साथ एक संगीतज्ञ मरदाना नामक मुसलमान जीवन-भर साथ रहा। स्वयं गुरुनानक देव ने पश्चिम के मुस्लिम देशों में जाकर भारतीय दर्शन—अद्वैत तथा भक्ति के साथ इस्लामी दर्शन पर चर्चा की। विचार-विमर्श किया। डॉ. महीप सिंह ने अपनी पुस्तक में इस प्रसंग का वर्णन किया है। परन्तु दुःख एवं क्षोभ का विषय है कि मुगल शासक जहाँगीर ने सिखों के पाँचवें गुरु अर्जुन देव की भक्ति तथा गुरु ग्रन्थ के सम्पादन तथा लोकप्रियता से घबड़ाकर उनका दमन करना चाहा। अन्त में गुरु अर्जुन देव की शहादत हुई। उन्हें अपने धर्म के लिए बलिदान देना पड़ा। इनके बाद छठे गुरु गुरु हरगोविन्द को रक्षा के लिए खड्ग धारण करना पड़ा। इन्हें भी विद्रोही समझकर वन्दी होना पड़ा। औरंगजेब के समय में गुरु तेग बहादुर तथा गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्रों को शहादत देनी पड़ी। अतः गुरु गोविन्दराय ने सिंह उपाधि धारण कर शिष्यों-सिक्खों को सशस्त्र कर दिया। मुगल औरंगजेब की कट्टरता-क्रूरता से टकराव चलता रहा। गुरु गोविन्द सिंह के बाद बन्दा बैरागी ने संघर्ष किया। पराजय के बाद बन्दी बने बन्दा बैरागी की निर्मम-नृशंस हत्या की गई।

प्रश्न उठता है कि भक्तिमार्ग के सन्तों को सशस्त्र क्यों होना पड़ा? गुरु गोविन्द सिंह के चारों पुत्रों का बलिदान क्यों हुआ? इस स्थायी टकराव—भारतीय मूलधारा और विदेशी तुर्क-मुगल की एकेश्वरवादी धारा में क्यों हुआ? अरबो-ईरानी मजहब में इतनी असहिष्णुता और कट्टरता क्यों है? भारतीय मिट्टी के लोग धर्म बदलने—नए मजहब को अपनाने के बाद उन्हीं के समान कट्टर, असहिष्णु तथा क्रूर बन जाते हैं? क्यों अपने पुरखों, अपनी परम्पराओं तथा अपने खून को क्यों भूल जाते हैं?

इस सत्रहवीं सदी में औरंगजेब के बड़े भाई दाराशिकोह तथा पण्डित राज जगन्नाथ ने मिलकर सूफी अद्वैत तथा भारतीय अद्वैत चिन्तन के संगम का महान प्रयत्न किया। ग्रन्थ का लेखन हुआ—मज्ज-उल-बहरैन अर्थात् समुद्र संगम। साथ ही उपनिषदों का अनुवाद हुआ। दर्शन, धर्म, संस्कृति, समाज और राजनीति—इन सभी स्तरों पर समन्वयन का प्रयत्न हुआ। डॉ. भोलाशंकर व्यास ने अपने उपन्यास—'समुद्र संगम' तथा श्री मेवाराम ने अपने वृहत् उपन्यास 'दाराशिकोह' में इन दो धाराओं के मिलन की पूरी कोशिश को दिखाया है। परन्तु दाराशिकोह के साथ पण्डित राज जगन्नाथ तथा जहाँनारा बेगम थीं। उधर औरंगजेब के साथ रोशनआरा बेगम तथा मुल्ला थे। इन दो वर्गों का टकराव चला। इन दो उपन्यासकारों ने इस टकराव को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाया है। परन्तु दुर्भाग्य से दाराशिकोह की युद्ध में हार हो गई। काफिर घोषित कर उसकी हत्या की गई। दिल्ली हाहाकर कर उठी थी। इसीलिए तो डॉ. राम विलास शर्मा ने 'दाराशिकोह' नामक कविता में दारा की हार और कट्टर-क्रूर औरंगजेब की जीत को प्रस्तुत किया है। 'तारसप्तक' प्रथम में यह मार्मिक कविता संकलित है।

ये दोनों उपन्यास तथा यह एक कविता—हमें बार-बार सोचने के लिए बाध्य कर देते हैं। भारत में अरबो-ईरानी शासकों की ऐसी कट्टरता और क्रूरता क्यों? भारतीय दर्शन, धर्म और उपासना के साथ सामंजस्य क्यों नहीं हो सका?

अठारहवीं सदी में मुगल शासन के कमजोर होते देख वहाबी आन्दोलन इस्लामी जम्हूरियत के जरिए निजामे मुस्तफा की बात सोचने लगा। अहमद शाह अब्दाली निमन्त्रित हुआ। पानीपत के तीसरे युद्ध में प्रबल मराठी सेना और अब्दाली में भीषण युद्ध हुआ। मराठे अपनी कमजोरियों के कारण हार गए। पर मुगल शासन ताकत हासिल नहीं कर सका। तीसरी ताकत के रूप में अंग्रेज-ईस्ट इण्डिया कम्पनी राजनीतिक दृष्टि से आगे बढ़ने लगी। वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यास—'माधव जी सिन्धिया' में इस यथार्थ को दिखाया है।

यह भी सही है कि सामंजस्य बढ़ने लगा। उदार तत्त्व भारत के मूल समाज के निकट आने लगे। आर्थिक-सांस्कृतिक जीवन में थोड़ी नजदीकी दिखाई पड़ी। पर कट्टर वहाबी आन्दोलन बढ़ रहा था। और मुल्लाओं आदिने फारसी के साथ आमोखास के लिए हिन्दी से अलग उर्दू जुबान को विकसित करना आरम्भ कर दिया।

उन्नीसवीं सदी में हिन्दू और मुसलमान—दोनों अंग्रेजों के गुलाम हो गए। आर्थिक और सांस्कृतिक—दोनों के आधार पर सबका दमन होने लगा। सारा देश सात समन्दर पार के फिरंगियों के शोषणपूर्ण-दमनपूर्ण शासन से क्षुब्ध हो उठा। सन् 1857 ई. का विद्रोह-संघर्ष विस्फोटित हुआ। सभी इसमें सम्मिलित हुए। हिन्दू राजे-महाराजे, जमींदार, सैनिक तथा जन सामान्य सभी ने स्वातंत्र्य संघर्ष का संघोष किया। मुस्लिम शाह, नवाब, जमींदार तथा मुल्ला भी सम्मिलित हुए। इनमें वहाबी तत्त्व भी अपनी हुकूमत की पुनःस्थापना के विचार से सक्रिय हुए। महारानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, कुंअर सिंह और बैसवाड़े के राजा—सभी ने देहली के लाल किले तक सीमित मुगल बादशाह बहादुर शाह 'जफर' को अपना प्रधान माना। जफर के नेतृत्व में यह स्वातन्त्र्य संघर्ष चला। परन्तु अंग्रेज, अपनी चतुर रणनीति, नए अस्त्र-शास्त्र, नई फौज और कुछ भारतीयों के कारण विजयी हो गए। अंग्रेजों का साम्राज्य कायम हो गया। वीर सावरकर, चतुरसेन शास्त्री तक वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने-अपने ग्रन्थों तथा अपने उपन्यासों में इस युद्ध की पृष्ठभूमि के साथ स्वातन्त्र्य युद्ध को प्रस्तुत किया है।

अंग्रेजों ने इस जंग के मूल में मुस्लिमों को मुख्य दोषी माना—सम्भवतः वहावियों की मजहबी सियासत की वजह से। लेकिन सैयद अहमद ने प्रामाणिक तथा ठोस किताब लिखकर सिद्ध किया कि मुसलमान अपराधी नहीं हैं और उन्हें समझाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वे सफल हो गए। फलतः अंग्रेजों ने भारत पर शासन करने के लिए अंग्रेजी साम्राज्य तथा मुस्लिम सियासत की सन्धि गुप्त रूप से कर ली। सर सैयद अहमद इस दुरभिसन्धि के प्रस्तावक और प्रस्तोता बन गए। इसी दृष्टि से दोनों ने मिलकर अलीगढ़ को मुस्लिम समाज की तालीम और अलगाववादी सियासी मानसिकता का केन्द्र बना दिया।

सन् 1885 ई. में ए.ओ. ह्यूम नामक एक अंग्रेज ने 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना की जिससे शिक्षित भारतीय सन् '57 के समान विद्रोह-पथ पर नहीं बढ़ सकें। इधर सर सैयद अहमद ने भविष्य के भारत में आने वाले प्रजातन्त्र का अनुमान कर मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होने से रोका, क्योंकि भारत में संगठन में हिन्दुओं का बहुमत है और इण्डियन नेशनल कांग्रेस 1905 तक अंग्रेजी शासन की प्रशंसा के साथ कुछ निवेदन करने तक की गति से सन्तुष्ट रही। अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य तथा राष्ट्रभाव को तोड़ने के लिए पूर्वी बंगाल को शेष बंगाल से अलग कर दिया। पूर्वी बंगाल मुस्लिम बहुल रहा है। फलतः सारा बंगाल बंगभंग विरोधी आन्दोलन के पथ पर 'वन्दे मातरम्' के घोष के साथ आगे बढ़ा। इस भीषण आन्दोलन से अंग्रेज त्रस्त हो उठे। इसलिए 1906 ई. में अंग्रेजों के इशारे पर ढाका के नवाब की सदारत में मुस्लिम लीग की स्थापना हो गई। लाल-बाल-पाल-अरविन्द के उग्रराष्ट्रवादी रूप को देखकर बंगभंग समाप्त हुआ। राजधानी दिल्ली चली गई। इसके बाद ही कांग्रेस में परिवर्तन आया। कांग्रेस स्वाधीनता आन्दोलन का सामान्य मंच बनने लगी।

आश्चर्य का विषय है कि सन् 1857 के संघर्ष में हिन्दुओं ने बहादुर शाह 'जफर' को अपना नेता माना, पर बीसवीं सदी के स्वातन्त्र्य संग्राम में मुस्लिम अवाम ने लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू और नेता जी सुभाष को अपना सर्वमान्य नेता नहीं माना, मौलाना अबुल कलाम आजाद और खान अबुल गफ्फार खाँ को राष्ट्रीय नेता नहीं माना। उन्होंने सर मु. इकबाल और मु. अली जिन्ना को मुस्लिम लीग के मंच पर मान्यता दी। यह ऐतिहासिक तथ्य बार-बार सोचने को बाध्य करता है। ऐसा क्यों हुआ? लोकमान्य तिलक के बाद महात्मा गाँधी द्वारा आयोजित हिन्दू-मुस्लिम एकता पर आधारित अहिंसात्मक आन्दोलन-सत्याग्रह को मुस्लिम अवाम का सहयोग नहीं मिला। सर सैयद अहमद, सर मुहम्मद इकबाल और मु.अ. जिन्ना ने मुसलमानों के लिए मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में मुस्लिम हुकूमत की माँग की। इकबाल और जिन्ना भारतीय नस्ल के मुस्लिम थे। इकबाल चार पीढ़ी के कश्मीरी ब्राह्मण थे। जिन्ना का परिवार मूलतः मुलतान व्यापारी-वैश्य था जो गुजरात में बस गया था। जिन्ना के पिता मु. फकीर के प्रभाव में थे। इसलिए उन्होंने कराची में आकर जिन्ना की सुन्नत कराई। जिन्ना सर्वथा नए मुसलमान थे। आरम्भ से कांग्रेस में थे। पर ये दोनों अपनी मिट्टी, अपने रक्त, अपने पुरखे आदि को भूल गए। अलगाववाद-आतंकवाद के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तोता बन गए इधर महात्मा गाँधी आमरण हिन्दू-मुस्लिम एकता के साधक हो गए। कौन सफल हुआ? क्यों हुआ? विचारणीय है।

आज भी यही प्रश्न है कि महात्मा गाँधी की साधना क्यों विफल हुई? उनके परम शिष्य निर्भीक पत्रकार गणेश शंकर विद्यार्थी की क्यों हत्या हुई—कानपुर में, स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या क्यों हुई—दिल्ली में? यदि लोकमान्य तिलक ने इसी एकता के लिए सन् 1916 में कांग्रेस-लीग का समझौता किया था। गाँधी जी ने इसी के लिए सन् 1921 में खिलाफत आन्दोलन करके मुसलमानों के खलीफा के अस्तित्व के लिए सत्याग्रह किया था। अंग्रेजों ने इस आन्दोलन को दबा दिया। और तब केरल के मोपलाओं ने अपने क्षेत्र के अल्पसंख्यक हिन्दुओं पर भीषण प्रहार-संहार करके गाँधी जी के आन्दोलन को विफल कर दिया। लीग की माँग बढ़ती गई—अंग्रेजों की शह पर। सन् 1940 के मार्च में मु.अ. जिन्ना ने लीग के सम्मेलन में पाकिस्तान की माँग कर दी। साथ ही सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया। गाँधी जी जेल से छूटने के बाद सहयोग के बल पर स्वतन्त्रता के लिए जिन्ना के दरवाजे पर 1944 के सितम्बर-अक्टूबर में गए। मु.अ. जिन्ना ने गाँधी जी के अनुरोध-आग्रह को ठुकरा दिया। उन्हें तिरस्कृत किया।

गाँधी जी ने जिन्ना से कहा था—"मजहब बदलने से राष्ट्रीयता नहीं बदलती। खून नहीं बदलता। पुरखे नहीं बदलते।" यह अलगाववाद गलत है। जिन्ना इसका जवाब नहीं दे सके।

मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग पर बल देने के लिए कलकत्ता में 16 अगस्त, '46 को सीधी कार्रवाई कर दी, क्योंकि 1946 के जनवरी में हुए चुनाव में मुस्लिम लीग को मुस्लिम क्षेत्रों में सफलता मिल गई थी। नेताजी के अभियान का भी असर नहीं पड़ा था। इस अलगाववादी माँग और आतंकपूर्ण दंगों के दबाव में लॉर्ड माउण्ट बेटन—एडविना की सलाह पर नेहरू जी ने देश-विभाजन के साथ स्वाधीनता को मान लिया। अंग्रेज साम्राज्यवाद + मुस्लिम लीग की दुरभिसन्धि को सी.पी.आई. के समर्थन से भारत को टूटने को बाध्य कर दिया। गाँधी जी विभाजन रोक नहीं सके। नेहरू का समर्थन करना पड़ा। क्रान्तिकारी आन्दोलन, गाँधी जी का आन्दोलन और नेताजी का अभियान—सब उस दुरभिसन्धि के समक्ष कमजोर सिद्ध हुए। क्यों?

नेहरू जी ने महाराजा हरिसिंह द्वारा जम्मू-कश्मीर के भारत में विलयन के बाद शेख अब्दुल्ला को जम्मू-कश्मीर की पूर बागडोर सौंप दी। संविधान द्वारा 370 की धारा की असीम सुविधाएँ भी दे दीं। उधर शेख अब्दुल्ला भारत से स्वतन्त्र होने का ख्वाब देखने लगा। डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी को बलिदान देना पड़ा, तब नेहरू जी को शेख के अलगाववादी छद्म की जानकारी हो सकी। पर आज तो कश्मीर अलगाववाद-आतंकवाद का अड्डा बन चुका है। ऐसा क्यों?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्दिरा गाँधी ने बांग्ला देश के संघर्ष में पूर्ण सहयोग दिया। सारे देश ने साथ दिया। पूर्वी पाक के सारे हिन्दुओं का सहयोग मिला। पर उनका पहले की तरह आज भी दमन होता रहा है। वे आज भी बांग्ला देश में दयनीय-दमित अल्पसंख्यक हैं। क्यों? भारत का विरोध बांग्लादेश करता रहा। क्यों?

भारत ने बार-बार राम जन्मभूमि, कृष्ण जन्मभूमि तथा काशी विश्वनाथ के मन्दिर को पाने के लिए निवेदन किया, मुस्लिम समाज से अनुरोध किया, आग्रह किया। अन्त में एक रामजन्म भूमि मन्दिर की माँग पर सत्याग्रह किया। बाबरी ध्वस्त हुआ। पर आज तक रामजन्म भूमि स्थान नहीं मिला। राम तथा जन्मभूमि पर ही शक किया गया। प्रमाण मिलने पर भी हिन्दू अपने देश में राम मन्दिर के लिए तरस रहे हैं। और कश्मीर के चार लाख हिन्दू अल्पसंख्यक अपने ही देश में शरणार्थी बने हुए हैं। प्रश्न है क्यों?

मोहम्मद करीम छागला ने कहा था कि वे मजहब से मुसलमान हैं और कौम से हिन्दू हैं।...इस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सत्य को—मुस्लिम मुल्ला तथा बुद्धिजीवी सबने—छागला के कथन को ठुकरा दिया। वे काफिर करार कर दिए गए।

अभी-अभी गुजरात के मौलाना गुलाम मोहम्मद वस्तानवी, दारूल उलूम, देवबन्द के कुलपति नियुक्त हुए थे। उन्होंने गुजरात के विकास को स्वीकार किया। परिणाम यह हुआ कि मजलिस-ए-शूरा ने इस बयान को मुस्लिम विरोधी मानकर उन्हें इस पद से बर्खास्त कर दिया।

इस मजहबी कट्टरता, अलगाववाद और आतंकवाद की सफलता तथा राष्ट्रीयता की पराजय के मूल में क्या है?

गाँधी जी ने सन् 1944 में जिन्ना को ऐतिहासिक सत्य कहा था। छागला ने घोषणा की थी। वी.एस. नायपाल ने धर्मान्तरित देशों के सर्वेक्षण-भेंट के आधार पर बताया है कि मत-धर्म बदलने पर व्यक्ति समूह अपने सम्पूर्ण अतीत, पुरखे, खून, परम्परा को पूर्णतः भूलकर-दफनाकर अरबो-ईरानी रंग में रँग जाता है। यही कारण है।

दैनिक हिन्दुस्तान के 23 जुलाई, 11 के अंक में उपन्यासकार आतिश तासीर का एक लेख छपा है। पाक के लेखक के ये शब्द सब बता देते हैं—"हमें पाकिस्तान के मूल विचार की उस केन्द्रीय अवधारणा को देखना होगा, जो हर भारतीय चीज को नकारती है, उसकी संस्कृति को, उसके इतिहास को। 1930 में ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग के एक जलसे की अपनी तकरीर में मु. इकबाल ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों के लिए एक अलग मुल्क की बात की थी। इकबाल की इस सोच को अगस्त 1947 में आकार मिला। इसके साथ ही हिंसा शुरू हो गई और जल्दी ही यह साफ हो गया कि मुसलमानों के इस नए मुल्क में गैर-मुस्लिमों के लिए कोई जगह नहीं है। लाखों लोगों की मौत और इतिहास में आबादी के सबसे बड़े पलायन के बाद ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान अस्तित्व में आए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाकिस्तान के पास कोई सच्ची राष्ट्रीय पहचान नहीं है, इसलिए वह खुद को भारत के विरोधी के रूप में परिभाषित करता है। आजादी से पहले मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच जो साझा चीजें थीं, वह उन सबसे मुँह मोड़ लेता है। पहनावे से लेकर तीज-त्यौहार, शादियों के रीति-रिवाज और साहित्य तक हर चीज शक के दायरे में है। पाकिस्तान इस उपमहाद्वीप से जुड़ाव की अपनी सारी निशानियाँ मिटाने के काम में लगा है, क्योंकि कई लोगों को लगता है कि यह जुड़ाव ही जहर है।"

प्रसिद्ध चिन्तक-लेखक रांगेय राघव ने 'महायात्रा गाथा' के चौथे खण्ड के पृष्ठ 244 में (2009 संस्मरण) बताया है–

1. इस्लाम के पुरोहित वर्ग किसी भी भारतीय भाषा को स्वीकृत नहीं करता था। इस कारण यहाँ उसे स्वदेशी रंग नहीं मिला।
2. उसने अपनी सारी प्रेरणा विदेशों से ली, और अपनी एक अलग संस्कृति को रखने का प्रयत्न किया।
3. मुस्लिम पौरोहित्य संगठित था, मुलसमान अन्तर्भुक्त तो तब होते जब बहुमत विदेशी होता। बहुमत तो वही थी जिसने... जाति प्रथा का पहले ही विरोध किया था।
4. इस्लाम के पुरोहित वर्ग का रूप शासक का रूप था। उसको भारतीय समाज में मिल जाने में 'राजनीतिक और आर्थिक हानि थी।
5. जब इस्लामी राजनीतिक शक्ति का ह्रास हुआ, तब उस वर्ग ने बड़े जागरूक तरीके से उर्दू को जन्म दिया, जिसमें संस्कृत भाषा को दूर रखा गया।

ये ही कारण हैं कि आठ-दस सौ वर्षों से साथ रहने पर भी सामंजस्य और सौमनस्य नहीं आ सका। इधर के सारे प्रयास सामूहिक वोट पाकर राज सत्ता पाने के लिए मात्र एक पक्षीय सुविधा प्रदान करने का प्रयास है। गाँधी जी असफल हो चुके थे। वर्तमान राजनेता तो सौदाबाजी कर रहे हैं। भारत की एकता और अखण्डता पर संकट मँडराने लगा है। पाकिस्तान से प्राओजित आतंकवाद को भारत के विभिन्न क्षेत्रों में समर्थन मिलने लगा है। शेष मौन हैं! पाँच-दस प्रतिशत उदार तथा विचारवान मुसलमानों की बातें अनसुनी की जाती हैं, जैसे स्वातन्त्र्य संघर्ष के दिनों में। अलगाव की मानसिकता को बदलने का प्रयास नहीं होता, संवर्द्धन की ही प्रतिस्पर्धा यह भारत के लिए दूसरी त्रासदी की स्थिति बना सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बृहत्तर भारत के अन्वेषक आचार्य रघुवीर

भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता*

बसन्त पंचमी, 1968 की बात है। महामना मदन मोहन मालवीय के विचारों और सपनों को साकार करने के उद्देश्य से हिन्दू विश्वविद्यालय के पुराने छात्रों का एक सम्मेलन काशी में ही आयोजित किया गया था। यह सम्मेलन स्वनाम धन्य स्व. भाउराव देवरस की परिकल्पना और सर्वश्री पन्नालाल जायसवाल तथा बालेश्वर प्रसाद अग्रवाल की प्रबन्धपटुता एवं संगठन-कुशलता का सुपरिणाम था। इसमें देश-विदेश में कार्यरत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पुराने छात्रों का एकत्रीकरण हुआ था। मुझे भी वहाँ हिसार विश्वविद्यालय से चलकर भाग लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे जीवन का वह चिरस्मरणीय क्षण था, जब वहाँ मुझे विश्वविख्यात दो महान् विभूतियों का सान्निध्य प्राप्त हुआ। वे थे, सर्वश्री माधव सदाशिव गोलवलकर उपाख्य 'गुरुजी' और विश्वविश्रुत् विद्वान् आचार्य रघुवीर। इनमें गुरुजी तो यहीं के पुराने छात्र थे, जिन्हें जीवविज्ञान में स्नातकोत्तर की उपाधि के साथ स्वर्णपदक प्राप्त हुआ था तथा मालवीय जी ने स्वयं उन्हें 'गुरुजी' के उपाख्य से विभूषित किया था। बाद में उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के गुरुबन्धु स्वामी अखण्डानन्द से दीक्षित होकर अध्यात्म तथा राष्ट्रसेवा हेतु सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया था।

विश्वप्रसिद्ध व्यक्ति आचार्य रघुबीर के विषय में क्या कहना! आधुनिक राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में अनेक उच्च कोटि के विद्वान हुए है। उनमें वैसे विद्वान और साहित्यकार फिर कभी उत्पन्न होंगे, यह सम्भावना कम है। वैसी महान् दुर्लभ विभूतियों में पंच महारत्नों के नाम इस प्रकार से ले सकते हैं : पहला नाम है, कथा सम्राट् प्रेमचन्द का, जिनके कथा-साहित्य के माध्यम से हम तत्कालीन भारतीय समाज को समझ सकते हैं। दूसरे हैं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जिन्होंने हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग का कपाट खोल दिया। तीसरे हैं, हिन्दी के बाणभट्ट आचार्य हजारी प्रसाद

*डॉ. भुवनेश्वर गुरुमैता, पूर्व राष्ट्रीय उपाध्यक्ष, अखिल भारतीय साहित्य परिषद, सम्पर्क : पो. मटियारी, द्वारा बलुआ बाजार, जि. सुपौल, बिहार-854339

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवेदी, जिन्होंने साहित्य को नई दृष्टि और अपूर्व मौलिक शैली प्रदान की। चौथी विभूति है, हिन्दी के परिव्राजक महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, जिन्होंने तिब्बत जाकर हजारों पाण्डुलिपियाँ खच्चर पर लादकर पटना म्युजियम को समृद्ध कर दिया। इस प्रकार से राहुल जी ने भारतीय विद्या के अनुसन्धान-क्षेत्र में क्रान्ति ला दी। जिसकी प्रशंसा काशी प्रसाद जायसवाल तथा प्राच्य विद्या-विशारद शेरवास्की ने भी की।

अब हम पंचम महारत्न डॉ. रघुवीर की प्राच्य विद्या के क्षेत्र में देन पर विचार करते हैं। महापण्डित राहुल जी ने तो मध्य एशिया में विशेषकर तिब्बत का अन्वेषण किया था। किन्तु, आचार्य रघुवीर जी ने एशिया के उन सभी देशों की यात्रा की, जहाँ कहीं भारतीय संस्कृति का प्रवेश हुआ था। उनका विशिष्ट कार्यक्षेत्र चीन, जापान, वियतनाम, बाली, लाओस, थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया और बर्मा था, तथापि यहाँ के वार्तालाप क्रम में उन्होंने अफगानिस्तान का विशेष रूप से उल्लेख किया। उनके कथनानुसार वर्तमान अफगानिस्तान तो प्राचीन 'उप-गण-स्थान' का ही अपभ्रंश रूप है। इसी प्रकार 'आर्याण' का ही परिवर्तित रूप 'ईरान' है। पुराने ईरानी अर्थात् पारसी आज भी अग्निपूजक हैं। इसमें किसी को भी यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होगी कि उनकी संस्कृति यज्ञ-प्रधान भारतीय संस्कृति से मिलती-जुलती है।

ईरान की भाँति ही 'उपगण स्थान' भी कभी आर्यों का ही स्थान था। आचार्य रघुवीर ने पुरातत्त्व से भी उसके पुष्ट प्रमाण उपलब्ध कराए, जिन्हें सातवीं-आठवीं शता. में अरब से आई मजहबी आँधी ने ध्वस्त कर दिया। फिर भी, आज कट्टर-से-कट्टर मजहबी समीक्षक भी इससे इनकार नहीं कर सकता कि यह बृहत्तर भारत का ही पश्चिमोत्तरी अंग कभी रहा है। भारत के प्राचीन सोलह जनपदों के अन्तर्गत कभी 'गान्धार' और 'कम्बोज' भी थे। पाणिनि के अनुसार कम्बोज के पश्चिम 'वंक्षु' (OXUS) के दक्षिण और हिन्दूकुश के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश 'बाल्हीक' महाजनपद था। हिन्दूकुश के दक्षिण-पूर्व में 'काबुल' तथा पश्चिम में 'गान्धार' का जनपद था। बाल्हीक और गान्धार के बीच में 'कपिश' जनपद था। पामीर के ठीक दक्षिण हुंजा और आधुनिक 'गिलगिट' का प्रदेश प्राचीन 'दरद' जनपद था। कम्बोज के दक्षिण में पूर्व से पश्चिम फैली हुई हिन्दूकुश की पर्वत श्रृंखला कम्बोज को भारत से अलग करती थी। सिन्धुनद तटवर्ती सिन्धुप्रान्त के निचले काठे का पुराना नाम 'सौवीर' जनपद था। सिन्धु के दाहिने किनारे का नाम 'शार्कर' था। पाणिनी ने इसे 'शर्करा' कहा है। आजकल यह 'शक्कर' नाम से प्रसिद्ध है। 'शक्कर का बाँध' सब कोई जानते हैं। प्राचीन समय में यही एक 'ब्राह्मणक' जनपद भी था, जिसे काव्य मीमांसाकार राजशेखर ने 'ब्राह्मणवह' कहा है यूनानी लेखक प्लूटार्क के साक्ष्य से यहाँ के निवासी दार्शनिक और योद्धा भी थे। अरब भूगोलकार अबूरिं ने इसका नाम 'वमनहवा' दिया है, जो ब्राह्मणवह का ही देशी रूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिन्ध के ठीक दक्षिण में 'कच्छ' जनपद है। 'केकय' वर्तमान झेलम और शाहपुर का पुराना नाम था। 'मद्र' जनपद प्राचीन कालीन लीक का पुराना नाम था। इसकी राजधानी 'शाकल' थी, जो वर्तमान स्यालकोट नाम से पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिम भाग में एक शहर है। वाह्लीक का एक जनपद 'उशीनर' भी था। रावी, व्यास और शतलज (शतद्रू)—इन तीन नदी-दूनों के बीच का समग्र भाग त्रिगर्त कहलाता था। इसी का एक भाग 'जालन्धरायण' (वर्तमान जालन्धर शहर) आज भी भारत में विद्यमान है। राम के पुत्र लव के नाम पर बसाया गया नगर 'लवकोट' वा लवपुर (वर्तमान लाहौर), हिंगुला देवी का स्थान बलुचिस्तान, ननकाना साहब, मुल्तान (मूलस्थान), सिन्धुघाटी सभ्यता के स्थल हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो, झेलम, रावी, शतलज (शतद्रु), चनाब (चन्द्रभागा) आदि नदियों की लीलाभूमि एवं सिन्धुनद से सिंचित स्थल आज भारत से बाहर दिख रहे हैं। पाक अधिकृत काश्मीर में भी हिन्दू संस्कृति के असंख्य कीर्तिस्तम्भ विद्यमान हैं। विद्या-ज्ञान, विवेक तथा मोक्ष प्रदायिनी माँ शारदा का पवित्र सिद्धपीठ आजाद काश्मीर के मुजफ्फराबाद जिले में किशनगंगा और मधुमती नदियों के संगम पर स्थित है। अत्यन्त प्राचीन हिन्दू कला एवं शिक्षा का केन्द्र तथा ऐतिहासिक महत्त्व के इस शारदाबल के 'शारदा माता' मन्दिर के प्रति हमारी अब तक श्रद्धा रही है।

आचार्य रघुवीर ने प्राचीन पश्चिमोत्तर एशिया तथा अफगानिस्तान की पश्तो भाषा में संस्कृत के तद्भव शब्दों का सन्धान करते हुए उन्हें संस्कृत परिवार से सम्बद्ध बताया। इतना ही नहीं, एक बार यूरोपीय यात्रा के क्रम में उन्होंने जिप्सी भाषा का भी अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिप्सियों की मूल शाखा भारत से ही बाहर गई थी। उन्होंने साइबेरिया जाकर उस पर भारतीय प्रभाव की खोज की और सभी स्लाव भाषाओं को संस्कृत शब्दों से ओत-प्रोत पाया। उन्होंने सरस्वती विहार को बृहत्तर भारत के चित्र को स्पष्ट करने वाली सामग्रियों से समृद्ध कर इतना अधिक सुसज्जित कर दिया कि डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल को भी स्वीकार करना पड़ा—"आचार्य रघुवीर ने बृहत्तर भारत की जितनी सामग्रियाँ सरस्वती विहार की छतों के नीचे एकत्रित कर दी हैं, उतनी संसार में और किसी एक स्थान पर नहीं मिलेंगी। उन्होंने अस्त्रा खान (बोल्गा) से 'पद्म पुराण', बाइकाल के निकट से 'सुभाषित-रत्ननिधि' और मंगोलिया से विक्रमादित्य और राजा भोज की कहानियों की पुस्तकें प्राप्त की हैं।"

आचार्य रघुवीर अकेले एक संस्था ही नहीं, एक राष्ट्र थे। उन्होंने जब शतपिटक की योजना बनाई तो सारे संसार के प्राच्य विद्या विशारद आश्चर्यचकित रह गए। तीन पिटकों में तो समस्त बौद्ध साहित्य का सार संकलित समझा जाता है। आचार्य रघुवीर ने योजना बनाई थी कि 'सौ पिटकों में यह समस्त भारतीय साहित्य प्रकाशित कर दिया जाए, जो मूल या अनुवाद के रूप में प्राचीन काल में विदेशों में पहुँचा था। अर्थात् जैसे पाली ग्रन्थों के संग्रह त्रिपिटक कहलाते हैं, वैसे ही नेपाल, गान्धार, शृलिक, खोतन (मध्य एशिया), तुरुष्क (तुर्किस्तान), पारस (ईरान), ताजक (अरब), भोट (तिब्बत),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीन, मंगोल (मंगोलिया), मंजु (मंचूरिया), उदयवर्ष (जापान/जयपाणि), सिंहल (लंका देश), सुवर्ण भू (बर्मा), श्याम (थाईलैण्ड), कम्बुज (कम्बोडिया), वियतनाम, चम्पा, द्वीपान्तर (जावा, बाली, सुमात्रा) आदि में अनुवाद या मूल के रूप में जो भारतीय साहित्य उपलब्ध है, उसे शतपिटक नामक विशाल संग्रह के रूप में प्रकाशित किया जाए।

आचार्य रघुवीर द्वारा प्रस्तावित यह सारस्वत कार्य इतना सराहनीय और विशाल है कि उसे एक नहीं, अनेक संस्थाएँ मिलकर अनेक वर्षों में पूरा कर सकती हैं। आचार्य जी किसी भी कार्य को असम्भव नहीं मानते थे। उन्हें अपनी शक्ति पर अखण्ड विश्वास था। तभी तो उन्होंने केवल अपने बल पर इसे आरम्भ कर दिया था। और उसके कई ग्रन्थ अपने जीवनकाल में ही प्रकाशित कर दिए थे। इस प्रकार विश्व के विद्वानों के मनोबल को बढ़ाने का उन्होंने शुभारम्भ किया था। किन्तु, काल ने अकाल ही सरस्वती के इस वरदपुत्र को भारत से छीन लिया। जब उनका महाप्रयाण हुआ तो संसार के कोने-कोने से शोक-संवेदनाओं की झड़ी लग गई। समस्त विश्व के प्राच्य विद्या विशारदों ने इतने बड़े पैमाने पर उतना शोक कभी नहीं मनाया था, जितना आचार्य रघुवीर के दिवंगत होने पर अन्तर से मनाया। मुझे स्मरण है, जब चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय में मेरे पूज्य गुरुवर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. बुद्ध प्रकाश जी बिलख पड़े थे। आज आवश्यकता इस बात की है कि दिल्ली के जिस सरस्वती विहार के पावन मंच से उन्होंने शतपिटक की योजना चलाई और प्राचीन काल में विदेशों में गई हुई भारतीय विद्या और संस्कृति के उद्धार का संकल्प-कार्य आरम्भ किया, उसे आज उनके ही सुपुत्र डॉ. लोकेश चन्द्र के मार्गदर्शन में सब मिलकर सम्पन्न करें। इसमें सन्देह नहीं कि डॉ. लोकेश चन्द्र जी इस यज्ञ के प्रधान पुरोधा के रूप में मार्गदर्शन करने में पूर्णतः सक्षम हैं। आज यह कृतज्ञ राष्ट्र अपने महान् सपूत का स्मरण करता है। पड़ोसी मध्य एशिया इस आधुनिक भारतीय ह्वेनसांग को नमन करता है। 28 अप्रैल, 1946 को उन्होंने जो पूना की विद्वत् सभा में 'को वेदान उद्धरिष्यति' पर जो सम्भाषण दिया था, वह अमरवाणी आज भी गूँज रही है। मथुरा की विद्वत् सभा के सम्बोधन को कामकोटि के शंकराचार्य श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। हिन्दी-आन्दोलन के प्रतीक के रूप में वे युग-युग तक याद किए जाएँगे। लाखों हिन्दी पर्यायवाची शब्दों का निर्माण करने के कारण वे *अभिनव पाणिनि* के रूप में देखे जाने लगे थे। हम लोग कातर भाव से मंगलमय परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि पटना की एक सभा में उन्होंने जो उद्गार प्रकट किए थे—"हे यमदेव! तुमसे मेरी एक ही प्रार्थना है कि मुझे तब तक न बुलाना जब तक अंग्रेजी के बीस लाख शब्दों के हिन्दी पर्याय पूर्ण न कर लूँ," उसी सद्भाव से समस्त देशवासियों की करुण पुकार है—हे सरस्वती के वरदपुत्र! तुम फिर आओ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेता

शंकर पुणताम्बेकर*

नेता पर लिखना कुछ कठिन ही लगता है मुझे। भगवान पर लिखना आसान है क्योंकि वह सर्वगुण-सम्पन्न है, दैत्य पर भी लिखना आसान है क्योंकि वह सर्वदुर्गुण-सम्पन्न है। पर नेता के बारे में कुछ लिखने पर आता हूँ तो बड़ी विचित्रता अनुभव करता हूँ। वह गुण-सम्पन्न और दैत्य है, वह दुर्गुण-सम्पन्न है और भगवान है। मैं गुणसम्पन्न बता कर चुप हो जाऊँ और दैत्य न कहूँ तो लगता है सामान्य जन के साथ धोखा कर रहा हूँ, इसके विपरीत मैं दुर्गुण-सम्पन्न बताकर उसे भगवान कहूँ तो लगता है मैं अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर रहा हूँ।

कहूँ कि नेता भगवान नहीं, दैत्य नहीं वह तो आदमी है जो गुण-सम्पन्न भी होता है दुर्गुण-सम्पन्न भी। इस दशा में तो मैं और भी चक्कर में पड़ जाता हूँ। आदमी है तो इसे महँगाई क्यों नहीं, आदमी है तो कानून इनसे क्यों डरता है, और-तो-और आदमी भी इनसे क्यों डरता है!

नेता को अफसर, सेठ, धर्मगुरु की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता जिन्हें महँगाई नहीं होती और कानून इनसे डरता है, आदमी भी। इसलिए नहीं रखा जा सकता कि अफसर, सेठ, धर्मगुरु स्वयं नेता से डरते हैं। बिल्कुल इसी तरह किसी जमाने में जैसे राजा से डरते थे।

अब नेता को राजा भी तो नहीं कहा जा सकता इस लोकतन्त्र में। इसमें लोकतन्त्र का अपमान नहीं होगा उतनी मेरी छीः थूः कैसा खुशामदी है!

अब यह कैसी सुविधाजनक स्थिति है कि मैं नेता को जैसा की राजा को कहा जाता था हुजूर, माई-बाप, अन्नदाता नहीं कह सकता जबकि वह मेरा हुजूर, माई-बाप और अन्नदाता बना हुआ है।

---

2 मायादेवी नगर, जलगाँव-2 (महाराष्ट्र), मो. 09403159031

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा से डरो राजभक्ति का लक्षण था। नेता से डरो तो यह कायरता का लक्षण माना जाता है! स्वयं मुझ में ही प्रश्न उठता है, क्या मैं लोकतन्त्र का ही नागरिक हूँ? लोकतन्त्र कायरों का नहीं होता।

नेता से नहीं डरो तो अनुशासन का हवाला दिया जाता है, और नतीजा यह भुगतना होता है कि मेरे रास्ते बन्द न होते हों, तो उन पर स्पीड-ब्रेकर अवश्य लगा दिया जाता है, बिलकुल सांविधानिक ढंग से।

जिस अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से खुद नेता का जन्म होता है उसी का वह दुश्मन न हो सौतेला बन जाता है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में माइक बन्दूक हो, पर नेता के पास मेरी तरह एक ही नहीं पाँच-पाँच, दस-दस बन्दूकें होती हैं। इस दशा में मेरी अभिव्यक्ति कितनी ही सत्यतापूर्ण और निडर क्यों न हो, वह धराशायी बन चारों खाने चित हो जाती है।

इस मायने में नेता चालाकी से भरा राजा ही है। राजा गाली देनेवालों को बन्दूक से भूनता था, नेता गाली देनेवाले को माइक से भूनता है। जिन्दा दूसरा भी नहीं रह पाता।

बिजलीघर को पावर हाउस कहते हैं, नेताघर भी पावर हाउस होता है। बिजली में प्रकाश, शक्ति, गति होती है, नेता में भी ये लक्षण देखे जाते हैं। बिजली खतरनाक होती है शॉक देती है। नेता के बारे में भी यही कहा जा सकता है, बल्कि नेता स्वयं अपने लिए प्रकाश, शक्ति, गति अधिक है औरों के लिए शॉक।

मैं कवि की, ज्ञानी की, दार्शनिक की और-तो-और महात्मा की भी व्याख्या कर सकता हूँ, पर नेता की नहीं। मैंने कितने ही ग्रन्थ छान मारे मुझे नेता की सन्तोषजनक, कहूँ की यर्थाथपरक परिभाषा नहीं मिली। मैं इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में भी पहुँचा। पर इसका 'डीलर' बदन पर खादी नहीं पहने हुए है और मुँह पर गाँधी नहीं लिए हुए है, सो यहाँ की व्याख्या मुझे अर्थहीन लगी।

जब ब्रिटानिका ही मुझे सन्तुष्ट नहीं कर पाया तो औरों की क्या बिसात! मैंने लोगों को इस बावत छेड़ा तो उनका रुख ऐसा जैसे मैं प्याज-बैंगन की ही बात कर रहा हूँ। प्याज-बैंगन का उठता-गिरता भाव तो होता ही है इनकी व्याख्या नहीं। व्याख्या की बात कोई मूर्ख ही करेगा।

प्याज-बैंगन की बात से एक बात साफ है। जो चीज सामान्य-सी है उसकी व्याख्या के चक्कर में हम नहीं पड़ते। व्याख्या कवि-ज्ञानी-दार्शनिक जैसे क्लासिक की होती है, किसी ऐरे-गैरे की नहीं।

आज राजनेता के बारे में हम कुछ भी कह लें, उस पर व्यंग्य-बाण छोड़ें, इसमें दो राय नहीं है कि नेता राष्ट्रीय चेतना का प्रहरी है। वह जननायक हो, पर राष्ट्र का सैनिक है, तिलक, गाँधी, नेहरू, बोस, सावरकर ऐसे बीसियों नाम गिनाए जा सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जो हमारे राष्ट्र की अभूतपूर्व गौरवनिधि हैं, ऐसी अभूतपूर्व जो दुनिया में अन्य कहीं नहीं दीख पड़ती।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध ने दो महायुद्ध देखे। दूसरे में शस्त्र का विध्वंस का चरम।

ये युद्ध देशों ने लड़े हों, राजाओं ने नहीं लड़े थे। देश के नेताओं ने लड़े थे।

नेता ये कैसे नेता! राजाओं-जैसे ही विध्वंसकारी, युद्धपिपासु नेता!

नेता... बड़े विचित्र नेता ये। घर के लोकतन्त्र, घर के बाहर शाहतन्त्र।

यह कौन-सी संस्कृति पनप रही थी यूरोप में, अमरीका में कि नेता भी राजाओं की तरह छीना-झपटी कर रहे थे! यहाँ देश के अन्दर मंगलराज हो, सीमा पर जंगलराज चल रहा था!

इस मायने में ये विकसित देश क्या अर्धविकसित ही नहीं थे? शासक : आधा नेता आधा शाह।

सच कहो तो महायुद्धों के बाद भी यूरोप-अमरीका की तस्वीर में कोई तब्दीली नहीं है। ये पूर्वार्ध में जितने विकसित उससे कहीं उत्तरार्ध में दस गुना विकसित। पर नेता वैसा-का-वैसा अर्धविकसित। घर का लोकतन्त्रीय, घर के बाहर का शाहतन्त्रीय।

भारत के नेता की तस्वीर ऐसी नहीं है। स्वतन्त्रा के पूर्व वे स्वतन्त्रता-सैनिक थे। स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात् उनकी नियत शाहतन्त्रीय नहीं बनी कि बाहर के देशों से छीना-झपटी में लग जाएँ।

हाँ, कहा जा सकता है की देश ऐसा समृद्ध ही नहीं और उसकी शस्त्रास्त्र की इतनी ताकत ही नहीं कि छीना-झपटी कर सके। यह तथ्य है, पर मूल तथ्य नहीं।

भारत अपनी भौतिक और शस्त्रास्त्र समृद्धि में भी जैसा घर का लोकतन्त्रीय है वैसा घर के बाहर का भी लोकतन्त्रीय बना रहेगा। हाल का (जून-जुलाई 99) कारगिल-युद्ध इसका ज्वलन्त उदाहरण है। पाकिस्तानी घुसपैठियों को खदेड़ने के लिए भारत चाहता तो नियन्त्रण रेखा पार कर लाहौर पर आक्रमण कर सकता था। 1947 के कश्मीर युद्ध में भी लाहौर कब्जे में लिया जा सकता था, पर देश के नेताओं ने ऐसा किया नहीं।

इतिहास वह जो शासक के माध्यम से संस्कृति को प्रस्तुत करे। भारत का इतिहास ऐसा ही है, पर पश्चिम का इतिहास सर्वथा विपरीत है। वह समृद्धि के माध्यम से शासक को प्रस्तुत करता है। यह शासक लोकतन्त्रीय बन जाने पर भी उसके इतिहास का रुख वही छीना-झपटी वाला जंगली है।

भारत का इतिहास यही कारण है कि अधिकांशतः पराजय का इतिहास है, यहाँ पृथ्वीराज चव्हाण की पराजय हुई, हेमू की, राणा प्रताप की पराजय हुई, विश्वासराव पेशवा की पराजय हुई। शाहआलम की पराजय हुई। ये ऐसी पराजय थीं जिन्होंने देश की तस्वीर ही बदल दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश की तस्वीर बदली, पर देह की आत्मा की नहीं।

देश के राजा यहाँ परास्त हुए, जातियाँ वंश परास्त हुए, पर धर्म-संस्कृति-जीवन दृष्टि नहीं।

वर्तमान का इतिहास देखें तो जिस चीन के साथ पंडित नेहरू ने 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' कहकर सहअस्तित्व का, बन्धुत्व का हाथ बढ़ाया उसी ने उसकी पीठ में छुरा घोंपा। बांग्ला देश के निर्माण में ही भारत का हाथ था, लेकिन इस देश का सलूक हमारे साथ कभी मैत्रीपूर्ण नहीं रहा। लाखों नागरिक हमारे देश में जबरन आकर बस गए हैं।

पश्चिम के मुसोलनी, स्टालिन, हिटलर तो ठीक खत्म हो गए, चर्चिल-लेनिन-रुजवेल्ट भी क्या खत्म नहीं हो गए? क्या उनका प्रभा-वलय आज भी विद्यमान है, उनके ही देश में?

भारत के नेताओं का वलय आज भी विद्यमान है। भारत का स्वतन्त्रता-संग्राम दुनिया के तीसरे देशों के स्वतन्त्रता-संग्राम की अदम्य प्रेरणा बना और आज भी बना हुआ है।

मुझे लगता है मैं अपने इतिहास की पराजयों को गौरवान्वित कर रहा हूँ। आत्मा की तुलना में देह को, संस्कृत की तुलना भौतिकता को तुच्छ लेख रहा हूँ। पर क्या बताऊँ भारतीय सोच कि यह प्रकृित है। आत्मा और संस्कृति के पीछे देह और भौतिकता को हम तुच्छ देखते हैं।

इस प्रकृति से बल्कि कहें की विकृति से हमें छुटकारा पाना होगा। आत्मा और संस्कृति की श्रेष्ठता को कायम रखते हुए हमें देह और भौतिकता की उन्नति की ओर अग्रसर होना होगा।

और पश्चिम का प्रभाव कि आज हमारी दृष्टि बदलती है। विज्ञान के कारण दुनिया सिकुड़ रही है, सो यह युग की माँग थी। पश्चिम को नकारकर आज हम दुनिया में खड़े ही नहीं रह सकते।

लेकिन पश्चिम की हवा में उचित नहीं की हम अपने देश की माटी को ही भुला दें। आज यही हुआ है। देह और भौतिकता ही हमारे लिए सब कुछ बन गई हैं।

इतिहास की दृष्टि से यह हमारी एक प्रकार से पराजय ही है। ऐसी पराजय जो अब तक इतिहास ने नहीं देखी थी। पराजय विकास के नशे में हमें जिसका भान ही नहीं हो पाता।

इसके लिए पूर्णतः हमारा नेतृत्व उत्तरदायी है। नेतृत्व ने पूर्व की जीवन-दृष्टि को जिसके केन्द्र में ग्राम था भुला दिया और पश्चिम के अनरूप नगर को विकास के केन्द्र में रखा।

गाँधी, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, दीनदयाल उपाध्याय जैसे नेताओं में ग्राम ही केन्द्र में था, पर हमारा सत्तासीन नेता नेहरू का ही परिवार का ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पाद रहा जिसका हृदय तो भारतीय था, पर अस्तित्व पश्चिमी। स्वतन्त्रता को लेकर बाद के पैंतालीस वर्ष तक काँग्रेस दल के नाम देश में नेहरू और उनके वंशजों का ही राज रहा जिसके भारतीयता की दृष्टि से तटस्थ और निष्पक्ष विश्लेषण की आज आवशकता है। काँग्रेस तो आज पछली दो पराजयों के बाद तेरहवीं संसद के चुनावों में भी नेहरू परिवार की मानसिक गुलामी से मुक्त नहीं हो सकी है।

इधर देश में उदारीकरण और उधारीकरण साथ-साथ चलते रहते हैं और दोनों ही देश के सांस्कृतिक ह्रास के कारण बने हुए हैं। उदारीकरण आधुनिकता के नाम पश्चिमी उत्पादों के प्रवेश का। ये उत्पाद नब्बे प्रतिशत गैर-जरूरी चीजों के होते हैं अथवा ऐसे जो हमारी संस्कृति को भ्रष्ट करते हैं। इस उदारीकरण में देश के नेता सहयोग न दें तो पश्चिम की ओर से उधारीकरण आप ही बन्द हो जाएगा। उधारीकरण में विकास अधिकांशतः नगरों का ही होता है जो एक तरफ हमारे जीवन-स्तर को ऐसा ऊँचा उठाता है कि हम पश्चिम की...उधार देनेवाले की गैर-जरूरी चीजें खरीदने की ताकत वाले नागरिक बनते हैं जो दूसरी तरफ कर्ज के बोझ से लदते जाते कमजोर राष्ट्र।

और कमजोर की कोई अस्मिता नहीं होती, उसकी सांस्कृतिक विरासत फिर कितनी ही ऊँची हो।

हम डिक्टेट न करें ऊँची बात है, पर हम डिक्टेट भी न हों। हम आज उदारीकरण और उधारीकरण दोनों मार्गों से डिक्टेट हो रहे हैं। लोकतन्त्र में। और लोकतन्त्र अन्ततः नेतातन्त्र ही होता है

लोकतन्त्र में जन नेता में समा जाता है, पूरा देश उसी में समा जाता है।

अविकसित देश की ट्रेजिडी यह है कि नेता का चुनाव जन नहीं करता उसकी कमजोरी करती है—बल्कि कहें कि नेता उसी कमजोरी को एक्सप्लॉइट करता है और करते रहने के लिए उसकी कमजोरी को बनाए रखता है। दल कोई भी हो। इसके लिए हमारे यहाँ नेता की ऊँचाई उसके कर्तृत्व में नहीं है, इस एक्सप्लॉइटेशन की क्षमता में है। काँग्रेस को स्वतन्त्रता के बाद के कई वर्षों तक गाँधी और अपने संग्राम से एक्सप्लॉइट करती रही। उसका प्रभा-वलय ऐसा कि गाँधी-नेहरू-इन्दिरा की ऐतिहासिक भूलों को इतने वर्षों बाद भी नजरअन्दाज किया जाता है। अंग्रेजी आज भी इसी कारण देश में जमी हुई है, कश्मीर के मामले में की गई भूल शूल बनी हुई है, पाकिस्तान को स्वीकार कर तो काँग्रेस ने देश के लिए नित्य का सिरदर्द मोल ले लिया है उधर इन्दिरा के शासन ने यह बता दिया कि दल की घरानाशाही डिक्टेटरशिप की हद तक जा सकती है।

नेता की व्याख्या न की जा सकती हो, पर उसके बारे में लिखा खूब गया है। साहित्य में हास्य-व्यंग्य तो आज नेता-पुराण से ही परिपुष्ट हुआ है। साहित्य का यथार्थ आज बहुत कुछ नेता यथार्थ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेता को भाषण का सौदागर कहा जाता है। मैं इस कथन में पूँछ—नहीं, सींग ड़ना चाहता हूँ। नेता दल और खादीधारी भाषण का सौदागर है।

बाजार में कितने प्रकार का माल और उनमें कैसी होड़! बिलकुल इसी तरह जनीति में कितने प्रकार के भाषण...चुनाव के दिनों में जिन्हें घोषणा-पत्र कहते हैं र उनमें कैसी होड़!

नेता दलों के घोषणा-पत्र के एजेंट होते हैं। जो ज्यादा-से-ज्यादा बेचता है उससे मीशन स्वरूप क्या-क्या नहीं मिलता कार, बँगला, कुर्सी, ज्यादती-पक्षपात-भ्रष्टाचार दि की छूट।

भाषण की इबारत में मूल शब्द इने-गिने होते हैं—देश, महात्मा गाँधी, समता, ाय, गरीबी-बेरोजगारी का उच्चाटन, हमारा गौरवशाली इतिहास, पंचवर्षीय योजना, निरपेक्षता, हमारा बलिदान, ग्रामोद्धार, शिक्षा-चिकित्सा-सड़कें, ऐसी-वैसी पार्टियों से वधान आदि।

अपने नंगेपन को ढँकने के लिए पोस्टर, बैनर, अखबार बड़ी खूबी के साथ ओढ़े ता है।

नेता के भाषण की इबारत से उसकी शैली ज्यादा महत्त्वपूर्ण होती है। शैली में ताओं की भावना उभारने का जादू चाहिए। ऐसा जादू कि उसके जाल में मछलियाँ सती चली जाएँ!

एक तरफ जनता के जाल काटनेवाला सच्चा नेता, दूसरी तरफ जनता पर जाल ानेवाला जादुई नेता। बाजी नित्य जादुई नेता मार ले जाता है।

इसलिए अन्य क्षेत्रों के नेतृत्व में विषयपक्ष महत्त्वपूर्ण हो राजनीति क्षेत्र में ीपक्ष है।

चित्रकला में कोलाज शैली चल पड़ी है। कई दिनों तक तो मैं जानता ही नहीं , कोलाज क्या बला है। किसी से पूछने में शर्म लगती थी। अरे, कैसा मूरख है ये! ा प्रोफेसर बना फिरता है!

कोलाज जानने के पूर्व औरों की तारीफ करते देख मैंने भी ऐसे कितने ही चित्रों तारीफें की हैं।

कोलाज शैली को मैं यहाँ इसलिए लाया कि नेता अपने-आप में कोलाज चित्र कुत्ता-गैंडा, साँड़-सियार, सूअर-भेड़िया जैसे पशु चेहरों के टुकड़ों से बना, ऐसे कि ा आदमी का लगे।

नेता को ऐसा प्राणी कहा जाता है जो अखबार में जन्मता है, अखबार में जीता र अखबार में मरता है। जैसे सेठ बाजार में जन्मता-जीता-मरता है, जैसे डॉक्टर रोग जन्मता-जीता-मरता है।

अखबार वास्तव में नेता देश है, ऐसा नेता देश जिसमें जनता बाढ़-अकाल-दुर्घटना -हड़ताल की सूरत में ही दीख पड़ती है। नेता को यदि सजा देनी हो तो उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखबार के बाहर खदेड़-दो। वह मछली की भाँति इस तरह छटपटाती जिन्दगी जिएगा जो मरती भी नहीं है जीती भी नहीं है।

मैंने एक बार नेता के साथ अखबार की यात्रा की। वह मुझे अखबार के फाटक पर ही खड़ा मिल गया था। कभी वह मेरी ही गली का निवासी था। मेरे साथ ताश, अष्टा-चंगा खेला करता था। मैंने उसे पहचाना पर उसने मुझे नहीं। मैंने उसका अभिवादन किया, जवाब में उसे काम करना पड़ा। फिर बोला, माफ करो, मैंने तुम्हें पहचाना नहीं। मैंने फौरन प्रतिक्रिया में कहा, कभी अखबार के बाहर आओ तो पहचानो।

उसने पूछा कैसे आना हुआ? किसी चक्कर-वक्कर में पड़ गए हो तो बताओ, रफा-दफा करवा दूँगा। मैंने कहा, धन्यवाद। चाहता हूँ आपके साथ अखबार घूम लूँ। नेता के पास में ही कार खड़ी थी। पर मैंने कहा पैदल घूमेंगे।

वह मुझे पहले फ्रन्ट पेज ले गया। बोला, इस पर बस मेरा और मेरा अधिकार है। मैंने देखा पूरा पृष्ठ उसकी बकवास से भरा हुआ है। नेता एक अधिकार सो इस पर विद्वान की सूक्तियाँ भी कभी चढ़ नहीं पातीं।

इसके बाद हम चले गए चलते गए और व्यापार पृष्ठ पर पहुँचे। यहाँ मुझे सोने-चाँदी के शेयरों के आँकड़े दिखाने लगा। मैंने कहा, मेरी सोने-चाँदी-शेयरों में रुचि नहीं है। यह बताओ अनाज के दाम, वस्त्रों के दाम, साइकिलों के दाम क्यों बढ़ गए हैं? जवाब में उसने कहा, इनमें मेरी रुचि नहीं है। और फिर वह मुझे तेजी के साथ खेल पृष्ठ पर ले गया। यहाँ क्रिकेट जोर-शोर से चल रहा था। वह मुझे उधर ले चलने को हुआ तो मैंने कहा, यह हॉकी-फुटबॉल की दुर्दशा क्यों? वह एकदम चुप हो गया। मैंने जब उसे सम्पादकीय, जनता तथा वांटेड पृष्ठों की ओर चलने की बात की तो उसके कदम एकदम धीमे पड़ गए और कुछ ही देर में मैंने देखा कि वह खादीधारी स्वदेशी व्हर्लपूल जैसी विदेशी कम्पनियों के विशाल में जाकर खो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल्पसंख्यक आरक्षण की संभावनाएँ

शंकर शरण*

हाल में सुप्रीम कोर्ट ने 'अल्पसंख्यक आरक्षण' के नाम पर मुस्लिमों और धर्मांतरित ईसाइयों को साढ़े चार प्रतिशत आरक्षण देने का आदेश खारिज कर दिया है। मगर इसे मामले का पटाक्षेप नहीं मानना चाहिए। कांग्रेस आलाकमान इसे येन-केन-प्रकारेण सुप्रीम कोर्ट से फिर किसी तरह पास करवाने में लगा हुआ है। मामला आंध्र प्रदेश हाई कोर्ट द्वारा इस आरक्षण आदेश को अवैध ठहराने का था। उसी फैसले को सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी गई थी। हाई कोर्ट ने कहा था कि जिस तरह ऐसे आरक्षण का आदेश हुआ, उस में हल्कापन है। सुप्रीम कोर्ट ने भी वह मानते हुए तीन प्रश्न और जोड़े। पहला, क्या पिछड़ों के आरक्षण के अंतर्गत मजहबी आधार पर एक उप-कोटा बनाया जा रहा है? दूसरा, क्या इस आदेश को विधायिका का समर्थन है? तीसरा, इस आरक्षण का निर्णय लेने से पहले राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग से विमर्श क्यों नहीं किया गया, जबकि इससे पिछड़े वर्ग का आरक्षण सीधे प्रभावित होनेवाला था?

आंध्र हाई कोर्ट ने पूछा था कि पिछड़े वर्ग के कोटे में यह साढ़े-चार प्रतिशतवाला उप-कोटा बनाते हुए यह नहीं बताया गया कि मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, पारसी आदि किस तरह एक ऐसा समरूप समूह बनते हैं, जिसे आरक्षण की जरूरत है? आश्चर्य है कि सुप्रीम कोर्ट में अतिरिक्त सॉलीसिटर जेनरल ने कहा कि हाई कोर्ट ने गलत समझा। वास्तव में, यह कोटा केवल निचले तबके के मुस्लिमों और धर्मांतरित होकर ईसाई बने लोगों के लिए ही है। बौद्धों या पारसियों के लिए यह उप-कोटा है ही नहीं! दूसरे शब्दों में, 'अल्पसंख्यक' के नाम पर यह उप-कोटा शुद्ध रूप से मुस्लिमों और ईसाइयों के लिए है।

एक अर्थ में यह बड़ी भयंकर स्वीकारोक्ति है। बुनियादी रूप में यह हिन्दू-विरोधी भी है। क्योंकि संगठित धर्मांतरण के धंधे में लगे संपन्न, ताकतवर विदेशी मिशनरियों के हाथ में हिन्दुओं को धर्मांतरित होकर ईसाई बनाने में ऐसा आरक्षण बड़े जबर्दस्त

*IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हथियार का काम करता। फिलहाल तो सुप्रीम कोर्ट के फैसले से यह आरक्षण रुक गया। किन्तु जिन आधारों पर कोर्ट ने इसे खारिज किया है, वह मुख्यतः तकनीकी ही है। चाहे कोर्ट ने 'मजहबी आधार पर आरक्षण' पर सवाल जरूर उठाया, मगर उसने ज्यादा जोर तकनीकी बिन्दुओं पर दिया है। जैसे, विधायिका का समर्थन न होना और पिछड़ा वर्ग आयोग तथा अल्पसंख्यक आयोग से सलाह न लेना, आदि। इन आपत्तियों को दूर कर पुनः यह आरक्षण आ ही सकता है। कांग्रेस, समाजवादी पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी खुलकर मुस्लिम आरक्षण की पैरवी कर रही हैं। तब संविधान संशोधन करके यह आरक्षण कर देना कोई दूर की संभावना नहीं है। कांग्रेस नेता सलमान खुर्शीद ने अभी बयान भी दिया है कि उन्हें आशा है कि सुप्रीम कोर्ट से इसे मंजूर करा लेंगे।

इसलिए मुस्लिम आरक्षण की खतरनाक संभावना अभी बनी हुई है। विशेषकर, जब यह आधिकारिक तौर पर मान लिया गया है कि 'अल्पसंख्यक' का मतलब केवल मुस्लिम और ईसाई हैं। तब बकरे की अम्मा, यानी हिन्दू समुदाय, कब तक खैर मनाएगा! जिस तरह वोट-बैंक की राजनीति उग्र रूप ले रही है, उसके संकेत सभी राजनीतिक दलों के साष्टांग दंडवत् करने से मिल रहे हैं। अब तक केवल अनौपचारिक रूप से समझा जाता था कि भारत में 'अल्पसंख्यक' शब्द का अर्थ व्यवहारतः केवल एक मजहबी समुदाय है। अब खुलकर कह दिया गया कि वास्तव में, सैद्धांतिक एवं प्रशासनिक-कानूनी तौर पर भी अल्पसंख्यक का यही अर्थ है!

मगर इस प्रसंग में स्वयं सुप्रीम कोर्ट के ही कुछ पिछले निर्णयों और टिप्पणियों का स्मरण करना चाहिए। 'बाल पाटिल तथा अन्य बनाम भारत सरकार' (2005) मामले में निर्णय देते हुए सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि अंग्रेजों द्वारा धार्मिक आधार पर किसी को अल्पसंख्यक मानने और अलग निर्वाचक मंडल बनाने आदि कदमों से ही अंततः देश के टुकड़े हुए। इसीलिए न्यायाधीशों ने यह चेतावनी भी दी थी कि—"यदि मात्र भिन्न धार्मिक विश्वास या कम संख्या या कम मजबूती, धन, शिक्षा, शक्ति या सामाजिक अधिकारों के आधार पर भारतीय समाज के किसी समूह के 'अल्पसंख्यक' होने का दावा स्वीकार किया जाता है, तो भारत जैसे बहु-धार्मिक, बहु-भाषायी समाज में इसका कोई अंत नहीं रहेगा।

वस्तुतः उस निर्णय में 1947 में देश के विभाजन का उल्लेख करते हुए न्यायाधीशों ने 'धार्मिक आधार पर अल्पसंख्यक होने की भावना को प्रोत्साहित करने' के प्रति विशेष चिंता जताई, जो देश में विभाजनकारी प्रवृत्ति बढ़ा सकती है।

इसी पृष्ठभूमि में अल्पसंख्यक आरक्षण को असांविधानिक बताने वाले फैसले का मूल्यांकन होना चाहिए। इसी फैसले को सुप्रीम कोर्ट ने फिलहाल यथावत् रहने दिया है। आंध्र हाई कोर्ट के अनुसार जिस तरह ऐसे आरक्षण का आदेश दिया गया, उस में हल्कापन है। 'अल्पसंख्यक' के नाम पर वास्तव में मजहबी आरक्षण देने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोशिश की जा रही है। क्योंकि यह नहीं बताया गया कि मुस्लिम, ईसाई, पारसी आदि किस तरह एक ऐसा समरूप समूह बनते हैं, जिसे आरक्षण की जरूरत है?

वस्तुतः हाई कोर्ट ने जो नहीं कहा, वह सब जानते हैं कि वर्तमान भारत में 'अल्पसंख्यक' शब्द का अर्थ एक केवल, एक मजहबी समुदाय, हो गया है। राजनीति और मीडिया में हर जगह अल्पसंख्यक का व्यवहारतः यही अर्थ है। इसलिए, अल्पसंख्यकों का आरक्षण वस्तुतः मुस्लिम आरक्षण का दूसरा नाम है। यह मुस्लिम भी जानते हैं। फिर, यह भी सर्वविदित है कि इस आरक्षण के सारे वायदे और दावे वोट-बैंक राजनीति से जुड़े हैं, किसी पिछड़ेपन की चिंता से नहीं।

ठीक यही बात ऊपर सुप्रीम कोर्ट वाली टिप्पणी (2005) के संदर्भ में बड़ी गंभीर हो जाती है। जैसा अंग्रेजों ने किया था, फूट डाल कर राज करनेवाली नीति, कहीं स्वतंत्र भारत में हमारे नेता भी गद्दी के लोभ में वही तो नहीं कर रहे हैं? हाल में उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनाव में कई बड़े नेताओं ने जिस तरह चुनाव आयोग के नियम-कायदे तोड़कर मुस्लिम आरक्षण की बड़ी-बड़ी घोषणाएँ और दावे किए, वह साफ तौर पर वोट-बैंक राजनीति थी। किसी पिछड़ेपन को दूर करने जैसी भावना उस में सिरे से गायब थी।

क्योंकि किसी भी समूह के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए उसके कारणों को दूर करना होगा। क्या मुस्लिम समुदाय के पिछड़ेपन पर कोई वास्तविक शोध या प्रामाणिक अध्ययन किया गया है? यदि हाँ, तो कौन-सा, यदि नहीं, तो क्यों नहीं? नेताओं की घोषणाओं में कहीं इस का संदर्भ नहीं मिलता। यही बात आंध्र हाई कोर्ट ने अपने फैसले में लिखी कि अल्पसंख्यक आरक्षण पर कोई तथ्य, तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया है।

जहाँ तक सच्चर समिति और रंगनाथ मिश्र समिति की बात है, तो वे विशुद्ध राजनीतिक समितियाँ थीं, अकादमिक नहीं। उनके कथित अध्ययन कुछ पूर्व-निर्धारित निष्कर्षों को पुष्ट करने के लिए खाना-पूरी भर थे। सच्चर के उग्र-राजनीतिक झुकाव और सक्रियता से सभी परिचित हैं। इसीलिए, सच्चर जैसे दस्तावेजों को पढ़कर कुछ पता नहीं चलता कि मुस्लिम समुदाय के पिछड़ेपन की अवधारणा किस आधार पर की गई है। कारण यही है कि राजनीतिक कारणों से उसमें कारणों को जानने के बदले छिपाने की प्रवृत्ति झलकती है। अन्यथा यह सामान्य ज्ञान की बात है कि भारतीय मुसलमानों के पिछड़ेपन का कारण अन्य सभी मुस्लिम देशों में लगभग उसी तरह के पिछड़ेपन से भिन्न नहीं है। उन कारणों को कोई आरक्षण दूर नहीं कर सकता।

सच पूछिए तो तर्क, तथ्य से इसीलिए बचा जाता है क्योंकि मुस्लिम पिछड़ेपन का कारण ऐतिहासिक नहीं है। अनुसूचित जातियों, जनजातियों वाले हिन्दुओं से उन की तुलना करके स्थिति समझी जा सकती है। भारतीय संविधान ने आरक्षण केवल उन्हीं को दिया था। कारण सीधा था कि विगत कुछ सदियों से इन तबकों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक दुर्गति ने उन्हें वास्तव में दलित, वंचित, उत्पीड़ित कर रखा था। मुसलमानों की ऐसी स्थिति कभी नहीं थी। बल्कि बिलकुल उलटी रही।

सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले तक भारत में, विशेष कर उत्तर भारत में मुस्लिम ही अग्रणी समुदाय थे। राजनीतिक ही नहीं शैक्षिक रूप में भी वे आगे माने जाते थे। सन् 1871 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या में 10% होते हुए भी स्कूलों में मुस्लिम छात्रों की संख्या 25% थी। उच्च वर्ग के रूप में मुस्लिम ही आगे थे। अनेक महत्त्वपूर्ण शहरों में महत्त्वाकांक्षी हिंदू मुस्लिम उच्च वर्ग के साथ अधिक हेल-मेल रखते थे। क्योंकि सदियों से मुस्लिम एक तरह से शासक वर्ग समझे जाते थे। उनके साथ भेद-भाव तो क्या, वही दूसरों को अपने से नीचा समझते थे। सर सैयद से लेकर मौलाना आजाद तक, सन् 1947 से पहले तक किसी मुस्लिम नेता ने मुसलमानों को पिछड़ा वंचित, दलित, आदि न समझा, न कहा। उलटे लगभग सभी मुसलमान नेता और विद्वान एक स्वर से अपने को ऊँचा और विशेषाधिकारी समुदाय समझते थे।

डॉ. अंबेदकर की प्रसिद्ध पुस्तक *पाकिस्तान ऑर पार्टीशन ऑफ इंडिया* (1940) में हर तरह के मुस्लिम नेताओं के विचारों का आकलन है। उन विचारों में घमंड और शासकीय भावना कूट-कूट कर झलकती है। भारत-विभाजन की माँग भी मुस्लिम श्रेष्ठता की अहंकारी भावना पर आधारित थी। प्रसिद्ध विद्वान, सूफी और दिल्ली की निजामुद्दीन दरगाह के प्रमुख ख्वाजा हसन निजामी ने कहा था, "मुसलमान कौम ही भारत के अकेले बादशाह हैं। उन्होंने हिन्दुओं पर सैकड़ों वर्षों तक शासन किया और मुसलमान ही शासन करेंगे।" जिन्ना ने भी विभाजन की माँग मुसलमानों के मालिक कौम, 'मास्टर रेस' होने के आधार पर की थी।

इन तमाम सच्चाइयों के मद्देनजर मुसलमानों के पिछड़ेपन के सही कारण सामने रखने चाहिए। उसे रेखांकित और दूर किए बिना, सीधे आरक्षण दे देना, एक प्रकार की सत्ता राजनीति होगी; एक समुदाय को उसकी ताकत के बल पर विशेषाधिकार देना, न कि उसके कथित पिछड़ेपन को दूर करने में मदद देना। इसी को डॉ. अंबेदकर ने 'ग्रावामिन पॉलिटिक्स' (दुर्बलता की भंगिमा में दबंगई की राजनीति) कहकर हिन्दुओं को सावधान रहने के लिए कहा था। अपनी पुस्तक में हिन्दू-मुस्लिम संबंध और दोनों समुदायों की ऐतिहासिक स्थिति की विस्तृत समीक्षा के बाद उन्होंने यह चेतावनी दी थी।

वस्तुतः मुस्लिम पिछड़ेपन की जड़े उन की अपनी मजहबी-वैचारिक रूढ़ियों में है। उसे किसी आरक्षण से दूर नहीं किया जा सकता। उलटे यह उनकी जड़ मानसिकता को प्रोत्साहन देने का हानिकारक कार्य करेगा। मुस्लिम पिछड़ापन केवल भारत की बात नहीं। अफगानिस्तान से लेकर मोरक्को तक, सब जगह मुसलमान ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, कला-संस्कृति, आदि में बुरी तरह पिछड़े हुए हैं। इसके असल कारण छिपाकर उन्हें आरक्षण देना, वस्तुतः उन के पुराने अहंकार को भड़काते हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ा-घाती राजनीति में डूबना है। उससे पिछड़ापन तो दूर होगा नहीं, बल्कि नई मस्याएं पनपेंगी। पाकिस्तान आंदोलन का सारा इतिहास पुनः दुहराया जाएगा; बल्कि हराया जा रहा है। जहाँ मामला दुर्बल, वंचित होने के बदले ताकतवर, संगठित होने का हो, वहाँ ऐसा हर कदम उस अहंकार को ही बढ़ाएगा। डॉ. अंबेदकर ने इसी से ावधान रहने की चेतावनी दी थी।

फिर, अल्पसंख्यक नाम पर मुस्लिम आरक्षण से हिन्दू समुदाय में दोहरा रोष दा होगा। आखिर सारे मुस्लिम दावों, शिकायतों, आशंकाओं का एकमुश्त समाधान रने के नाम पर ही केवल साठ वर्ष पहले भारत को तोड़कर एक अलग देश, ाकिस्तान, बनाया गया था। उस के बाद भी बार-बार वही प्रक्रिया चलना हिन्दुओं में गे जाने, धोखा खाने और उत्पीड़ित होने का भाव पैदा करता है। क्योंकि मुस्लिम िछड़ेपन के लिए हिन्दुओं को दोषी ठहराया जाता है। सारी सेक्यूलर-वामपंथी ाजनीति, सच्चर कमिटी, रंगनाथ मिश्र कमिटी जैसी राजनीति-प्रेरित रिपोर्ट यही करती ैं। असली कारण छिपाकर प्रकारांतर से हिन्दुओं पर दोष मढ़ती हैं। ताकि मुसलमानों ो तरह-तरह के विशेषाधिकार दिए जा सकें। लेकिन लगभग 60 इस्लामी देशों में भी ही पिछड़ापन है। तब इस के दोषी हिन्दू कैसे हो गए?

इसीलिए सुप्रीम कोर्ट और आंध्र हाई कोर्ट को यह बिलकुल नहीं बताया जा का कि अल्पसंख्यक आरक्षण के नाम पर एक विशेष मजहबी समुदाय को आरक्षण े के पक्ष में क्या तथ्य, तर्क है; कि किस आधार पर साढ़े चार प्रतिशत का, और ेवल चुने हुए मजहबी समुदाय को जोड़ने का हिसाब लगाया गया? सॉलीसिटर के ास इस का उत्तर नहीं था। हो भी नहीं सकता था, क्योंकि यह सभी हिसाब राजनीति े क्षेत्र में लगाए गए हैं। वोट और सत्ता के गणित से वे अधिक जुड़े हैं। न्याय, ंविधान, देश-हित और सामाजिक एकता आदि उस हिसाब में शामिल नहीं है। सीलिए यह पूरा प्रसंग बेहद गंभीर हो जाता है। अभी समय है कि देश के चिंतनशील ोग जगें और लोभी नेताओं को पुनः-पुनः पाकिस्तान बनाने की राह पर जाने से ोकें। अन्यथा यह पूरी प्रक्रिया सन् 1906 से 1947 तक की तुष्टिकरण नीति का ू-ब-हू दुहराव लग रही है।

डॉ. अंबेदकर ने स्पष्ट कहा था, जिसे सदैव याद रखने की जरूरत है, कि ुस्लिम राजनीति विशुद्ध रूप से मजहबी राजनीति है, जिस में दूसरों से विलगाव और ोध मूल स्वर है। यह सब के साथ मिलकर रहने, आगे बढ़ने की प्रवृत्ति ही खत्म र देती है। इसीलिए, मुस्लिम नेता अपने नारों, माँगों में सचेत रूप से जड़ और लगाववादी बने रहे हैं और अपने अनुयायियों को भी वैसा बनने को मजबूर करते ं। यह मोटे तौर पर सारी दुनिया के मुसलमानों की स्थिति है। इसे छिपाकर हिन्दुओं ो दोषी ठहराना और मुसलमानों को विशेष सुविधाएँ देना दोहरे रोष को जन्म देगा ा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ हमारे सुप्रीम कोर्ट की एक और टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। उसी बाल पाटिल मामले में कोर्ट ने यह भी लिखा था कि वास्तव में भारत में हिन्दू ही अल्पसंख्यक हैं। उस के शब्दों में, 'हिन्दू' शब्द से भारत में रहनेवाले विभिन्न प्रकार के समुदायों का बोध होता है। यदि आप हिन्दू कहलानेवाला कोई व्यक्ति ढूँढ़ना चाहें तो वह नहीं मिलेगा। वह केवल किसी जाति के आधार पर ही पहचाना जा सकता है।...जातियों पर आधारित होने के कारण हिन्दू समाज स्वयं अनेक अल्पसंख्यक समूहों में विभक्त है। प्रत्येक जाति दूसरे से अलग होने का दावा करती है। जाति-विभक्त भारतीय समाज में लोगों का कोई हिस्सा या समूह बहुसंख्यक होने का दावा नहीं कर सकता। हिन्दुओं में सभी अल्पसंख्यक हैं।" क्या अल्पसंख्यक की अवधारणा करने में इस विचार पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं करना चाहिए था?

लेकिन सभी सच्चाइयों को दरकिनार कर सॉलीसिटर ने सुप्रीम कोर्ट में ही कह दिया कि इस आरक्षण में 'अल्पसंख्यक' का अर्थ केवल मुस्लिम और ईसाई समुदाय है। यह एक बड़ा और खतरनाक परिवर्तन है। इस के निहितार्थ हमारे देश और समाज के लिए अत्यंत घातक हो सकते हैं। चाहे कोई केंद्रीय राजनीतिक दल इस का खुलकर विरोध करने के लिए तैयार नहीं। बल्कि यह स्थिति की गंभीरता बढ़ा देता है, कि स्पष्टतः न्याय-विरोधी और संविधान-विरोधी कदम होते हुए भी कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति इसके विरुद्ध आंदोलन नहीं करनेवाली। जबकि सर्वविदित है कि मुस्लिम आरक्षण के सारे वादे और दावे वोट-बैंक राजनीति से जुड़े हैं।

चूँकि अब न्यायाधीश ठीक इन्हीं मामलों पर पुनर्विचार कर रहे हैं–इस पूरी पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक हो गया है। केवल तकनीकी आधारों पर ध्यान देने से, और किसी न किसी बहाने 'अल्पसंख्यक' के नाम पर मुस्लिम आरक्षण दे देने से भारत के लिए बड़े अवांछित परिणाम हो सकते हैं। विगत सौ वर्ष का पूरा इतिहास छिपाकर, नकली दलीलों के आधार पर, तथा क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित होकर, एक बार पुनः मुस्लिम आरक्षण दे देना इस बार उस से भी बुरा परिणाम देगा, जो 1906 से आरंभ होकर 1947 में परिणत हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी शब्द परम्परा

शर्वेश पाण्डेय*

मानव जीवन के विविध पक्षों में अभिव्यक्ति एक महत्त्वपूर्ण अवयव है, जिसके लिए एक माध्यम की आवश्यकता होती है। मानव जीवन में भाषा का विकास इसी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में हुआ होगा। यद्यपि आरम्भिक मानव की अभिव्यक्ति का माध्यम इतना सुव्यवस्थित नहीं रहा होगा, फिर भी अभिव्यक्ति के माध्यम में इतनी व्यवस्था तो रही होगी, जिससे वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को सम्प्रेषित कर सकता हो। भाषा ने भी मानव के विकास के साथ अपनी संरचनाओं में काफी विकास किया। आज भाषा सम्प्रेषण के साथ मनुष्य की अस्मिता को भी अभिव्यक्ति प्रदान करती है, मानव की पूरी पहचान को हम भाषा के माध्यम से जान सकते हैं। भाषा के सम्प्रेषण की क्षमता का विकास उसकी संरचना के विकास के साथ ही हुआ। भाषा की संरचनाओं का विकास उसके व्यवहार के साथ निरन्तर गतिमान होता रहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भाषा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। इस परिवर्तन की आधारभूमि समाज और उसके लोग होते हैं जिनकी स्वीकृति एवं अस्वीकृति पर ही भाषा का विकास निर्भर करता है। भाषा-भाषी समाज में विकल्पन, चयन, प्रयोग एवं स्वीकृति के आधार पर ही कोई भाषा अपने आगे का रास्ता तय करती है। इस प्रकिया में भाषा में कई नई चीजों को स्वीकृति मिलती है और बहुत सारी पुरानी चीजें छूट जाती हैं और इस तरह भाषा का कारवाँ आगे बढ़ता रहता है। भाषा को समृद्ध करने वाले अवयवों में दो की बड़ी महती भूमिका होती है जिसको भाषाविद् भी स्वीकार करते हैं। एक है—भाषा की वर्णमाला और दूसरा है भाषा की शब्द सम्पदा। किसी भी भाषा की वर्णमाला जहाँ संक्षिप्त और अभिव्यक्ति के विस्तार की क्षमता से युक्त होनी चाहिए; वहीं किसी भी भाषा की शब्द-सम्पदा जितनी समृद्ध होती है, वह भाषा को समृद्ध बनाती है। वर्णमाला में कम वर्ण हों और उनसे सब कुछ भाषा में अभिव्यक्त किया जा सकता हो, तो उस भाषा को वर्ण या ध्वनि की दृष्टि से सम्पन्न

*रीडर, डी.सी.एस. के.पी.जी. कालेज, मऊनाथ भंजन, मऊ-275101 (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा कहते हैं। जिस भाषा में शब्दों का एक समृद्ध भंडार होता है, उस भाषा को हम सम्पन्न भाषा मानते हैं। यही कारण है कि कोई भी भाषा अपने विकासक्रम में लगातार नये-नये शब्दों को ग्रहण करने के उपक्रम में लगी रहती है। इस तरह किसी भी भाषा की समृद्धि में उसके शब्दों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। अतः भाषा के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम उसकी शब्दों की परम्परा का अध्ययन है।

किसी भी भाषा में शब्द एक ही परम्परा से नहीं आते, अपितु कई परम्पराओं से आते हैं और शब्द ग्रहण के दौरान भाषा में शब्दों का अनुकूलन होता है। शब्दों की ध्वनि व्यवस्था और उसकी अर्थ-संरचना में कई तरह के परिवर्तन होते हैं, तब जाकर कहीं कोई शब्द किसी भाषा का अंग बन जाता है। इस तरह भाषा के सम्बन्ध में शब्दों की परम्परा का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसी उद्देश्य से हिन्दी भाषा के शब्दों की परम्परा के अध्ययन का प्रयास किया गया है, जिसमें हिन्दी भाषा में शब्दों के ग्रहण करने की परम्परा का अध्ययन करने के साथ उसके स्रोत और अनुकूलन का भी अध्ययन किया जाएगा। शब्दों के ग्रहण की परम्परा का अध्ययन ही महत्त्वपूर्ण नहीं, अपितु इस परम्परा के अध्ययन के साथ ही भाषा में शब्द ग्रहण की सम्भावनाओं की बात भी महत्त्वपूर्ण है। शब्द ग्रहण की सम्भावनाओं को तब तक सही जरीके से नहीं समझा जा सकता, जब तक हम शब्द ग्रहण की परम्परा का सूक्ष्मता से विश्लेषण नहीं करते।

शब्दों की परम्परा के अध्ययन के लिए आवश्यक है कि हम भाषा की मूलभूत अवधारणा को समझें, क्योंकि भाषा की समझ के अभाव में हम शब्द की अवधारणा और उसके अध्ययन को सही तरीके से नहीं समझ सकते। वास्तव में भाषा वह है, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने भाव, विचार, अनुभूति को अभिव्यक्त करता है और अन्य लोगों की अभिव्यक्ति को सुनकर, पढ़कर और समझकर अपनी प्रतिक्रिया देता है। इस तरह भाषा से दो तरह के कार्य किए जाते हैं—एक अपनी बात व्यक्त करना और दूसरा अन्यों की बात ग्रहण करना। इन दो तरह के कामों को एक साथ मिला दिया जाता है, तब इसको सम्प्रेषण या विचार-विनिमय कहा जाता है। भाषा के इस आधारभूत लक्षण की समझ के आधार पर ही हम भाषा के अवयवों का विश्लेषण कर सकते हैं। इस तथ्य को समझे बिना ही आज हम मनुष्यों को विभिन्न समूहों, समुदायों एवं वर्गों में विभाजित करने के लिए भाषा को ही एक मुख्य आधार मानने लगे हैं। यह ठीक है कि एक भाषा बोलने वालों में कुछ अपनत्व होना स्वाभाविक है, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा मूलतः अभिव्यक्ति का साधन है, साध्य नहीं। अतः भाषा की मूलभूत अवधारणा को ध्यान में रखते हुए यदि शब्द की स्थिति का विश्लेषण किया जाए तो इससे भाषा की समझ और उसके विकास में काफी सहयोग मिलेगा।

यदि भौतिक स्तर प्रर देखें तो वास्तव में जिसे हम भाषा कहते हैं, वह उच्चरित रूप में ध्वनियों की शृंखला है और लिपिबद्ध रूप में लिपि-चिह्नों की शृंखला। लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न तो ध्वनियाँ बहुत सारी हैं और न ही लिपिचिह्न। हिन्दी में हम अधिक-से-अधिक 50 ध्वनियों और इससे भी कम लिपि-चिह्नों का प्रयोग करते हैं। इन ध्वनियों और लिपि-चिह्नों को अलग-अलग तरीके से जोड़कर भाषा में हजारों शब्द और वाक्य बनाए जाते हैं। किसी भी सामान्य शब्द में 8-10 ध्वनियाँ होंगी या इतने ही लिपिचिह्न। लेकिन इनके माध्यम से हम दुनिया की कोई भी चीज, विचार, कल्पना आदि को व्यक्त कर सकते हैं। जैसे एक बड़ा जानवर है, लेकिन उसको केवल चार लिपि चिह्नों द्वारा व्यक्त कर सकते हैं—ह, आ, थ, ई। इसके साथ अब शरीर का एक छोटा अंग लें—हाथ, इसमें भी चार ही लिपि चिह्न और ध्वनियाँ हैं—ह, आ, थ, अ। इससे स्पष्ट है कि शब्द के आकार से पता नहीं चल सकता कि वह किसी बड़ी वस्तु के लिए है या किसी छोटी वस्तु के लिए। इतना ही नहीं, चार ध्वनियों से बने उक्त दो शब्दों का महत्त्व केवल इतना है कि वे दो वस्तुओं के बारे में सूचना देते हैं या उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए यह दोनों शब्द ही नहीं, भाषा के सभी शब्द प्रतीक हैं। हिन्दी जानने वाले सभी लोग 'हाथ' और 'हाथी' से एक प्रकार की सूचना प्राप्त करते हैं और अगर किसी को उस जानवर की या शरीर के उस अंग की बात करनी हो तो वे कहेंगे—'हाथी' और 'हाथ'।

शब्द को भाषा के अपरिहार्य घटक के रूप में विद्वानों ने मान्यता देते हुए इसको भाषायी गठन में अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया है। शब्द भाषा की महत्त्वपूर्ण सार्थक इकाई है। भारतीय वैयाकरणों ने शब्द को सर्वोपरि इकाई के रूप में महत्ता प्रदान करते हुए स्वीकार किया है कि भाषा की सर्जनात्मकता का आधार शब्द ही है तथा कहा है कि शब्द ऐसे पूर्वचरित तत्त्व हैं, जिनके आधार पर बड़े से बड़े भाषायी खंड रचित होते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान के रूपविज्ञान और वाक्य-विज्ञान में शब्द की सत्ता को अपरिहार्य रूप से स्वीकार किया गया है। शब्द की आन्तरिक संरचना का अध्ययन रूप-विज्ञान में किया जाता है तो व्यवहार के धरातल पर प्रयुक्त शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन वाक्य-विज्ञान में किया जाता है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द का विश्लेषण करते हुए डॉ. मनोरमा गुप्त लिखती हैं कि वाक्यीय सन्दर्भ में शब्द केवल शब्द ही नहीं है, बल्कि वह विशिष्ट व्याकरणिक अभिलक्षणों एवं प्रकार्यों से युक्त होता है। इस तरह शब्द चर्चा के दो प्रमुख पक्ष हो सकते हैं—एक आर्थी अथवा कोशीय पक्ष और दूसरा व्याकरणिक पक्ष, जिसका सम्बन्ध भाषाई प्रकार्यों से युक्त होता है। भाषा तथा पदार्थ जगत में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। यह सम्बन्ध विचार तथा संकल्पनाओं के माध्यम से गठित होता है। अतः शब्द की सत्ता उससे सम्बन्धित संकल्पना पर आधारित है। यह संकल्पना ही उस शब्द के अर्थ का द्योतक है। पामर के शब्दों में—'भाषा एक सम्प्रेषण व्यवस्था है जो सम्प्रेषणीय को सम्प्रेषक अथवा सम्प्रेषण माध्यम से जोड़ती है। सन्देशों को संकेतों से सम्बद्ध करती है।' स्पष्ट है कि भाषा में शब्द सन्देशों के वाहक हैं। अतः शब्द और अर्थ की सम्पृक्तता अक्षुण्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अर्थ का निर्धारण भाषा विशेष के सन्दर्भ में ही सम्भव है। इसे निरपेक्ष संकल्पना नहीं माना जा सकता।"[2] वास्तव में जिन ध्वनियों को सुनते और देखते हैं, वे शब्द हैं अर्थ नहीं। हम शब्द का अर्थ जानते हैं, लेकिन उसको सुन और देख नहीं सकते। इसको स्पष्ट करते हुए डॉ. मनोरमा गुप्त ने लिखा है, "मनोवैज्ञानिक शब्दावली में हम जिन ध्वनि/लिपि प्रतीकों को देखते हैं, सुनते हैं, वे शब्द हैं अर्थ नहीं। हम शब्द का अर्थ जानते हैं परन्तु उसे (अर्थ को) देख और सुन नहीं सकते। शब्द भौतिक घटनाओं से सम्बद्ध है, जबकि अर्थ शब्दों द्वारा द्योतित सूचनाओं से। शब्दों से द्योतित अर्थ ही उसकी संकल्पना है। यही कारण है कि विद्वानों ने शब्द तथा उसकी संकल्पना में अन्तर स्थापित किया है। संक्षेप में शब्द को संरचनात्मक द्योतन और अर्थ को संज्ञानात्मक द्योतन कह सकते हैं। शब्दों को पदार्थों का द्योतक माना गया है।"[3] उनका मानना है कि शब्द के अर्थ का समग्र रूप से अध्ययन करना सम्भव नहीं है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि आर्थी व्यवस्था के अध्ययन सम्बन्धी उपागमों में पर्याप्त विविधता दृष्टिगत होती है। इतना ही नहीं, आर्थी सिद्धान्तों, विचारधाराओं तथा इनसे सम्बन्धित समस्याओं में भी बहुरूपता परिलक्षित होती है। वस्तुतः शब्द जितनी बार प्रयुक्त होता है उसके विविध अर्थ होते हैं। शब्दार्थ, उद्देश्य-सापेक्ष व्यवहार का एक अंग है। अतः इसका समुचित अध्ययन व्यवहार के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। शब्द का अर्थ न तो मूलतः पदार्थ है और न बिम्ब। अतः यह कहना अधिक समीचीन होगा कि शब्दार्थ वस्तुतः एक संकल्पना है। संकल्पना शब्द मूलतः एक सैद्धान्तिक प्रयोग है। किसी भी संकल्पना से अवगत होने के लिए उससे सम्बन्धित तथ्यों तथा संकल्पना विशेष का अन्य संकल्पनाओं से सम्बन्ध स्पष्ट करना आवश्यक है। संकल्पना का शब्द प्रतीकों से सम्बन्ध वस्तुतः शब्द-समूहों की सीमित एवं नियन्त्रित करने की एक प्रविधि है। यही शब्द अभिज्ञान की प्रक्रिया का मुख्य आधार बनता है।[4]

शब्द के अध्ययन और विश्लेषण को लेकर भारतीय एवं पाश्चात्य भाषाविदों ने अलग-अलग विचार दिए हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा में कुछ विद्वान शब्द को नित्य मानते हुए स्फोट नाम देते हुए स्फोट के भेदों पर विस्तार से चर्चा करते हैं और बताते हैं कि ध्वनियों की अभिव्यक्ति के बाद ध्वनियाँ तो नष्ट हो जाती हैं, लेकिन स्फोट सदा एकरूप, निर्विकार या अपरिवर्तित रहता है, वह अखंड है, एक है; उसी से अर्थ का बोध होता है। लेकिन यह स्फोट ध्वनियों से व्यंजित होकर ही अर्थबोध का कारण बन सकता है। अतः ध्वनियाँ स्फोट की व्यंजना के लिए ग्राह्य हैं। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हुए वेद प्रामाण्य की स्थापना के लिए शब्द नित्यतावाद को अपनाते हैं तो नैयायिक शब्द को प्रणाम के रूप में स्वीकार करते हुए ध्वन्यात्मक और अनित्य ही मानते हैं और इसे आकाश का गुण बताते हैं। जैन मत में शब्द को एक प्रकार का द्रव्य कहा गया है। दूसरी तरफ पश्चिमी भाषाविज्ञान या आधुनिक भाषा विज्ञान ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षा की लघुतम सार्थक इकाई के रूप में रूपिम को स्वीकार करते हुए शब्द की वधारणा को नकार दिया है।

भारतीय आचार्यों ने वाक् या भाषा का इतना व्यापक अध्ययन किया है कि षा के माध्यम से वे परमतत्त्व के क्षेत्र में पहुँच गए। शब्द को ही ब्रह्म के रूप में खने-समझने की अन्तर्दृष्टि दिखलाई पड़ती है। भर्तृहरि ने कहा है-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।

उनका कहना है कि शब्दतत्त्व ब्रह्म ही है। वह अनादि तथा अन्त से रहित -अनादि और अनन्त है; उत्पत्ति और विनाश से रहित है; वह अक्षर अर्थात् र्विकार है। यही विवर्त के कारण अर्थ के रूप में भाषित होता है। विवर्त एक रिभाषिक शब्द है—वस्तु में जो वास्तविक विकार होता है उसे परिणाम कहते हैं; किन जो विकार वास्तविक नहीं है उसे विवर्त कहते हैं। यह आरोपित है।

भारतीय चिन्तन में शब्द का व्यापक और सामान्य अर्थ है—ध्वनि या नाद। हवा बहने, पानी के गिरने, पक्षियों के कलरव, घंटा नाद, दरवाजा के खटखटाने आदि होने वाली आवाज आदि ध्वनि या शब्द के कई रूप हैं। भाष्यकार पतंजलि ने ऐसी नियों को शब्द का अभिध्यय कहा है और उसे भाषा ध्वनि से अलगाया है। शब्द दूसरा अर्थ है भाषा ध्वनि, लेकिन यह सिर्फ ध्वनि तक सीमित नहीं है। वर्ण, तिपादिक, पद और वाक्य तक को—पूरी भाषा को शब्द कहते हैं। **आप्तवाक्यं ब्दः** कहकर नैयायिकों ने पदों के समूह वाक्य को शब्द कहा है तो दूसरी तरफ **शक्तं** दम् अर्थात् जिसमें शक्ति हो उसी को शब्द कहना चाहिए। भाष्यकार ने माना है कि संसार में दृश्यमान है वह शब्द नहीं है, वह तो द्रव्य है। इस तरह उन्होंने द्रव्य, गुण, या एवं जाति इन चारों को शब्द नहीं माना है। तब शब्द क्या है? (कस्तहि शब्दः?) दो तरह से उत्तर दिएः—पहला उत्तर—येन उच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां म्प्रत्ययो रूपं भवति, स शब्दः। अर्थात जिसका उच्चारण करने पर सास्नादियुक्त तु का सम्प्रत्यय—बोध— होता है, वही शब्द है। दूसरा उत्तर-अथवा प्रतीतपदार्थको के ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। ... तस्माद् ध्वनिः शब्दः। अर्थात् 'अथवा पदार्थ की ीति जिससे होती है, ऐसी ध्वनि को शब्द कहते हैं। यहाँ सास्नादि से तात्पर्य वस्तु भौतिक या स्थूल स्वरूप से है।

सतही स्तर पर दोनों में भेद नहीं लगता है। पहले उत्तर के सम्प्रत्यय का अर्थ बोध या ज्ञान। शब्द का उच्चारण वक्ता करता है। श्रोता उसे सुनकर अर्थ को मझता है अर्थ का बोध कराने के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। उच्चारण प्रयोग है। वक्ता से उच्चरित जिस माध्यम से श्रोता को सास्नादि युक्त अर्थ का ध होता है, वही शब्द है। दूसरे शब्दों में कहें तो अर्थ का बोध जिससे होता है, वह द है या वाचक को शब्द कहते हैं। दूसरे, उत्तर प्रतीतपदार्थकः ध्वनिः; अर्थात् जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्वनि से पदार्थ का प्रत्यय-बोध होता है, लोक में ऐसी ध्वनि को शब्द कहते हैं। यहाँ भी वाचकता पर बल है। सम्भव है भाष्यकार ने पहले वाक्य में वाचक को शब्द माना है और दूसरे वाक्य में वाचक को ध्वनि बताया है। पाणिनी[5] ने अपने सूत्रों से यह सिद्ध करके दिखाया कि जहाँ अर्थ का औचित्य और रूपसाम्य है वहाँ व्युत्पत्ति को स्वीकार करना योग्य है। किन्तु जहाँ अर्थ की उपपत्ति नहीं है वहाँ बलात् खींचातान करके व्युत्पत्ति दिखलाना व्यर्थ है। ऐसे शब्दों को अव्युत्पन्न मान लेना ही उचित है। अतएव पाणिनि ने प्रातिपादिक के लक्षण दो प्रकार के दिए हैं। एक लक्षण है– कृततद्धित-समासाः च। (अष्टाध्यायी, 1-2-46) ये शब्द व्युत्पन्न हैं। कुछ कृदन्त या धातुज शब्द है; कुछ नामज हैं, तद्धितान्त हैं। कुछ तो दो या अधिक शब्दों के योग से बने हैं, इन्हें समास कहा जाता है। दूसरा लक्षण है—अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। (अष्टाध्यायी, 1-2-45) जो शब्द धातु, प्रत्यय या प्रत्ययान्त नहीं हैं किन्तु अर्थवान हैं—उन्हें भी प्रातिपादिक मानते हैं। इस लक्षण से पाणिनि स्वीकार करते हैं कि कई शब्द अव्युत्पन्न भी हैं। किसी-न-किसी धातु से कोई-न-कोई प्रत्यय जोड़कर किसी तरह लोप, आदेश आदि की व्यवस्था करके उनकी व्युत्पत्ति बताना अभीष्ट नहीं है। यही उनका अव्युत्पत्ति पक्ष है। व्युत्पत्ति के दुराग्रह से बचकर विवेकपूर्ण ढंग से शब्द की व्याख्या करना ही इस पक्ष का मर्म है।

परम्परागत व्याकरणिक सिद्धान्त शब्द को आधारभूत इकाई स्वीकार करते हुए उसी पर अपने व्याकरण का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा करता है। रूप-रचना और वाक्य-विन्यास दोनों के लिए वह सबसे पहले शब्द को भाषा की सैद्धान्तिक और संक्रियात्मक इकाई स्वीकार करता है और तब वह निर्देश देता है कि रूप-विज्ञान शब्द की आन्तरिक संरचना का अध्ययन करता है जबकि वाक्य-विज्ञान वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के परस्पर सम्बन्ध नियोजनों का अध्ययन करता है। इस तरह रूप-विज्ञान अन्तर-शब्द रचना का और वाक्य विज्ञान अन्तर-शब्द-विन्यास का अध्ययन करता है।

आधुनिक भाषाविज्ञान की संरचनावादी धारा रूपिम को भाषा की लघुतम सार्थक इकाई के रूप में स्वीकार ही नहीं करता, अपितु रूपिम को केन्द्र में रखकर अपने सैद्धान्तिक एवं सक्रियात्मक संरचना का विकास करता है। रूपिम आधारित भाषा चिन्तन सबसे पहले परम्परा से चले आए शब्द जैसी संरचनात्मक इकाई को ने केवल नकारता है, अपितु भाषा चिन्तन में उसे सैद्धान्तिक दृष्टि से अग्राह्य और व्यावहारिक दृष्टि से अयथार्थ भी बतलाता है। इस तरह इस भाषा-चिन्तन ने शब्द को भाषा की सैद्धान्तिक इकाई मानने से इनकार कर दिया और बताया कि शब्द भाषा-विज्ञान की कोई सैद्धान्तिक इकाई नहीं हो सकती। संरचनावादी भाषा चिन्तन ने कहा कि अगर यह कोई इकाई है तो उसका स्थान उस लोक-भाषाविज्ञान (फोक-लिंग्विस्टिक्स) में है जो भाषा प्रयोक्ताओं की रूढ़िगत संकल्पनाओं को अपने अध्ययन का आधार बनाता है। (ग्रीनबर्ग, 1957:27) यही कारण है कि इस धारा के विभिन्न विद्वान शब्द की संकल्पना को उसकी प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में विविधरूपी मानते हुए भाषायी विश्लेषण की दृष्टि से इसे पूर्णतः अनुपयुक्त सिद्ध करते है। (वैल्स,1947)."[6] संरचनावादी चिन्तन ने जिस दृष्टि से "रूपिम" की संकल्पना को अपनी आधारभूत इकाई माना और जिसकी वैज्ञानिकता के सन्दर्भ में परम्परागत इकाई शब्द को अपने सैद्धान्तिक विवेचन से बाहर रखने की कोशिश की, वह भी शब्द इकाई का उचित विकल्प नहीं बन सका। लायन्स के अनुसार रूपिम भाषाविज्ञान का एक बहुप्रयुक्त पारिभाषिक इकाई है पर उसका प्रयोग अनेक सम्बद्ध सन्दर्भों में होता है, जो उसकी संकल्पना को निर्भ्रान्त नहीं रहने देता। उनके अनुसार शब्द की तरह रूपिम की संकल्पना भी बहुआयामी है और कई दृष्टियों से उसकी स्थिति भी भ्रम उत्पन्न करने की सम्भावना से परे नहीं है। (लायन्स, 1970:22) यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि रूपवैज्ञानिक एवं वाक्यवैज्ञानिक तथ्यों की चर्चा करते समय परम्परागत वैयाकरण भाषाविश्लेषण के लिए शब्द-सापेक्ष दृष्टि का ही निर्वाह करते रहें। पर आधुनिक भाषाविज्ञान में प्रशिक्षित अनेक विद्वान हिन्दी भाषा के संरचना-विश्लेषण के समय अपनी बात रूपिम से आरम्भ करते और वाक्य पर समाप्त करते देखे जाते है।"[7]

आधुनिक भाषाविज्ञान के चिन्तकों ने शब्द को एक भाषिक प्रतीक के रूप में परिभाषित करने की कोशिश की है। प्रतीक अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु, भाव, यथार्थ, व्यक्ति आदि की सूचना देता है और उसका प्रतिनिधित्व करता है। प्रतीक का अपना महत्व नहीं है, महत्त्व है उस वस्तु, व्यक्ति आदि का जिसके लिए वह प्रतीक माना गया है। एक प्रकार से फोटो या चित्र भी किसी व्यक्ति का प्रतीक है और उसका प्रतिनिधित्व करता है। राम के वन-गमन के बाद भरत ने उनक़ी चरण पादुकाओं को उनकी उपस्थिति का प्रतीक माना और उन्हे सिंहासन पर रखा। अयोध्या लौटने पर जब सीता को त्याग दिया गया तो अश्वमेध यज्ञ करते समय राम ने सीता की प्रतिमा को उसका प्रतीक माना। इससे स्पष्ट है कि प्रतीक किसी भी प्रकार का हो सकता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि वस्तु या व्यक्ति आदि में तथा उनके प्रतीक में कोई साम्य हो, या प्रतीक से वस्तु या व्यक्ति को पहचाना जा सके। महत्त्वपूर्ण यह है कि किसी चीज को किसी अन्य चीज का प्रतीक मान लिया जाए और सब लोग उसी रूप में स्वीकार कर लें।[8] शब्द को एक भाषिक प्रतीक माना गया है। इससे सम्बद्ध तीन पक्षों पर आधारित तीन दृष्टिकोणों से चर्चा की जा सकती है–

1. संकेतित अथवा कथ्य (अर्थविज्ञान)
2. संकेतक अथवा अभिव्यक्ति (स्वन-प्रक्रियात्मक/लेख) तथा
3. संकेतन अथवा प्रकार्य (वाक्यीय एवं व्याकरणिक)।

भाषिक प्रतीक के ये तीनों पक्ष शब्द के धरातल पर परस्पर सम्बन्धित इकाई हैं। पामर ने शब्द को परिभाषित करते हुए उसे एक विशिष्ट भाषाई व्यापार से उत्पन्न इकाई माना है, जो मूल प्रकृति में अपने माध्यम के किसी दबाव से नियन्त्रित नहीं होती। श्रोता वाक्य में शब्द की इकाइयों को अलग-अलग पहचानता है। इसका अधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल ध्वनि माध्यम ही नहीं है, बल्कि उसका भाषायी बोध है, जो भाषिक क्षमता के रूप में उसमें अवस्थित रहा है। भाषा प्रयोक्ता-वक्ता तथा श्रोता भाषाई क्रिया में शब्द सम्बन्धी इसी भाषिक क्षमता का परिचय देते हैं। इसी भाषिक क्षमता के फलस्वरूप वे स्वनिक विकल्पवत शब्दों की वास्तविक प्रकृति को पहचान लेते हैं और भाई/भइया, बहन/बहिन को एक ही शब्द के रूप में ग्रहण करते हैं। इसी तरह प्रकार्यात्मक शब्दों के सन्दर्भ में भी वह तब ही/तभी, उन्हें/उनको दोनों को ही एक शब्द के रूप में स्वीकार करते हैं।[9]

शब्द हमारे ज्ञान प्राप्त करने तथा व्यक्त करने का एकमात्र साधन है। वह ज्ञान चाहे प्रत्यक्षण द्वारा ही अथवा बोध द्वारा। प्रत्यक्ष अपनी प्रकृति में क्षणिक होते हैं। स्पर्श, गन्ध स्वाद, दृश्य को हम प्रत्यक्षण द्वारा प्राप्त करते हैं और शब्द द्वारा उन्हें स्थायी बनाते हैं। इसीलिए असंख्य अनुभूतियों के लिए शब्दों की तलाश तथा नए शब्दों की रचना की प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। अनुभूतियों में व्यक्तिनिष्ठता की मात्रा बहुत अधिक होती है और उन्हें किस प्रकार वस्तुनिष्ठ बनाया जाता है, इसका उदाहरण गन्ध की अनुभूति के शब्द हैं। आधारभूत रंगों की भाँति आधारभूत गन्ध की शब्दावली नहीं है। इसीलिए गन्ध के नामों को वस्तुओं के द्वारा संकेतित किया जाता है। उदाहरण के लिए, अनुकूल गन्ध के लिए 'मिट्टी की सोंधी गन्ध, 'आम के बौरों की गन्ध', 'इत्र की खुशबू' आदि शब्द प्रयोग किए जाते हैं, प्रतिकूल गन्ध के लिए 'सीलन की गन्ध', 'पसीने की बू' आदि। इन अनुभवों की स्थायी बनाने के लिए मिट्टी, आमों की बौर, इत्र, सीलन, पसीना वस्तुओं के संकेतक लाए गए हैं। इनके बिना अनुभवों के प्रत्यक्ष को स्थायी नहीं बनाया जा सकता है।[10]

शब्द के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि शब्द को देखने के कई आयाम हैं। विभिन्न आयामों से शब्द को देखने के पश्चात् यह बात साफ हो जाती है कि शब्द की भाषिक उपस्थिति के इनकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वाक्य में प्रयुक्त रूपों की आधारभूत इकाई की हैसियत से शब्दों को स्वीकार ही करना होगा। अन्यथा की स्थिति में भाषा की अभिव्यक्ति को समझना कठिन होगा। शब्द से आशय भाषा की अभिव्यक्ति में सहयोगी उस भाषिक संरचना से है, जिसका उच्चारण मानव वागेन्द्रियों से होता है और जिसके माध्यम से अर्थ का सम्प्रेषण होता है। हम सभी जानते हैं कि भाषा के आरम्भिक शिक्षण के समय सबसे पहले शिक्षार्थी को ध्वनि के बाद शब्दों का ही ज्ञान कराया जाता है और कई बार हम किसी भाषा के व्याकरण एवं नियमों को जानते हुए भी उसका उचित प्रयोग नहीं कर पाते हैं, क्योंकि हमारे पास उस भाषा के शब्द का ज्ञान नहीं होता। जिस भाषा के शब्दों से हम अधिक परिचित होते हैं, उस भाषा का हम सही और सफल प्रयोग कर पाते हैं। इस तरह से स्पष्ट है कि बिना शब्दों की समृद्धि के किसी भी भाषा को समृद्ध भाषा नहीं कह सकते हैं। यही कारण है कि भाषा में शब्दों के ग्रहण की प्रक्रिया अनवरत जारी रहती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकास की प्रक्रिया में भाषा कुछ नए शब्दों को ग्रहण करती है और प्रयोग से ाहर हो चुके कुछ शब्दों को छोड़ती है। अतः किसी भी भाषा के शब्दों की परम्परा े अध्ययन का ही मतलब होता है, उसमें शब्दों के ग्रहण की प्रक्रिया का अध्ययन। न्दी भाषा की शब्द परम्परा का अध्ययन करने से पहले यह आवश्यक हो जाता है के हिन्दी भाषा के शब्द-भंडार की प्रकृति का अध्ययन किया जाए। हिन्दी भाषा के ब्द-भंडार को हम चार प्रमुख भागों में विभाजित करते हैं–

1. तत्सम शब्द।
2. तद्भव शब्द।
3. देशज शब्द।
4. आगत शब्द।

हिन्दी के शब्दों की उपर्युक्त प्रकृति को और अधिक स्पष्ट करते हुए प्रतीक वस्था और उसके ग्रहण आदि की चर्चा करते हुए डॉ॰ सुधा कालरा[11] ने बताया है क शब्द-प्रतीक कई प्रकार से बनते और ग्रहण होते हैं। समय के किसी बिन्दु पर जब ाषा को देखते हैं तो पता चलता है कि प्रतीक कई स्रोतों से आए हैं :

* कुछ प्रतीक परम्परा से प्राप्त होते हैं और उनका रूप अक्षुण्ण रहता है अर्थात् रिवर्तित नहीं होता । हिन्दी में ऐसे शब्द-प्रतीकों को तत्सम शब्द कहते हैं। ये जिस प में संस्कृत में थे, वैसे ही हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। जैसे–कर्म, धर्म, कृष्ण सत्य ादि।

* कुछ प्रतीक परम्परा से तो मिलते हैं किन्तु उनका रूप बदल जाता है। हिन्दी ं ऐसे प्रतीकों को तद्भव शब्द कहा जाता है। जैसे–चाँद, काम, आठ, काठ आदि।

* कुछ प्रतीक अन्य भाषाओं से भी आ जाते है। हर देश, राज्य, प्रांत आदि में हर से लोग आ जाते हैं। कुछ लोग लम्बे समय के लिए बाहर रहकर लौट आते है। ई पड़ोसी देशों से व्यापार आदि के कारण लोग आपस में मिलते-जुलते हैं। इस क्रिया में वस्तुओं और व्यक्तियों के आवागमन और आदान-प्रदान के अतिरिक्त ाषा के विभिन्न अंगों का भी लेन-देन होता है, विशेष रूप से शब्दों का। जब कोई श या प्रान्त किसी अन्य देश या प्रान्त की वस्तुएँ प्रयोग करने लगता है तो आमतौर र उनको उसी नाम से पुकारता है जिसमें वे अपने देश या प्रान्त में पुकारे जाते थे। ेसे कई शब्द दूसरी भाषा में आ जाते हैं और धीर-धीरे इतने रम जाते हैं कि कुछ वर्षों े बाद यह पहचानना कठिन हो जाता है कि अमुक शब्द अपनी भाषा का नहीं है। न्दी में अँग्रेजी, अरबी-फारसी, तुर्की आदि से ही नहीं, भारतीय भाषाओं से भी कई ब्द आ गए हैं। दोसा, इडली, रसम, साँभर, पज्जी, सन्देश, भेलपूरी आदि प्रतीक शब्द न्य भारतीय भाषाओं से आए हैं। आवश्यकता पड़ने पर भाषा में नए प्रतीक बना ि लिये जाते हैं। जैसे–हिन्दी में 25-30 वर्षों में कई हजार पारिभाषिक शब्द बने हैं।

यहाँ तत्सम, तद्भव एवं आगत शब्दों की बात की गई है, जबकि बहुत सारे ब्द लोक या स्थानीय स्तर पर ग्रहण किए जाते हैं, जिनको देशज शब्दों की श्रेणी में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा जाता हैं। आगत शब्दों के तहत हम विदेशी और भारतीय भाषाओं से ग्रहण किए गए शब्दों को रखते है। वास्तव में यदि आगत शब्द को व्यापक अर्थ में लिया जाए तो हिन्दी के सभी शब्द आगत की श्रेणी में आ जाएँगे, लेकिन यहाँ पर आगत शब्द का प्रयोग सीमित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और लोक में प्रचलित भी है।

किसी भी भाषा में अपनी वस्तुओं विचारों-व्यक्तियों आदि के अपने शब्द-प्रतीकों के अतिरिक्त कई अन्य स्रोतों से भी प्रतीक आ जाते हैं। इसके फलस्वरूप एक ही वस्तु या व्यक्ति या प्राणी के लिए एक से अधिक प्रतीक हो सकते है। हिन्दी में कुछ उदाहरण देखें—पुस्तक—किताब, आदमी—पुरुष, नभ—आकाश, फूल—सुमन—पुष्प, कमल—पंकज—जलज—राजीव आदि। भाषा में इसके विपरीत स्थिति भी सम्भव है. अर्थात् एक ही प्रतीक से दो या अधिक वस्तुओं, व्यक्तियों आदि की सूचना मिलती हैं। यह स्थिति भी भाषा में स्थान और काल में हुए परिवर्तनों के कारण होती है। हिन्दी में उदाहरण के लिए—आया के एक अर्थ में आ क्रिया है तो दूसरा अर्थ नौकरानी है। हार से एक अर्थ माला तो दूसरा अर्थ 'न जीतना' अभिव्यक्त होता है। मन का एक अर्थ दिल है तो दूसरा चालीस सेर आदि।

यदि किसी वस्तु या व्यक्ति या प्राणी की आवश्यकता न रहे, या नष्ट हो जाए तो उसका प्रतीक भी लुप्त हो जाता है। हिन्दी में धेला, दुअन्नी, चवन्नी आदि शब्द नहीं चलते, क्योंकि ये सिक्के चलने बन्द हो गए हैं। कई बार फैशन के कारण भी किसी प्रतीक को प्रधानता मिल जाती है।

भाषा के इस लक्षण चर्चा से स्पष्ट हो गया कि भाषा में कई प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है और इनका काम है वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों, विचारों आदि की सूचना देना। इन प्रतीकों का प्रयोग करते हुए किसी भाषा को बोलनेवाला अपनी बात को व्यक्त करता है, अपना सन्देश दूसरों तक पहुँचाता है और अन्य लोगों का सन्देश ग्रहण करता है।[12]

हिन्दी शब्द विविध स्रोतों से आए हैं और उन शब्दों में अपनी प्रकृति के अनुरूप हिन्दीभाषी समाज ने ध्वनि और अर्थ के स्तर पर परिवर्तन भी किए हैं। शब्दों को अपनी प्रकृति के अनुसार अनुकूलन करने की प्रक्रिया को हम तत्सम, तद्भव एवं देशज शब्दों में उतनी स्पष्टता से नहीं देख सकते, जितनी स्पष्टता से विदेशी शब्दों के ग्रहण करने में देख सकते हैं, क्योंकि ये हिन्दीभाषी समाज की प्रकृति से पहले से ही काफी अनुकूलित रहते हैं। विदेश भाषा के शब्दों के उच्चारण की प्रकृति उनसे भिन्न होती हैं, इसलिए ऐसे शब्दों में अनुकूलन का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'स्टेशन' और 'स्कूल' शब्द को लें तो हम पाते हैं कि इन दोनों शब्दों का उच्चारण हिन्दी में एक तरफ 'इसटेसन' के रूप में होता है, तो दूसरी तरफ 'सटेशन' एवं 'इसकूल' या 'सकूल' के रूप में। इसी तरह से अन्य अनेक शब्दों के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। 'टैंक' शब्द का अनुकूलन 'टंकी' के रूप में हुआ और इस शब्द का हिन्दी में धड़ल्ले से प्रयोग किया जा रहा है। इसी तरह से अर्थ के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तर पर अनुकूलन को देखा जाए तो बहुत से शब्दों को हिन्दी में स्वीकार किया गया, लेकिन उसके अर्थ में परिवर्तन हो गया। जैसे– आकाशवाणी शब्द का अर्थ देववाणी था, लेकिन हम सभी जानते हैं कि आज इसका प्रयोग आल इंडिया रेडियो के लिए किया जा रहा है, जो नया अर्थ है। तिजोरी शब्द मूलतः अँग्रेजी ट्रेजरी (खजाना) से अनुकूलित है, जिसकी ध्वनि में ही अनुकूलन नहीं हुआ, अपितु अर्थ में भी परिवर्तत हुआ और अब हिन्दी में उसका अर्थ 'लोहे के मजबूत बाक्स' के लिए किया जा रहा है। शब्द अपने मूल अर्थ परिवर्तित अर्थ में किसी दूसरी भाषा में प्रयुक्त हो रहा है, क्योंकि शब्दों में अर्थ की संकल्पना को निर्धारित करनेवाला लोक होता है। लोक में स्वीकार्यता के अभाव में सब कुछ निरर्थक ही है। प्रसिद्ध भाषाविद् कृष्णस्वामी अय्यंगर लिखते हैं कि "किस शब्द का क्या अर्थ है? इसका निर्णय राजाज्ञा से नहीं होता। किन्तु शक्ति का निर्णय लोकव्यवहार पर ही आधारित है। यही शक्तिग्राहक प्रमाणों में प्रथम माना जाता है। व्याकरण और कोश इसी के अनुगामी हैं। वैयाकरण या कोशकार लोकव्यवहार का अध्ययन करके ही प्रामाणिकत्व को पा सकता है। यह लोकव्यवहार संस्कृत की तरह अन्य भाषाओं में भी अबाधित है। किसी भाषा का प्रचार अधिक है, किसी का कम है, किसी में अपार साहित्य भंडार है, तो किसी में अपेक्षाकृत कम। लेकिन इससे उस भाषा के शब्दों की वाचकता, अर्थप्रतिपादन-शक्ति, योग्यता और साधुता में कोई अन्तर नहीं आ सकता।"[13]

हिन्दी में शब्दों की परम्परा को समझने के लिए उसके शब्दों के ग्रहण एवं निर्माण की परम्परा को समझना अनिवार्य हो जाता है। यदि शब्दों के ग्रहण की परम्परा को देखें तो तत्सम, तद्भव, देशज और आगत शब्दों के अतिरिक्त हिन्दी में बहुत से शब्दों का निर्माण समाज में व्यवहार के माध्यम से किया गया है। जैसे सादृश्यता के आधार पर हिन्दी ने बहुत से शब्दों को ग्रहण किया और पुनरुक्ति के आधार पर भी हिन्दी ने बहुत सारे शब्दों का निर्माण करके अपने शब्द भंडार का हिस्सा बनाया। उदाहरण के लिए तीन नाड़ियाँ इला, पिंगला और सुषुम्ना हैं, लेकिन मध्यकाल में पिंगला शब्द के सादृश्य के आधार पर इंगला शब्द बन गया और यही शब्द इला के स्थान पर चल रहा है। जैसे–'इंगला पिंगला सुषुम्ना नाड़ी, तीन तार से बीनी चदरिया।–(कबीर) इसी तरह से 'देहाती' के सादृश्यता पर 'शहराती' शब्द बन गया। इसी तरह से पुनरुक्तियों की संरचना को देखें तो हिन्दी में टुकड़े-टुकड़े, घर-घर, अपना कोई-कोई आदि जैसे शब्दों का निर्माण किया गया है। अनुकरणात्मकता के आधार पर भी हिन्दी में बहुत से शब्दों की रचना की गई है। जैसे खटपट, गुटुर-गुटर, टप-टप, डकार, फटफटिया आदि।

इस तरह से हिन्दी की शब्द परम्परा के अध्ययन की सुविधा के लिए हम उसके स्रोतों को चार भागों में क्रमशः तत्सम, तद्भव, देशज और आगत में विभाजित कर सकते हैं, लेकिन उनके ग्रहण की परम्परा अथवा प्रक्रिया को तीन तरह से समझ सकते हैं–पहला, स्रोत से हुबहू शब्द का ग्रहण, जैसे कर्म, खटखट टनटन आदि। दूसरा, स्रोत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अनुकूलन के माध्यम से शब्द को ग्रहण करना, जैसे—ट्रेजरी (अँग्रेजी) का अनुकूलन करके तिजोरी शब्द के रूप में ग्रहण। तीसरा, उपसर्ग, प्रत्यय, समास, सादृश्यता, अनुकरणात्मकता, पुनरुक्ति आदि के माध्यम से शब्द का निर्माण करके उसको ग्रहण करना, जैसे—भूँ-भूँ शब्द से भौंकना शब्द का निर्माण करके हिन्दी में ग्रहण किया गया। ठीक वैसे ही घुमक्कड़ की तरह पियक्कड़, बतक्कड़ आदि; खट-खट से खटखटाना आदि का निर्माण करके शब्द को ग्रहण करना। इस तरह से शब्दों के ग्रहण करने की ये तीन प्रवृत्तियाँ या दिशाएँ हिन्दी में देखने को मिलती हैं।

हिन्दी के शब्दों की प्रकृति को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि आजकल शब्द मूलतः तीन स्रोतों से अधिक मात्रा में आ रहे हैं, वे हैं—तत्सम, देशज और आगत। तद्भव परम्परा से शब्दों के ग्रहण एक सीमा तक ही किया जाता है और वह परम्परा भाषा के प्रारम्भिक अवस्था में अधिक होती है और बाद में यदि इस परम्परा के शब्द ग्रहण भी किए जाते हैं तो वे लोक या समाज से ग्रहण किए जाने के कारण उनका अध्ययन देशज परम्परा के तहत किया जाता है। आज के वैज्ञानिक एवं सूचना विस्फोट के युग में तत्सम परम्परा से शब्दों को कम ही मात्रा में ग्रहण किया जा रहा है। इनका स्थान देशज और आगत शब्द-स्रोतों ने ले लिया है। वर्तमान सूचना युग में एक तरफ विज्ञान की नित्-नवीन खोजों के कारण तकनीकी शब्दावलियाँ बहुतायत में आ रही हैं तो मानवीकी एवं सामाजिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप देशज परम्परा के शब्दों का महत्त्व भी तेजी से बढ़ रहा है। वैसे हिन्दी भाषा के भविष्य पर बोलते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ॰ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने कहा है कि हिन्दी का भविष्य परिधि पर जीनेवाले अथवा आम लोगों की बोलचाल की भाषा में ही सम्भव है, क्योंकि पढ़े-लिखे लोगों की जबान को भाषा तोड़ देती और आम आदमी की जबान भाषा की संरचनाओं को तोड़ देती है। अतः हिन्दी की शब्द परम्परा का अध्ययन करते हुए आवश्यक हो जाता है, कि आनेवाले समय की चुनौतियों को देखते हुए शब्द ग्रहण और निर्माण की पूरी प्रक्रिया के साथ ही भविष्य की सम्भावनाओं पर भी चर्चा अवश्य की जाए। इसी दृष्टि से शब्द ग्रहण एवं निर्माण की कुछ प्रमुख बातों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

अनुकूलन एवं शब्द-रचना के माध्यम से ही वर्तमान समय की चुनौतियों का सामना किया जा सकता है। अनुकूलन की प्रक्रिया मूलतः आगत शब्द यानी विदेशी एवं भारतीय भाषाओं के शब्दों के ग्रहण के समय आवश्यक हो जाती है। उदाहरण के लिए हिन्दी ने पुर्तगाली भाषा से—तौलिया, बिस्कुट, लालटेन, पावरोटी, गमला, पिस्तौल, बोतल आदि शब्द लिये हैं जिनको आम जनता ने ग्रहण किया और अनजाने से अनुकरण की अपूर्णता से उनका अनुकूलन हो गया। इसी तरह अरबी से अदालत, इम्तिहान, एतराज, औरत, तनखाह, तारीख, मुकदमा, सिफारिश, हाल आदि; फारसी से आदमी, उम्मेदवार, कमर, खर्च, गुलाब, चश्मा, चाकू, चापलूस, दाग, दुकान, बाग,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोजा आदि; तुर्की भाषा से तमगा, तोप, लाश, चकमक आदि; अँग्रेजी से इंच, कमेटी, कोट, गिलास, पतलून, मील, रेल, स्कूल, डॉक्टर आदि शब्द लिये गए हैं। भारतीय भाषाओं से भी शब्द ग्रहण किए गए हैं जैसे—मराठी से प्रगति, लागू, चालू, बाड़ा, बाजू आदि। बंगला से उपन्यास, चुड़ान्त गल्प, नितान्त, भद्रलोग आदि। जब से पारिभाषिक शब्द बनाए जाने लगे हैं, तब तो कुछ अँग्रेजी शब्दों को जानबूझकर अनुकूलित किया गया। जैसे टेक्नोलॉजी, कॉमेडी, ट्रेजडी आदि शब्दों का अनुकूलन करने के बाद तकनीकी, कामदी, त्रासदी आदि शब्द ग्रहण किया गया।

शब्द रचना करके शब्द ग्रहण करने की प्रवृत्ति का अध्ययन करें तो इसके कई स्तर हैं, जिनमें से कुछ की चर्चा यहाँ की जाएगी। हिन्दी में शब्द रचना करने के लिए उपसर्ग, प्रत्यय एवं समास का सहारा लिया जाता है। विभिन्न स्रोतों से लिये गए शब्दों के साथ उपसर्ग एवं प्रत्यय लगाकर शब्द बनाए जाते हैं। समास में भी विभिन्न स्रोतों से लिये शब्दों का उपयोग करके नए-नए शब्दों की रचना की जाती है। इस तरह कई संकर शब्दों का निर्माण होता है, लेकिन ऐसे संकर शब्द भी भाषा को न केवल समृद्ध करते, अपितु सम्प्रेषणीयता को भी सुगम बनाते हैं। इस तरह से संकर शब्दों की हिन्दी भाषा में सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसके अतिरिक्त तीन अन्य स्तरों पर शब्दों की रचना की जाती है—

1. सादृश्यता के आधार पर शब्द निर्माण।
2. पुनरुक्ति के आधार पर शब्द निर्माण ।
3. अनुकरणात्मकता के आधार पर शब्द निर्माण।

सादृश्य के आधार पर शब्द निर्माण करके हिन्दी में शब्द ग्रहण करने की परम्परा मिलती है। उदाहरण के लिए बरात से बराती के सादृश्य के आधार पर घर के लोगों के लिए घराती शब्द की रचना की गई और हिन्दी के काफी बड़े हिस्से में विवाह के अवसर पर इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। कुछ क्षेत्रों में लोगों ने बराती के सादृश्य पर सराती शब्द की रचना की, जिसका प्रयोग बेटी के घर पर आए ऐसे अतिथियों के लिए किया जाता है, जो न बराती हैं और न ही घराती। इसी तरह देहाती की सादृश्यता के आधार पर हिन्दी के कई क्षेत्रों में लोगों ने शहर से शहराती शब्द का निर्माण कर लिया। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिखा है कि "संस्कृत में एक है 'सुखकेलि' जो प्राकृतों में 'सुखेल' हो गया तथा हिन्दी में 'सुहेल'। हिन्दी जनता ने 'सुहेल', के सादृश्य पर 'दुहेल' शब्द बना लिया, जिसका अर्थ संज्ञा रूप में दुःख तथा विशेषण रूप में कठिन, दुःखदायी आदि है। मध्यकाल में दुहेल, दुहेला, दुहेली, शब्द खूब चलते थे। जैसे—

पदमावति जग रूपमनि कहँ लगि कहौं दुहेल। — जायसी
भलेहि पेम है कठिन दुहेला । — जायसी
कहेसि कस न तुम्ह होहु दुहेली। — जायसी
उछड़ि पड़े जब आँखि मैं, खरा दुहेला होइ । — कबीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी में प्रायः सभी कोशों में संस्कृत 'दुर्हेल' से 'दुहेल' को उद्भूत कहा गया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि संस्कृत में 'दुर्हेल' कोई शब्द नहीं है। संस्कृत में 'सुखकेलि' का प्रयोग है, जिसका अर्थ है, 'सुख से किया जाने वाला खेल' अर्थात्, सरल काम या जो काम कठिन अथवा कष्टप्रद न हो।' इससे निकला शब्द 'सुहेल' मध्यकाल में मिलता है तथा कोशों (जैसे संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर) में है भी , उसी के आधार पर 'दुहेला' बना है।"[14] गैस शब्द के निर्माता तथा इसके प्रथम प्रयोक्ता हालैंड निवासी प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री फान हेलमोंट ने अपनी डायरी में लिखा है कि 'केआस' (Chaos) शब्द के सादृश्य पर इस वायव्य वस्तु के लिए उनके मन में गैस' शब्द उभरा था।[15] रंगों के नामों के लिए फारसी की अंगूरी एवं गुलाबी की तर्ज पर हिन्दी में कपूरी, धानी, बैंगनी, जामुनी आदि शब्द बनाया गया, तो फारसी शब्दों से बादामी, आसमानी, प्याजी, खाकी, तरबूजी, फीरोजी शब्द बनाए गए; अँग्रेजी शब्दों से चाकलेटी, स्लेटी और पुर्तगाली शब्द टमाटर से टमाटरी आदि शब्दों का निर्माण किया गया है।

हिन्दी भाषा में धातुओं के साथ ही संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि शब्दों से भी क्रिया-रूपों का निर्माण किया गया है। संज्ञा शब्दों क्रमशः फिल्म से फिल्माना, शर्म से शर्माना, बात से बतियाना, लात से लतियाना, थप्पड़ से थपड़ियाना; सर्वनाम शब्द अपना से अपनाना; विशेषण शब्द चिकना से चिकनाना, ध्वन्यात्मक शब्द खटखट से खटखटाना, भड़भड़ से भड़भड़ाना आदि शब्दों की रचना सादृश्य के आधार पर करने से हिन्दी की शब्द सम्पदा समृद्ध हुई। एक रोचक प्रसंग की चर्चा यहाँ प्रासंगिक है– मराठी तथा कोंकणी में एक पुराना शब्द 'बिठोबा' (बिट्ठल) है, उसी के आधार पर एक व्यक्ति का नाम रखा गया है, 'पंजोबा' यह व्यक्ति गाँधी जी के साबरमती आश्रम में रहता था। आश्रम में एक-दूसरे व्यक्ति 'विनायक' आए। गाँधी जी 'पंजोबा' के आधार पर इस व्यक्ति को 'विनायक' की जगह 'विनोबा' कहने लगे। आगे चलकर यही प्रसिद्ध भूदानी नेता 'विनोबा भावे' बने।[16]

पुनरुक्ति के आधार पर शब्द निर्माण करके हिन्दी शब्द सम्पदा को समृद्ध और अभिव्यक्ति को सहज एवं सुगम बनाया गया। पुनरुक्ति से अभिप्राय है दोहराना। जब कोई शब्द बिना परिवर्तन अथवा अल्प-परिवर्तन या पर्याय के साथ दोहराया जाता है तो यह प्रक्रिया पुनरुक्ति कहलाती है। इससे प्रसंगानुसार पूर्णता, अपूर्णता, निरन्तरता, अतिशयता, सजातीयता, पृथकता आदि का बोध होता है। इसमें ध्वनि की दृष्टि से साम्य (घर-घर), लगभग समान (दाल-वाल) अथवा अर्थ की दृष्टि से समान (लाज-शर्म), समवर्गीय (भूख-प्यास) या विलोम (अच्छा-बुरा) शब्दों के माध्यम से नए शब्दों की रचना की जाती है। उदाहरण के लिए संज्ञा शब्दों की पुनरुक्ति से क्रमशः रग-रग, शहर-शहर, झिक-झिक, चोरी-चोरी आदि शब्द रचनाएँ बनती हैं, तो सर्वनाम शब्दों की पुनरुक्ति से क्रमशः मैं-मैं, तू-तू, अपना-अपना, जिस-जिस, किसी-किसी आदि शब्दों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निर्माण होता है। विशेषण शब्दों की पुनरुक्ति से क्रमशः अच्छे-अच्छे, काले-काले, गरम-गरम, एक-एक, आधा-आधा, थोड़ा-थोड़ा आदि शब्द बने हैं; क्रिया शब्दों की पुनरुक्ति से क्रमशः चल-चल, देख-देख, मारता-मारता, बैठा-बैठा, सोया-सोया आदि शब्द निर्मित हुए हैं। इसी तरह अव्यय शब्दों की पुनरुक्ति से क्रमशः कहाँ-कहाँ, अंदर-अंदर, नीचे-नीचे, भीतर-भीतर, हाय-हाय, वाह-वाह आदि शब्दों का निर्माण हुआ है। इस तरह से पुनरुक्ति के माध्यम से भी हिन्दी में बहुत से शब्दों की रचना हो रही है और आनेवाले समय में भी इस तकनीकी का प्रयोग करके नवीन तरह की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों की रचना की जा सकती है।

अनुकरणात्मकता के आधार पर भी हिन्दी में शब्दों की रचना की जाती है। सामान्यतया अनुकरणात्मक शब्दों को मात्र स्थूल अभिव्यक्ति के लिए ही प्रयोग किया जाता रहा है और सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए इसके प्रयोग को उचित नहीं माना जाता रहा। वास्तव में क्रिया-व्यापार से उत्पन्न ध्वनि के अनुकरण पर निर्मित इन शब्दों में से अनेक ऐसे हैं, जो विभिन्न सूक्ष्म अभिव्यक्तियों में प्रयुक्त होते हैं और अर्थ को सहजता एवं सजीवता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। हिन्दी में प्रचलित चमकना, झिझकना, भड़कना, झपकना, सकपकाना आदि शब्द अपने वर्तमान विकसित रूप में अनुकरणात्मक नहीं लगते, जबकि इनकी संरचना से अनुकरणात्मकता का संकेत मिल जाता है। हिन्दी में अनुकरणात्मक शब्दों की संख्या तीन हजार से अधिक है। यदि बोलचाल और बोलियों को भी सम्मिलित कर लिया जाए तो इनकी संख्या और बढ़ सकती है। संरचना के आधार पर अनुकरणात्मक शब्दों की दो श्रेणियाँ मिलती हैं— पहला जिनके एकाधिक रूप मिलते हैं और इनसे अन्य शब्दों की रचना होती है। दूसरी श्रेणी ऐसे शब्दों की है, जिनके एकाधिक रूप नहीं मिलते हैं और ये मूलतः अपने क्रिया-व्यापार के ध्वन्यात्मक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। इस श्रेणी के शब्दों से अन्य शब्दों की रचना फिलहाल नहीं हो रही है, लेकिन भविष्य में इसकी सम्भावना है, ठीक वैसे ही जैसे भों-भों से भौंकना शब्द की रचना हुई। उदाहरण के लिए, इस श्रेणी के कुछ शब्द हैं—काँव-काँव, चूँ-चूँ, गुटर-गूँ आदि। जिन अनुकरणात्मक शब्दों से नए शब्दों की रचना होती है, उन पर चर्चा आवश्यक है, क्योंकि इनसे आनेवाले समय की चुनौतियों का सामना किया जा सकता है। शब्द है खटखट और इससे बना हुआ शब्द है खटखटाना, खटखटाहट, खटाखट। इसी तरह चटचट शब्द से बने हुए नए शब्द हैं—चटचटाना, चटचटाहट आदि । अनुकरणात्मक शब्द है खरखर और इससे निर्मित शब्द है—खर्राटा, खरखराहट। इन अनुकरणात्मक शब्दों में उपसर्ग और प्रत्यय के योग से नए-नए शब्दों का निर्माण किया जा सकता है।

हिन्दी में तकनीकी शब्दावली-निर्माण के साथ ही भाषाओं के अन्य शब्दों को अनुकूलन के माध्यम से ग्रहण करना होगा, तभी हिन्दी ज्ञान की विविध विधाओं को अभिव्यक्त करने में सक्षम हो सकेगी। हिन्दी भाषा में जब तक तमाम नवीन ज्ञान को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं आ जाती, तक तक हिन्दी को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं होगा। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय भाषाओं और हिन्दी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक होने के नाते इनके शब्दों के मूल अर्थ को हिन्दी में सहजता से ग्रहण किया जा सकता है। हिन्दी में भारतीय भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने से हिन्दी अखिल भारतीय स्वरूप के विकास का रास्ता खुलेगा और सम्पूर्ण भारत में हिन्दी सम्पर्क भाषा के रूप में स्थापित होगी।

सन्दर्भ

1. *हिन्दी शब्दानुशासन,* किशोरीदास वाजपेयी, सं॰ 2045 वि॰, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
2. *हिन्दी व्याकरण, कामताप्रसाद गुरु,* सं॰ 2045 वि॰, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
3. *हिन्दी भाषा की शब्द-रचना,* डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, 1989 ई॰, साहित्य सहकार, दिल्ली।
4. *शब्दः अध्ययन और समस्याएँ,* सं॰ सुरेश कुमार, 1990, केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।
5. *हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान,* सं॰ सुधा कालरा, 1987 ई, केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।
6. *भाषा विज्ञानः सैद्धान्तिक चिन्तन,* डॉ॰ रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव , राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं॰ 1997, पृ॰ 94।
7. वही
8. *हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान,* सं॰ डॉ॰ सुधा कालरा, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, सं॰ 1987, पृ॰ 5।
9. *शब्द के अधिगम-शिक्षण की समस्याएँ : शब्दार्थ के विशेष सन्दर्भ में,* मनोरमा गुप्त, शब्द : अध्ययन समस्याएँ, पृ॰ 122।
10. *शब्द और उसके आयाम,* ललित मोहन बहुगुणा - शब्द : अध्ययन समस्याएँ, पृ॰ 77।
11. *हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान,* सं॰ डॉ॰ सुधा कालरा केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, सं॰ 1987, पृ॰ 6-7।
12. वही, पृ॰ 7-8।
13. *भारतीय दर्शन में शब्द का स्वरूप,* वि॰ कृष्णस्वामी अय्यंगर, शब्द अध्ययन एवं समस्याएँ, पृ॰ 20।
14. *सादृश्यता के आधार पर शब्द निर्माण* – हिन्दी शब्द रचना' पृ॰ 91।
15. वही
16. वही, पृ॰ 93।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी का वैश्विक परिदृश्य

भाऊसाहेब नवनाथ नवले*

प्रास्ताविक

इक्कीसवीं सदी यह वह युग है जो 'हाईटेक युग' के नाम से जाना जा रहा है। साथ ही यह वह समय है जहाँ आवाहनों को केन्द्र में रखना अनिवार्यता बनी है। ये आवाहन ही समाज जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने में सहायक सिद्ध होते हैं। इतिहास गवाह है कि हर युग समसामयिक परिस्थितियों से प्रभावित रहता है। समसामयिक परिस्थितियों का प्रभाव ही सामाजिक विकास के मानदंडों को निर्धारित करता है। उपलब्ध संसाधनों का जीवन में उपयोग तथा भविष्य की आवश्यकताओं के संकेत भी इन्हीं संसाधनों से मिलते हैं। सामाजिक जीवन में सूचनाओं का संचालन अत्यधिक महत्त्व रखता है। लेकिन सूचनाओं का महत्त्व तब साबित होता है जब कोई सूचना निश्चित तथा उचित समय में एक-दूसरे तक पहुँचे। वस्तुतः सूचना प्रौद्योगिकी का मूल आधार वैज्ञानिक तकनीकी है। किसी भी देश के पिछड़ेपन को दूर करने में सूचना प्रौद्योगिकी ने अहम भूमिका निभाई है। वर्तमान में किसी भी देश की संपन्नता उस देश के सूचना तन्त्र के सम्पन्न होने पर अधिक निर्भर करती है इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता। सूचना प्रौद्योगिकी ने पूरी दुनिया को एक गाँव में तब्दील किया है। सूचना प्रौद्योगिकी का ही परिणाम है कि पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं को वैश्विक अर्थव्यवस्था के रूप में परिवर्तित देखा जा सकता है। साथ ही समाज के महत्त्वपूर्ण कारक धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार, प्रशासन, उद्योग, अनुसन्धान विकास आदि भी इससे अत्यधिक मात्रा में प्रभावित हुए हैं। जिससे इन क्षेत्रों में विकास के नए-नए सोपान उभरकर आ रहे हैं।

*डॉ. भाऊसाहेब नवले, सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राष्ट्रीय रक्षा अकादमी (एन.डी.ए.), खड़कवासला, पुणे-23 E-mail : bhausahebnavale83@gmail.com, drbnnavale@rediffmail.com, Mob. 09922807085

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछले वर्षों में भारत में सूचना प्रौद्योगिकी का विकास तेजी से हुआ है। भारत में "इंटेल (Intel), माइक्रोसॉफ्ट (Microsoft), टी.आई. (Tamas Instruments), गूगल (Google), याहू (Yahoo), सैप लैब्स इंडिया (SAP Labs India), सैप लैब्स इंडिया की पेरंट कम्पनी ऍसऐपी ऐजी (SAPAG), है जो कि जर्मनी में स्थित है, औरक्ल (Oracle Corporation), इस क्षेत्र की प्रमुख भारतीय कम्पनियों के नाम है–इंफोसिस (Infosys), टी. सी. एस. (Tata Consultancy Services), विप्रो (WIPRO), सत्यम (Satyam)"[1] कहना सही होगा कि इन कम्पनियों ने विभिन्न क्षेत्रों के बहुआयामी विकास में अपना अवदान सिद्ध किया है। सूचना-संचार एवं प्रौद्योगिकी ने भाषिक विकास में भी अपना योगदान दिया है। विश्व की कई भाषाएँ सूचना-संचार एवं प्रौद्योगिकी से लाभान्वित हुई हैं।

प्रस्तुत आलेख में हिन्दी भाषा के विशिष्ट सन्दर्भ को केन्द्र में रखते हुए विवेचन-विश्लेषण किया गया है। संचार-माध्यम एवं सूचना तकनीकी ने हिन्दी को अनन्यसाधारण स्थान तक अवश्य पहुँचा दिया है। भले ही हिन्दी कानून राष्ट्रभाषा बनने से वंचित रही हो, उसका जनहृदय एवं सामासिक पक्ष मात्र भारतवर्ष तक सीमित न रहकर सभी प्रकार की सीमाओं को लाँघकर विदेशों में अपना अस्तित्व सिद्ध कर रहा है।

सूचना प्रौद्योगिकी : विकासोन्मुख परिदृश्य

सूचना प्रौद्योगिकी वह 'सूचना तकनीक' है जो विभिन्न सूचना-संसाधनों के जरिए समाज विकास में सूचना की गतिशीलता तथा उसकी शीघ्र परिणति पर प्रकाश डालती है। रवीन्द्र शुक्ला का कहना है कि "नए आर्थिक ढाँचे में समाज की सूचना जरूरतें पूरी करने के लिए एक नई 'प्रौद्योगिकी' विकसित हुई है, जिसे 'सूचना तकनीक' या 'सूचना प्रौद्योगिकी' (आई.टी.) कहा गया है।"[2] कहना गलत न होगा कि सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी ने विभिन्न क्षेत्रों में अपने विकास के आयामों को उद्घाटित कर रोजगार को बढ़ावा देने में अहम भूमिका अदा की है। कहना सही होगा कि सूचना प्रौद्योगिकी का विकासोन्मुख परिदृश्य निश्चित ही समृद्ध रहा है। कृषि, चिकित्सा, व्यापार, शिक्षा, प्रशासन, बैंकिंग, सुरक्षा, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, संस्कृति, रोजगार, गरीबी तथा आर्थिक क्षेत्र आदि को समृद्ध बनाया है। सूचना-संचार के टेलीवीजन, कम्प्यूटर, इंटरनेट, फैक्स, रेडियो, टेलीफोन, समाचार-पत्र और कम्प्यूटर संजाल आदि ने समाज विकास की सीढ़ियों को नित-निरन्तर लाँघ दिया है। स्पष्ट है कि नई सूचना प्रणालियों के कारण ज्ञानार्जन के स्रोत बढ़ते जा रहे हैं, जिससे ज्ञानपिपासुओं में नए की जिज्ञासा बनी रहती है। "बुद्धि एवं भाषा के मिलाप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना प्राद्योगिकी के सहारे आर्थिक सम्पन्नता की ओर भारत अग्रसर हो रहा है।"[3] ध्यातव्य बात यह कि सूचना प्रौद्योगिकी किसी भी राष्ट्र की शक्ति एवं विकास का परिचायक बनी हुई परिलक्षित होती है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की इस देन का लाभ उठाना ही इक्कीसवीं सदी की साधारण-से-साधारण जनता का लक्ष्य होना चाहिए। कई बार हम सुधीजनों एवं आधिकारिक व्यक्तियों से सुनते हैं कि सूचना प्रौद्योगिकी विकास से भूख की समस्या हल नहीं होगी। पहले भूख की समस्या का तथा गरीबी का हल खोजना चाहिए, लेकिन गौरतलब है कि महानगर, नगर, शहर से होते हुए यह विकास का सोपान गाँव-कस्बे में पहुँचने में भी विलम्ब नहीं लगेगा। यदि हम बार-बार बिना किसी समाधान खोजने के बजाय गरीबी का रोना रोते जाएँगे तो निश्चित ही हम दुनिया से कोसों दूर जाने की बात सोचते हैं, ऐसा ही मानना होगा। इसलिए जरूरी है कि सूचना तकनीकी एवं विभिन्न भाषाओं में समन्वय हो।

वैश्वीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी

वैश्वीकरण (Globalization) तथा भूमंडलीकरण का प्रभाव हर राष्ट्र पर पड़ा हुआ प्रतीत होता है। सूचना प्रौद्योगिकी ही वह तकनीकी है जिसने वैश्वीकरण की संकल्पना को साकार रूप प्रदान किया है। सूचना एवं संचार तकनीकी के अभाव में यह सम्भव न हो पाता। प्राचीन समय में 'वसुधैव कुटम्बकम्' की अपनी विशिष्ट पहचान थी। यही भावना कुछ बदलाव के साथ वैश्वीकरण में द्योतित हो रही है। कुछ लोग इस बात को मानने के लिए तैयार अवश्य नहीं है लेकिन वैश्वीकरण के तथा समाज विकास के सकारात्मक पक्ष पर दृष्टिपात करने से मालूम होता है कि 'ग्लोबल विलेज' और कुछ नहीं है बल्कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की चरितार्थता का ही दूसरा रूप है। वस्तुतः भूमंडलीकरण एवं वैश्वीकरण के केन्द्र में शक्तिशाली एवं विकासशील देश ही है। आम तौर पर कहा जा रहा है कि शक्तिशाली राष्ट्र छोटे देशों को अपना शिकार बनाना चाहते हैं लेकिन महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि शक्तिसम्पन्न राष्ट्र अपनी शक्ति का एहसास दूसरों को अवश्य कराते हैं। ऐसे अवसर पर छोटे तथा विकास की ओर अग्रसर राष्ट्रों का प्रतियोगिता में शामिल होना समय की माँग बनी हुई है। यदि छोटे राष्ट्र वैश्वीकरण तथा भूमंडलीकरण से पलायन की बात करते हैं तो निश्चित ही वे अपने विकास की गति को अवरुद्ध करने जा रहे हैं, ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी। भूमंडलीकरण तथा वैश्वीकरण को केन्द्र में रखते हुए सूचना एवं संचार तकनीकी के जरिए राष्ट्रीय विकास की धारा को समृद्ध बनाना समय एवं समाज की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। होड़ के इस युग में स्वयं को सिद्ध करने में विश्वास निर्माण करना अनिवार्य शर्त बनी हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना प्रौद्योगिकी एवं वैश्विक स्तर पर हिन्दी

वैश्वीकरण तथा सूचना प्रौद्योगिकी के प्रभाव के लिए भाषागत क्षेत्र भी अपवाद नहीं है। सही मायने में वही राष्ट्र समृद्ध कहलाता है, जिसकी अपनी राष्ट्रभाषा है। वैश्विक स्तर पर विचार करने पर मालूम होता है कि सूचना प्रौद्योगिकी ने प्रादेशिक भाषा क्षेत्र को भी समृद्ध किया है। विभिन्न संचार-माध्यम विविध क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग करते हैं। सूचना एवं संचार तकनीकी में हिन्दी भाषा ने अपने अस्तित्व एवं आवश्यकता को सिद्ध कर दिया है। सामान्य तौर पर जहाँ अंग्रेजी का बोलबाला पर्याप्त माना जाता था वहाँ आज दुनिया के कई देशों ने हिन्दी को अपनेपन से या आवश्यकतानुरूप भी क्यों न हो स्वीकार किया है। यह हिन्दी भाषा का गौरव माना जा सकता है। आज वही राष्ट्र शक्तिशाली माना जाता है, जिसका सूचना तन्त्र सशक्त है। सूचना तन्त्र एवं तकनीकी को समृद्ध बनाने में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। हिन्दी के विभिन्न प्रकार के सॉफ्टवेअर विकसित हो रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने हिन्दी को विज्ञापन तथा बाजार वृद्धि के साधन के रूप में स्वीकार किया है। प्रिंट माध्यम एवं इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों के केन्द्र में हिन्दी ने अपनी पहचान बना ली है। कम्प्यूटर तथा इंटरनेट पर हिन्दी ने अपनी जड़ें जमा ली हैं। दूरदर्शन पर सैकड़ों चैनलों ने हिन्दी को व्यावसायिक स्तर पर स्वीकार किया है। सूचना प्रौद्योगिकी का ही परिणाम है कि भारतीय भाषाओं ने कम्प्यूटर तथा इंटरनेट पर अपनी उपस्थिति दर्ज की है। यूनिकोड तकनीक से भाषिक सीमाएँ समाप्त हो चुकी हैं। इस तकनीक के कारण कम्प्यूटर पर हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में काम करना सहज एवं सुलभ हुआ है। कम्प्यूटर पर जो अनुभव हम अंग्रेजी काम करते समय पाते थे वही अनुभव आज हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में काम करते समय पाया जा सकता है। ''गूगल के एक वरिष्ठ अधिकारी की ये स्वीकारोक्ति काफी महत्त्वपूर्ण है कि आनेवाले कुछ वर्षों में भारत दुनिया के बड़े कम्प्यूटर बाजारों में से एक होगा और इंटरनेट पर जिन तीन भाषाओं का दबदबा होगा वे हैं—हिन्दी, मेंडरिन और अंग्रेजी।''[4] कहना समीचीन होगा कि जहाँ इंटरनेट पर हिन्दी की स्थिति अनन्यसाधारण महत्त्व द्योतित करती है वहाँ सूचना प्रौद्योगिकी के असीम विकास की परिकल्पना सहज स्पष्ट हो जाती है।

हिन्दी की स्थिति एवं गति पर प्रकाश डालने पर मालूम होगा कि हिन्दी की स्थिति वैसे चिन्ता की अपेक्षा चिन्तनीय अधिक प्रतीत होती है। गति की बात करें तो स्पष्ट है कि वह विकास की ओर अग्रसर अवश्य हो रही है। कहने में संकोच नहीं कि वैश्विक स्तर पर हिन्दी भाषा ने अपना अस्तित्व सिद्ध किया है। इलैक्ट्रॉनिक मीडिया से लेकर प्रिंट मीडिया तक सभी संचार माध्यमों ने हिन्दी को वैश्यिक धरातल पर उपस्थिति दर्ज़ करने में सहयोग दिया है। भूमंडलीकरण के दौर में भाषा एवं साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अस्तित्व के प्रति चिन्ता जताई जाती है। बहुत बार यह भी कहा जाता है कि सूचना प्रौद्योगिकी के कारण संचार माध्यमों ने हिन्दी भाषा एवं साहित्य से संवेदना एवं नीतिमूल्यों को गायब किया है। लेकिन संचार माध्यमों के सकारात्मक पक्ष पर विचार करने से मालूम होगा कि हिन्दी को वैश्विक धरातल प्रदान करने में सूचना तकनीकी की महनीय भूमिका रही है। प्रभाकर श्रोत्रिय का कहना है कि ''जिन उपादानों से सृजन होता है उनमें भाषा प्रमुख है, बाजारीकरण के युग में यही सर्जनात्मक भाषा सबसे अधिक क्षतिग्रस्त हुई है।...लोकभाषा, मुहावरे, कहावतें, भाषिकी, व्याकरण, प्रतीक, मिथक यानी एक सांस्कृतिक चेतना भाषा से लुप्त होती जा रही है।''[5] वस्तुतः भाषा परिवर्तनशील होती है। भाषा के परिवर्तन में समकालीन परिवेश एवं परिस्थितियाँ अनन्यसाधारण महत्त्व रखती है। किसी भी भाषा का समृद्ध होना उसके शब्द-भंडार पर निर्भर करता है। वर्तमान परिदृश्य को केन्द्र में रखने पर कहा जा सकता है कि हिन्दी नई चाल में ढल रही है। संचार माध्यमों ने जन को केन्द्र में रखते हुए भाषा का प्रयोग करना आरम्भ किया। भले ही माध्यमों द्वारा प्रयुक्त भाषा में मुहावरों, कहावतों का अभाव हो, लेकिन वह भाषा समाज एवं समय की आवश्यकता बनी हुई प्रतीत होती है। जरूरी है हमारा समय के साथ चलना, चाहे साहित्य हो या समाज उसे समय को केन्द्र में रखते हुए विकास की मंजिल तक पहुँचना सहज एवं सुलभ होगा।

वैश्वीकरण के होते बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने व्यावसायिकता को केन्द्र में रखकर हिन्दी को स्वीकार किया है। कई बहुराष्ट्रीय एवं विदेशी कम्पनियाँ विज्ञापनों में हिन्दी का धड़ल्ले से प्रयोग कर रही हैं। इन कंपनियों के प्रयोग पर व्याकरण सम्मत हिन्दी भाषा प्रयोग को लेकर आपत्ति जताई जाती है। लेकिन इन कम्पनियों के प्रयोग से हिन्दी की अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्ति में कोई बदलाव नहीं आया है और न ही आने की सम्भावना है। इससे हिन्दी का शब्दभंडार अवश्य बढ़ता जा रहा है। आज किसी भी भाषा का अखबार उठाइए, उसमें कई हिन्दी शब्दों का प्रयोग बेहिचक मिल जाएगा। टी.वी. के किसी भी चैनल को ले लें, इसमें भी हम हिन्दी के अलग-अलग रूप देख सकते हैं। सूचना तकनीक से हिन्दी देश-विदेश की सीमाओं को पार करते हुए एक-दूसरे के दिलो-दिमाग तक पहुँची है। कम्प्यूटर तथा अन्तर्जाल पर हिन्दी की उपस्थिति ने उसे वैश्विक स्तर प्रदान किया है। सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएँ हैं जो विदेश से प्रकाशित हो रही हैं। इसमें कई ऐसी पत्रिकाएँ भी हैं जो अपने ऑनलाइन संस्करण भी उपलब्ध करा रही हैं। '''भारत दर्शन' (http://www.bharatdarshan.co.nz) न्यूजीलैंड से प्रकाशित हिन्दी साहित्यिक पत्रिका है। 'सरस्वती' (http://www.saraswatipatra.com) पत्र कनाडा से प्रकाशित होता है। 'अन्यथा' (http://www.anyatha.com) अमेरिका स्थित भारतीय मित्रों द्वारा प्रकाशित है। 'हिन्दी परिचय' (http://www.hindiparichay.com) 'गर्भनाल' (http://www.garbhanal.com) प्रवासी भारतीयों की ई-पत्रिका है। 'कलायन' (http://www.kalayan.org), 'कर्मभूमि' (http://www.hindiusa.org) हिन्दी यू.एस.ए.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की त्रैमासिक पत्रिका, 'हिन्दी जगत्', 'हिन्दी बालजगत' एवं 'विज्ञान प्रकाश' (http:/ /www.medullus.com) विश्व हिन्दी न्यास समिति द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएँ हैं, 'ई-विश्व' (http://www.evishwa.com) अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी समिति, सेलम की त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका, 'प्रवासी टुडे' (http://www.pravasitoday.com) अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक संस्था की पत्रिका है तथा 'पुरवाई' (http://www.purwai.com)"[6] आदि पत्रिकाएँ विदेशों से प्रकाशित होकर भी हिन्दी के प्रति अपना दायित्व वहन करने में सफल सिद्ध हुई हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

भारत से प्रकाशित होनेवाली ई-पत्र-पत्रिकाएँ इस प्रकार हैं—'सृजनगाथा', 'साहित्यकुंज', 'हिन्दी नेस्ट', 'अनुभूति', 'अभिव्यक्ति', 'प्रवक्ता' समाचार वेब पोर्टल, 'भारतीय पक्ष', 'जनोक्ति', 'हिन्दी साहित्य शिल्पि', 'लघुकथा', 'हिन्दी साहित्यमंच', 'अनुरोध', 'ताप्तीलोक', 'हिन्दी चेतना', 'लेखनी', 'साहित्य वैभव', 'मीडिया विमर्श', 'मिलनसागर', 'हिन्दी समय', 'हिन्दी युग्म', 'समय दर्पण', 'प्रतिलिपि' द्विभाषी पत्रिका, 'काव्यांचल', 'हिन्दी साहित्य मंच', 'परिचय', 'प्रेरणा', 'रचनाकार ब्लॉग स्पॉट', 'नई दुनिया', 'चौथी दुनिया', 'दैनिक जागरण', 'दैनिक भास्कर', 'हिन्दुस्तान', 'लोकायत', 'प्रभात खबर', 'देशबन्धु', 'राजस्थान पत्रिका' आदि ई-पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ 'पाखी', 'तहलका', 'हंस', 'वागर्थ', 'नया ज्ञानोदय', 'कथाबिम्ब', 'बहुवचन', 'पुस्तकवार्ता', 'तद्भव', 'उद्गम', 'अक्षरपर्व', 'इंडिया टुडे', 'आउटलुक', 'नवभारत टाइम्स', 'समय के साखी', 'अरगला', 'तरकश', 'प्रज्ञा', 'स्पैन', 'क्षितिज', 'सार-संसार', 'मधुमती', 'अपनी दिल्ली', 'असामान्य विश्व', 'वाङ्मय', 'उर्वशी', 'संस्कृति', 'प्रतिध्वनि', 'प्रज्ञा अभियान', 'पर्यावरण डाइजेस्ट', 'पाण्डुलिपि', 'निरन्तर', 'कलायन', 'काव्यालय', आदि मुद्रित पत्र-पत्रिकाओं के ई-संस्करण भी निकलने लगे हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं ने सामयिक विषयों के साथ-साथ विशेष अवसरों को अपने केन्द्र में रखा है। विविध विधागत साहित्य के साथ-साथ बालदिवस, मातृदिवस, हिन्दी दिवस, वेलेंटाइन डे, पर्यावरण दिवस, महिला दिवस तथा विशेष अवसरों एवं प्रसंगों को अभिव्यक्ति दी है। हिन्दी के इस विस्तृत क्षेत्र से उसके पाठकों में असीम वृद्धि हो रही है इसमें दो राय नहीं है।

सूचना क्रान्ति एवं हिन्दी का भविष्य

सूचना प्रौद्योगिकी एवं संचार साधनों ने विविध प्रादेशिक भाषाओं के विकास में महनीय योगदान दिया है। हिन्दी, मराठी, कन्नड, गुजराती, तेलुगु आदि कई भाषाएँ हैं जिनकी इंटरनेट पर उपस्थिति दर्ज है। सूचना क्रान्ति के युग में हिन्दी भाषा का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल है। डॉ. ऋषभदेव शर्मा का कहना सही प्रतीत होता है—"हिन्दी के इस वैश्विक विस्तार का बड़ा श्रेय भूमंडीलकरण और संचार माध्यमों के विस्तार को जाता है। संचार माध्यमों ने हिन्दी के जिस विविधतापूर्ण सर्वसमर्थ नए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप का विकास किया है, उसने भाषा समृद्ध समाज के साथ-साथ भाषा वंचित समाज के सदस्यों को भी वैश्विक सन्दर्भों में जोड़ने का काम किया है।"[7] सूचना तकनीकी का ही परिणाम है कि आज इंटरनेट पर हिन्दी भाषा से सम्बन्धित आवश्यक सॉफ्टवेअर उपलब्ध है। हिन्दी वर्तनी जाँचक, फांट परिवर्तक, लिपि परिवर्तक, अनुवाद, उच्चारण सम्बन्धी तकनीक, हिन्दी में कही बात को पाठ में बदलनेवाला सॉफ्टवेअर, हिन्दी-अंग्रेजी, अंग्रेजी-हिन्दी कोश, हिन्दी ई-पुस्तकें, ई-मेल के साथ कई सुविधाएँ इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। फिर भी कम्प्यूटर पर हिन्दी में काम करनेवालों की संख्या कम मात्रा में दिखाई देती है। लेकिन यह मात्रा दिन-ब-दिन बढ़ती अवश्य जा रही है। हिन्दी अखबारों का ई-संस्करण क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। अखबारों के ई-संस्करणों के कारण प्रादेशिक सीमाएँ मिटती जा रही हैं और सांस्कृतिक तथा सामाजिक सौहार्द्र बढ़ता जा रहा है। वर्तमान में समकालीन तथा नव युवा लेखकों ने इंटरनेट पर अपनी सृजनात्मकता एवं मौलिकता का परिचय दिया है। इंटरनेट पर साहित्य की उपलब्धता को लेकर जहाँ एक ओर प्रकाशक, लेखक तथा व्यावसायिकता का प्रश्न उठता है वहाँ दूसरी ओर पाठकों के बढ़ने की आकांक्षा भी की जा सकती है। दूरदर्शन पर प्रसारित विभिन्न चैनलों ने हिन्दी को अलग रूप में ढाला अवश्य है लेकिन उन्होंने हिन्दी को वैश्विक मंच प्रदान किया है। रेडियो पर प्रसारित हिन्दी नाटक, व्यंग्य तथा कथा जगत् ने देश-विदेश में अपने पाठक निर्मित किए हैं। इंटरनेट पर विभिन्न ई-अखबार प्रकाशित होते हैं। इंटरनेट पर आज राजस्थान पत्रिका, नई दुनिया, दैनिक भास्कर, दैनिक जागरण, इंडिया टुडे, आउटलुक, अमर उजाला, नवभारत टाइम्स, दैनिक नवभारत, हिन्दुस्तान दैनिक, डेली हिन्दी मिलाप, पंजाब केसरी, इरान समाचार, लोकमंच, सरस्वती पत्र, एक्सप्रेस न्यूज, हरिभूमि, आज, जन समाचार, द गुजरात, हिन्दी टाइम्स, लोकतेज, प्रभा साक्षी आदि समाचार-पत्र हिन्दी में प्राप्त होते हैं। निश्चित ही यह हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य का संकेत है। बी.बी.सी., रेडियो चाइना ऑनलाइन, आज तक, अमरीका की आवाज, राष्ट्रीय सहारा, वेब दुनिया, सिफी हिन्दी, जोश 18, वैब 18, सुमनसा, यूनिवार्ता, मजेदार मंच, एक्सप्रेस न्यूज, वाह मीडिया, प्रसनोट, डेटलाइन इंडिया, खास खबर, शेयर मार्किट हिन्दी, न्यूज विंग, उत्तरांचल टाइम्स, आपके सांसद आपके द्वार, प्रतिवाद, हिन्दी लोक, भारतीय पक्ष, ग्रॅब्लाइन, समाचार चिट्ठाजगत, डियूश वेल्ल (जर्मन रेडियो द्वारा प्रसारित हिन्दी कार्यक्रम), डेली हिन्दी न्यूज, ई ऍम.ऍस. इंडिया, तहलका, गूगल हिन्दी समाचार, रीडिफ कॉम आदि जालस्थल है जो हिन्दी खबरों एवं कुछ मात्रा में साहित्यिक गतिविधियों से जुड़े रहते हैं। इन समाचार विषयक जालस्थलों के अलावा देश-विदेश से प्रकाशित हिन्दी ई-पत्रिकाओं ने भी हिन्दी के विकासोन्मुख परिदृश्य से दुनिया को अवगत किया है। कहना गलत न होगा कि हिन्दी के अपेक्षाकृत तथा राष्ट्रभाषा बनने की प्रक्रिया में आम जन की भूमिका भी अनन्यसाधारण महत्त्व रखती है। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ-साथ विदेशी विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसन्धान जारी है। लेकिन इक्कीसवीं सदी तथा सूचना क्रान्ति के जमाने में भी आज भी गाँवों की स्थिति में अपेक्षित परिवर्तन नहीं आया है। प्राथमिक स्तर पर पहली कक्षा से अंग्रेजी का अध्यापन गौरव की बात मानी जाती है जब कि हिन्दी जनभाषा होने के उपरान्त भी दुर्लक्षित की जा रही है। शहरों में स्कूलों में कम्प्यूटर उपलब्ध होते हैं लेकिन गाँवों में आज भी कम्प्यूंटर आकर्षण की वस्तु बना हुआ प्रतीत होता है। जबकि केन्द्रीय स्तर पर ग्रामीण स्कूलों को कम्प्यूटर एवं इंटरनेट की सुविधा निःशुल्क उपलब्ध करना वर्तमान समय की आवश्यकता बनी हुई है। यही स्कूली बच्चे राष्ट्रीय भविष्य के आधार होंगे, इस सच्चाई से मुँह मोड़ना भी गलत साबित होगा।

सूचना क्रान्ति एवं हिन्दी के विकास में राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाओं का योगदान

सूचना एवं संचार क्रान्ति में राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाओं का योगदान अवश्य अनन्यसाधारण रहा है। नित्य नए होते आविष्कारों से यह बात सामने आ रही है। हिन्दी को केन्द्र में रखकर बनी हुई राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाओं ने तो हिन्दी के विकास में महत्त्वपूर्ण दायित्व वहन किया है। लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण बात यह कि आज भी केन्द्रीय राजभाषा आयोग के गठित होने तथा उनके निर्देशों के उपरान्त भी इन संस्थाओं में हिन्दी का प्रयोग 'भाषिक ॲलर्जी' के समान दिखाई देता है। सूचना तकनीक के कारण इन संस्थाओं में हिन्दी का प्रयोग सहज एवं सुलभ बना है। लेकिन इन संस्थाओं के विभिन्न अनुभागों में कार्यरत अधिकारी एवं कर्मचारियों की अंग्रेजियत वाली मानसिकता में स्वाधीनता के चौंसठ साल बाद भी अपेक्षित परिवर्तन नहीं आया। वस्तुतः केन्द्रीय कार्यालयों में कुल पत्राचार का 80 प्रतिशत पत्राचार हिन्दी में अपेक्षित है। राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाओं में हिन्दी में पत्राचार करना प्रतिष्ठारहित माना जाता है तो अंग्रेजी में पत्राचार को प्राथमिकता देकर अपनी खोखली प्रतिष्ठा को बढ़ावा दिया जा रहा है। अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह कि इन संस्थाओं में स्थित हिन्दी विभाग का पत्राचार भी अंग्रेजी में किया जाता है। इन बातों की चिन्ता की अपेक्षा चिन्तन जरूरी प्रतीत होता है। इन संस्थाओं में स्वाधीनता दिवस, गणतंत्र दिवस तथा अन्य विशिष्ट दिनों के अवसर पर होते अधिकारियों के 'भाषण की स्क्रिप्ट' के अलावा हिन्दी का प्रयोग 'पहाड़ में चूहे खोदने' जैसा ही प्रतीत होता है।

सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी व्यावसायिक परिदृश्य

व्यावसायिक परिदृश्य का तात्पर्य यहाँ दो रूपों में लिया जा सकता है। एक तो सूचना प्रौद्योगिकी तथा नई तकनीक के कारण व्यावसायिक क्षेत्रों में प्रयुक्त हिन्दी से है तो दूसरा जिसे मैं केन्द्र में रखना चाहता हूँ वह है हिन्दी प्रयोग एवं आर्थिक कठिनाइयाँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदियों से समय एवं समाज के केन्द्र में 'अर्थ' रहा है। 'अर्थ' ही समाज-जीवन संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सूचना प्रौद्योगिकी के कारण व्यवसाय के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। अत्यधिक क्षेत्रों में हिन्दी प्रयोगांक्षी दिखाई देते हैं लेकिन अर्थाभाव के कारण वे आवश्यक तकनीक का लाभ उठा नहीं सकते। आज इंटरनेट पर सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। उनके सामने आर्थिक संकट पर्याप्त मात्रा में उभरकर आ रहा है। जालस्थल का संचालन उनके लिए गम्भीर समस्या बना हुआ दिखाई देता है। वे अन्तस् से हिन्दी के प्रति अपनापन तो दिखाते हैं लेकिन आर्थिक समस्याओं के हल न होने के कारण वे उसके साथ न्याय नहीं कर पाते हैं। वेब पत्रिकाओं के लिए विज्ञापन की आवश्यकता होती है या अन्य किसी भी अर्थार्जन की। लेकिन हर समय यह सम्भव नहीं हो पाता। परिणामी इन वेब संचालन कर्ताओं के सामने भाषिक स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए भी स्टाफ उपलब्ध नहीं हो पाता। न उनके पास प्रूफ रीडर को देने के लिए मानदेय की व्यवस्था होती है, न सम्पादक को किसी प्रकार का मानदेय देने की। ठीक यही बात मुद्रित पत्र-पत्रिकाओं के बारे में भी दृष्टिगत होती है। ई-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखकों को लगता है कि ये पत्रिकाएँ उन्हें किसी प्रकार का मानदेय दें। साथ ही जाने-माने बहुचर्चित रचनाकार अपनी मौलिक रचनाओं को भी जालस्थल पर प्रकाशित करना नहीं चाहते। उन्हें लगता है कि यदि यह रचना सहज रूप से जालस्थल के जरिए पाठकों तक पहुँचती है तो इसका मानदेय या किसी भी प्रकार की रायल्टी मिलने की सम्भावना नहीं है। प्रकाशकों के बारे में भी यही मत लागू होता है।

वैश्वीकरण की हवा के साथ-साथ हिन्दी ने विश्व का कोना-कोना झाँक अवश्य लिया है। लेकिन इतना होने पर भी भारतवर्ष में रोजगार की समस्या गम्भीर बनी हुई दिखाई देती है। सामान्य आदमी भी यदि किसी से पूछता है कि हिन्दी में उच्च शिक्षा पाने के उपरान्त भी कोई रोजगार नहीं है। यह सच्चाई अवश्य है लेकिन हिन्दी में रोजगार के पर्याप्त अवसर हैं, उन अवसरों का लाभ हमें उठाना है। हम अपनी कमियों एवं अज्ञान के कारण रोजगार की समस्या हिन्दी भाषा पर थोपते हैं। हिन्दी अधिकारी, राजभाषा अधिकारी, अनुवादक, निवेदक या अन्य हिन्दी से सम्बन्धित अधिकतर रिक्तियों में हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी की महत्ता को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है जो गलत है। दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि यदि हिन्दी के साथ-साथ हम अन्य विदेशी भाषा में भी विशेषज्ञता हासिल करते हैं तो मुझे लगता है रोजगार हमारे चरण चूमेगा इसमें सन्देह नहीं। जो हम अपनी भाषा से सीखते हैं, वह दूसरी भाषा से कतई सम्भव नहीं। दूसरी भाषाएँ इसलिए सीखनी हैं कि वह समय, समाज एवं परिवेश की आवश्यकता बनी हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी का शैक्षिक परिदृश्य

सूचना प्रौद्योगिकी के कारण हिन्दी का शैक्षिक परिदृश्य उन्नति की ओर बढ़ता नजर आता है। आजकल हम देखते हैं कि अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करना गौरवपूर्ण माना जाता है। हम अपनी मातृभाषा तथा देशी भाषा में शिक्षा प्राप्त करने में संकोच करते हैं। दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि सूचना क्रान्ति के उपरान्त आज भी हिन्दी सेवी संस्थाओं तथा प्रचार संस्थाओं के अलावा विशेष रूप से कोई संस्था नहीं है जो हिन्दी की शिक्षा के लिए समर्पित भाव से कार्य कर रही है। प्रि. ओ. पी. पराशर का कहना है कि "भारतीय विद्वान या जन-सामान्य से शिक्षा-क्षेत्र में हिन्दी की भूमिका अथवा प्रयोग के बारे में चर्चा की जाए तो उनका अभिमत होगा कि राष्ट्रीय सोच, राष्ट्र स्तर, प्रोन्नति एवं राष्ट्रीय एकता के लिए 'हिन्दी' आवश्यक है।"[8] कहना गलत न होगा कि हिन्दी में वह ताकत है जो संस्कारक्षम बनाने में काम आती है। हिन्दी 'आयुर्वेद' के रूप में काम आती है जबकि अन्य विदेशी भाषाएँ 'एंटिबायोटिक' के रूप में काम करती हैं। अपनी भाषा से प्राप्त शिक्षा का असर दीर्घ समय तक बना रहता है, जबकि किसी दूसरी भाषा में प्राप्त शिक्षा कामचलाऊपन की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के अलावा कोई महत्त्व नहीं रखती है। दूसरी भाषा के अध्ययन से हम अपनी विरासत रूपी संस्कृति से परिचित नहीं हो पाते हैं। इसलिए अहिन्दी भाषी प्रदेशों में पहली कक्षा से ही हिन्दी का प्रयोग अपनेपन से होने की आवश्यकता है।

सूचना युग में किसी भी क्षेत्र का अध्ययन हिंदी में सम्भव हो सकता है। यहाँ तक कि चिकित्सा एवं विधि क्षेत्रीय शिक्षा की सुविधा भी हिन्दी में उपलब्ध होनी चाहिए, क्योंकि हिन्दी ही एकमात्र भाषा है जिसका व्याकरण वैज्ञानिकता की कसौटी पर उतरता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कि आज राजभाषा आयोग तथा तकनीकी शब्दावली आयोग विभिन्न क्षेत्रीय पारिभाषिक शब्द निर्माण में सक्रिय दिखाई देते हैं। इसलिए भविष्य में शिक्षा क्षेत्र में हिन्दी अपनी जड़ें जमाएगी इसमें सन्देह नहीं। आम तौर पर देश के तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। लेकिन कम्प्यूटर पर स्थित हिन्दी अध्येताओं को तकनीकी लाभों की ओर आकर्षित कर रही है। ई-लर्निंग के जरिए शिक्षा का कार्य और भी सुलभ बना हुआ दिखाई देता है। कम मात्रा में क्यों न हो कुछ संस्थानों में ई-लर्निंग का प्रयोग हो रहा है। यूनिकोड के कारण हिन्दी सम्बन्धी अत्यधिक समस्याएँ दूर हुई हैं। ध्यातव्य बात यह कि आज यू.पी.एस.सी. अथवा किसी भी प्रकार की प्रतियोगी परीक्षा हो, इनके अध्येताओं की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। इन परीक्षाओं में हिन्दी ने अपना अस्तित्व सिद्ध कर दिखाया है। इन परीक्षाओं में मुख्य विषय के रूप में हिन्दी का अध्ययन करनेवाले प्रतियोगियों के लिए इंटरनेट पर हिन्दी की विभिन्न वेबसाइटों पर महत्त्वपूर्ण सामग्री सहज रूप में उपलब्ध होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'हाईटेक युग' में हिन्दी के विकास के नए आयाम

सूचना एवं उच्च तकनीकी युग में हिन्दी के विकास की गति में उचित परिवर्तन की अपेक्षा द्योतित होती है। भले ही यह काम अर्थकेन्द्रित हो, इसके लिए प्रयास होना वर्तमान समय एवं समष्टि की आवश्यकता है। तकनीकी संसाधनों से आम जन की अत्यधिक समस्याओं का समाधान हुआ है। टी.वी., रेडियो, मोबाइल, इंटरनेट तथा कम्प्यूटर पर हिन्दी के होते प्रयोग पर किसी भी अनावश्यक कारण से प्रतिबन्ध लगाना हिन्दी के विकास में अवरोध निर्माण करने से कम नहीं है। देश के प्रतिष्ठित माने जानेवाले वे ग्रन्थालय, जहाँ हिन्दी सम्बन्धी पर्याप्त जानकारी तथा ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वह सामान्य जन के प्रयोगार्थ इंटरनेट के माध्यम से उपलब्ध की जानी चाहिए। इंटरनेट पर हिन्दी विषयक जानकारी सहज प्राप्त होने पर भी हिन्दी के प्रति अध्येताओं एवं पाठकों में अत्यधिक लगन एवं लगाव बढ़ जाएगा। समकालीन हिन्दी लेखकों को ऑनलाइन लेखक के रूप में लेखन के लिए प्रवृत्त करने की दृष्टि से केन्द्रीय स्तर पर उन्हें विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित किए जाने की आवश्यकता है। सामान्य लेखक को जिस प्रकार किसी मौलिक रचना के सृजनोपरान्त प्रकाशक से मानदेय (रॉयल्टी) दिया जाता है, उसी प्रकार ऑनलाइन लेखकों के लेखन के लिए भी मानदेय का प्रबन्ध होने पर भी हिन्दी के विकास का नया स्वर उभरकर आ सकता है। इस प्रक्रिया के कार्यान्वयन से प्रतिष्ठित रचनाकार भी ऑनलाइन लेखन की ओर आकर्षित होंगे। साथ ही प्रकाशक को भी केन्द्र या राज्य सरकार से आर्थिक सहयोग मिलने पर हिन्दी विकास की गति में अतिविशेष परिवर्तन की कामना करना उचित होगा।

'हाईटेक' युगीन हिन्दी : भाषिक पक्ष

सूचना प्रौद्योगिकी के जमाने में सूचना एवं संचार माध्यमों ने हिन्दी का बेहिचक एवं बेबाक प्रयोग किया है, ऐसा दिखाई देता है। कहना सही होगा कि रेडियो एफ.एम., दूरदर्शन पर स्थित विविध चैनल, धारावाहिक, मुद्रित माध्यम, इलैक्ट्रॉनिक माध्यम, सिनेमा, अन्तर्जाल पर स्थित पत्र-पत्रिकाएँ, विज्ञापन, ब्लागस्पॉट आदि ने हिन्दी के विकास को बढ़ावा अवश्य दिया है। लेकिन कुछ महानुभावों का कहना है कि इन माध्यमों ने हिन्दी की प्रकृति को बिगाड़ा है। यह भी आरोप लगाया जा रहा है कि भूमंडलीकरण के प्रभाव से हिन्दी अपनी चाल में ढलने लगी है। संचार माध्यमों द्वारा हिन्दी के प्रयोग से मानो संवेदना एवं भाव गायब होता नजर आ रहा है, इस प्रकार के वक्तव्य भी काफी सुनने को मिलते हैं। सम्भवतः इस प्रकार के विचारक एवं विद्वान एकांगी विचार करते नजर आते हैं।

भले ही संचार माध्यमों के हिन्दी प्रयोग में अशुद्धियाँ मिलती हों, कोई बात नहीं है। अशुद्धियों से, मुहावरों, कहावतों के अभाव से हिन्दी से संवेदना गायब होने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। हिन्दी में प्रादेशिक भाषाओं के शब्द भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। साथ ही अंग्रेजी शब्दों का वर्चस्व भी नजर आता है। लेकिन भाषा की उन्नति का लक्षण है उसका शब्दभंडार। हिन्दी की संस्कृति एवं प्रकृति सामासिक है, वह किसी भी भाषा के शब्दों को सहज रूप में स्वीकार करती है। कहना गलत न होगा कि संचार युग में होते हिन्दी के प्रयोग से हिन्दी भाषा विकास के लिए किसी प्रकार का खतरा नहीं है। सूचना एवं संचार साधनों द्वारा प्रयुक्त भाषा जनकेन्द्रित हिन्दी है, जो जन से सीधा साक्षात्कार करने में सफल हुई है।

निष्कर्ष

इक्कीसवीं सदी के महत्त्वपूर्ण पड़ावों में सूचना प्रौद्योगिकी एवं संचार तकनीकी के विकासोन्मुख परिदृश्य ने पूरे विश्व को प्रभावित किया है। साथ ही वैश्वीकरण एवं भूमंडलीकरण के प्रभाव को भी नकारा नहीं जा सकता। वैश्वीकरण से प्रभावित राष्ट्रों को वैश्विक होड़ में बने रहने के लिए इस इक्कीसवीं सदी की चुनौतियों को स्वीकारना समय की आवश्यकता बनी हुई है। सूचना प्रौद्योगिकी का ही परिणाम है कि पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं को वैश्विक अर्थव्यवस्था के रूप में परिवर्तित देखा जा सकता है। साथ ही समाज के महत्त्वपूर्ण कारक धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार, प्रशासन, उद्योग, कृषि, साहित्य, भाषा, अनुसन्धान विकास, बैंकिंग, सुरक्षा, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, संस्कृति, रोजगार, गरीबी तथा आर्थिक क्षेत्र आदि अन्यान्य क्षेत्रों का विकासोन्मुख आलेख दृष्टिगत होता है।

सूचना-संचार के टेलीवीजन, कम्प्यूटर, इंटरनेट, फैक्स, रेडियो, टेलीफोन, समाचार-पत्र और कम्प्यूटर संजाल ने समाज विकास की सीढ़ियों को नित-निरन्तर लाँघ दिया है। कहना सही होगा कि वैश्वीकरण तथा सूचना प्रौद्योगिकी का प्रभाव भाषिक रूप में भी देखा जा सकता है। वैश्विक स्तर पर विचार करने पर मालूम होता है कि सूचना प्रौद्योगिकी ने प्रादेशिक भाषा क्षेत्र को भी समृद्ध बनाया है। सूचना एवं संचार तकनीक में हिन्दी भाषा ने अपने अस्तित्व एवं आवश्यकता को सिद्ध कर दिया है। आज हिन्दी के वैश्विक परिदृश्य एवं प्रभाव से भारतवर्ष ही नहीं अपितु विश्व के अत्यधिक देश परिचित हो रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की आवश्यकता हो या वैश्वीकरण एवं बाजारीकरण की प्रवृत्ति हो विश्व में हिन्दी को प्रमुख भाषा के रूप में मान्यता मिल रही है। बाजारू मानसिकता में भी हिन्दी ने अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्ति के कारण लोगों को मोहित किया है इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता। सूचना प्रौद्योगिकी के जमाने में अन्य भाषा शिक्षण कार्य सुलभ हुआ है। रोजागारोन्मुखता को केन्द्र में रखकर हिन्दी के साथ-साथ अन्य देशी तथा विदेशी भाषा शिक्षा का लाभ उठाना एक उपलब्धि सिद्ध होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत देश के साथ-साथ विदेशों से कई हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं जो हिन्दी की वैश्विक आवाज को बुलन्द करते नजर आते हैं। जहाँ हिन्दी के प्रति प्रिंट मीडिया ने अपना बेबाक दायित्व वहन किया है वहाँ इलैक्ट्रानिक माध्यमों ने भी नित नए होते आविष्कारों के कारण हिन्दी की अनुगूँज से पूरे विश्व के कोने-कोने को लाभान्वित होने का अवसर दिया है। एक समय था जब कम्प्यूटर की भाषा के रूप में अंग्रेजी को महत्त्व दिया जाता था लेकिन आज वह समय है, कम्प्यूटर पर हिन्दी के साथ-साथ प्रादेशिक भाषाओं ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज की है। सूचना क्रान्ति के युग में हिन्दी भाषा का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल है। सूचना तकनीकी युग में हिन्दी भाषा प्रयोग एवं व्यावसायिकता की प्रवृत्ति पर विचार करने की आवश्यकता है।

टी. वी., रेडियो, मोबाइल, इंटरनेट तथा कम्प्यूटर पर हिन्दी के होते प्रयोग को किसी भी अनावश्यक कारण से प्रतिबन्ध लगाना हिन्दी के विकास को अवरोध निर्माण करने से कम नहीं है। हिन्दी की संस्कृति एवं प्रकृति सामासिक है, वह किसी भी भाषा के शब्दों को सहज रूप में स्वीकार करती है। कहना गलत न होगा कि सूचना एवं संचार युग में होते हिन्दी के प्रयोग से हिन्दी भाषा विकास के लिए किसी प्रकार का खतरा नहीं है। अन्ततः कहना समीचीन होगा कि सूचना प्रौद्योगिकी के युग में वैश्विक स्तर पर हिन्दी का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ सूची

1. http://hindi.wikipedia.org/wiki
2. *रवीन्द्र शुक्ला, सूचना प्रौद्योगिकी और समाचार-पत्र,* पृष्ठ 23, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2008।
3. http://rajbhashamanas.blogspot.com/2010/02 13/02/2010
4. http://koshilive.com/miscellaneous/2011/02/1203
5. सं. प्रभाकर श्रोत्रिय, *समकालीन भारतीय साहित्य,* जुलाई-अगस्त, 2011, पृष्ठ 8।
6. http://www.hindi.wikipedia.org.com
7. http//www.abhivykati.com, 1/05/2007
8. सं. डॉ. एस. पी. शर्मा, *व्यावसायिक क्षेत्रों में हिन्दी प्रयोग,* पृष्ठ 137। (शिक्षा क्षेत्र में हिन्दी माध्यम का प्रयोग आलेख से)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी काव्यों में राष्ट्रीयता

क्रिष्णाभाई डी. पटेल*

राष्ट्रीयता का स्वरूप समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है, परन्तु हर रूप में राष्ट्र तत्त्व उसका प्रधान अंग रहा है। किसी जाति या राष्ट्र के व्यक्तियों की एक साथ मिलकर रहने और सामूहिक रूप में अपने राष्ट्र को उन्नत बनाने की इच्छा ही राष्ट्रीयता कहलाती है। अपनी मातृभूमि के प्रति अगाध भक्ति में, अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति गौरव में, अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा में, विदेशी शासन एवं आक्रमण के प्रतिरोध में तथा अपने राष्ट्र की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक स्थिति के उत्तरोत्तर विकास एवं सुधार की भावना में भी राष्ट्रीयता ही लक्षित होती है। स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की इस धारणा में राष्ट्र तत्त्व प्रमुख है। प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर मजूमदार ने राष्ट्र का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "वह जनसमूह जो यह अनुभव करता है कि उसका एक निजी सामाजिक व्यक्तित्त्व है, अपना साहित्य है, अपनी भाषा है, एक-से रीति-रिवाज हैं, जिसका अन्य राष्ट्रों से उन विशेषताओं के कारण भिन्न अस्तित्व है, वही एक सम्पन्न राष्ट्र। इस राष्ट्र के निवासी इसकी प्रगति, सुरक्षा और सेवा के लिए जो कुछ भी सोचते-करते हैं, वही राष्ट्रीयता है।"

राष्ट्रीयता का स्वरूप

हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि जब हिन्दी साहित्य का आरम्भ हुआ तब देश की परिस्थितियाँ बड़ी संक्रान्तिपूर्ण थीं। राष्ट्र किसी एकमात्र शासन सूत्र में बँधा न होकर छोटे-छोटे राज्यों और रजवाड़ों में विभक्त था। फिर भी धार्मिक, सांस्कृतिक एवं भाषागत एकत्व के कारण उसके भीतर-ही-भीतर एकसूत्रता के चिह्न विद्यमान थे। अतः हिन्दी के प्रारम्भिक काव्यों में राष्ट्रीयता का यह स्वर सुनाई नहीं देता, जो कभी वेदों की इस वाणी में गूँजा करता था। यथा–

-प्रा. डॉ. क्रिष्णाभाई डी. पटेल, आर्ट्स एंड कॉमर्स कालेज, कालावड (शितला), जिला जामनगर (गुजरात), मो. 9426391493

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'

अर्थात् यह भूमि मेरी माता है और मैं इस पृथ्वी माता का पुत्र हूँ। इसलिए ऋग्वेद में इस भूमि-माता अर्थात् मातृ-भूमि की भली प्रकार सेवा करने के लिए कहा गया है—'उपसर्प मातां भूतिमेताम।'

ऋग्वेद में तो वह भी प्रार्थना की गई है कि कोई दुष्प्रभाव वाला लोभी पुरुष या समुदाय हमारे ऊपर शासन न कर सके। हम अच्छे भावों से युक्त होकर अपनी बुद्धि की सहायता से उचित उपाय करके सब विपत्तियों से आक्रमणादि सब संकटों से पार हो जाएँ।

तात्पर्य यह है कि केवल विदेशी शासन से लड़ना या स्वाधीनता प्राप्ति का प्रयत्न करना ही राष्ट्रीयता नहीं, अपितु सर्वप्रकारेण राष्ट्र का हित चिन्तन करते रहना भी राष्ट्रीयता की कसौटी है।

हिन्दी काव्यों में राष्ट्रीयता

राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत काव्य का सृजन तब हुआ, जब देश पर मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे। यह समय हिन्दी साहित्य का आदिकाल था, अतः हमें राष्ट्रीय काव्य की परम्परा को हिन्दी के आदिकाल से ही देखना चाहिए।

खेद इस बात का है कि हिन्दी के आदिकालीन काव्य में यह राष्ट्रीयता मुखरित नहीं हुई। विभिन्न चारण कवियों ने यद्यपि विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध ओजपूर्ण काव्य-रचना करके जनता में उत्साह का संचार किया, परन्तु उनका दृष्टिकोण केवल अपने जातीय आश्रयदाताओं की प्रशस्ति तक ही सीमित था। फिर भी उस युग के काव्य में हमें राष्ट्रीयता के अंकुर अवश्य दिखाई देते हैं। इस युग की राष्ट्रीय भावना अत्यन्त संकुचित थी, उसे विशुद्ध देश-भक्ति के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता है। पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, बीसलदेव रासो, आल्हाखंड आदि इस युग के राष्ट्रीय-भावना-प्रधान प्रमुख काव्य हैं। युद्ध क्षेत्र में मर-मिटने वाले योद्धाओं के शौर्य एवं साहस के अत्यन्त प्रभावशाली चित्र इन वीरगाथाओं में अंकित हुए हैं। यहाँ पर इन वीरकाव्यों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'करतार हथ्थ तलवार दिया
इह सुतत्त रजपूत कर।
रजपूत मरन संसार बर।'

वर्तमान आल्हाखंड की रचना श्रुति-परम्परा से चले आते हुए जगनिक के आल्हाखंड के आधार पर मानी जाती है। वर्तमान आल्हाखंड में लिखा है—

'बारह बरिस ले कूकर जीवै
औ तेरह लौ जियै सियार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बरस अट्ठराह क्षत्रिय जीवै
आगे जीवन को धिक्कार।।
जो मरि जेहौ रन खेतन मैं
तुमरो नाम अमर होई जाय।'

आल्हाखंड की तो बात ही छोड़िए, क्योंकि उसमें तो कवि का मूल उद्देश्य आल्हा एवं उदल की प्रशंसा का गान करना ही रहा है। वास्तव में अन्य राष्ट्रीय कहे जाने वाले काव्यों में भी कवियों का उद्देश्य यही था। उसे हम व्यक्ति संयत कहें तो राष्ट्रीयता का भाव एवं अर्थ अपूर्ण रह जाता है, बल्कि असंगत हो जाता है। कुछ अंशों में जातीयता संयत राष्ट्रीयता कहा जा सकता है।

मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता की भावना तनिक व्यापक रूप में उभरी इसे उस समय के सन्त एवं भक्त कवियों ने अपने भक्ति काव्य के माध्यम से राष्ट्र की विच्छिन्न राष्ट्रीय चेतना को फिर एक सूत्र में बाँधा, जनता की ऐक्य-चेतना को उद्बुद्ध किया और निराश जन-मानस में आशा एवं उत्साह का संचार किया। कबीर, नानक, तुलसी आदि युगचेता कवियों ने निर्भीकता से शासन की अनीतियों एवं राष्ट्र विरोधी विघटनकारी शक्तियों पर प्रहार किया तथा जन साधारण को उसके कर्तव्यों के प्रति सचेत किया। उस समय की राष्ट्रीयता यही थी और इससे राष्ट्र के भीतरी तत्त्व पुष्ट हुए। दूसरी ओर मुगल शासन की अनीतियों के विरुद्ध लोहा लेने वाले वीरों के उत्साहवर्धन के माध्यम से राष्ट्रीयता का प्रकट स्वरूप भी दिखाई दिया। कविवर पृथ्वीराज, सूर्यमल्ल तथा दुरसाजी ने उस युग में जनता को जागरूक करने लिए राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत कविताएँ लिखीं। जब कवि पृथ्वीराज ने राणा प्रताप द्वारा अकबर को सन्धिपत्र भेजने की बात सुनी तो उसने राणा को लिखा—

'पटकू मुछौ प्राण के पटकू निज तन करम।
दीजै लिख दीवाण ईण दो महली बात ईक।।'

अर्थात् आज हिन्दू गौरव के प्रतीक तुम अकबर की अधीनता स्वीकार कर रहे हो, यह जानकर मैं अपनी मूँछों को नीचा कर लूँ अथवा अपनी गर्दन पर तलवार चलाकर आत्महत्या कर लूँ? हे दीवान (महाराणा प्रताप की उपाधि) इन दो बातों में से एक मुझे लिखकर भेज दो।

इसके कुछ समय पश्चात् मध्यकाल के बाद रीतिकाल में भूषण जैसे राष्ट्रकवि ने हिन्दी काव्य गगन में जो राष्ट्रीयता की भेरी बजाई जिसकी प्रतिध्वनि अब तक सर्वत्र गुंजित है। भूषण की कविता पर हिन्दू-मुस्लिम सन्दर्भ में विचार करना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि उनका आक्रोश मुगल शासन की उन अनीतियों के विरुद्ध प्रस्फुटित हुआ है, जो जन साधारण के लिए घातक सिद्ध हो रही थी। इसलिए उन्होंने मुगल दल अथवा दुष्ट समूह के मर्दन की ही बात अधिकतर कही है। छत्रसाल की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है–

'रैयाराव चम्पति के छत्रसाल महाराज,
भूषन से करिशा बखान को बलग के।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वीर,
तेरी बरछी ने वर छीन है खलन के।।'

जिस समय औरंगजेब के अत्याचारों से भारतीय संस्कृति खतरे में पड़ गई थी, उस समय छत्रपति शिवाजी ने वह कार्य किया, जिसका राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है। भूषण ने उन्हें राष्ट्र-रक्षक के रूप में ही देखा है–

'वेद रखे विदित पुरान परशिद्धे राखे,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघार में।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेउ राख्यो, माला राखी गरमे।।'

बाबर, हुमायूँ, अकबर आदि मुगल सम्राटों को भूषण ने बड़े ही आदर की दृष्टि से देखा है–

'बब्बर अकबर हुमाउँ उद बाँधि गए।
दो मैं एक करिन कुरान वेख ढब की।'

आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता

आधुनिक हिन्दी साहित्य का तो विकास ही उस समय हुआ, जबकि समूचे राष्ट्र में ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल रहा था, अतः आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता की व्यंजना होना स्वाभाविक था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग के अन्य कवियों ने राष्ट्र की दुर्दशा का चित्रण करते हुए भारत की जनता को जाग्रत करने का प्रयत्न किया। भारतेंदु की कविता में तो राष्ट्रीयता का स्वर बहुत तेज हो गया। भारतेंदु ने भारत की दुर्दशा का चित्रण करते हुए देशवासियों को सचेत किया-

'आवहु सब मिलकर रोवहु भाई। भारत दुर्दशा न देखी जाई।।'

'अंग्रेजों की अफगान-विजय' कविता में अंग्रेजों की नीति का रहस्योद्घाटन बड़ी निर्भीकता से कवि ने किया है–

'सत्रु सत्रु लड़वाई दूर रहि लिखय तमासा
प्रबल देखिए जाहि ताहि मिलि दिजै आसा।।'

नए जमाने की मुकरियों में कई मुकरियों का सम्बन्ध अंग्रेजों की शोषण नीति से है–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'भीतर भीतर नव रस चूसे।
हँसी हँसी के तन मन धन मूसे।
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि साजन। नहि अंग्रेज।'

श्रीधर पाठक ने 'मातृ-भूमि वन्दना' में लिखा है—

'बन्दहु मातु भारत धसेन'

और

'जय जय प्यारा भारत देश।'

स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण पर बल देते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है—

'आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीयें मरें।
अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ।।'

'हरिऔध' जी ने अपने विभिन्न काव्यों में पौराणिक आख्यान प्रस्तुत करते हुए भी, उन पात्रों के माध्यम से मातृ-भूमि के प्रति अनुराग की प्रेरणा व्यक्त की। यही कार्य मैथिलीशरण गुप्त ने किया। उनकी 'भारत भारती' तो अपने समय में देश-भक्तों की गीता ही बन गई थी, जिसका आरम्भ इन पंक्तियों से हुआ है-

'हम कौन थे क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी,
आओ आज विचारें मिलकर ये समस्याएँ सभी।'

× × × ×

'भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में।
सिन्धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।।'

उन्हीं दिनों रामनरेश त्रिपाठी ने भी अपने काव्यों में कल्पित कथाओं के आधार पर देशवासियों को राष्ट्रीयता का सन्देश दिया—

'देश प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है,
अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें,
मनुष्यता होती है विकसित।।'

आधुनिक भारत में प्रथम स्वाधीनता संग्राम की वीरांगना लक्ष्मीबाई की स्मृति में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने ऐसी ओजपूर्ण कविता लिखी, जिसे गा-गाकर राष्ट्रवीर और ललनाएँ जोश से भर जाती थीं—

'सन् सत्तावन में चमक उठी जो तलवार पुरानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके उपरान्त तो हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता का जो प्रवाह उमड़ा, वह स्वाधीनता प्राप्ति (सन् 1947) तक वेग से चलता रहा। श्री सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, निराला और दिनकर जैसे अनेक कवियों ने राष्ट्रीयता का शंखनाद किया।

सोहनलाल द्विवेदी ने गाँधी जी की विचारधारा का अनुसरण करते हुए अहिंसात्मक युद्ध के लिए जनता को ललकारा था। उन्होंने लिखा था—

'न साथ एक अस्त्र हो, न हाथ एक शस्त्र हो।
न अन्न वीर वस्त्र हो, हटो नहीं हटो नहीं हटो नहीं।'

इस प्रकार गाँधीवादी विचारधारा की राष्ट्रीय धारा हिन्दी कविता में बराबर प्रवाहमान रही। चतुर्वेदी जी ने 'पुष्प की अभिलाषा' के बहाने राष्ट्रहित में बलिदान होने की कामना व्यक्त करते हुए लिखा—

'मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना फेंक।
बलिवेदी पर शीश चढ़ाने, जिस पर जाते हों वीर अनेक।।'

चतुर्वेदी जी ने भारतीय जवानों को ललकारते हुए कहा—

'रक्त है? या नसों में क्षुद्र पानी।
जाँच कर तू सीस दे देकर जवानी।।'

इसी प्रकार निराला ने राष्ट्र-रक्षा में अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की इच्छा इन शब्दों में प्रकट की है—

'नर जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ
मेरे श्रम-संचित सब फल।'

कुछ कवि तो कोरी उथल-पुथल को ही प्रगति का चिह्न समझ बैठे थे। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी 'विप्लव गान' शीर्षक कविता में इसी उथल-पुथल का सन्देश दिया है—

'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए। एक लहर उधर से आए।।'

राष्ट्रीयता का सबसे प्रखर और ओजस्वी स्वर हमें श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' के काव्य में सुनाई देता है, जिन्होंने न केवल स्वाधीनता से पहले, अपितु उसके पश्चात् भी राष्ट्रीयता के विभिन्न तत्त्वों के संरक्षण हेतु देशवासियों को सदा सजग रहने की प्रेरणा दी। एक ओर विदेशी शासन का ध्वंस करने के लिए उन्होंने ललकारा—

'कह दे प्रलयंकार से,
आज करें वे प्रलय नृत्य फिर एक बार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारे भारत में गूँज उठे,
हर हर बम का फिर महोच्चार।'

दूसरी ओर उन्होंने देशवासियों को स्वाधीनता की सुरक्षा के लिए सचेत करते हुए लिखा–

'स्वातन्त्र्य जाति की लगन, व्यक्ति की धुन है,
बाहरी वस्तु यह नहीं, भीतरी गुण है।
वीरत्व छोड़ मत पर का चरण गहो रे।
जापे पड़े आन, खुद ही सब आग सहो रे।।'

परन्तु 'दिनकर' की राष्ट्रीयता संकुचित नहीं रही। वे राष्ट्रीयता को मानवता के शिखर तक पहुँचने का ही एक सोपान मानते हैं। इसलिए वे भारत राष्ट्र को समूची मानवता का प्रतिरूप मानते हुए कहते हैं–

'भारत नहीं स्थान का वाचक गुण विशेष नर का है
एक देश का नहीं शील यह भूमंडल भर का है।'

यद्यपि आज विश्व में युद्ध के घनघोर बादल छाए हुए हैं, संघर्ष का तांडव होने वाला है, किन्तु फिर भी राष्ट्रीयता शान्ति पथ की खोज में संलग्न है। इस शांति की खोज ने हमारी राष्ट्रीयता को सच्ची भारतीय राष्ट्रीयता बना डाला है। आज का कवि पुकार कर कह रहा है–

'शान्ति चाहिए, शान्ति चाहिए,
रजत आकाश चाहिए,
मानव हो मानव वह
महत प्रकाश चाहिए।'

आज के अनेक अन्य कवि भी समय-समय पर अपनी कविताओं द्वारा राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करते रहते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि केवल युद्ध, बलिदान, क्रान्ति और देश-भक्ति के घोष ही राष्ट्रीयता के चिह्न नहीं हैं। राष्ट्रव्यापी भ्रष्टाचार, अराजकता, अनैतिकता आदि का प्रतिरोध करना भी राष्ट्रीयता है। इस दृष्टि से आज हिन्दी के अनेक कवि, प्रबुद्ध कवि निस्सन्देह सच्ची राष्ट्रीयता का स्वरूप निर्धारित करने में जुटे हैं।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीयता का स्वरूप बड़ा भव्य है। उसकी अन्तरात्मा बड़ी दिव्य है। उसकी प्रवृत्ति प्रकाशमयी है और उसका स्वर उल्लासमय है। उसके इसी स्वरूप ने भारत को भारत बनाए रखा है। भविष्य में भी वह उसे नूतन ज्योति तथा नित नई प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथा सनातन नये समय का नया उपनिषद्*

राधावल्लभ त्रिपाठी**

पुराणों में सनकादि चार भाइयों की कथा आती है। चार भाइयों के नाम हैं—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार। चारों का जन्म एक साथ हुआ। वे ब्रह्मा जी के मानसपुत्र हैं। अनन्त काल से चारों नित्य पाँच वर्ष की आयु पर ठहरे हुए हैं। सनकादि चार कुमारों की कथाएँ रूढ़िभंजक विचारकों का वृत्तांत प्रस्तुत करती हैं। श्रीमद्भागवत (3.13) कहता है—ब्रह्मा ने ध्यानपूत मन से चार कुमारों की सृष्टि की, और उनसे कहा—हे पुत्रो, तुम प्रजा का सृजन करो। वासुदेवपरायण तथा मोक्षधर्मा चारों कुमारों को पिता की यह बात अच्छी न लगी। वामन पुराण के अनुसार चारों भाई धर्म की पत्नी अहिंसा से जन्मे। उनकी जिज्ञासा का शमन करते हुए ब्रह्मा ने उन्हें सांख्य और योग का उपदेश दिया, तो चारों योगशास्त्र के प्रवर्तक बने। ब्रह्मवैवर्तपुराण (अ. 129) सनत्कुमार का वर्णन करते हुए कहता है कि वे सृष्टि के आरम्भ में जन्मे, सदा पाँच साल के रहते हैं, वे चूडा (शिखा या चोटी) धारण नहीं करते, यज्ञोपवीत नहीं पहनते, वेद और संध्यावन्दन से मतलब नहीं रखते। उनके गुरु नारायण हैं, और वे कृष्ण के मंत्र.का जाप करते रहते हैं।

सनत् और सनातन ये नाम सनातन काल के बोधक हैं। अनन्त काल तक एक चिर कुमार रहने के कारण सनत्कुमार यह सामान्य नाम भी इन चारों भाइयों का प्रचलित हुआ। अनन्तकालकल्प ये चारों भाई वैष्णवों के अधीश और ज्ञानियों के गुरुओं के भी गुरु कहे गए हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, तपः, जनः, सत्यम् ये सात लोक धरती से लगा कर क्रमशः ऊपर स्थित हैं। सनकादि भाइयों को इनमें से जन नामक लोक में प्रतिष्ठित माना जाता है (स्कन्दपुराण काशीखंड)। काशिका में प्रत्याहारसूत्रों

*कथा सनातन (उपन्यास) रमेशचंद्र शाह, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, 2012

**प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, कुलपति, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, मानित विश्वविद्यालय (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या शिवसूत्र के विषय में कहा गया कि सनक आदि सिद्धों का उद्धार करने की इच्छा वाले (उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान्) नटराज ने अपने नृत्त के अंत में ढक्का का निनाद किया जिससे चौदह महेश्वरसूत्रों की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार ब्रह्मलोक से निर्वासित सनकादि चार भाइयों का ज्ञान की परंपराओं में कई प्रसंगों में स्मरण किया जाता रहा है। वैष्णव धर्म के चार संप्रदायों में सनक संप्रदाय भी एक है। पुराणों के अतिरिक्त अठारह उपपुराण हैं, उपपुराणों में सनत्कुमार उपपुराण का नाम पहले लिया जाता है। तन्त्रपरंपरा में आगमतत्त्वविलास में सनत्कुमार चौंसठ तन्त्रों में एक कहा गया।

सनकादि चारों भ्राता सृष्टिप्रपंच की दृष्टि से नाकारा साबित हुए, क्योंकि चारों सत्त्वमय थे, केवल सत्त्वगुण से सृष्टि नहीं हो सकती। सृष्टि के लिए तीनों गुण अपेक्षित हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्। ये तीनों गुण एक साथ रहें, पर साम्य और सात्म्य की अवस्था में रहे, तब भी सृष्टि नहीं होगी—सृष्टि तो इनमें विचलन से होती है। पौराणिक कथाओं के अनुसार चारों सनकादि भाइयों ने वेदों का अध्ययन किया, वेदों में समान रूप से निष्णात हुए। चारों ब्रह्मचारी बने रहे। निरंतर यात्रा करते रहे। ऐसे ही यात्रा के क्रम में वे एक बार वैकुण्ठ जा पहुँचे। विष्णु के द्वारपालों जय और विजय ने उन्हें वहाँ अंदर घुसने ही नहीं दिया, तब सनकादि भ्राताओं ने इन दोनों को श्राप दे डाला।

सनकादि के एक अन्य आख्यान में, जिसे रमेशचन्द्र शाह ने अपने उपन्यास कथा सनातन में अपनाया है, इन चारों भाइयों का दक्षिणामूर्ति से साक्षात्कार कराया गया है। इस आख्यान के माध्यम से रमेशचन्द्र शाह कथा सनातन को मनुष्य के अस्तित्व के मूल प्रश्नों के विचार का जरिया बनाते हैं। उपन्यास में आधुनिक सनत्कुमार अपने तीन सहयात्रियों की उपस्थिति में सनत्कुमारों के ब्रह्मलोक से निर्वासन के पौराणिक मिथक पर लिखी अपनी कविता पढ़ते हैं, जिसमें मनुष्य के द्वारा की गई परमपिता के प्रति प्रथम अवज्ञा की कथा मनुष्य की आद्य जिज्ञासा की कथा बन जाती है।

शाह ने सनकादि की कथा का वह रूपान्तर स्वीकार किया है, जिसमें वे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के आदेश को मानने से इंकार करते हैं। इस तरह वे आद्य विद्रोह और प्रश्न करने के अकुंठ साहस के प्रतीक हैं। सनकादि का प्रश्न है कि वे सृष्टि क्यों करें? पहले पिता ब्रह्मा उनकी जिज्ञासाओं का समाधान करें। इस पर प्रजापति बिगड़ उठते हैं। मनुष्य प्रश्न करने की प्रवृत्ति और प्रश्न को दबाने की प्रवृत्ति दोनों के आद्य बिंब इस कथा में हैं। शाह *पेराडाइस लास्ट* और *पेराडाइस रिगेंड* के मिथक को दक्षिणामूर्ति स्तोत्र वाले प्रसंग का आधार ले कर पर सनकादि के मिथक पर लागू करते हैं। साथ ही, अपने उपन्यास में वे सनकादि चारों भाइयों को समकालीन संसार में पुनः स्थापित करते हैं। वे उनकी चरित्र रेखाओं को भी उकेरते हैं। उपन्यास के भी चार पात्रों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम वे ही रख गए है जो सनकादि मिथकीय चार भाइयों के। उपन्यास के इन चारों पात्रों में भी मिथक के सनकादि भाइयों की तर्ज पर सनक उम्र में सबसे बड़े हैं। वे तीनों मित्रों की खारित करते हैं, एक्टिविस्ट हैं, कम्युनिस्ट रह चुके हैं, सम्पन्न घराने के हैं और सद्गृहस्थ हैं। वे पुरातत्त्वविशेषज्ञ भी हैं। उनके बाद सनातन सबसे बुजुर्ग हैं, उनका एक नाम सनत्कुमार भी रखा गया था, जो स्वीकार्य न हुआ। मुख्य पात्र वे ही हैं, पिता से झगड़ा, तर्क और विद्रोह भी वे ही करते हैं। वे एक प्रतिष्ठित पर्यावरण विशेषज्ञ हैं। प्रलय की व्याख्या करते हुए वे उसे एक *इकोलॉजिकल डिसास्टर* बताते हैं। अपने पिता से की गई बहस की स्मृतियाँ निरंतर उनके साथ चलती हैं। पिता का दिया नाम वे बदल लेते हैं, शंकर और सनत्कुमार से सनातन बनते हैं। शंकर के संकर और वर्णसंकर में बदल जाने का खतरा है, तो सनत्कुमार की सनद और सनी में विपरिणति का। सनत्कुमार कालेज में प्राध्यापक और कवि हैं। सनन्दन आस्थाशील व्यक्ति हैं। शाह इन भाइयों के नामों से रूपक गढ़ते हैं, सनत्कुमार सनातन की पर्यावरण पर लिखी पुस्तक का अनुवाद करते हुए उनके *क्रियेटिव* भाष्यकार बन जाते हैं।

सनकादि के मिथक को उपन्यास के चार भाइयों से जोड़ने के पीछे एक अभिप्राय यह भी प्रतीत होता है कि जिस तरह सनकादि चारों भाई ज्ञान और अनुभव में अत्यन्त वृद्ध होते हुए भी काया में पाँच वर्ष की आयु पर ही शाश्वत काल के लिए ठहरे रह गए हैं, उसी तरह उपन्यास के चारों भी उम्र की परवाह किये बिना जी रहे हैं।

उपन्यासकार के अनुसार यह उपन्यास सनातन की जीवनी की अर्क है, आत्मकथा के साथ परमात्म-कथा भी है, माता-पिता के बिम्ब जातीय आद्य बिम्ब हैं, जो उनकी स्मृतियों में पिरोये हुए हैं।

उपन्यास सनातन को केंद्र में रख कर समग्र परंपरा पर कुछ प्रश्न भी उठाता है और भारतीय परंपरा में आद्य विद्रोह का पुनराविष्कार ही नहीं उसकी की पुनर्मीमांसा भी प्रस्तुत करता है। यह आद्य विद्रोह पश्चिम की या बाइबिल की परंपरा के आद्य विद्रोह से किस तरह भिन्न है—यह सवाल और उस पर खासी बहस शाह अपने चारों पात्रों की बातचीत मे उठाते हैं। शाह ने उचित ही बाइबिल की आदम के निष्कासन और सनकादि चारों भाइयों के ब्रह्मलोक से निर्वासन की दोनों कथाओं में बुनियादी फर्क की ओर ध्यान दिया है। इसी तरह अवतार और मसीहा में बुनियादी फर्क है।

सनकादि के आद्य विद्रोह को नकारने वाले ब्रह्मा के अपूजित होने का प्रश्न भी इस चर्चा में अनुषक्त है। उपन्यास इस चर्चा को फैलाव देता चलता है, जिसमें सामी और गैर-सामी, पेगन और नान-पैगन, भारतीय और पश्चिमी परम्पराओं को लेकर अन्य कई अवान्तर प्रश्न जुड़ते जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक सनकादि के परस्पर विमर्श में दर्शन इतिहास मिथक के अनेक पहलू खुलते हैं। यह एक गैर पारम्परिक उपन्यास है, कथा का ढाँचा बहुत ढीला है, जितनी कथा है, वह भी विचार और संवाद के लिये है। वह दरअसल यहाँ विमर्श का माध्यम बन गई है। इस चर्चा में आदम की पहली हुक्मउदूली के संदर्भ के साथ मिल्टन के *पेराडाइस लास्ट* की पंक्ति *आफ मेंज फर्स्ट डिसओबिडिएंस...* बार-बार गूँजती है। आदम को ज्ञान के पेड़ का फल चखने से मना किया गया है। सनातन अपने आप से तर्क करते हुए परमपिता को प्रश्न उठाने वाली अपनी ही संतान से भयभीत मानते हैं, ईश्वर के मिथ का भंजन करने वालों पर उस मिथ के द्वारा अपनी सत्ता चलाने वाले समाज के ठेकेदार भयभीत होते हैं। भारतीय परम्परा क्या जिज्ञासा को पोसती है, या दबाती है? इस दृष्टि से ज्ञान के वृक्ष का फल चखने की चेष्टा के नचिकेता के द्वारा यम से प्रश्न के रूप में भारतीय संस्करण का उल्लेख जो शाह ने किया है, बहुत मननीय है। वे योरोपीय मिथकशास्त्र के विद्रोह और चुनौती के अन्य प्रसंगों का भी तारतमिक संबंधों पर विचार करने की दृष्टि से उल्लेख करते हैं—जैसे प्रमथ्यु या लुसिफर का विद्रोह।

कथा सनातन का कलेवर उपनिषदों के बहुत निकट है। सारे मुख्य उपनिषद् संवाद शैली में हैं, उनमें सत्य के सन्धाताओं और जिज्ञासुओं के बीच बातचीत है। कथा सनातन का अधिकांश ढाँचा इसी तरह संवादों के ताने-बाने में पिरोया हुआ है। यहाँ संवाद बहुस्तरीय हैं—भारतीयता के बहुलधर्मी जगत् में घटने वाला संवाद वैश्विक संवाद की शक्ल भी ले लेता है, जब पश्चिम के एक वैज्ञानिक पर्यावरणविद् जो भारतीय धर्म दर्शन में रुचि रखते हैं, उनसे सनातन की लंबी चर्चा दोनों परंपराओं में मूल्य और दृष्टि के फर्क को लेकर होती है। स्याहीदेवी, कासारदेवी के मंदिरों और कोसी की बाँक के दृश्य के बीच यह चर्चा चलती है। देकार्त, विद्याःअविद्या, वेदःपुराण, दूरदर्शन के चेनल, पुरुषार्थ और मूल्यबोध, इविल की समस्या, त्रासदी का भारतीय बोध, रचनात्मकता और आत्मचेतन होनाः इन सारे सवालों से चारों पात्र टकराते हैं। *मनीषापञ्चकम्* के आत्मस्वरूप विषयक श्लोकों की (जो दुर्भाग्य से यहाँ थोड़े अशुद्ध छपे हैं) व्याख्या के साथ बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रजापति के द्वारा देव, मनुष्य और असुरों को दकार के द्वारा दिये गये उपदेश का भी उल्लेख इस बातचीत में उपन्यासकार ने किया है (बृहदारण्यक उपनिषद् पंचम अध्याय के दूसरे ब्राह्मण में प्रजापति देवों के लिये दाम्यत, मनुष्यों के लिये दत्त और असुरों के लिये दयध्वम् इस क्रम में दकारत्रय का उपदेश करते हैं—किंचित् क्रमभंग और अशुद्धि इसकी चर्चा भी *कथा सनातन* में हुई है)।

इसी क्रम में उपन्यास के पात्र दो समकालीन विचारकों से आमना-सामना करते हैं। एक हैं अनिर्वाण, दूसरे गुर्जिफ़। जिन अनिर्वाण से सनातन की भेंट बचपन में कभी हुई थी, उनकी बुद्धियोग आफ गीता एंड अदर एस्सेज नाम से 1991 में छपी किताब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चालीस बरस बाद उसके हाथ लगती है। शंकराचार्य के *मनीषापञ्चकम्* और गुर्जीफ के चिंतन के हवाले से शाह भारतीय दृष्टि से विद्रोह की सार्थक परिणति आत्मचेतना में निरूपित करते हैं, जहाँ सम्पूर्ण श्रद्धा सम्पूर्ण शंकाओं को व्यक्त करने के अनंतर ही हासिल हो सकती है। इसी क्रम में यह चर्चा पर्ल बक के उपन्यास *दि पेवीलियन आफ विमन* में रोम के चर्च से निष्कासित आन्द्रे के मन्तव्य से जुड़ती है, जो मानता है कि परम पिता परमेश्वर और मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं है, मनुष्य अपनी अन्तरतम सत्ता में ईश्वर ही है।

उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ होता है–निकट बैठना। *कथा सनातन* में होने वाली सारी चर्चाएँ एक सामीप्य में घटित होती हैं, और वे पाठक से भी उसी सामीप्य की माँग करती हैं, जो हमारे समकालीन संसार में असुलभ होता जा रहा है।

इस अर्थ में *कथा सनातन* एक दुर्लभ विमर्श में सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित करने वाला अनोखा उपन्यास है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द तो कुली हैं*

रमेश दवे**

वरिष्ठ कवि सरोज कुमार की एक व्यंग्यकार-कवि के रूप में स्थापित छवि को तोड़ती उनकी कविताएँ *शब्द तो कुली हैं*, संग्रह में पढ़कर लगा कि व्यंग्यकार केवल व्यंग्य नहीं लिखता बल्कि वह जीवनगत विसंगतियों, विडम्बनाओं, व्यथाओं और विचारों के जिस भाव-पथ से गुजरता है, उन्हें अपने शब्द देकर अपना आन्तरिक मर्म भी उजागर करता है ! शब्द को 'कुली' की संज्ञा देकर सरोज कुमार शब्द की अभिजातीय वृत्ति में जीते लेखकों का अहंकार खंडित करते हैं। शब्द का श्रम किसी भी भौतिक श्रम से बड़ा होता है, एक कवि के लिए। इसीलिए रवीन्द्रनाथ कविता का जन्म प्रसव-पीड़ा की तरह मानते थे। शब्द जब श्रम-साध्य होते हैं तो उनसे पसीने की गन्ध आती है जो कविता में सुगन्ध पैदा करती है। शब्द जब कुली बनता है, तभी तो वह पूरे सृजन का बोझ उठा पाता है। अंग्रेजी में एक कहावत प्रचलित है कि भाषा में व्यंग्य रचना भाषा को नचाना है। भाषा का यह नृत्य ही तो शब्द घुँघरू बनकर पैदा करते हैं। उत्तर-आधुनिक भाषाविद् इसे भाषा का खेल कहते हैं। अमृत राय ने जब प्रेमचन्द को 'कलम का सिपाही' कहा तो 'शब्द' ही तो सिपाही बनकर उतरे थे प्रेमचन्द की कलम में। यदि शब्द का 'सिपाहीपन' शब्द की शक्ति का प्रतीक है तो शब्द का 'कुलीपन' श्रम की शब्द में प्रतिष्ठा है।

सरोज कुमार के ये पचास से अधिक कविताएँ तीन प्रकार से पढ़ी जा सकती हैं—एक उनके रागतत्त्व में जो यथार्थ के साथ जुड़ा है, दूसरे विचार-तत्त्व में जो उन्हें वर्तमान विडम्बनाओं के विरुद्ध व्यंग्य के लिए उकसाता है और तीसरे उनके भाषा पक्ष में जो शब्द के कुलीपन को सार्थक करती है। सरोज कुमार के पास देश-विदेश के

*शब्द तो कुली हैं (कविता-संग्रह), कवि : सरोज कुमार, प्रकाशक : शिल्पायन, 10295, लेन नं.1, वेस्ट गोरखपार्क शाहदरा, दिल्ली-32; मूल्य : 150 रुपये

*रमेश दवे. सम्पादक, पूर्वग्रह, भारत भवन, भोपाल, एस एच 19 ब्लॉक- 8, सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल (म.प्र.); फोन-0755-277048 मो. 09406523071

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभवों की रंग-बिरंगी दुनिया है, लेकिन अनुभव को अनुभव की तरह डायरी या जीवनी में भले ही लिखा जा सकता हो, कविता में तो अनुभव सृजन हो जाता है, कविता या कहानी अनुभव को भाव-संज्ञा में रूपायित और व्यंजित कर देती है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सरोज कुमार की ये कविताएँ अनुभव की सृजन-मुद्राएँ हैं।

सरोज कुमार की कविताएँ एक चेतनावान कवि के संवेदन की कविताएँ हैं। वे न तो व्यर्थ का अतीत-मोह रचती हैं, न भविष्य की आकांक्षाएँ। वे तो अपने वर्तमान का सम्बोधन और निरूपण हैं। यह वर्तमान अपने देशज भूगोल से परिचालित है और इसमें एक प्रकार का क्षुब्ध किन्तु अहिंसक आक्रोश है जो भारत के वर्तमान की विद्रूपता से स्पन्दित है। राष्ट्रगीत, कविता तो एक ऐसी कविता है जिसमें उन सबके विकृत चेहरे किसी श्रद्धांजलि की उदासी की तरह लगते हैं—"वे नहीं गाते राष्ट्रगीत/महानता की फ्रेम में जड़े हुए /... भारत भाग्य विधाता...वगैरह /इस अदा से सुनते हैं/मानो उनकी ही प्रशस्ति हो/।" यह पूरी कविता राजनीनिक चरित्र के पतन की प्रस्तुति है। आगे 'कलकलवती नदी' में नदी के रूपक से वे आज के मनुष्य की नियति प्रकट करते हैं।..."कुछ मोड़ याद आते हैं/जहाँ सही-गलत मुड़ा था। कुछ जोड़ याद आते हैं/ जहाँ सही-गलत जुड़ा था/...इतिहास में घुस कर/कुछ पन्ने फाड़ने-चिपकाने की/इजाजत क्यों नहीं है?/। 'प्रकृति' जैसी कविता एक प्रकार से हर व्यक्ति के आत्म-स्वीकार की कविता लगती है—"मेरे अपने / कोई रहस्य नहीं थे/तुम्हारे पास ही अज्ञान था/"। 'मछली-तंत्र' कविता तो इस संग्रह की उपलब्धि कही जा सकती है। "जिसका हो समुंदर/क्या है कोई मछली?/जिसकी हो झील /क्या है कोई मछली?/ जिसकी हो नदी /क्या है कोई मछली ?/... पानी, मछली, नदी, झील, समुन्दर सबकी विडम्बना कहती यह कविता क्या यह नहीं कहती है कि हमारा जल-बोध, प्राणि-बोध, और मनुष्य-बोध कितना संवदेन-हीन हो गया है?

"कविता की कोई मैकमोहान रेखा नहीं होती" कविता नहीं है मेरी विवशता /हवा और पानी की तरह/"—ये पंक्तियाँ उन सीमान्तों की तोड़ती है जो साहित्य की भी सीमाएँ बनाते हैं, कभी विचारधारा के नाम पर, यथार्थ के नाम पर, कला या अभिजात के नाम पर। 'कविता' शीर्षक वाली कविता कवि के अप्रतिबद्ध, सीमान्त-विहीन सर्वथा स्वतन्त्र और उदात्त विचार की प्रतिनिधि है।"जरूरी था तूफान"...इस कविता में "बड़ी-बडी़ मछलियों के गिरोह" समय में जीते, अवसरों को लूटते और तरह-तरह के पाखंडों में लिप्त लोगों पर क्रूर व्यंग्य है। "अमरूद" कविता हमारी शिक्षा में जारी और शिक्षा से पैदा होते सामाजिक अन्याय के प्रति एक शिक्षक के सन्ताप की अभिव्यक्ति है। संग्रह की शीर्षक कविता "शब्द तो कुली हैं" कविता के अपने मन्तव्य की प्रस्तुति है। शब्द किसके कुली हैं—विचार के, विचारधारा के, सृजन के, मनुष्य की राग-वृत्ति के, अनुभव के, संवेदन के या अन्य उन समस्त सन्दर्भों के जो जीवन से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुड़ते हैं? 'कुली' की बहु-अर्थात्मक संज्ञा को कवि ने जिस प्रकार व्यक्त किया है इस कुली का भौतिक कुलीत्व कविता में एक रूपक बन जाता है और कुलीपन फिर भी कुलीन की संज्ञा न बनकर, शब्द की आन्तरिक अर्थ-शक्ति का वाहक बनता है।

संग्रह की कविताएँ राजनीतिक भी हैं, अराजनीतिक भी, व्यंग्यात्मक भी हैं, विचारात्मक भी, कहीं-कहीं अभिधात्मक तो कहीं व्यंजनात्मक। ऐसा भी लगता है कि कवि कभी-कभी अपनी काव्य-प्रकृति को विस्तार देने के लिए शब्द में कविता को फैलाता भी है, जबकि ऐसा आवश्यक नहीं था। जहाँ कविता किसी विचार या संवेदन में पूरी हो गई हो, वहाँ से उसे सन्देश-वाहक बनाकर आगे ले जाने से कविता के राग-रस की हानि होती है। सरोज कुमार के पास हिन्दी का भाषा-संस्कार तो है ही, साथ ही संगीत, चित्रकला, मूर्त्तिशिल्प के प्रति अपनी गहरी रुचि के कारण उनकी कविताओं में जो ध्वन्यात्मकता है या जो चित्र-छवियाँ हैं, वे इस संग्रह क़ो अधिक गहराई और शब्द की अर्थात्मकता बहुलता से पढ़ने को प्रेरित करती हैं। एक वरिष्ठ कवि का अपने वर्तमान में इतना स्पन्दनशील होना, कविता की प्रकृति के साथ कवि की चेतना का भी प्रमाण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रस्तुत-योजना : स्वरूप और विश्लेषण**

वरुण कुमार तिवारी*

अप्रस्तुत-योजना काव्य-भाषा का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसके अंतर्गत अलंकार, प्रतीक, बिंब, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति, रीति-गुण, औचित्य आदि काव्य-सिद्धांत आते हैं। इन सभी काव्य-सिद्धांतों में किसी न किसी रूप में अप्रस्तुत की सौम्य उपस्थिति है। अतः अप्रस्तुत-योजना काव्य-सौंदर्य के विधायक तत्त्वों में से महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसका विश्लेषण आलंकारिक या रसवादी या ध्वनिवादी दृष्टि से नहीं होता, बल्कि अप्रस्तुत-योजना काव्य में स्वतंत्र व्याख्या की माँग करती है। इस विषय पर ख्यात आलोचक डॉ. कामेश्वर पंकज की सद्यः प्रकाशित पुस्तक है—*अप्रस्तुत योजना : स्वरूप और विश्लेषण*, जिसमें विस्तार से अप्रस्तुत योजना के स्वरूप का निर्धारण और उसका विश्लेषण हुआ है।

प्रस्तुत ग्रंथ लेखक के शोध-प्रबंध 'महादेवी वर्मा के काव्य में अप्रस्तुत-योजना' का एक अंश है। शोध-प्रबंध से पुस्तक तैयार करना कठिन कार्य है, लेकिन लेखक ने श्रमपूर्वक इस कार्य को पूरा कर लिया है। चार अध्यायों में विभाजित प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्धारण हुआ है। अप्रस्तुत एक काव्य-शिल्प है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। अभिव्यंजना-शिल्प के सभी उपकरण इसके अंतर्गत आते हैं। प्रतीक, बिंब, लक्षणा, व्यंजना आदि काव्य-सौंदर्य के अनेक साधन अप्रस्तुत की परिधि में आ जाते हैं। अप्रस्तुत काव्य-सौंदर्य के विधायक तत्त्वों का उद्‌गम स्रोत है, इसके अंतर्गत केवल वाच्यार्थ ही नहीं आते, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी आते हैं।

---

*स्टेट बैंक कॉलोनी, वीरपुर—854340 (बिहार)

**अप्रस्तुत-योजना : स्वरूप और विश्लेषण, डॉ. कामेश्वर "पंकज", आयुष पब्लिशिंग हाउस, 1/10825, सुभाषा पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली, मूल्य-195 रु. (सजिल्द)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के विवेचन के प्रसंग में लेखक ने दोनों के अंतःसंबंध, दोनों के सापेक्षिक महत्त्व, मूल प्रवृत्ति, काव्य में इसका निरूपण इत्यादि पहलुओं पर विस्तार से विमर्श किया है। इस संबंध में विद्वान लेखक ने आचार्य कुंतक, पाश्चात्य कला-समीक्षक क्रोचे, आधुनिक आलोचक रामचंद्र शुक्ल और डॉ. नगेंद्र के विचारों का उल्लेख करते हुए अपना अभिमत दिया है, जो बिलकुल समीचीन है, वह यह कि अप्रस्तुत प्रस्तुत तक पहुँचने का एक माध्यम है और प्रस्तुत में पहुँच जाना ही उसका लक्ष्य। मुख की कल्पना कमल से की जाती है तो कमल की कमनीयता का बोध मुख पर आरोपित होता है। फिर वह मुख की कमनीयता का बोध कराकर उसी में लय हो जाता है।

लेखक के अनुसार अप्रस्तुत-योजना के प्रस्तुत और अप्रस्तुत मूर्त्त या अमूर्त्त रूप का पारस्परिक संयोजन चार तरह से हो सकता है—मूर्त्त प्रस्तुत के लिए मूर्त्त अप्रस्तुत की योजना, मूर्त्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त्त अप्रस्तुत की योजना, अमूर्त्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त्त अप्रस्तुत की योजना तथा अमूर्त्त प्रस्तुत के लिए मूर्त्त प्रस्तुत की योजना। अप्रस्तुत के स्रोत रचनाकार की कल्पनाएँ है। वस्तु जगत के साथ-साथ कवि की कल्पना भाव-जगत तक अपनी उड़ान भरती है। इस विस्तृत फलक से कवि अप्रस्तुत का चयन करता है। कवि की कारयित्री प्रतिभा जितनी कुशाग्र होगी, उनके प्रस्तुतों, अप्रस्तुतों का संयोजन और स्रोत उतना ही उत्कृष्ट होगा। भाव-बोध के साथ-साथ भाव-सौंदर्य की सृष्टि करना इसका अनिवार्य धर्म है। अप्रस्तुत-योजना में सौंदर्य का वस्तुनिष्ठ पक्ष ही विशेष ग्राह्य है। भावों का उत्कर्ष ही अप्रस्तुत-योजना की सीमा और श्रेय है। लेखक ने आचार्य शुक्ल द्वारा निर्देशित अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत के सापेक्षिक संबंध के सूत्रों का भी उल्लेख किया है।

अप्रस्तुत-योजना के आधार की चर्चा करते हुए लेखक ने यह सही टिप्पणी की है कि अप्रस्तुत-योजना के क्षण में सर्जक की मनःस्थिति एक बिंदु पर स्थिर रहती है, वह है—प्रस्तुत। अप्रस्तुत द्वारा कवि अपनी सूक्ष्म अनुभूति को सौंदर्य प्रदान करता है और अतिसंप्रेषणीय बनाता है।

द्वितीय अध्याय में लेखक ने भारतीय काव्य-शास्त्र के विभिन्न काव्य-सिद्धांतों में अप्रस्तुत की स्थिति का निरूपण किया है। इस महत्त्वपूर्ण अध्याय में शब्द-शक्ति का विवेचन-विश्लेषण है। काव्यगत अप्रस्तुत-योजना में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का संबंध निर्धारण करने में शब्द-शक्ति सिद्धांत मूल शक्ति के रूप में कार्य करता है। अप्रस्तुत-योजना के लिए भाषा को लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ की यात्रा करनी पड़ती है। इसमें अभिधा अपने अर्थ को लक्षणा और व्यंजना की चौखट तक पहुँचा देती है। अप्रस्तुत का विस्तार संपूर्ण लक्षणा में होता है। यहाँ लेखक ने लक्षणा के भेदोपभेदों में सादृश्यमूलक अलंकारों का साक्षात्कार करते हुए अप्रस्तुतों के योगदान का रेखांकन किया है। लेखक ने व्यंजना के भेदोपभेदों में भी अप्रस्तुत की स्थिति को स्पष्ट किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथकार ने अलंकार और अप्रस्तुत-योजना के संबंध को भी खंगाला है। अलंकारों में सदृश्य-धारणा अलंकार से ही जुड़ी हुई है। ग्रंथकार के अनुसार आचार्य भरत द्वारा उल्लेख्य रूपक, उपमा, दीपक तथा यमक अलंकारों में से प्रथम तीनों में अप्रस्तुत का ही अधिक महत्त्व है। आगे लेखक यह उद्घाटित करता है कि अप्रस्तुतों की स्थिति केवल सादृश्यमूलक अलंकारों तक ही सीमित नहीं है; 'साम्य' के आधार पर निरूपित अलंकार और लक्षणा, व्यंजना, मुहावरे आदि पर आश्रित अलंकारों का इनसे गहरा संबंध है।

लेखक के विचार में अप्रस्तुत-योजना अलंकार की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता और गंभीरता की माँग करती है। यह उपमेय-उपमान से ऊपर उठकर अपने सौंदर्य-तत्त्व की व्याख्या की अपेक्षा रखती है। लोगों की दुनिया इतनी बड़ी हो गई है कि शब्द जगत छोटे पड़ गए हैं। निराला की 'जूही की कली', मुक्तिबोध की रचना 'अँधेरे में', अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' आदि रचनाओं की व्याख्या मात्र उपमा-रूपक आदि अलंकारों से संभव नहीं है।

लेखक ने आचार्य वामन एवं उनके पूर्ववर्ती आचार्यों भरत से लेकर दंडी तक और आनंदवर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ द्वारा वर्णित रीति तथा गुणों के भेदोपभेद में अप्रस्तुत को ढूँढ़ने का कार्य किया है। लेखक के मत में शब्द-गुणों से अप्रस्तुत का कोई संबंध नहीं है, क्योंकि जहाँ अप्रस्तुत अर्थ-प्रधान है और अर्थालंकार आश्रित है, वहाँ शब्द गुण, वर्ण और शब्द प्रधान है और इनका संबंध शब्दालंकार से है। अतः शब्द गुण अप्रस्तुत की सीमा से बाहर है। निष्कर्षतः रीति और गुण में अप्रस्तुत का समावेश एक अनिवार्य तत्त्व की तरह नहीं होता और न ही अनायास आए हुए अप्रस्तुतों की व्याख्या रीतिवादी का लक्ष्य है, बल्कि अप्रस्तुत के समावेश से रीतिवादी व्याख्या में कोई व्यवधान नहीं होता।

ध्वनि-सिद्धांत में अप्रस्तुत-योजना के अन्वेषण के पश्चात् लेखक ने निष्कर्ष दिया है कि अप्रस्तुत व्यंजक बनकर ही ध्वनि में सौंदर्य की अभिवृद्धि करता है। अतः लेखक का निष्कर्ष है कि अप्रस्तुत की परिव्याप्ति भले ही समस्त 'ध्वनि' में न हो, परंतु स्थान-स्थान पर यह ध्वनि का अविच्छेद्य अंग है। इसी क्रम में लेखक ने वक्रोक्ति और अप्रस्तुत के संबंध के महत्त्व को भी उजागर किया है। औचित्य-सिद्धांत का भी विवेचन-विश्लेषण करते हुए लेखक ने उसमें अप्रस्तुत-योजना के महत्त्व को रेखांकित किया है।

रस के अवयवों में अप्रस्तुत-योजना की महत्ता को रेखांकित करते हुए लेखक ने यह स्थापना दी है कि यह नित्यधर्म नहीं होते हुए भी रस-प्रक्रिया में सर्वाधिक सहायक काव्य-तत्त्व है। नई कविता के आलोक में भी लेखक ने रस-प्रसंग पर विस्तार से विमर्श किया है। नई कविता रागात्मक कम है और बौद्धिक अधिक। लेखक ने डॉ. जगदीश गुप्त के कथन को उद्धृत किया है—"रसवादी कविता के प्रायः सभी लक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नई कविता में नहीं मिलते, यहाँ तक कि भावुकता तक की कमी रहती है...अनगढ़ता में ही वह (नयी कविता) निखरती है। सजाने-सँवारने, खराद पर चढ़ाने में माँजने से उसकी सहजता नष्ट होती है।"

यह सच है कि नई कविता रागात्मक कम है और बौद्धिक अधिक। उसमें रसजनित भावों की योजना को अवकाश नहीं मिला है। आज अनिश्चय, क्षोभ, आक्रोश से मानव-मन व्यथित है। मानव-मन की इस टूटन से नए भाव बोध, का जन्म हुआ। इसकी अभिव्यक्ति के लिए शब्दार्थ के नए संबंधों की खोज हुई और उसे ग्रहण किया गया। नए प्रतीक, बिंब, लय इत्यादि की नई संरचना की गई। अभिव्यंजना और शैली पर अधिक बल दिया गया। इस प्रक्रिया में अप्रस्तुत को अधिक महत्त्व मिला है, अतः लेखक का कहना सही है कि नई कविता का सारा भाव-बोध अप्रस्तुत से गहरा जुड़ा हुआ है।

तृतीय अध्याय में काव्य-भाषा, प्रतीक, बिंब, मुहावरे आदि में अप्रस्तुत की उपस्थिति का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। ग्रंथकार ने लोकभाषा और काव्येतर वाङ्मय की भाषा को काव्य-भाषा से पृथक् करते हुए इसके वैशिष्ट्य को रेखांकित किया है। काव्य भाषा सभी भाषाओं से पृथक् अपनी विशिष्टता की रक्षा करते हुए अपने आप में काव्य है। काव्य-भाषा की इकाई है—शब्द। शब्द को नए संदर्भ में चमत्कारपूर्ण अर्थ प्रदान करना इसकी रचना-प्रक्रिया में शामिल है। काव्य-भाषा की रचना-प्रक्रिया किसी निर्धारित नियम का अनुपालन नहीं करती है। यह स्वयं एक नियम है। यह जिस प्रक्रिया से गुजरती है, आलोचना का मानदंड वही हो जाता है। आलोचकों ने सुविधा के लिए काव्य-भाषा के तत्त्वों को सूचीबद्ध करने का प्रयास किया है। परंतु काव्य-भाषा की जितनी भी विशेषताएँ हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता अप्रस्तुत-योजना ही है। लेखक के मत में अप्रस्तुत-योजना शिल्प की तरह प्रविष्ट होती है और गतिशील होते ही भाव-तत्त्व की आधारभूमि बनती है। यह गुण काव्य-भाषा के अन्य तत्त्वों में इतनी गहराई से नहीं मिलता है। काव्य-भाषा उपमानों, प्रतीकों, बिंबों द्वारा ही सौंदर्य-बोध कराती है। इन्हीं तत्त्वों द्वारा सामान्य भाषा काव्य-भाषा की ऊँचाई पाती है।

अनुभूति के जिन अंशों को कलाकार प्रचलित शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं कर पाता है, उनके लिए प्रतीक का सहारा लेता है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्रतीक पर पर्याप्त चर्चा की है। इनमें फ्रायड एवं युंग उल्लेखनीय हैं। प्रतीकों का क्षेत्र बहुत व्यापक होने के कारण इनके वर्गीकरण के आधार भी अनेक हैं। अप्रस्तुत अपने व्यापक अर्थों में प्रतीक के सारे विधानों को समेटे हुए हैं। काव्य-जगत में प्रतीकवाद आंदोलन (1989) प्रतीक के काव्यात्मक महत्त्व को लेकर ही आगे बढ़ा। लेखक ने प्रतीकवाद से प्रभावित 'अज्ञेय' के विचार का उल्लेख किया है—"प्रतीक सत्यान्वेषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का मार्ग है और वह (कवि) प्रतीक द्वारा सत्य को जानता है—सत्य के अथाह सागर में वह प्रतीकरूप कंकड़ फेंककर उसकी थाह का अनुमान करता है।"

बिंब का काव्य में सर्वाधिक महत्त्व है। बिंब (इमेज) का अर्थ है मानसचित्र, जो काव्य में शब्दों द्वारा व्यक्त होता है। पाश्चात्य समीक्षा में बिंब के अभ्यंतर पक्ष को ही अधिक उकेरा गया है। भारतीय समीक्षकों ने बिंब के अभिव्यक्ति और ग्राह्य पक्ष को अधिक उजागर करने की चेष्टा की है। लेखक की दृष्टि में भारतीय काव्यशास्त्र में बिंब का सौंदर्य अलंकारों और शब्द शक्तियों में अंतर्निहित है। परंतु आधुनिक हिंदी साहित्य में विशेषतः छायावादी काव्य में बिंब अलंकार से पृथक् नए रूप में उभरकर आया। विचारकों ने बिंब के प्रकारों को अत्यधिक बढ़ा दिया है। लेकिन सभी प्रकार के बिंबों में अप्रस्तुत योजना का अवकाश और सौंदर्य होता है। मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी अप्रस्तुतयोजना के दायरे में हैं।

चतुर्थ अध्याय में शोधकर्त्ता ने अप्रस्तुत-योजना का विनियोग दर्शाया है। इसमें केवल अलंकार, प्रतीक और बिंब-योजना में अप्रस्तुत के योगदान का विश्लेषण हुया है। लेखक ने सादृश्यमूलक अलंकारों में अप्रस्तुतों की खोज के क्रम में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, अपह्नुति, संदेह, उल्लेख, व्यतिरेक तथा मानवीकरण अलंकारों का सोदाहरण उल्लेख किया है। सभी उदाहरण छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा के काव्य से दिए गए हैं। प्रतीक एवं बिंब-योजना के उदाहरण भी महादेवी वर्मा के काव्य से दिए गए हैं।

इस प्रकार ग्रंथकार ने अप्रस्तुत-योजना की व्याप्ति भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न काव्य-सिद्धांतों—ध्वनि, रस, रीति आदि—में दिखाया है। अप्रस्तुत-योजना अलंकार, बिंब, प्रतीक, रस, ध्वनि, रीति आदि में जहाँ भी होती है, साधन के रूप में रहकर काव्य-सौंदर्य का वर्धन करती है।

वस्तुतः अप्रस्तुत-योजना आदि काल से ही कवियों को प्रिय रही है। संस्कृत साहित्य में कालिदास के लिए उपमा का 'उपमा कालिदासस्य' की उक्ति अप्रस्तुत-योजना से ही सार्थक है। ऐसे विषय पर इस शोध कृति का आना निश्चय ही प्रसन्नत की बात है। इसकी उपादेयता असंदिग्ध है। अतएव पुस्तक न केवल पठनीय है, अपितु संग्रह योग्य भी है। इस शोधकृति के लिए मैं डॉ. कामेश्वर पंकज को अपनी शुभाशंसाएँ देता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्मन

डॉ. देवेन्द्र आर्य*

97 कविताएँ और 200 पृष्ठ। अधिकांश कविताएँ दो या तीन पृष्ठों की और इन पृष्ठों में जीवन-जगत् की संगति-विसंगतियों का विस्तृत लेखा-जोखा। परन्तु कहीं भी किन्हीं भी स्थितियों में न हार है और न हार कर जीवन/जगत से समझौता है। अनन्त ऊर्जा और तेजस्विता से हर अनपेक्षित को करारी ठोकर मारकर आगे बढ़ निकलने का माद्दा है। अधिकार को, प्राप्य को छीनने का भाव है क्योंकि 'हाथ पसारने से कहाँ मिलता है अधिकार' (पृ. 19) योगी या भोगी होना महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है जो एक अदद जिन्दगी मुझे मिली है, वह उन्मुक्त है और उसका सम्पूर्ण सृजन अर्थवान है। शब्द के रथ पर सवार होकर लोक-लोकान्तरों की यात्रा केवल यात्रा के लिए नहीं बल्कि वर्षों से घने अन्धकार को विदीर्ण कर प्रकाश की अभ्यर्थना के लिए है।

कवियित्री डॉ. विमला उपाध्याय उन्मन हैं और ऐसा कवि/आत्मचेता जो सोते-जागते मनुष्य की बेहतरी का सपना देखता है। प्रकृति से राग बढ़ाने का सपना देखता है। जीवन-जगत् में सामंजस्य बनाने का सपना देखता है। नारी की महत्ता के अहसास का सपना देखता है। उसे अन्या या दोयम मानने पर गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है या आक्रोश के स्वरों को आकाश दे देना चाहता है। क्रान्ति की मशाल को उसकी हद तक ले जाने की उत्कटता प्रदर्शित करता है—वह 'उन्मन' हो जाए तो क्या होगा? एक भयंकर विस्फोट होगा, कविता का एक-एक शब्द/अक्षर अणु विस्फोट की मुद्रा धारण करेगा, विराट् का विराटत्व अनन्त ऊर्जा का संचयन करता हुआ कब बूँद से सागर हो जाएगा, पता ही नहीं चलेगा।

कवियित्री मृत्युंजयी है। क़ायरता या लिजलिजेपन से दूर। वह तो सुधा बीज बोने से पहले कालकूट पीने को उद्यत है। नियति के चलते अबाध चक्र में कालजयी

*डॉ. देवेन्द्र आर्य, वाणी सदन, बी-68, सूर्यनगर, गाजियाबाद—201011 (उ.प्र.)

**सूर्यप्रभा प्रकाशन, 2/6 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; प्रथम संस्करण 2012, पृ. 200, डिमाई, मूल्य 350 रुपए सजिल्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की क्षमता वाला पुरुष दीन-हीन हो जाए, उसका दास हो जाए तो क्या विमला जी स्वीकार करेंगी? नहीं, वे पुरुष के पौरुष को जागृत करन चाहती हैं। जिसकी भुजाओं में हिमालय-सा बल हो और ललाट पर सौ सूरज दिपदिप करते हों, वही अँधेरे के व्यापक साम्राज्य को ध्वस्त कर सकता है। इसी में जिन्दगी की सार्थकता है—

जिन्दगी दिन, माह, वर्ष में नहीं गिनी जाती
एक क्षण की सार्थकता एक पल की जीवन्तता
प्रेरक एवं महनीय ही गुणात्मकता है
जीना अर्थपूर्ण है।' पृ. 151

हम बड़े-बड़े मंचों पर स्त्री-विमर्श (पृ. 133) की बातें करते हैं, सदियों से गुलाम, पददलित, बन्दिनी नारी की मुक्ति की वकालत करते हैं। ठीक है औद्योगिक क्रान्ति की लहर से शहरीकरण का सूत्रपात हुआ। नारी घर की चौखट लाँघकर बाजार में आ गई। कामकाजी महिला के द्वार खुल गए। वह आसमान में परिन्दों की तरह स्वछन्द भाव से उड़ने लगी। पर क्या हुआ? आधी दुनिया पर ग्रहण लग गया। भ्रूण-हत्या का चक्र तेजी से घूमने लगा। बचपन विलुप्त और वात्सल्य छूमन्तर हो गया। बच्चों का शोषण और परिवार खण्डित होने लगा। गला काट प्रतियोगिता में औरत ही औरत की सबसे बड़ी दुश्मन बन बैठी। आज स्त्री न घर की है, न घाट की। उसके सिर पर विज्ञापन का ठीकरा फोड़ा जा रहा है। पर-पुरुष की आज्ञा की प्रतीक्षा में बँधी साम्राज्ञी है, पर डॉ. विमला उपाध्याय पूरी ताकत से कहना चाहती हैं कि 'नारी सिर्फ भोग्या नहीं, चिर जीवन साथी है, सहवास सारथी है, श्रेय-प्रेय का आदि और अन्त है, नारी स्वयं वरदान है, आदिशक्ति-आराध्या है, भक्ति, धर्म-कर्म की आधारशिला है।

आशा-आकांक्षा और ओज से परिपूर्ण कवियित्री डॉ. विमला जब स्त्री सशक्तिकरण की बात करती हैं तो एक और परिदृश्य उनके सामने खुल जाता है, वह उन्मन हो जाती हैं। 'अभिशप्त अन्या (पृ. 188) में वह कहती हैं कि बड़वानल के समान विकराल दहेज रूपी दानव के चंगुल में फँसी कन्या अन्या बन जाती है। "अभिशप्त-शिला-सी झेलती है/दहेज की मार/अन्दर-ही-अन्दर घुट-घुट वह मर जाती है। अन्तिम संस्कार की बकरी बन जाती है।' हालाँकि बेटी प्रकृति का सुन्दरतम अप्रतिम उपहार है, पर क्या नारी सह-अस्तित्व की स्वयं हकदार नहीं बन सकती? यह प्रश्न आज 21वीं सदी से पुकार-पुकार कर समाधान का उत्तर चाहता है। कवियित्री ने बुलन्द आवाज से नारीवाद की वकालत की है। इतिहास ने उस पर चाहे कितने भी अत्याचार किए हों, नितान्त भोग्या मानकर उसका शोषण किया हो, पर आज समय बहुत आगे निकल गया है। "आज नारी इस धरा का अभिन्न अंशज/वह जीतकर लाई गई बँटी विरासत नहीं। पाँच पति की पतिव्रता नहीं/...राम के अयाचित रजकण की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक्षारत अहिल्या नहीं। अब भीष्म की अस्वीकृत जीतकर लाई/राजकुमारी नहीं, श्रेष्ठता की ग्रन्थि से प्रताड़ित, चिन्तनशील पुरुष की/वल्लरी नहीं।" (पृ. 157) वह आदि शक्ति है, भक्ति, धर्म-कर्म की आधारशिला है। डॉ. विमला उपाध्याय ने नारी के इस भावनात्मक ऊर्जामय भव्य रूप की सर्वत्र आराधना की है। मैं कवियित्री के इस भाव को प्रणाम करता हूँ।

बचपन में हम लोग एक गीत बड़े प्रेम और श्रद्धा भाव से गाते थे—"जो भरा नहीं है भावों से, बहती जिसमें रसधार नहीं/वह हृदय नहीं है पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं" कवि के भाव कवियित्री विमला जी के मन-प्राण में बसे हुए हैं। वे नौजवानों को सम्बोधित करते हुए कहती हैं कि 'वतन' के वास्ते जियो। वतन के वास्ते मरो।...तुम स्वदेश एवं स्वाभिमान की इबादत हो/विश्वशान्ति का अवदान तुम/कृपानिधान के वरदान हो। पूर्ण तुम सम्पूर्ण तुम/सतृचित आनन्द हो।" पृ. 22

"देश-प्रेम, देशभक्ति, राष्ट्रीयता जीवन की शक्ति है।...वसुधैव कुटुम्बकम् हमारा दर्शन है।" पृष्ठ (194) भारत के वरदपुत्रों को आह्वान करती हुई कहती हैं कि "तुम अपनी माटी के उज्ज्वल भविष्य हो।"

आज का बाजारवाद सब कुछ बाजार के हिसाब से सोचता और व्यवहार करता है—इसी के चलते हमारे सभी रिश्ते-नाते सम्बन्ध बाजार हो गए हैं। उपयोगिता को चलन हो गया है। माँ-बाप भी वृद्ध होने पर अनुपयोगी वस्तु भर रह गए हैं। हिन्दी के साथ भी यही हो रहा है। वैश्वीकरण की अन्धी दौड़ में हिन्दी भाषा का समस्त ऋत-अमृत विवादित होकर रह गया है। आज हिन्दी अपनी अस्मिता की तलाश में जूझ रही है। वैसे हिन्दी ज्ञान का सर्वांगीण आधार है। वेद, पुराण, उपनिषद्, चैतन्य विज्ञान का महासागर है। भारती आत्मा में रसी-बसी अन्तस की पुकार है। कवियित्री भावपूर्ण शब्दों में कहती हैं—

"हिन्दी का ज्ञान भरपूर मान-सम्मान/हिन्दी का बोझ अतिपावन/रूप, रंग, रस अति मनभावन/...भारत की अधिकारिणी भाषा/उज्ज्वल भविष्य की आशा/...हिन्दी की गति प्रगति, और सुमति ही जिन्दगानी।' पृ. 199-200

डॉ. विमला उपाध्याय अमृत का आचमन लेकर आई हैं। वे मानती हैं 'क्या जलेंगे पाँव नंगी दोपहर में/मैं हलाहल की अगन पीकर चला हूँ/मौत भी मेरे इरादों तक झुकेगी/जिन्दगी की वो सुधा पीकर ढला हूँ। (डॉ. देवेन्द्र आर्य) इस भाव, इरादे को लेकर जीने वाली कवियित्री कहीं सीधे-साधे तो कहीं परोक्ष रूप से व्यंजना का जहर उगलते हुए विपरीत परिस्थितियों से/विसंगतियों से टकरा जाती हैं। वे चाहती हैं कि मनुष्य जगे, अपने 'स्व' को पहचाने और यथास्थिति से समझौते की जगह टकराए, भिड़ जाए, चाहे टूटकर बिखर जाए...'बाजारवाद के अजदहे ने/दबोचा है तुम्हें कसकर/अपना विराट् रूप बनाओ/फाड़ डालो उसे या फिर मिट जाओ। अपना नाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शहीदों में दर्ज कराओ। (पृ. 3) 'कलम एक औजार बन तोड़ेगी/सितम का चक्रव्यूह/...अधिकार से प्रहार कर तोड़ना है कड़ियाँ (पृ. 14)

कवियित्री लिजलिजे सपने और तज्जन्य कायरता से निकलकर व्यक्ति की अस्मिता की खोज करना चाहती है। सम्भव है अतीत की दंश या भविष्य/वर्तमान की विषमता भयभीत करे, लेकिन यह जीवन जीवन नहीं है, उठना, आगे बढ़ना ही जीवन है—"मैं तुम्हें जगाना चाहता हूँ/दुर्गा बनाना चाहता हूँ/तुम्हारी आँखों में सपने उगाना चाहता हूँ। (पृ. 58) पर सपने कैसे?" जिस जिन्दगी में जीवत अनुभूतियों का अहसास हो...हसरतों के साए में उगी धूप हो, मन्दिर के कलश-सी पवित्र ऊँचाई और सतत सलामत भरी जिन्दगी हो। (पृ. 83)

आतंकवाद आज के युग की सबसे बड़ी त्रासदी है—"विषदन्त से उपजा है यह आतंकवाद, निर्दोषों की हत्या कर उगी है यह नागफनी/अनाथ बच्चे, कोखहीन माँ, वैधव्य की शिकार पत्नी, बिलखते, चीखते, चिल्लाते मुर्दा समाज के निरीह प्राणी, बेबस इकाई, भूख और गरीबी की परछाई" परन्तु विडम्बना यह है कि सत्ताधारी खामोश हैं, बेबसी से हाथ बाँधे हैं, अन्धी, बहरी और बिलकुल गूँगी सरकार'। भला ऐसी पंगु और निष्क्रिय सत्ता से कोई आशा भी क्या करे? पर इसका विकल्प क्या है? कवियित्री कहती हैं कि 'वसुधैव कुटुम्बकम् ही/अन्यतम विकल्प है।' (पृ. 190)

डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय के अनुसार (मेरा मत भी इसमें शामिल है) "डॉ. विमला जी की कविताएँ वैज्ञानिकता, भौतिकता, राजनीति का घोर पतन, मूल्यहीनता, मनुष्यता पर बार-बार फोकस दे रही हैं। कहीं प्राचीनता के कवच उतार जीवन-सत्य का उद्घाटन है तो कहीं आधुनिकता के छलछद्म पर मारक प्रहार। परन्तु सर्वत्र ध्यान है कि कविता जीवित है। उसका संगीत अणु-परमाणु में सर्वत्र बज रहा है। वह मनुष्यता का विजय अभियान चला रही है। हमारे युग-युग के सोए सपनों को साकार करने की तैयारी कर रही हैं जिसमें अखिल विश्व और मानवता समा रही है, (पहला फ्लैप)

इस तरह यह कविता-संग्रह, 'उन्मन' भूत, भविष्य और वर्तमान की इतनी दिशाओं में हमें ले जाता है कि गिनते-गिनते गिनतियाँ भी अधूरी रह जाती हैं। कवियित्री ने विषय को इतनी सम्पूर्णता से छुआ और वर्णित किया है कि आप सोचकर भी कोई नया तथ्य उजागर नहीं कर पाएँगे। मैं इतने विस्तृत और परिपूर्ण संग्रह से अभिभूत हूँ और भविष्य की ओर देख रहा हूँ किसी अन्य संग्रह के लिए। मेरी बधाई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ

पुस्तकें:

साहित्यिक तुला पर वाल्मीकि-रामायण, विजय रंजन; प्रकाशकः अवध-अर्चन प्रकाशन, 4/14/41 ए महताब बाग, अवधपुरी कालोनी फेज-2, फैजाबाद-22400 (उ.प्र.); प्रथम संस्करण : सितम्बर 2011; पृष्ठ : 224; मूल्य : 300/ रुपये।

निकलेगा दिनमान, डॉ. देवेन्द्र आर्य; प्रकाशकः साहित्य सहकार प्रकाशन 29/62, गली नं. 11, विश्वास नगर, दिल्ली-110032; प्रथम संस्करणः 2012; पृष्ठ 96; मूल्यः 200/ रुपये।

132249

पत्रिकाएँ:

सदानीरा, कविता की पत्रिका; सम्पादकः आग्नेय; प्रकाशकः पहले पहल प्रकाशन 25-ए, प्रेस कॉम्पलेक्स, महाराणा प्रताप नगर, भोपाल (म.प्र.); पृष्ठ : 208; मूल्यः 50 रुपये।

विश्व मण्डल मासिक समाचार पत्रिका, वर्ष 12 अंक 10 जनवरी 201 सम्पादकः रवि कुमार विश्नोई; प्रकाशक : 213, वेस्ट एण्ड रोड, मेरठ कैन्ट; पृष्ठ 62; मूल्यः 10/ रुपये।

कल हमारा है, (मासिक) नव निर्माण के प्रति समर्पित पत्रिका; वर्ष-2 अंक- दिसम्बर 2012; सम्पादकः सत्यवीर अग्रवाल; प्रकाशनः 54/3 रामबाग रोड, मुजफ्फरन (उ.प्र.); पृष्ठ : 24; मूल्यः 10/ रुपये।

अवध-अर्चना, अंक 3 वर्ष 18, अगस्त-अक्टूबर 2012; सम्पादकः विज रंजन; प्रकाशकः अवध-अर्चना प्रकाशन, फैजाबाद, 4/14/41ए महताब बाग, अवधपु कालोनी फेज-2 फैजाबाद (उ.प्र.); पृष्ठ : 56; मूल्यः 20/ रुपये।

संस्कारम्, सामाजिक मूल्यों की पारिवारिक पत्रिका, वर्ष 6, अंक 2 फरवरी 2013; सम्पादकः ईश्वर दयाल; प्रकाशन : 7/35 अंसारी मार्ग दरियागंज, न दिल्ली-110002; पृष्ठ : 50; मूल्यः 20/ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar